कुवलयानन्दः

डॉ निरंजन मिश्र

श्रीमदप्पयदीक्षितविरचितः

कुवलयानन्दः

- व्याख्याकार -

डॉ. निरञ्जन मिश्रः

साहित्याचार्यः, एम. ए. लब्धस्वर्णपदकत्रयः

व्याख्याता - भगवानदास संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार



हंसा प्रकाशन, जयपुर

©	:	प्रकाशनाधीन
ISBN	:	81-86120-79-3
संस्करण	:	2001 (प्रथम)
मूल्य	:	पाँच सौ रुपए मात्र
प्रकाशक	:	**हंसा प्रकाशन**
		57, नाटाणी भवन, मिश्र राजाजी का रास्ता
		चांदपोल बाजार, जयपुर
टाईपसैटिंग	:	पिंकसिटी ग्राफिक्स, जयपुर
मुद्रक	:	शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर

प्राक्कथन

भूमिका

वही बने बलवान पक्ष में जिसके तू बलवान रहे
एक ईशारे पर तेरे गुण -गौरव, दोष महान बने।
सम्भव को असम्भव करने में है, कुशल तुम्हारा चमत्कार
हे तर्क! मुझे कर में कर ले, करता हूँ सादर नमस्कार॥ १॥

काव्य शास्त्र जगत में पण्डित कुल गौरव भरद्वाज वंश भूषण वेदान्त मीमांसा व्याकरण आदि विषयों पर शताधिक ग्रन्थों के प्रणेता पण्डित प्रवर अप्पय दीक्षित का नाम विशेष परिचय की अपेक्षा नहीं रखता है। इनका वंश पाण्डित्य कमलवन ही था। इनके पितामह वक्षस्थलाचार्य या आचार्य दीक्षित तथा पिता श्रीरंगराज विविधविद्यानिष्णात थे। पिता यज्ञिकों में अद्वितीय पद के अधिकारी थे।[1] आगे भी इनका वंश पाण्डित्य परम्परा में अपना नाम जोड़ता रहा है। पण्डित प्रवर का समय १६ वीं शताब्दी से सत्रहवीं के प्रथम चरण तक माना जाता है। ये वेङ्कटपति के आश्रय में थे। इस वेकटपति का समय आफ्रेक्ट के अनुसार १५३५ ई. है। कुछ वैदेशिकों के मत से वेंकटपति विजय नगर का राजा नहीं बल्कि अन्य कोई दीक्षित जी का आश्रयदाता था। परञ्च यदि हम वैदेशिकों के राह से हटकर स्वदेशी चिन्तकों का अनुगमन करें तो वेंकटपति विजयनगर का ही राजा था। कुछ वैदेशिक (आप्रेक्ट) भी इस मत के समर्थक हैं। विद्वद्वरेण्य आचार्य कालिका प्रसाद शुक्ल भी इसी मत के समर्थक हैं।[2] इन्हीं आश्रयदाता के आदेश से दीक्षित जी ने 'कुवलयानन्द' की रचना की थी।[3]

'अप्पदीक्षित' 'अप्पय्य दीक्षित' अप्पय दीक्षित ये तीन नाम देखे जाते हैं। दो नाम क्रमश: तो कुवलयानन्द में ही देखे जा सकते हैं, तथा तीसरा नाम अन्य ग्रन्थों में देखा जा सकता है। साहित्य जगत में तीसरा नाम "अप्पय दीक्षित" ही प्रसिद्ध है।

विविध विषयों पर लिखे ग्रन्थों की संख्या सौ से ऊपर है। यदि यह कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी कि संस्कृत भाषा का कोई भी विषय इनकी लेखनी से अछूता नहीं रहा

है। अलङ्कार विषयक तीन ग्रन्थ इन्होंने संस्कृत साहित्य जगत के लिए अर्पित किये। (1) वृत्तिवार्तिक (2) चित्रमीमांसा (3) कुवलयानन्द।

वृतिवार्तिक लघुग्रन्थ है। प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में 'चित्रमीमांसा' लब्धप्रतिष्ठ है। इसमें दीक्षित जी ने परमत आलोचनपुरऽस्सर स्वमत स्थापना की है। इनका प्रखर पाण्डित्य अपनी विशिष्ट प्रतिभा के साथ यहां उपस्थित है। पं. राज जगन्नाथ कृत खण्डन को देखते हुए कुछ लोग इनकी मौलिकता को स्वीकार करना नहीं चाहते हैं, परञ्च अन्यकृत खण्डन से पाण्डित्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस बात पर हम आगे चर्चा करेंगे। दुर्भाग्यवश यह चित्रमीमांसा अपूर्ण अवस्था में अतिशयोक्ति अलङ्कार पर्यन्त प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ दीक्षित जी के जीवन का अन्तिम ग्रन्थ हो ऐसी बात नहीं है। मालूम होता है कि जानबूझकर यह ग्रन्थ आधा ही छोड़ दिया गया है। किसी कारणवश दीक्षित जी इसे पूरा नहीं कर सके। इस ग्रन्थ पर दीक्षित जी को इतना विश्वास था कि आधे भाग से ही वो पूर्ण सन्तुष्ट थे। विद्वज्जन मानस परिचुम्बन में यह आधा भाग ही अपना स्थान बना लेगा, यह उन्हें पूर्ण विश्वास था।[५]

'कुवलयानन्द' पूर्ण मौलिक रचना नहीं अपितु 'चन्द्रालोक' के आधार पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें 123 अलंकारों का विवेचन उपलब्ध है। चन्द्रालोक की दाहरणात्मिका शैली यहां अपनाई गई है। अधिकतर लक्षणोदाहरण चन्द्रालोक का ही है। जो वहां नहीं है वो दीक्षित जी ने अपनी ओर से दिया है। कुछ नए अलङ्कार केवल दीक्षित जी की कल्पना में ही है। यह ग्रन्थ बालकों के लिए ही लिखा गया है।[६] इसलिए यहां प्रखर पाण्डित्य का अभाव स्वाभाविक है। विद्वज्जन रञ्जन के लिए दीक्षित जी ने 'चित्रमीमांसा' लिखी है।

स्वभावतः यह सिद्ध होता है कि जब बालकों के लिए लक्षणोदाहरणात्मक ग्रन्थ लिखा गया है तो विषय को सामान्यतया मोटे तौर पर विवेचित किया गया है। अब यदि इस विषय विवेचन को गहन तर्क पूर्ण बुद्धि से खण्डित किया जाता है तो कोई विद्वत्ता नहीं है। क्योंकि लेखक यहां विद्वानों के लिए कम बालकों के लिए अधिक प्रयासरत है। और पाण्डित्यपूर्ण पङ्क्ति बालकों के लिए उपयुक्त नहीं होते। यद्यपि दो तीन उपमा रूपकादि में

यहां भी दीक्षित जी ने विशद विवेचन प्रारंभ किया है परञ्च शायद उन्हें अपना पूर्वोक्त वचन (बालानामवगाहन) याद हो आया और पुनः वो विशद विवेचन छोड़ सामान्य विवेचन में पवृत्त हो गए।

कुवलयानन्द को संगृहीत ग्रन्थ माना जाता है और दीक्षित जी को संग्रहक। चन्द्रालोक के आधार पर इन्होंने कुवलयानन्द लिखा यह तो स्पष्ट है। यहां तक कि ये कहते हैं कि उस चन्द्रालोक की जय हो जिसके कारण यह 'कुवलयानन्द' बन पाया। [6] परञ्च चन्द्रालोककार जयदेव को छोड़कर अन्य आलङ्कारिकों का भी ऋण दीक्षित जी ने लिया है ऐसा भी विद्वान लोग मानते हैं। इन्होंने रसवदादि प्रमाण रहित 10 अलंकारों को माना है जयदेव ने 7 का नामोल्लेख किया लेकिन वो भी उन्हें अभीष्ट नहीं था ऐसा ज्ञात होता है।[8] इन्होंने बहुत सारे आलङ्कारिकों के द्वारा परिगणित अलङ्कारों का परिशीलन कर उपयुक्त अलंकारों की स्थिति 'कुवलयानन्द' में बतायी है ऐसा मेरा मानना है। आलोचना प्रत्यालोचना पुरस्सर भी यह बात सर्वसम्मत स्वीकार्य है कि अलंकार क्षेत्र में 'कुवलयानन्द' का अपना विशिष्ट स्थान है। इस महत्त्व को प्रतिष्ठापित करने वाली है इसकी टीकाएं। उद्भट विद्वानों के द्वारा की गई टीका अपना महत्त्व स्वयं बतलाती है। अब तक कुवलयानन्द की दश टीकाएं प्राप्त होती हैं -

(1) वैद्यनाथ तत्सत् कृत अलंकार चन्द्रिका।

(2) आशाधर भट्ट कृत अलंकार दीपिका।

(3) अलङ्कार, सुधा ये दोनों टीकाएं नागेश भट्ट की हैं।

(4) विषमपद व्याख्या षट्पदानन्द।

(5) काव्यमञ्जरी - न्यायवागीश भट्टाचार्य।

(6) मथुरानाथ कृत कुवलयानन्द टीका।

(7) देवीदत्त कृत लध्वलंकार चन्द्रिका।

(8) गंगाधर कृत रसिक रञ्जिनी

(9) रामचरण तर्क वागीश कृत टीका

(10) गोपीनाथ कृत प्रभा टीका।

इसके अतिरिक्त 'डा. भोला शंकर व्यास' ने वेंगलसूरि कृत वुधरञ्जनी नामक टीका का भी उल्लेख किया है। यह टीका वास्तव में चन्द्रालोक के 'पञ्चम मयूख' पर है। उसी क्रम में कुवलयानन्द की टीका भी की गई है।[९]

अब पुनः इनके (दीक्षित) समय का अवलोकन कर लें ताकि आगे के विवेचन में सहायक हो सके। 'रसिक रञ्जिनी' जो आशाधरभट्ट ने लिखी है का समय १७०० ई. है। ये आशाधर तन्जौर के राजा शहजी (१६८४-१७११) की राजसभा में सदस्य थे। यह सर्वशुद्ध पाठ सहित श्रेष्ठ टीका मानी जाती है। कमलाकर भट्ट ने १७ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही अप्पय दीक्षित का उल्लेख किया है। इससे यह तथ्य सिद्ध होता है कि दीक्षित जी १७ वीं शताब्दी के प्रथम चरण (पूर्वार्ध) में थे। या उससे पहले ही। निर्णयात्मक तौर पर १५५३ ई. से १६२५ ई. तक इनका समय रहा है। इस का प्रबल प्रमाण है दीक्षित जी विरचित आत्मार्पण नामक रचना, जिस पर शिवानन्द यति की टीका है। इसमें दीक्षित जी का जन्म प्रायः जन्म पत्रिका ही उद्धृत है।[१०] यह समय ४६५४ कलिवर्ष अर्थात १५५३ ई. है। तथा नीलकण्ठ दीक्षित रचित 'शिवलीलार्णव' के अनुसार ७२ वर्ष तक अप्पय दीक्षित जीवित रहे।[११] अतः १५५३+62 = १६२५ ई. निर्णीत होता है। ये नीलकण्ठ दीक्षित वही हैं जिन्होंने पं. राजजगन्नाथ के चित्रमीमांसा खण्डन का मुंह तोड़ जवाब 'चित्रमीमांसा दोषाधिक्कार' लिखकर दिया था।

पं. राज जगन्नाथ

काव्य शास्त्र के इतिहास में पं. राज जगन्नाथ प्रखर पाण्डित्य पूर्ण गहन सूक्ष्मेक्षिका सम्पन्न तर्कोदधिपारंगत तथा कवित्वपूर्ण हृदय का नाम है। आलोचना प्रत्यालोचना के साथ कवित्व का अनुपम संयोग सोने पर सुहागा का काम करता है। अपनी विद्वत्ता तथा सूक्ष्मेक्षिका के आधार पर इन्होंने मुगल बादशाह शाहजहां से 'पं राज' की उपाधि पाई थी। इनके पिता पेरूभट्ट तथा माता लक्ष्मी थी। सभी व्याकरणदर्शनादि शास्त्रों में इनकी बुद्धि अव्याहतगतिं को प्राप्त थी। जिस तर्क से प्राचीन आलङ्कारिकों का खण्डन प्रस्तुत करते

उसी तीक्ष्ण तर्क से अपने मत का प्रबल समर्थन भी करते थे। शाहजहां का समय १६२८ से १६५८ तक (राज्यासन पर) है। औरंगजेब की कैद में उनकी मृत्यु १६६६ में हुई थी। अतः पं. राज का भी यही समय रहा होगा।

पं. राज ने अपने गुरुओं का सम्यक् परिचय रसगंगाधर में दिया है। पं. राज के गुरु शेष वीरेश्वर थे। शेष वीरेश्वर के पिता शेष श्री कृष्ण के ही शिष्य थे भट्टो जी दीक्षित। इस तरह भट्टो जी दीक्षित पं. राज के गुरु के समतुल्य है। यदि शेष वीरेश्वर को पं. राज के पिता पेरूभट्ट के गुरु के रूप में माना जाये (कुछ विद्वानों के मत में) तो पं. राज के पितामह के समकालीन भट्टोजी दीक्षित हुए।

पं. राज ने बहुत सारे ग्रन्थों, काव्यों, का प्रणयन किया है। लक्षण ग्रन्थों में 'रसगंगाधर' अद्वितीय है। वैसे पं. राज की लेखनी जहां चली है वो अद्वितीय हो गया है। 'मनोरमा कुचमर्दन' तथा 'चित्रमीमांसा खण्डन' ये भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं।

पं. राज के सम्बन्ध में जो किम्वदन्ती है, इसके अनुसार इन्होंने एक यवनी कन्या को पत्नी बनाया था। यह कन्या 'लवङ्गी' शाहजहां के दरबार से शहंशाह को प्रसन्न कर इन्होंने प्राप्त किया था। [१२] उस यवनी की प्रशंसा में इन्होंने अपनी काव्यधारा प्रवाहित कर दी थी।[१३] इसी यवनी को लेकर अन्य पण्डितों के साथ इनका विरोध हो गया था। अन्य लोगों ने इनको जाति से बहिष्कृत कर दिया था। बहिष्कृत करने वालों में भट्टो जी दीक्षित अप्पय दीक्षित आदि प्रमुख थे।

यह एक अलग प्रश्न बनता है कि जो भट्टोजी पं. राज के पितामह समय में थे वो इनके समय में कैसे थे। वहां यह कहा जा सकता है कि अपनी वृद्धावस्था में भट्टो जी, अप्पय दीक्षित आदि रहे होंगे तब पं.राज सदृश प्रतिभा युवावस्था में आया होगा। इस तरह बूढ़े आदमी के द्वारा युवा को जातिच्युत होने पर जाति बहिष्कृत करने की बात तो सही लगती है पर यह तालमेल नहीं मिलता है कि पं. राज और दीक्षित की मुलाकात काशी में कैसे हुई। द्रविड़ देशीय दीक्षित जी अपनी वृद्धावस्था में काशीवास आए होंगे तो वहाँ जगन्नाथ की स्थिति मेल नहीं खाती है। अप्पय दीक्षित का अन्तिम समय १६२५ तक या

इसके आसपास आता है। इधर जगन्नाथ को पं. राज की उपाधि शाहजहां से मिली जो १६२८ में राजगद्दी पर बैठा था। राजा से यवनी मांगने का वृतान्त तो यही सिद्ध करता है कि उस समय पं. राज युवा थे और जो आदमी अपनी जाति को एक रमणी के लिए छोड़ सकता है वह भला यौवन का उपभोग छोड़कर काशीवास कैसे कर सकता है? एक किंवदन्ती के अनुसार काशी में यवनी के साथ पं. राज को गंगाघाट पर सोया देखकर अप्पय दीक्षित ने कहा - (वृद्ध समझकर)

किं निश्शंङ्क शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ।

परञ्च जैसे ही वृद्ध ने मुख पर से चादर हटाया और अप्पय दीक्षित ने देखा कि यह जगन्नाथ है तो झट से बोल उठे-

अथवा सुखं शयीथाः निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः।

इस तरह दीक्षित जी तथा पं. राज का साथ-साथ बूढ़ा होना उचित नहीं दिखता है। ऐसा हो सकता है कि दीक्षित जी वृद्ध होकर काशीवास कर रहे हों, इधर पं. राज यवनी से शादी कर भ्रमणार्थ काशी आए हों। शाहजहां के दरबार में इनकी ख्याति तो मिल ही गई थी। शायद इसीलिए काशी आए हों कि देखे विद्वत्समाज मेरा विरोध कैसे करता है? गर्व तो इनको अत्यधिक था ही। यद्यपि विद्वत्ता वास्तव में इनकी दासी जैसी हो गई थी परञ्च साथ-साथ गर्व ने भी इनके शरीर में अपना घर बना लिया था। 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' की तरह इनका गर्व गुण बन गया था। इनकी गर्वोक्तियाँ सहज उपलब्ध हैं।[१४]

जाति बहिष्कृत करने वालों से पं. राज का वैर सहज सम्भाव्य है। इसी वैरता का परिणाम 'चित्रमीमांसा खण्डन' तथा 'मनोरमा कुचमर्दन' नामक ग्रन्थ है। कहते हैं कि भट्टो जी ने इस ग्रन्थ को अपनी पुत्री का सम्बोधन दिया था। स्वभाव से ही चञ्चल तथा विद्यामद से उन्मत्त पं. राज ने अपनी वैरता किस कदर उतारी है इसका परिचय सहृदयो को ग्रन्थ के नाम से ही मिल जाता है। जिस तरह 'बलात्कार' में बाला मसली जाती है उसी तरह पं. राज ने 'मनोरमा' के सिद्धान्तों को मसल डाला, यही 'नाम' का भाव है। गर्व पूर्ण

भाषा में इन्होंने ऐसे-ऐसे सम्बोधन का प्रयोग किया है जो ऐसे विद्वान को शोभा नहीं देता। खण्डन-मण्डन तो विद्वत्परम्परा का भूषण है पर अशोभनीय सम्बोधन उचित नहीं है। अप्पय दीक्षित तथा भट्टो जी के लिए पं. राज ने कैसे-कैसे सम्बोधन का प्रयोग किया है यह तो ग्रन्थावलोकन से ही स्पष्ट होता है। भट्टो जी के लिए गुरुद्रुह गुरुविद्रोही,[१५] तथा अप्पय दीक्षित के लिए 'द्रविड़ पुङ्गव'[१६] जैसे प्रयोग भी किए हैं॥

पंडितराज तथा अप्पय दीक्षित

अब देखें कि पं. राज और अप्पय दीक्षित दोनों की स्थिति क्या है। समय पर्यवेक्षण से यह तो स्पष्ट है कि दोनों में मञ्चस्थ शात्रार्थ नहीं हुआ है। 'चित्रमीमांसा' का खण्डन कर 'पं. राज' ने अपनी दुश्मनी का बदला लिया है। यद्यपि इनके तर्क को देखकर ज्ञात होता है कि दीक्षित जी वास्तव में इनसे हार गए, पर ऐसा भी हो सकता है कि यदि दीक्षित जी स्वयं इनका प्रतिरोध करने को जीवित होते तो 'चित्रमीमांसा' खण्डन का खण्डन करते। वैसे भी दीक्षित जी के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने 'चित्रमीमांसादोषधिक्कार' लिखकर पं. राज को जवाब दे ही दिया है।

इतना सारा लिखने से मेरा तात्पर्य पं. राज या दीक्षित जी की विद्वत्ता को अल्प या गूढ़ सिद्ध करना नहीं है, अपितु जो पं. राज कृत खण्डन को देखकर दीक्षित जी की मौलिकता तथा पाण्डित्य पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं उनसे कहना है कि क्या किसी के खण्डन कर देने से खण्डित मत वालों की मौलिकता या पाण्डित्य खत्म हो जाता है? यदि ऐसा है तब तो उत्तरोत्तर विद्वानों के आगे पूर्व पूर्व का पाण्डित्य तथा उनकी मौलिकता समाप्त होती जाएगी। स्वमतस्थापन के लिए पूर्वाचार्य के मत का खण्डन विद्वत्परम्परा का अभिन्न अंग सा है। मम्मट का खण्डन विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में किया। पं. राज ने दोनों का खण्डन किया। ऐसे तो अन्य मतों का खण्डन पं. राज का ईष्ट था। भला अपने आगे में वो दूसरे के कथन को कैसे स्थान दे देते? परञ्च अप्पय दीक्षित के लिए उनकी निगाहें कुछ विशेष पैनी थी। रसगंगाधर के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार पं. मदनमोहन झा के शब्दों में प. राज अप्पय दीक्षित के मतों का खण्डन अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे।[१६] इस कर्त्तव्य का पालन

उन्होंने बखूबी निभाया है। यूँ तो पं. राज का मत ही सर्वश्रेष्ठ हो गया हो ऐसी बात नहीं है। बहुत स्थल ऐसा है जहाँ 'पं. राज' के मत से बहुत विद्वान सहमत नहीं हैं। हाँ इतना अवश्य है कि इनके बाद कोई ऐसी प्रतिभा नहीं आयी जो इनके ग्रन्थ का खण्डन करे। विद्वानों की परम्परा तो चलती आयी है और चलती रहेगी। आगे हम खण्डन-मण्डन की दुनिया में भी विहंगम दृष्टि डालते हैं।

पंडित लोग स्वपाण्डित्य प्रदर्शन शास्त्रार्थ में किया करते थे। वर्तमान में तो वह परिपाटी ही नहीं रह गई। शास्त्रार्थ मञ्च पर जो विजयी होता था वही तत्कालीन राजा के द्वारा सम्मान पाता था। क्रमशः यह शास्त्रार्थ दो मार्ग में विभक्त हो गया। एक मञ्च पर आमने-सामने बैठकर शास्त्र चर्चा में पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष लेना। दूसरा अपना ग्रन्थ लिखकर विपक्षी के मत का उत्थान कर उसका खण्डन करना। प्रथम मार्ग वास्तविक शास्त्रार्थ है। दूसरे मार्ग में प्रायः उत्तरोत्तर के आगे पूर्व पूर्व की हार होती रही है। स्वयमेव पूर्व पक्ष उठाना उतना मजबूत नहीं कहा जा सकता जितना पूर्वपक्षी स्वयं उठाता। तर्क के आधार पर ही पूर्वपक्षी का खण्डन किया जाता है। यह तर्क जिस पक्ष को ध्यान में रखकर उठाया जाए वही पक्ष मजबूत होता है। सामान्यतया देख लें कि आचार्य मम्मट विरचित काव्य प्रकाश अलंकार शास्त्र जगत का एक सुप्रतिष्ठित ग्रन्थ है। जब आचार्य विश्वनाथ आए तो 'मम्मट' का खण्डन किया। जिस तर्क के साथ-साथ आचार्य विश्वनाथ ने खण्डन किया है उस भाव से 'मम्मट' अनभिज्ञ रहे होंगे। इस बात को भले और कोई मान ले, मैं तो नहीं मान सकता। अब प्रश्न यह है कि क्या यदि मम्मट सामने में उपस्थित होते तो विश्वनाथ का खण्डन चल पाता? इसका उत्तर तो काल के गाल में समा चुका है। आगे 'साहित्य दर्पण' के 'विज्ञप्रिया' टीकाकार महेश्वर तर्कालङ्कार ने मम्मट पक्ष का यत्र-तत्र समर्थन किया है तथा विश्वनाथ के मत को अनुचित बताया है। कालान्तर में 'साहित्य दर्पण' के ही 'विवृत्ति' टीकाकार ने पुनः साहित्य दर्पण का पक्ष लेते हुए तर्कालंकार द्वारा कृत मम्मट समर्थन का खण्डन किया है। पुनश्च कालान्तर में 'शालिग्राम शास्त्री' ने साहित्य दर्पण की विमला टीका में 'विवृत्ति' टीकाकार रामचरणतर्कवागीश की अच्छी खबर ली

है। अब सहृदय पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि किसकी विद्वत्ता को माना जाए और किसको अस्वीकार किया जाए। इन सारे तथ्यों से निष्कर्ष यही निकलता है कि जिसने ग्रन्थ लिखा है उनके विचार में वो सही है। पश्चात् के टीकाकार जिस पक्ष के हैं वो पक्ष उचित तथा दूसरा अनुचित हुआ है।

अब देखें कि एक तो 'पं. राज' को अपने ग्रन्थ को मान्यता दिलानी थी, दूसरा जाति बहिष्कृत करने वाले अप्पय दीक्षित से बदला लेना था। शायद बदला चुकाने के लिए ही 'रसगंगाधर' लिखा गया। यह भी विस्मरणीय नहीं है कि 'पं. राज' ने रसगंगाधर में सामान्य शैली को छोड़कर नव्यन्याय की शैली अपनायी है। इस शैली में विषय का स्पष्टीकरण जितना होता है उतनी ही दुरुहता भी आ जाती है। शास्त्रार्थ में विपक्षी को उलझाने के ध्येय से तथा विषय स्पष्टीकरण के ध्येय से 'मैथिल प्रवर' गंगेश उपाध्याय ने इस शैली का अन्वेषण किया था।

जिनके मत से जो असहमत हैं उन्होंने उनका विरोध किया। यह बात केवल अप्पय दीक्षित या 'पं. राज' पर ही लागू नहीं होता है। दीक्षित जी ने भी कई स्थानों पर 'रुय्यक' आदि के मत को नहीं मानते हुए अपने तर्क से अपना मत उपस्थापित किया है। अन्तर केवल इतना इतना है कि 'पं. राज' ने अप्पय दीक्षित तथा भट्टो जी दीक्षित के लिए जितने कठोर शब्दों का प्रयोग किया है उतना किसी और ने नहीं किया। स्वयं 'पं राज' ने खण्डन तो औरों का भी किया, पर इतना कठोर शब्द प्रयोग नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि 'दीक्षित जी' के मत में दोष दिखाने की अपेक्षा अपनी वैरता का प्रतिशोध लेना पं. राज का मुख्य अभीष्ट था। पं. राज के मत को भी सबने मान लिया हो ऐसी बात नहीं है। इनका भी विरोध अवश्य हुआ है।

'कुवलयानन्द' में आने से पहले जरा 'पं. राज' के खण्डन का अन्यत्र अवलोकन कर लें। 'रसगङ्गाधर' में काव्य लक्षण निरूपण प्रसंङ्ग में आचार्य 'मम्मट' के 'शब्दार्थ' पक्ष का जोरदार खण्डन पण्डित राज ने किया है। लौकिक व्यवहार को उपस्थापित कर 'शब्द' मात्र वाले स्वपक्ष का समर्थन किया है।[१८] परञ्च 'पं.राज' के खण्डन पक्ष को एक

की बात कौन करे, संस्कृत जगत के अलंकारभूत विद्वत्तल्लजों में लब्धप्रतिष्ठ महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय, महावैयाकरण नागेश भट्ट तथा महोमहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री ने जोरदार खण्डन कर 'शब्दार्थ' पक्ष को ही सही ठहराया है।[१९] इसी क्रम में आचार्य विश्वनाथ के काव्य लक्षण का भी पं. राज ने खण्डन किया है।[२०] परञ्च महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री ने इस पक्ष का भी जोरदार खण्डन किया है।[२१] काव्य कारण विवेचन में 'मम्मटोक्त' त्रितयकारण 'शक्ति निपुणता अभ्यास' का खण्डन कर 'प्रतिभा' को कारण रूप में स्थापित किया है। पं. शास्त्री जी ने इसका भी खण्डन किया है।[२२]

अप्पय दीक्षित द्वारा उदाहृत 'प्रहरविरतौ मध्ये वाड....' इत्यादि श्लोक की गुणीभूतव्यंङ्गता का खण्डन 'प. राज' ने जोरदार शब्दों में किया है तथा उसमें ध्वनित्व की स्थापना की है।[२३] महावैयाकरण नागेश भट्ट ने इस खण्डन का जोरदार विरोध किया तथा इसे पण्डितराज कृत दुराग्रह बताया है।[२४]

इतना देखने के बाद यह स्पष्ट हो गया कि खण्डन पण्डितों का श्रृंगार है। इससे न किसी की मौलिकता खत्म होती है न किसी के पाण्डित्य को कम कहा जा सकता है। लाभ यह होता है कि नये-नये तर्कों की उद्भावना होती है।

अब हम 'कुवलयानन्द' में कुछ अलंकारों का पण्डित राज द्वारा किया गया खण्डन तथा अन्य के द्वारा किए मण्डन को देखते हैं। यद्यपि इस खण्डन-मण्डन का विषय काफी विस्तृत हो जाएगा तथापि मैं संक्षेप में दो अलङ्कारों को उपस्थापित करूँगा ताकि यह भूमिका ही विशालकाय न हो जाए।

व्याजस्तुति

व्याजस्तुति अलङ्कार को आचार्य दीक्षित जी ने तीन तरह से दिखाया है। स्तुति से निन्दा, निन्दा से स्तुति तथा स्तुति से स्तुति। प्रथम स्तुति द्वारा निन्दा की अभिव्यञ्जना के उदाहरण में यह श्लोक उद्धृत किया है-

अर्द्ध दानव वैरिणा गिरिजयाप्यर्द्ध शिवस्याहृतं
देवेत्थं जगतीतले स्मरहराभावे समुन्मीलति।

गङ्गा सागर मम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्वां मां च भिक्षाटनम्॥

यहाँ एक कवि राजा से कह रहा है कि भगवान् शंकर का आधा भाग विष्णु ने ले लिया, आधा पार्वती ने। इस तरह भगवान शंकर का अभाव देखकर गंगा सागर में चली गयी, शशिकला आकाश में चली गई। नागराज पृथ्वीतल में चले गए, सर्वज्ञत्व और अधीश्वरत्व तुम्हारे (राजा के) पास आ गया और भिक्षाटन मेरे पास आ गया।

यहाँ कवि कहना चाहता है कि तुम सब कुछ जानते हुए भी, सब कुछ देने में समर्थ होते हुए भी मुझे दान नहीं देते हो। मैं भिखारी का भिखारी बना हुआ हूँ। इस तरह राजा की स्तुति से निन्दा व्यञ्जित होती है। यह दीक्षित जी का कथन है।

पं. राज ने इसका खण्डन इस तरह किया है-

'अर्द्धदानववैरिणा..........।' अत्र सर्वज्ञः सर्वेश्वरोऽसीति राज्ञः स्तुत्या व्याजरूपया मदीय वैदुष्यादि दारिद्रयादि जानन्नपि वहुप्रदानेन रक्षितुं शक्तो मह्यं किमपि न ददासीति निन्दा व्यज्यते 'इत्युक्तं' च तन्न।

साधु इति पुनः साधु कर्त्तव्यं किमतं परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि॥

इत्यनुपदमेव त्वदुदाहृतपद्येनास्यातितमां वैलक्षण्यात्। तत्र हि साधु किमतः परं कर्त्तव्यमिति वेर्णैरुदीरिता साधुकारिणीत्वरूपा स्तुतिः श्रुतमात्रैव वाधिता सती विपरीतेऽर्थे स्वात्मसमर्पणेन पर्यवस्यति। इह तु सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वं च न तथा। राजवर्णन प्रस्तावे राजगताज्ञत्वपामरत्वयोरविवक्षितत्वात्। अतएव सर्वज्ञोऽपि मां न रक्षितवानसि इत्युपालम्भरुपापि निन्दा नात्र विवक्षिता। सर्वज्ञस्य समर्थस्य तव दरिद्रोऽहं रक्षितुं योग्य इति स्वविज्ञापनाया एव प्रत्युतविवक्षितत्वात् अस्तु वा त्वदुक्तोपालम्भरूपा निन्दात्र गम्या। तुप्यतु भवानेवमपि। 'साधु इति पुनः साधु' इति पद्ये साधुकारिणीत्वमिव नास्मिन्पद्ये सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वं च विद्युद्भङ्गुर प्रतिभमिति शक्यं वदितुम्। उपालम्भ रूपाया निन्दाया अनुत्थानापत्तेः प्रतीतिविरोधाच्चेति सहृदयैराकलनीयं किमुक्तं द्रविड़ पुङ्गवेनेति।[२५]

यहाँ 'पं. राज' का तात्पर्य यह है कि राजा सर्वज्ञ तथा अधीश्वर है। इस शब्द से जो दीक्षित जी अज्ञत्व तथा पामरत्व रूप निन्दा की व्यञ्जना करते हैं वह उचित नहीं है क्योंकि राजदरबार में राजवर्णन में राजा को अज्ञ या पामर कहना उचित नहीं हो सकता तथा सब कुछ देने में समर्थ होते हुए भी मुझे दान नहीं देते हैं। यह उलाहना भी विवक्षित नहीं हो सकता है। यहाँ कवि का अभीष्ट यही हो सकता है कि आप सर्वज्ञ और सर्वदातृत्व समर्थ हैं मैं दरिद्र हूँ, अतः आपसे निवेदन है कि आप मुझे दान देकर मेरी रक्षा करें। तथा च यदि दीक्षित जी की व्यञ्जना मान भी ले तो 'साधु दूति.....' वाले श्लोक की तरह वाच्य क्षणभंगुर नहीं है। वहाँ साधुकारिणीत्व सुनने के सुरंत बाद असाधुकारिणी में बदल जाता है जबकि यहाँ सर्वज्ञत्व तथा अधीश्वरत्व इस तरह परिणत नहीं होता है। अतः द्रविड़पुङ्गव (द्रविड़देशीय मूर्ख) ने क्या कहा है यह सज्जन जन विचार करें।

पं. राज कृत इस खण्डन का विरोध उन्हीं के टीकाकार महावैयाकरण 'नागेशभट्ट' ने इन शब्दों में किया है। 'अतिचिरकालं कृतया सेवया दुःखितस्य ततोऽप्राप्तधनस्य भिक्षो राजसेवां त्यक्तुमिच्छत ईदृशवाक्ये वक्तृ वैशिष्ट्यादि सहकारेणापात प्रतीयमानस्तुतेर्निन्दापर्यवसायितया विद्युद्भङ्गुर प्रतिभत्वमस्त्येवेति सम्यगेवोक्तं द्रविड़ शिरोमणिना।'[२६]

तात्पर्य है कि कवि राजा के दरबार में चिरकाल तक सेवा करता रहा है। फिर भी उसे उपयुक्त दान नहीं मिला है जिससे तंग आकर वह दरबार छोड़ना चाह रहा है। ऐसी अवस्था में सर्वज्ञत्व तथा अधीश्वरत्व रूप स्तुति निन्दा में पर्यवसित होती है तथा यहाँ भी 'साधु इति.....' की तरह क्षणभङ्गुरत्व है ही।

यहाँ 'पं. राज' की उक्ति क्या कहना चाहती है पता नहीं? वो कहते हैं कि राज वर्णन प्रस्ताव में राजा के लिए अज्ञ तथा पामर कहना उचित (विवक्षित) नहीं है। तथा च आप सर्वज्ञ होकर भी मेरी सहायता नहीं करते यह उलाहना भी विवक्षित नहीं हो सकती? क्योंकि यह उलाहना सर्वज्ञत्व तथा सर्वदातृत्व को चिरस्थायी बनाएगा जिससे इन दोनों शब्दों का क्षणभङ्गुरत्व खत्म हो जाएगा। यह कथन केवल अपने तर्क को उपस्थापित करने

के लिए ही है। कवि दरबार में राजा को अज्ञ तथा पायर क्यों नहीं कह सकता? वह नहीं कह सकता जो स्वयं पं. राज की तरह चाटुकार हो। अन्यथा स्वाभिमानी तो कुछ भी कह सकता है। अब जरा विचार कीजिए कि जब कोई अपने को सर्वगुणसम्पन्न कहता है वास्तव में वह तत् योग्य नहीं होता वो उसके ऐश्वर्य तथा दुष्ट प्रवृत्ति आदि के कारण चाटुकार तो उसकी बातों को मान लेते हैं पर यदि कोई स्वाभिमानी वहाँ हो तो स्पष्ट कह देता है कि 'हाँ-हाँ भगवान ने ज्ञान का भण्डारी तुम्हें ही बनाया है।' इस तरह यहाँ ज्ञान का भण्डारी अज्ञानी में परिवर्तित होता है या नहीं? निश्चित होता है। इसी तरह यह कवि उस दरबार में है जहाँ चाटुकारों से घिरा राजा केवल स्वप्रशंसा से संतुष्ट रहने वाला है। इस तरह यह कवि जो वास्तव में विद्वान है पर चाटुकार नहीं। राजा की कृपा से वञ्चित रह जाता है। नित्य चाटुकारों की बढ़ती स्थिति को देखकर वह कवि तंग आ जाता है और दरबार छोड़ने का मन बना लेता है। जाते-जाते वह भरे दरबार में राजा का व्यंग्य उड़ाता है। इसलिए वह कहता है कि देखो भगवान शंकर के अभाव में सब सभी जगह चले गए। उनकी सर्वज्ञता तथा अधीश्वरता तुम्हारे पास आ गयी और उनका भिक्षाटन मेरे पास आ गया। इसका सीधा भाव यही आता है कि कहने के लिए (चाटुकारों के द्वारा) सर्वज्ञता तो तेरे पास है पर वास्तव में तुम जानते कुछ नहीं, यदि तुम्हें अपने राज्य का कुछ भी ज्ञान होता तो मुझ जैसा विद्वान् भूखों नहीं मरता और चाटुकार जैसे मूर्ख तुझे प्रिय नहीं होते? अर्थात् तुम न वास्तविक सर्वज्ञ हो न अधीश्वर तुम निश्चित अज्ञ या पामर हो। अब रही बात यह कि अज्ञ तथा पामर से दान देने की उलाहना कैसे हो सकती है? तो सीधा सा उत्तर है कि यहाँ दान देने की उलाहना है ही नहीं। यहाँ तो कवि को राजा की अज्ञता सिद्ध करना है। इस तरह यहाँ सर्वज्ञ तथा अधीश्वरत्व की क्षणभंगुरता भी सिद्ध हो जाती है। क्योंकि जो कवि राजा से इस कदर दुःखी हो और अपने दुःख का कारण राजा को समझता हो वह भला सर्वज्ञ तथा अधीश्वर क्यों कहेगा? अतः अज्ञ तथा पामर में सर्वज्ञ तथा अधीश्वर पद तुरन्त परिवर्तित हो जाता है। अब आप यह कह सकते हैं कि स्वयं दीक्षित जी ने यह व्याख्या की है कि मेरी दरिद्रता को जानते हुए भी तुम मेरी सहायता (दान से) नहीं करते

हो यह निन्दा है। तो मैं यह कहता हूँ कि भाव (कवि का) ऊपर वाला ही है कि यदि तुम वास्तव में सर्वज्ञ होते तो मेरी दरिद्रता जरूर दूर करते परञ्च तुम तो मेरी दरिद्रता को देखकर भी चाटुकारों के वशीभूत होकर मुझे नहीं जानते। इस तरह राजा की स्तुति निन्दा में पर्यवसित हो जाती है। अब सहृदय स्वयं विचार कर लें कि वास्तव में दीक्षित ने क्या कहा और 'पं. राज' ने क्या कहा? शायद इससे पं. मदनमोहन झा के उस आशय का भी उत्तर हो गया है जिसमें उन्होंने कहा है कि 'अज्ञ और पामर' के लिए 'मेरी रक्षा क्यों नहीं करते' यह उलाहना उचित नहीं है।,

असङ्गति

इस अलंकार के विवेचन प्रसंग में दीक्षित जी ने तीन प्रकार दिखाये हैं। (1) जहाँ कार्य तथा कारण का भिन्न स्थलों में आपाततः विरुद्ध रूप में वर्णन हो। (2) जहाँ किसी विशेष स्थान पर करणीय कार्य को किसी दूसरे स्थान पर किया जाये। (3) जहाँ किसी कार्य के प्रवृत्त कोई व्यक्ति उसके विरुद्ध कार्य करे।

इसमें प्रथम भेद तो पं. राज मानते हैं पर दूसरे तथा तीसरे भेद को स्वीकार नहीं करते। क्रमशः दीक्षित जी के उदाहरण का खण्डन करते हैं।

द्वितीय का उदाहरण है-'अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन् द्यां तथाऽकृथाः।' यहाँ दीक्षित जी के अनुसार भगवान श्री कृष्ण पृथ्वी को अपारिजात (दुश्मन रहित) करने आए थे पर उन्होंने स्वर्ग को अपारिजात (पारिजात वृक्षविहीन) कर दिया। यहाँ जो कार्य धरती पर करना था उसे स्वर्ग में किया। अतः कर्त्तव्य के देशान्तर से यहाँ असंगति है।

पं. राज कहते हैं कि यह उचित नहीं है। यह उदाहरण प्रथम भेद में ही समाहित हो जाएगा। क्योंकि यहाँ 'चिकीर्षा' (करने की इच्छा) कारण है तथा उसका कार्य है अपारिजात होना। यह अपारिजात धरती न होकर स्वर्ग हुआ है अतः कार्यकारण भिन्नदेशस्थ है, अतः यहाँ असंगति का पहला भेद है।[२६] यहाँ तात्पर्य यह है कि चिकीर्षा रूप कारण कार्य समानदेशस्थ होते हैं। यहाँ कारण पृथ्वी पर था पर कार्य स्वर्ग में हुआ, अतः कारण कार्य में भिन्नदेशत्व हुआ जो विरुद्ध है, अतः प्रथम भेद है।

पर यहाँ देखना यह है कि चमत्कार किसमें है। यहाँ चमत्कार इस बात में है कि कार्य कर्त्तव्य था पृथ्वी पर, लेकिन हुआ है स्वर्ग में। यहाँ प्रमादवश कार्यस्थल परिवर्तन में चमत्कार है। यह चमत्कार प्रथम भेद से पृथक् ही है। पं. राज का यह कहना कि जिस आलम्ब में कार्य की इच्छा होगी कार्य वहीं होगा। यह उचित नहीं है। प्रमादी व्यक्ति करना कहीं और चाहता है करता कहीं और है। यहाँ वैयाकरण नागेशभट्ट के अनुसार चिकीर्षा किसी कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकता। ज्ञान से इच्छा इच्छा से कृति (यत्न) कृति से कार्य होता है। अतः इच्छा रूप चिकीर्षा कृति से पूर्ववर्ती होने के कारण कार्य से साक्षात् सम्बन्ध नहीं रखती। तथा च यहाँ चमत्कार इसलिए है कि अन्य स्थल पर करने के लिए अभिलषित कार्य अन्यस्थल पर कर देना वर्णित है। अतः यह भेद पहले भेद से पृथक् है।[२८]

तीसरा उदाहरण है–गोत्रोद्धार प्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्धारं पुराऽकरोः। गोत्रोद्धार (गंगा पृथ्वी के उद्धार) के लिए प्रवृत्त होने पर भी गोत्रोद्भेदन (गोत्र–पर्वत का भेदन) कर दिया। यहाँ पं. राज का कहना है कि गोत्रोद्धार विषयक प्रवृत्ति गोत्रोद्धार रूप कार्य के विरुद्ध है। यहाँ विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति रूप विभावना है। तथा गोत्रोद्धार का कारण होते हुए भी वह कार्य नहीं हुआ। (तद्विरुद्ध हुआ) अतः विशेषोक्ति है। इस तरह विभावना विशेषोक्ति का संकर है।[२९]

यहाँ भी उपालम्भनात्मक वचन में चमत्कार है यह देखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आपने करना चाहा कुछ और किया कुछ। इस तरह आपके कथन तथा प्रवृत्ति का कोई भरोसा नहीं। इस उलाहना में ही चमत्कार है। यहाँ विरुद्ध कृति के भान द्वारा चमत्कार होता है और विभावना में तो विरोध की निवृत्ति के कारण भी चमत्कार हो जाता है। अतः दोनों में अंतर है। यह नागेश का कथन है।[३०]

इसी तरह एक और उदाहरण 'त्वत्खड्ग खण्डित' का भी पं. राज ने खण्डन किया तथा नागेशभट्ट ने मण्डन किया। (देखे रसगंगाधर पृ. ४६७–४६८)

इस तरह बहुत सारे अलंकारों का विवेचन दिखाया जा सकता है। परञ्च यहाँ उसकी उपयोगिता नहीं है। दो अलंकार मैंने इसलिए दिखाए हैं कि पं. राज कृत खण्डन ही

अन्तिम सीमा नहीं है। यह ज्ञात हो जाए। यह शंका हो सकती है कि नागेशभट्ट के द्वारा पण्डित राज के मत को नहीं मानने वाले पक्ष को आप मजबूत क्यों मानते हैं। उत्तर है कि पं. राज ने चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द को केवल खण्डन करने वाली नजरों से देखा था। केवल दोष ढूढ़ने की कोशिश की थी गुण पक्ष को कभी नहीं देखा न देखने की कोशिश की। परञ्च नागेश ने रसगंगाधर तथा कुवलयानन्द दोनों पर टीका लिखी है। इन्होंने दोनों के गुण-दोषों को परखा है। दीक्षित जी के पक्ष को समझने की कोशिश की है। ऐसी परिस्थिति में नागेश का विचार 'पं. राज' के विचार से मजबूत तथा उचित जरूर है। यह बात पहले से ही ज्ञात है कि पं. राज दीक्षित जी का खण्डन करना अपना इष्ट समझते थे। चाहे तर्क कहीं से लाना पड़े। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पं. राज तत्वचिन्तन को छोड़ विपक्षी होने के नाते केवल विरोध करना जानते थे। यह बात अलग है कि पाण्डित्य प्रकर्ष के कारण स्वपक्ष में उनके पास तर्क उपस्थित होता था। ऐसी परिस्थिति में मैथिल श्रोत्रिय प्रवर कविशेखर बदरीनाथ झा की पंक्ति पं. राज पर सटीक बैठती है-

परदोष निरखवा में अवाध
दुर्जन परितोषव ककर साध्य।[३१]

जहाँ तक बन पड़ा है पं. राज ने दीक्षित जी का खण्डन अवश्य किया है। चाहे वो चित्रमीमांसा हो या कुवलयानन्द।

यह भी तय हो चुका है कि जिस समय पं. राज युवा रहे होंगे उस समय दीक्षित जी वृद्ध होंगे। दीक्षित जी इनके उग्र स्वभाव से पूर्ण परिचित थे, अतः स्वयं इससे बचना चाहते थे। यह तो स्वभावतः सिद्ध है कि वृद्ध उद्धत युवा से टकराना नहीं चाहते। ऐसा भी हो सकता है कि दीक्षित जी पं. राज के कथन को अपनी नजरों में न लाते हों यह समझकर कि चलो यह तो उद्धत है ही इसको जवाब देने से क्या फायदा। जो बकता है बकने दो। कालान्तर में वही प. राज का कथन सर्वसम्मत हो गया। दूसरा कारण यह भी है संस्कृत जगत में यह बुराई काफी घर कर गई है कि किसी को महान् कहकर उनकी उक्ति को

आँख मूंदकर शिरसा धारण कर लिया जाता है। उनके कथन पर टीका टिप्पणी तो दूर कोई सामान्य विवेचन नहीं चाहता। केवल यही कहा जाता है कि वो तो महान है उनकी पंक्ति किसे लगेगी? यह बुराई पहले नहीं थी। प्रायः हम देखते हैं कि नागेश विश्वेश्वर आदि तक खण्डन-मण्डन चला करता था। इसके बाद कालान्तर में यह बुराई आती गई और अभी तो पूर्ण व्याप्त है।

यदि वर्तमान में देखे तो, अभी एक युवा तुर्क उत्पन्न हुआ है 'ब्रह्माण्ड गुरु'। पता नहीं इसका वास्तविक नाम क्या है। परञ्च इसने अपने को ब्रह्माण्ड गुरु घोषित कर दिया है। मान्यचरण करपात्री जी, आशाराम बापू जी, यहाँ तक कि स्वामी विवेकानन्द तक को इस ब्रह्माण्ड गुरु ने गलत बताया है। इसकी पुस्तकें छपती हैं। मान्य विद्वानों को यह शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित करता है। अब बताएं क्या? आशाराम जी बापू आदि सदृश विद्वान इस युवा के डर से शास्त्रार्थ नहीं करते हैं? नहीं ऐसी बात नहीं है। अपितु इसकी उद्धतता पर वो महान लोग नजर नहीं देते। हो सकता है कि कालान्तर में इसी 'ब्रह्माण्ड गुरु' की बुद्धि के पक्ष में व्याख्या करने वाले लोग हो जाए तो निश्चित ही इदानीन्तन विद्वान कालान्तर में दब जाएंगे। यही स्थिति पं. राज तथा दीक्षित जी के साथ लागू होती है।

दीक्षित जी ने दर्शनादि सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलायी है। सौ से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। ऐसे विद्वान के पद-पद का खण्डन देखकर हम यह विश्वास कर लें कि दीक्षित जी की लेखनी इतनी कमजोर थी यह संभव नहीं है।

कालान्तर में अप्पय दीक्षित के भाई के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने पं. राज कृत खण्डन को बर्दाश्त नहीं किया तथा 'चित्रमीमांसा दोषधिक्कार' नामक ग्रन्थ लिखकर पं. राज को जवाब दे दिया।

एक श्लोक के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि दीक्षित जी ने भट्टो जी दीक्षित, पं. राज आदि को शास्त्रार्थ में विजय किया था। अपने ७२ वें वर्ष में वो विश्वजित याग करने के उद्देश्य से पृथ्वी का भ्रमण कर रहे थे इसी क्रम में भट्टो जी आदि को हराया था। पं. राज का उद्धार कर दिया। तात्पर्य यह कि जिसे पहले जातिच्युत कर दिया था उसे पुनः मुक्त कर

दिया। स्वकृत च्युति से पं. राज की स्थिति को देखकर अपनी वृद्धावस्था में उसे मुक्त कर देना दीक्षित जी के दयालु स्वभाव का परिचायक है या फिर पं. राज ने माफी मांग ली हो। परञ्च यह (माफी मांगना) पं. राज के उग्र स्वभाव के अनुकूल सही नहीं लगता है। यह श्लोक है-

यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे वुधानिर्जिताः
भट्टोजिप्रमुखाः स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः।
पूर्वेऽर्धे चरमे, द्विसप्ततितमस्याव्दस्य सद्विश्वजि-
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज्योतिः सतां पश्यताम्।

'कुवलयानन्द' में १२३ अलंकारों का विवेचन उपलब्ध है। इसमें लगभग १०० 'चन्द्रालोक' का ही है। अन्यत् अन्य है। यहाँ एक लाभ तो अलंकार जगत को हुआ है कि दीक्षित जी के समय तक के मान्य अलंकारों का परिचय यहाँ एकत्र उपलब्ध हो जाता है। यहाँ केवल अन्य के मतों को यथारूप में रखकर दीक्षित जी ने संकलन कर दिया है ऐसी बात नहीं है। इन्होंने सारे अलंकार जगत को देखकर अपनी विवेचन दृष्टि से परीक्षण कर उपयुक्त अलंकार को यहाँ रखा है। बहुत ऐसे अलंकार हैं जिसे प्रसिद्ध आलंकारिकों ने स्वीकार नहीं किया है, परञ्च इन्होंने वहाँ वैचित्र्यविशेष को परखा तो स्वीकार कर लिया। जैसे 'परिकराङ्कुर' को ले लें। इसको मम्मटादि प्रसिद्ध आचार्यों ने नहीं माना है। परिकर में साभिप्राय विशेषण होता है तथा परिकराङ्कुर में साभिप्राय विशेष्य। इस साभिप्राय विशेष्य वाले स्थान पर साभिप्राय विशेषण वाले चमत्कार से कुछ पृथक् चमत्कार तो होता ही है और चमत्कार का पृथक् होना ही तो अलंकार को पृथक् करता है। इसी तरह 'प्रस्तुताङ्कुर' को ले लें। अप्रस्तुत प्रशंसा में एक प्रस्तुत होता है दूसरा अप्रस्तुत। यहाँ अप्रस्तुत का वर्णन होता है। प्रस्तुताङ्कुर में वर्ण्य तथा व्यंग्य दोनों प्रस्तुत होते हैं। प्रसिद्ध आलंकारिक लोग यहाँ भी अप्रस्तुत प्रशंसा ही मान लेते हैं क्योंकि वर्ण्य या विवक्षा को देखकर एक को अप्रस्तुत या प्रस्तुत मानकर दूसरे को उसका उलटा मान लेते हैं। यहाँ भी वर्ण्य को अप्रस्तुत प्रशंसा की तरह ही अप्रस्तुत मान लेते हैं। पर जरा प्रस्तुताङ्कुर को देखें तो यहाँ वास्तव में वाच्य

तथा व्यंग्य दोनों प्रस्तुत होते हैं। दीक्षित जी ने जो उदाहरण दिया है – कि भृङ्ग सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया। इसमें भृङ्ग भी उपस्थित है तथा नायक भी। क्योंकि प्रसङ्ग ऐसा है–एक हसीन नायिका अपने प्रिय को उद्यान में ढूंढ़ रही है। बहुत समय बाद जब वह नायक को आता हुआ देखती है तब सामने एक भौंरे को केतकी पर से उड़ता देखकर यह वाक्य कहती है। तब तक नायिका को यह ज्ञान हो चुका है कि यह नायक किसी और नायिका के पास अब तक था। यहाँ तात्पर्य यह होता है कि अरे भौंरे जब तक मालती है तो इस केतकी के चक्कर में क्यों पड़ते हो? कहाँ वह सुन्दर मालती और कहाँ कण्टकपूर्ण केतकी? इससे वह नायक को कहना चाहती है कि मुझ जैसी सुन्दरी को छोड़कर किसी और के पास जाने से तुम्हें क्या मिलेगा? अर्थात् हमसे सुन्दर तुम्हें कोई नहीं मिलेगी। यहाँ वाच्य (भ्रमर वृत्तान्त) तथा व्यंग्य (नायक) दोनों प्रस्तुत है। किसी को अप्रस्तुत नहीं कह सकते। इस तरह यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा से पृथक् चमत्कार है ही।

इसी तरह जहाँ दीक्षित जी ने कुछ वैचित्र्यविशेष देखा वहाँ नया अलंकार स्वीकार किया। इसी तरह 'कारक दीपक' विशेषक मिथ्याध्यवसिति आदि अलंकार भी हैं।

इस तरह मैंने केवल यह प्रयास किया है कि आचार्य अप्पय दीक्षित का सामान्य परिचय, पं. राज के खण्डन का मूल कारण तथा दीक्षित जी की विद्वता का साधारण परिचय मिल जाए। क्रमशः यदि अलंकारों का वर्गीकरण 'कुवलयानंद' में विवेचन आदि उपस्थापित करने लगे तो अनपेक्षित विस्तार होगा। एतदर्थ अन्यत्र अवलोकन अपेक्षित है।

जो मेरा वाञ्छित है उसमें मैं कितना सफल हो सका हूँ इसका निर्णय सहृदय सुधीजन ही कर सकते हैं। और अन्त में–

लोभ से जनमी चपलता ने किया है धृष्टता
बर्ना, कहां विद्वत् कथन, और है कहां ये मूर्खता?
कृपया इसे देकर क्षमा, उत्साह सम्वर्द्धन करे
निज मन्त्रणा से अज्ञता हर, विज्ञता इसमें भरे॥

विनीत

निरञ्जन मिश्र

श्रीः

कुवलयानन्दः

अमरी कबरी भार भ्रमरी मुखरी कृतम्।
दूरी करोतु दुरितं गौरी चरणपङ्कजम्॥ १॥

"निर्मला"

पथ बाधक तम नाश कर, हों प्रसन्न जगदीश
नव–पथ–गमनोत्सुक बना आज झुकाऊँ शीश।

गन्ता हूँ मैं बालमन, पथ है यह अज्ञात
साथी वन मेरे चलो, भस्म विलेपित गात॥

मंगलाचरण

स्वकीय कार्य की सफता के लिए, आदितः इति पर्यन्त संभाव्य विघ्न–विनाशार्थ परम्परानुसार कुवलयानन्दकार (श्रीमदप्पय दीक्षित) अपने इष्ट देवता का स्मरण करते हैं।

सुर ललनाओं के केश गुच्छ रूप भ्रमरियों के गुञ्जायमान गौरी (पार्वती) के चरण कमल पाप का निवारण करें।

प्रत्येक शुभ कार्यारम्भ में मंगलाचरण किया जाता है। कार्य समाप्ति तक सभी संभावित विघ्नों को नाश करने की क्षमता इस मंगलाचरण में होती है, ऐसी मान्यता है। कार्यारम्भ करने वाला अपने इष्ट देवता का स्मरण करता है ताकि कोई बाधक तत्त्व मुझे इस कार्य से विरमित न कर सकें। यही 'स्मरण' या इष्टदेव से अपना निवेदन मंगलाचरण कहलाता है।

यहाँ श्रीमदप्पय दीक्षित ने तीन मंगलाचरण किये हैं। पहले में गौरी की वन्दना, दूसरे में गौरी शंकर को नमन और तीसरे में मुकुन्द से कल्याण की कामना की गई है। इस प्रथम श्लोक में गौरी के चरण कमल से पाप निवारणार्थ निवेदन है। यहाँ सुर ललनाओं के केशपास में भ्रमर का आरोप किया गया है। चरण में पंकज का आरोप होने के रूपक अलंकार हो सकता है। लेकिन यहाँ रूपक नहीं है क्योंकि रूपक अलंकार में उपमेय का

उपमान के साथ अभेद सम्बन्ध मात्र होता है। यहाँ जिस चरण में कमल का आरोप दीख रहा है, वह चरण पाप निवारण की योग्यता रखता है और पाप निवारण कमल से संभव नहीं है, वह चरण रूप उपमेय में परिणत होकर ही पाप निवारण कर सकता है। जहाँ उपमान उमेय में परिणत हो कर ही क्रिया सिद्धि में उपयोगी होता है वहाँ परिणाम अलंकार होता है। इसलिए चरण पंकजम् में परिणाम अलंकार है रूपक नहीं। यहाँ 'चरणं पंकजमिव' इस तरह उपमालंकार की शंका भी हो सकती है। लेकिन यह संभव नहीं है, क्योंकि विशेषण वाक्य के रूप में प्रयुक्त भ्रमरियों का गुञ्जार केवल पंकज से ही सम्बन्ध रखता है, चरण से नहीं। उपमा में विशेषणवाक्य उभय पक्ष से सम्बन्ध रखता है। देव ललनाओं के केशपास में भ्रमरी का आरोप होने से रूपक अलंकार है। परञ्च विवेचन करने पर यहाँ भी परिणाम अलंकार ही है, क्योंकि गुञ्जार करना केशपास से सम्भव नहीं है। गुञ्जार करने के लिए केशपाश रूप उपमेय को भ्रमर रूप उपमान ही बनना पड़ेगा। 'कवरीभार भ्रमरी' ओर 'चरण पंकजम्' में क्रमशः आरोप्यमाण परिणाम और विषय परिणाम अलंकार है। इसकी विशेष व्याख्या परिणाम अलंकार की व्याख्या में की जाएगी।

इस श्लोक में सुरललना,का पार्वती विषयक रति, कविहृदयगत पार्वती विषयक रति का अंग बनकर आया है, अत: यहाँ प्रेयस् अलंकार भी है। कुछ लोग यहाँ सुरललनाओं के द्वारा नमन से पार्वती का वैशिष्ट्य बोधन मानकर कविहृदयगत पार्वतीनिष्ठ रति को स्वीकार कर रति नामक भावध्वनि मानते हैं। एक भाव दूसरे का अंग होने के कारण अपरांग नामक गुणीभूतव्यंग्य है।

परस्पर तपः सम्पत्फलायित परस्परौ
प्रपञ्च माता पितरौ प्राञ्चौ जायापती स्तुमः

हम उन पुरातन दम्पती (शिव-पार्वती) की स्तुति करते हैं, जिन्होंने एक दूसरे को अपनी तपस्या के फल के समान प्राप्त किया है और जो इस जगत् (सांसारिक प्रपञ्च) के माता-पिता हैं।

शिव-पार्वती को प्राचीनतम दम्पत्ती स्वीकार कर उनकी स्तुति की गई है। 'प्राञ्चौ' पद पुरातनत्व द्योतनार्थ प्रयुक्त हुआ है। ये दोनों (शिव और पार्वती) अपनी-अपनी

तपस्या के फल के समान है अर्थात पार्वती ने जो कठिन तप किया, उसके फलस्वरूप उसे शिव जैसे पति मिले और शिव की जो तपस्या है, उसके फलस्वरूप उन्हें पार्वती जैसी पत्नी मिली। अन्यथा बिना तपस्या के शिव जैसे पति और पार्वती जैसी पत्नी नहीं मिल सकती। महाकवि कालिदास ने अपने कुमार संभवम् पञ्चम सर्ग में यह स्पष्ट उल्लेख किया है-

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधः प्रेम पतिश्च तादृशः। 5/2

यहाँ 'फलायित' पद से परस्पर दोनों को तपस्या के फल की उपमा दी गई है। एक ही पद से दोनों उपमा का बोध होने से एक वाचकानु प्रवेश रूप संकर अलंकार है। यद्यपि यह एक वाचकानु प्रवेश संकर एक शब्दालंकार और एक अर्थालंकार की योजना एक साथ होने पर लाक्षणिकों ने स्वीकार किया है, लेकिन स्वयं श्रीमदप्पय दीक्षित दो अर्थालंकारों या दो शब्दालंकारों के रहने पर भी इस अलंकार को मानते हैं। इसकी व्याख्या संकर अलंकार की व्याख्या में की जाएगी।

कुछ लोग जगत् के माता-पिता मानने के रूपक अलंकार मानते हैं जो उचित प्रतीत नहीं होतां। प्राचीनतम दम्पत्ती होने के कारण जगत् के माता-पिता तो वह वास्तव में हैं। उन्हीं से यह संसार होता है और विलीन होता है। महाकवि कालीदास ने भी जगत् के माता-पिता के रूप में ही वन्दना की है।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ। १।१

यहाँ प्रपञ्चस्य माता-पितरौ इस तरह समास होने पर रूपक का प्रश्न ही नहीं उठता है। तपः सम्पत् में रूपक अलंकार माना जा सकता है। 'तपस्या रूप सम्पत्ति' इस तरह व्याख्या करने से यहाँ रूपक आता है। रूपक और एकवाचकानुप्रवेश रूप संकर अलंकार होने से यहाँ संकर अलंकार है।

जगत् के माता-पिता के प्रति कवि हृदयगत रति होने से भावध्वनि है।

उद्घाट्य योग कलया हृदयाब्जकोशं
धन्यैश्चिरादपि यथारुचि गृह्यमाणः।
यः प्रस्फुरत्यविरतं परिपूर्णरूपः
श्रेयः स मे दिशतु शाश्वतिकं मुकुन्दः ॥ 3 ॥

धन्य (योगियों के द्वारा) के द्वारा अपनी योग शक्ति से हृदय कमल के कोश को उद्घाटित कर स्वरुचि के अनुकूल यथेच्छ काल तक ग्रहण किया जाता है और जो परिपूर्ण रूप है तथा जो अनवरत प्रस्फुटित होते रहते हैं, वो मुकुन्द (भगवान) शाश्वत श्रेय मुझे प्रदान करें।

यहाँ मुकुन्द के रूप में परिपूर्ण ब्रह्म की स्तुति की गई है। पूर्ण ब्रह्म का स्फुरण कुछ लोग नहीं मानते हैं। इनके मत से यहाँ परम ब्रह्म के उपासनात्मक रूप की कल्पना की गयी है। परञ्च परम ब्रह्म की पूर्णता कभी खत्म नहीं होती है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

यही परमब्रह्म योगियों के हृदय कमल में निवास करते हैं। योगबल से ही प्रकाशस्वरूप पूर्ण ब्रह्म का आस्वाद हृदय कमल के मध्य योगियों को मिलता है। यहाँ योगियों का ब्रह्म के प्रति रति कविरत भगवन्निष्ठ रति का अंग है। हृदय में अब्जकोश का आरोप होने से रूपक अलंकार है।

अलंकारेषु बालानामवगाहनसिद्धये
ललितः क्रियते तेषां लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ॥ 4 ॥

अलंकार शास्त्र में बालकों के अवगाहन सिद्धि के लिए अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों का ललित संग्रह किया जा रहा है।

अपने ग्रन्थ निर्माण का प्रयोजन यहाँ बताते हुए अप्पय दीक्षित कहते हैं कि बालकों का अवगाहन अलंकार शास्त्र में हो, इसलिए मैं अलंकारों के लक्षण और उदाहरण का संग्रह कर रहा हूँ। यहाँ 'बालानां' यह पद अव्युत्पन्न मति वालों का बोधक है। 'अवगाहन' पद विशेष दक्षता का बोधक है। नदी में वही कुशलतया डूबकर स्नान करते हैं, जिनको

तैरना आता है। डूबने का भय नहीं रहता है, अन्यथा डूबने की आशंका से लोग डरते हुए स्नान करते हैं। अवगाहनसिद्धि तभी होगी जब इस संसार में तैरने का वह अधिकारी हो जाएगा। अत: अव्युत्पन्न बुद्धि वालों को अलंकार शास्त्र में पारंगत बनाने के लिए यह सुन्दर संग्रह किया जा रहा है, यह दीक्षित जी का आशय है। 'तेषां' पद से अलंकाराणां पद की विवक्षा है।

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्य लक्षण श्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥ 5॥

चन्द्रालोक (पीयूष वर्ष जयदेव रचित) में जिन अलंकारों के लक्ष्य लक्षण वाले श्लोक जो लिखे गये हैं। यहाँ (कुवलयानन्द) वही रखे जा रहे हैं। उससे अतिरिक्त जो अलंकार आए हैं, उसके लिए लक्ष्य लक्षणात्मक श्लोक नए लिखे जा रहे हैं।

कुवलयानन्द नामक एक अलंकार ग्रन्थ अप्पय दीक्षित ने पीयूषवर्ग जयदेव रचित 'चन्द्रालोक' के पश्चात् लिखा है, यह तो स्पष्ट है ही। श्रीमदप्पय दीक्षित ने केवल उन्हीं अलंकारों के लक्षण लक्षणात्मक श्लोक लिखे हैं जो 'चन्द्रालोक' से अधिक हैं। यहाँ चन्द्रालोक गत अलंकारों के अतिरिक्त निम्न अलंकारों को रखा गया है।

(१) प्रस्तुतांकुर (२) अल्प (३) कारक दीपक (४) मिथ्याध्यवसिति (५) ललित (६) अनुज्ञा (७) मुद्रा (८) रत्नावली (९) विशेषक (१०) गूढ़ोक्ति (११) विवृतोक्ति (१२) युक्ति (१३) लोकोक्ति (१४) छेकोक्ति (१५) निरुक्ति (१६) प्रतिषेध (१७) विधि।

इन अर्थालंकारों के अतिरिक्त शब्दालंकारों के भी कुछ नये भेद कल्पित हैं, जो तत्तत् अलंकारों की व्याख्या में स्पष्ट हो जाएँगे। चन्द्रालोककार ने रसवदादि अलंकारों का संकेत मात्र किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें ये अलंकार मान्य नहीं हैं। अप्पय दीक्षित ने सात रसवदादि अलंकार १० प्रमाण अलंकारों को भी अलंकार की कोटि में रखा है। अतिरिक्त अलंकारों के उद्भावन का श्रेय भी दीक्षित जी को पूर्णरूपेण कतिपय विद्वान् नहीं देते हैं। इसकी विस्तृत मीमांसा तत्तत् अलंकारों की व्याख्या के साथ ही की जाएगी।

(१) उपमालङ्कार

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसतिद्वयोः
हंसीव कृष्ण! ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते॥ ६॥

यत्रोपमानोपमेययोः सहृदयहृदयाह्लादकत्वेन चारु-सादृश्यमुद्भूततयोल्लसति, व्यंग्यमर्यादां बिना स्पष्टं प्रकाशते तत्रोपमा लङ्कारः। हंसीवेत्युदाहरणम्। इयं च पूर्णौपमेत्युच्यते। हंसी कीर्तिः स्वर्गङ्गावगाहनमिव शब्दश्चेत्ये तेषामुपमानोपमेय साधारण धर्मोपवाचकानां चतुर्णामप्युपादानात्।

जहाँ दो (उपमान और अपमेय) से सादृश्य से विशिष्ट शोभा उत्पन्न होती है वहाँ उपमा अलंकार होता है। (जैसे) हे कृष्ण! तुम्हारी कीर्ति हंसिनी की तरह स्वर्गङ्गा का अवगाहन करती है।

जहाँ व्यंग्य के बिना अर्थात वाच्य के द्वारा ही उपमान और और उपमेय की सहृदयों के हृदय को आह्लाद देने वाली सादृशता उल्लसित होती है, वहाँ उपमा अलंकार होता है। 'हंसीव' इत्यादि इसका उदाहरण है। यह पूर्णोपमा कहलाती है। यहाँ हंसी उपमान कीर्ति उपमेव स्वर्गङ्गावगाहन साधारण धर्म और इव उपमान वाचक है। उपमान-उपमेय-साधारण धर्म और वाचक इन चारों के रहने से यहाँ पूर्वोपमा अलंकार है।

अर्थालंकारों में उपमा सादृश्यमूलक अलंकार है। यह अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इस अलंकार की महत्ता को बताते हुए राजशेखर ने इसे कवि वंश की 'माता' कहा है-

अलंकार शिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम्।

अलंकार सर्वस्वकार ने इस अलंकार की महत्ता स्पष्ट करते हुए लिखा है- "उपमैवानेक प्रकार वैचित्र्येण अनेकालंकार बीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।" 'चित्रमीमांसा' में स्वयं अप्पय दीक्षित इस अलंकार को नटी बताते हैं और कहते हैं कि यही नटी चित्रभूमिका के भेद के सहृदयों का बहुविध मनोरञ्जन किया करती है-

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

सामान्यतया उपमा अलंकार में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द की अपेक्षा की जाती है। दो पदार्थों में विशिष्ट गुणवाला उपमान, न्यूनगुण वाला उपमेय होता है। दोनों पदार्थों को एक जैसा बताने वाला धर्म साधारण धर्म कहलाता है और यथा, इव, आदि उपमावाचक शब्द हैं। जैसे नेत्र कमल के समान सुन्दर है। यहाँ अधिक गुणयुक्त होने से कमल उपमान और उससे कम गुण होने के कारण नेत्र उपमेय है। सुन्दरता दोनों में है। इसी सुन्दरता रूप आधार पर दोनों एक जैसा हो जाता है। अतः यह साधारण धर्म है। 'समान' शब्द उपमा का वाचक है। यहाँ ऐसे दो पदार्थों की समानता होनी चाहिए, जो सहृदयों को आह्लादित करने की क्षमता रखती हो, अन्यथा वह उपमा अलंकार की श्रेणी में नहीं आ सकता है।

कुछ अन्य लक्षणकारों ने उपमा का लक्षण इस प्रकार किया है-

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा। - भामह

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः
मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तुतत् - उद्भट

उपमा यत्र सादृश्याल्लक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः - जयदेव

साध्र्म्यमुपमा भेदे - मम्मट

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः - विश्वनाथ

स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः।
सामान्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥ - विद्यानाथ

उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः
हृदयं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः - अ. दी. (चि. मी.)

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः - जगन्नाथ

कुवलयानन्दकार द्वारा किया गया यह उपमा लक्षण "उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः" चन्द्रलोककार पीयूष वर्ष जयदेव द्वारा किया गया लक्षण ही है। यह संकेत पहले ही येषा चन्द्रालोके ..... श्लोक में दिया जा चुका है। परञ्च उदारहणार्थ उत्तरभाग अप्पय दीक्षित का अपना है। यहाँ उदाहरण के रूप में – 'हंसीव कृष्ण! ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते' रखा गया है। जबकि चन्द्रालोक में इस स्थान पर "हृदये खेलतोरुच्चैस्तन्वङ्गीस्तनयोरिव" लिखा गया है।

यथा वा-

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडा विवेश्वरः
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति॥

अत्र यद्यप्युपमानोपमेययोर्नैकः साधारणो धर्मः। उपमाने ईश्वरे चन्द्रगरलयोर्ग्रहणमुपादानं तयोर्मध्ये पूर्वस्य चन्द्रस्य शिरसा श्लाघनं वहनमुत्तरस्य गरलस्य कण्ठे नियमनं स्थापनम्, उपमेये बुधे गुणदोषयोर्ग्रहणं ज्ञानं तयोर्मध्ये पूर्वस्य गुणस्य शिरसा श्लाघनं शिरः कम्पेनाभिनन्दनमुत्तरस्य दोषस्य कण्ठे नियमनं कुण्ठादुपरि वाचानुद्घाटनमिति भेदात्। तथापि चन्द्रगरलयोर्गुणदोषयोश्च बिम्ब प्रतिबिम्बभावेना भेदादुपादानज्ञानादीनां गृह्णन्नित्येकशब्दोपादानेनाभेदाध्यवसायाच्च साधारण धर्मतेति पूर्वस्मद्विशेषः। वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः परस्पर सादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव इत्यालंकारिक समयः॥ ६॥

जैसे दूसरा उदाहरण-

जिस तरह भगवान् शंकर चन्द्रकला और क्ष्वेड (विष) को एक साथ धारण कर एक (चन्द्रकला) को शिर पर धारण करते हैं, और दूसरे (विष) को कण्ठ में रखते हैं, उसी तरह सज्जन (विद्वान्) लोक गुण और दोष (दोनों को) ग्रहण कर गुण की प्रशंसा (शिर हिलाकर) करते हैं और दोष को कण्ठ में ही रख लेते हैं। अर्थात दोष को प्रकट नहीं करते।

यहाँ यद्यपि उपमान और उपमेय का साधारण धर्म एक नहीं है। उपमान रूप शंकर

में चन्द्र और गरल (विष) का ग्रहण, दोनों में पहले (चन्द्र) का शिर पर धारण और गरल का कण्ठ में स्थापन है और उपमेय रूप विद्वान में गुण दोष का ग्रहण ज्ञान है। पहले गुण का शिरसा श्लाघन अर्थात शिर हिलाकर गुण का अभिनन्दन और दोष का कण्ठ में नियमन अर्थात कण्ठ से बाहर वाणी के द्वारा उद्घाटन नहीं करना है। यही उपमान और उपमेय के भेद हैं तथापि चन्द्र और गरल एवं गुण-दोष का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से अभेद नियमन से ज्ञान और वहन का 'गृह्ण्वन' इस एक पद से उपादान करने से अभेदाध्यवसाय होने के कारण साधारण धर्म है। यही यहाँ पूर्व श्लोक "हंसीव कृष्ण!" इत्यादि से विशेष है। वस्तुतः उपमान और उपमेय के भिन्न धर्मों का भी परस्पर सादृश्य होने से अभिन्न रूप में पृथक उपादान बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव कहलाता है। यह आलंकारिक सम्मत है।

"यह दूसरा उदाहरण पहले उदाहरण से अलग ढंग का है। पहला उदाहरण- 'हंसीव कृष्ण! ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते' में उपमान हंसी और उपमेय कीर्ति का स्वर्गङ्गावगाहन रूप साधारण धर्म एक ही है। अब प्रस्तुत उदाहरण में उपमान और उपमेय का साधारण धर्म अलग-अलग दिखाया जा रहा है। यहाँ शंकर में चन्द्र और विष को धारण करना केवल 'वहनक्षमत्व' को बतलाता है। जबकि विद्वान में गुण और दोष का ग्रहण ज्ञानक्षमत्व को बतलाता है। शंकर केवल चन्द्र और विष को धारण किए हुए हैं। विद्वान् लोक् गुण और दोष को समझकर शिर हिलाकर गुण की प्रशंसा करते हैं और दोष को देखकर या सुनकर चुप हो जाते हैं, पर दोष का उद्घाटन नहीं करते। यहाँ विद्वानों ने ज्ञानक्षमत्व और शंकर में वहनक्षमत्व रूप साधारणधर्म अलग-अलग है। लेकिन यहाँ 'गृह्ण्वन' एक पद से ही विद्वान एवं शंकर (उपमान तथा उपमेय) के पृथक् धर्म में अभिन्नत्व दिखाया गया है। यह अभिन्नत्व बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से होता है। यहाँ चन्द्र का प्रतिबिम्ब गुण में और गरल का प्रतिबिम्ब दोष में दिखाई देता है। चन्द्र के वैशिष्ट्य को देखकर ही शिर पर धारण और गरल का अधमत्व जानकर कण्ठ में धारण वाञ्छित है। गुण की गति उच्च और अवगुण की गति नीच होती है। इसी भाव से चन्द्र गरल और गुण-दोष का 'गृह्ण्वन' पद से उपादान कर अभेदाध्यवसाय किया गया है।"

कुछ लोग बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव में शंका करते हैं। अतः बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का विवेचन आवश्यक है। जिस तरह दर्पण में वैसा ही प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है जैसा बिम्ब के सामने में रखा जाता है, उसी तरह एक पद का दूसरे पद में सादृश्य ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। यद्यपि दोनों का धर्म भिन्न होता है। उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य में पृथक्-पृथक् धर्मों का उपादान होने पर परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। परञ्च प्रस्तुत उदाहरण में श्लाघन और नियमन एक शब्द से ही उपात्त है। यहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव पर शंका इसलिए होती है कि दोनों का साधारण धर्म पृथक-पृथक उल्लिखित नहीं है। परञ्च लेखक स्वयं कह रहा है कि 'गृह्ण्वन' इस एक पद का प्रयोग दोनों के ही समान धर्म को बतलाता है। दोनों का समान धर्म हो जाने से बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने में कोई कठिनाई नहीं है और यदि 'शाब्द' बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव में शंका हो भी तो आर्थी स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। बिम्ब प्रतिबिम्बभाव को शाब्दी होना ही परमावश्यक नहीं माना जा सकता। पं. राज जगन्नाथ ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। जहाँ शब्द से बिम्ब प्रतिबिम्ब होगा, वहां शाब्दी बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव और जहाँ शब्दतः उपात्त नहीं होगा वहाँ आर्थी बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होगा।

वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा॥ 7॥
ताडिद्गौरीन्दुतुल्यास्या कर्पूरन्ती दृशोर्मम।
कान्त्या स्मरवधूयन्ति दृष्टा तन्वी रहो मया॥ 8॥
यत्तया मेलनं तत्र लाभो में यश्च तद्रतेः।
तदेतत्काकतालीयमवितर्कित - संभवम्॥ 9॥

उपमेय उपमान साधारण धर्म और उपमा वाचक शब्द इन चारों में से एक दो या तीन का लोप होने से लुप्तोपमा होती है। यह लुप्तोपमा आठ प्रकार की होती है। ६।

मैंने एकान्त में एक तन्वी (पतली तरूपी) को देखा जो बिजली के समान गौर वर्ण की थी, चन्द्र के समतुल्य उसका मुख था, मेरी आँखों के लिए कर्पूर के समान आचरण

कर रही थी, कान्ति से कामदेव की पत्नी (रति) के समान आचरण कर रही थी। ८।

(तत्र) एकान्त में उस तरुणी का मिलना और मेरे लिए उसके साथ रति (शृंगार) का लाभ 'काकतालीय' की तरह बिना विचार किये संभव हो गया। ९।

पहली कारिका में लुप्तोपमा बताया गया है। उपमा के लिए उपमान उपमेय साधारण धर्म और उपमान वाचक शब्द, ये चारों अपेक्षित हैं, इसमें से किसी का लोप होने से लुप्तोपमा होती है। कहीं एक कहीं दो और कहीं तीन का भी लोप हो जाता है। यह सभी आगे स्पष्ट हो जाएगा। दूसरे श्लोक में लुप्तोपमा का उदाहरण दिया गया है। इसकी व्याख्या आगे वृत्ति में की जा रही है। तीसरे में तरुणी का मिलान और रति प्राप्ति को काकतालीय कहा गया है। इस काकतालीय की व्याख्या वृत्ति भाग में हो रही है। सामान्यतया काकतालीय उसे कहते हैं, जहाँ अकस्मात् ताल फल के नीचे कोई फलाकांक्षी खड़ा हो और एक कौआ आकर ताल फल पर बैठ जाये और फल गिर पड़े। नीचे खड़े व्यक्ति की आशापूर्ति हो जाए। यह सदा अवितर्कित दैव संयोग से ही होता है। न वह व्यक्ति यह सोचकर आता है कि मेरे आने पर कौआ आएगा और फल पर बैठेगा फल गिरेगा; परञ्च ऐसा हो जाने पर उसे दैवसंयोग ही कहा जाता है। ऐसे में असंभव भी संभव हो जाता है।

उपमेयादीनां चतुर्णांमध्ये एकस्यद्वयोस्त्रयांणां वा प्रतिपादक शब्दाभावेन लुप्तोपमेत्युच्यते। सा चाष्टधा। यथा-वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेयलुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमान लुप्ता ७, धर्मोपमानवाचक लुप्ता च 6 इति। तत्रोपमान लोपरहिताश्चत्वारो भेदाः 'तडिद्गौरी' इत्यादि श्लोकेन प्रदर्शिताः। तद्वन्तो भेदा उत्तरश्लोकेन दर्शिताः। तत्र तडिद्गौरी इत्यत्र वाचकलोपस्तडिदिव गौरीत्यर्थे ''उपमानानि समान्य वचनैः (पा. २/१/५५) इति समासविधायकशास्त्रकृतः।'' इन्दुतुल्यास्या इत्यत्र धर्मलोपः स त्वैच्छिको न शास्त्रकृतः कान्त्या इन्दुतुल्यास्येत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्।

उपमेयादि (उपमेय, सामान्य धर्म, उपमानवाचक शब्द) चारों में एक दो या तीन का लोप होने से लुप्तोपमा होती है। यह लुप्तोपमा आठ तरह की होती है। जैसे 1. वाचक

लुप्ता, 2. धर्म लुप्ता, 3. धर्मवाचक लुप्ता, 4. वाचकोपमेय लुप्ता, 5. उपमान लुप्ता, 6. वाचकोपमानलुप्ता 7. धर्मोपमान लुप्ता, 8. धर्मोपमान वाचक लुप्ता। 'तडिद्गौरी' इस श्लोक में प्रथम चार भेदों का उदाहरण दिखाया गया है। उपमान लोप वाले उत्तर के चार भेदों का उदाहरण अगले श्लोक में दिखाया गया है। तडिद्गौरी इस पद में वाचक लोप है। तडित् के समान गौर वर्णवाली नायिका का (गौरी) इस अर्थ में "उपमानानि सामान्य वचनैः" इस समास विधायक सूत्र से समास हुआ है। यह शास्त्रानुसार है। 'इन्दु तुल्यास्या' चन्द्र के समान मुख वाली इस अर्थ में इन्दु और मुख के साधारण धर्म का लोप है। यह लोप कविकृत ऐच्छिक है। शास्त्रानुसार नहीं, क्योंकि कान्ति से इसका मुख इन्दु के समान है; ऐसा भी कहा जा सकता है।

'कर्पूरन्ती' इत्यत्र धर्मवाचकलोपः कर्पूरमिवाचरन्तीत्यर्थे विहितस्य कर्पूरवदानन्दात्मकाचारार्थकस्य क्विप्' इव शब्देन सह लोपात्। अत्र धर्मलोप ऐच्छिकः नयनयोरानन्दात्मकतया कर्पूरन्तीति तदुपादानस्यापि संभावादिति। कान्त्या स्मरवधूयन्ति इत्यत्र वाचकोपमेय लोपः। अत्र कान्त्येतिविशेषण सामर्थ्यात्स्वात्मानं कामवधूमिवाचरन्तीत्यर्थस्य गम्यमानतया स्वात्मन उपमेयस्य सहोपमा वाचकेनानुपादानात्स त्वैच्छिकः, स्वात्मनं स्मरवधूयन्तीत्युपमेयोपादानस्यापि संभवात्।

'कर्पूरन्ती' इस पद में धर्मवाचक लुप्ता है। कर्पूर के समान आचरण करने वाली इस अर्थ में कर्पूर के समान आनन्ददायक आचरण करने वाला' इस अर्थ का बोध करने के लिए 'क्विप्' प्रत्यय हुआ है। इस 'क्विप प्रत्यय' का इव शब्द के साथ लोप हो गया है। यहाँ धर्मलोप ऐच्छिक है, क्योंकि नयनों को आनन्द देनेवाली होने से कर्पूर के समान आचरण करने वाली है, ऐसा उपादान भी किया जा सकता है। "कान्त्या स्मरवधूयन्ति" में वाचकोपमेय लुप्ता है। यहाँ कान्ति रूप विशेषण के द्वारा (सामर्थ्य से) अपने को काम की पत्नी रति के समान आचरण करने वाली इस अर्थ में प्रतीति के लिए आत्मा रूप उपमेय और उपमावाचक शब्द का उपादान नहीं हुआ है। यह ऐच्छिक प्रयोग है। अपनी आत्मा को काम की पत्नी (रति) के समान आचरण करने वाली बनाती है, इस तरह उपमेय

(आत्मा) का उपादान भी सम्भव है।

अब तक लुप्तोपमा के आठ भेदों में से चार का उदाहरण दिया गया है। ये चारों इस प्रकार हैं।

(1) वाचकलुप्ता- जिस उपमा में उपमा वाचक शब्द नहीं होता है, वहाँ वाचक लुप्ता कहलाती है। 'तडिद्गौरी' इस पद में वाचक का अभाव है। तडित् के समान गौर वर्ण वाली इस अर्थ में पाणिनीय सूत्र 'उपमानानि सामान्य वचनैः' से समास हुआ है। यहाँ तडित् उपमान एवं आगे आने वाली तन्वी पद उपमेय तथा गौरी साधारण धर्म है। यहाँ तीन (उपमान, उपमेय और साधारण धर्म) की उपस्थिति है। केवल उपमावाचक शब्द इव आदि का अभाव है। यहाँ इव पद का अभाव शास्त्रानुकूल है। यह वाचक लुप्ता शास्त्रकृत है, ऐच्छिक नहीं। तात्पर्य है कि यहाँ इव शब्द का लोप शास्त्र नियम से है। यह लोप करना ही है। ऐच्छिक लोप वहाँ होता है जहाँ बिना लोप किये कोई शास्त्रविरोध नहीं होता, अपितु कवि अपनी इच्छा से तत्तत् वस्तु का लोप करता है।

(2) धर्मलुप्ता- जहाँ उपमेयादि चारों में से साधारण धर्म का लोप होता है, वहाँ धर्मलुप्ता होती है। इन्दुतुल्यास्या में धर्मलुप्ता है। यहां उपमान इन्दु उपमेय तन्वी और उपमा वाचक शब्द 'तुल्य' है। उपमान और उपमेय के मध्य आह्लाददायकता या कान्ति रूप साधारण धर्म का लोप है। यहाँ यह लोप कवि कृत ऐच्छिक है, शास्त्रकृत नहीं। शास्त्रकृत ऊपर वाले उदाहरण में है, जहाँ शास्त्र से सम्मत लोप है। यहाँ कान्ति का लोप करने के लिए कोई शास्त्रसम्मति नहीं है। यहाँ कान्ति से इन्दु के समान मुख वाली यह कहने पर साधारण धर्म का प्रयोग हो जाता है और शास्त्रविरोध भी नहीं होता। यह लोप कवि अपनी इच्छा से करता है, इसलिए यह ऐच्छिक कहलाता है।

(3) धर्मवाचक लुप्ता- यहाँ उपमान उपमेय साधारण धर्म और उपमान वाचक शब्द में से साधारण कर्म और उपमान वाचक शब्द का लोप होता है। इसका उदाहरण "कर्पूरन्ती" है। "कर्पूर के समान आचरण करने वाली" यह अर्थ अभीष्ट है। कर्पूर से तुलना करना उसके साधारण धर्म की विवक्षा रखता है। जिस तरह की कर्पूर की शीतलता

आनन्ददायिनी है वैसी ही शीतलता इस तन्वी की है, यह अर्थ अपेक्षित है। यहाँ साधारण धर्म, शीतलता और वाचक शब्द 'इव' दोनों का लोप है। यहाँ "कर्पूर के समान आनन्ददायक होने का आचरण करने वाली" इस अर्थ में जो क्विप् प्रत्यय हुआ है उसका इव पद के साथ ही लोप हो गया है। इव शब्द का लोप तो शास्त्रकृत है; परञ्च साधारण धर्म का लो शास्त्रकृत न होकर ऐच्छिक है। यद्यपि क्विप् प्रत्यय साधारण धर्म को बताने वाला ही है। अतः साधारण धर्म को लोप नहीं है, ऐसी शंका की जा सकती है परञ्च आनन्दायकत्व रूप साधारण धर्म का विशेषण रूप में उपादान नहीं होने से यहाँ धर्मलुप्ता होगी ही। यदि संकेत मात्र से ही साधारण धर्म का ग्रहण कर लिया जाये, तब तो 'इन्दुतुल्यास्या' में भी धर्मलुप्ता नहीं बन पाएगी।

(4) वाचकोपमेयलुप्ता– उपमेयादि चारो में से उपमानवाचक शब्द और उपमेय का जहाँ लोप होता है, वहाँ वाचकोपमेयलुप्ता होती है। इसका उदाहरण 'कान्त्या स्मरवधूय।न्त' है। यहाँ स्मरवधू (रति) उपमान है। कान्ति साधारण धर्म हे। इस साधारण धर्म के बल पर अपने आप को कामदेव की वधू के समान आचरण करने वाली इस अर्थ की प्रतीति अभिष्ट है, परञ्च स्वात्म रुप उपमय का लोप है और वाचक शब्द का भी लोप है।

अब आगे शेष चार भेदों का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

"काकतालीयम्" इत्यत्र काकतालशब्दौ वृत्तिविषये काकताल समवेत क्रियावर्तिनौ, तेन काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालमितीवार्थे "सामासाच्च तद्विषयात् (पा. ५/३/१०६) इति सूत्रेण ज्ञापकात्समासः। उभयत्रोपमेयं स्वस्य क्वलिद्गमनं तत्रैव रहसि तन्व्या अवस्थानं च। तेन स्वस्य तस्याश्च समागमः काकतालसमागम सदृश इति फलति। ततः काकतालमिव काकतालीयम् इति द्वितीयस्मिन्निवार्थे समासाच्च तद्विषयात्" (पा ५/३/१०६) इति सूत्रेण इवेतिप्रतिकृतौ (पा. ५/३/९६) इत्यधिकारस्थेन छ प्रत्ययः। तथा च पतन दलितं तालफलं यथा काकेनोपभुक्तम् एवं रहो दर्शन क्षुभित हृदया तन्वी स्वेनोपभुक्तेति तदर्थः। ततश्चात्र काकगमन तालपतन समागमरूपस्य काककृत तालफलोपभोगरूपस्य

चोपमानस्यसानु-पादानात्प्रेत्ययार्थोपमायामुपमानलोपः, समासार्थोपमायां वाचकोपमानलोपः। सर्वोऽप्ययं लोपश्छ प्रत्ययविधायक शास्त्रकृतः। अवितर्कित संभवमिति साधारणधर्मस्यानुपादाने तत्प्रत्ययार्थोपमायां धर्मोपमान लोपः। समासार्थोपमायां धर्मोपमान वाचक लोप इति सूक्ष्मया दृष्टयाऽवधारितव्यम्। एतेषामुदाहरणान्तराणि विस्तरभयान्न लिख्यन्ते॥ ७.९ ॥

काकतालीय् इस सामायिक शब्द में काकताल शब्द कौआ और तालफल के समागम से उत्पन्न क्रिया के द्योतक हैं। इससे कौए का आगमन और ताल पतन की तरह 'काक तालम्' इस अर्थ में समासाच्च तद्विषयात् (पा. ५.३.१०६) इस सूत्र के अनुसार समास होता है। दोनों स्थान पर अर्थात कौए के आगमन रूप अपमान के लिए अपना कहीं जाना रूप उपमेय और ताल पतन रूप उपमान के लिए एकान्त में तन्वी का मिलन रूप उपमेय है। इससे अपना और नायिका का समागम काकताल समागम की तरह है ऐसा फलित होता है। इसके पश्चात् काकताल की तरह काकतालीय इस दूसरे अर्थ में समासाच्च तिद्वषयात् इस सूत्र में 'इवेति प्रतिकृतौ' इस सूत्र के अधिकार से छः प्रत्यय होता है और गिरने से टूटा हुआ तालफल जैसे कौए के द्वारा भोग किया गया, उसी तरह एकान्त दर्शन से क्षुब्द हृदय वाली वह तन्वी उसके (अपने) द्वारा उपभुक्त हुई। इसके बाद कौए का आगमन और तालपतन समागम का, कौए के द्वारा तालफल के उपभोग रूप उपमान का साक्षात् प्रयोग न होने से प्रत्ययार्थोपमा में उपमान लोप है। समासार्थोपमा में वाचकोपमान का लोप है। यह सभी लोप छ प्रत्यय के होने से हुआ है, अतः यह शास्त्रकृत है। (ऐच्छिक नहीं) अवितर्कितसंभवम् इसमें साधारण धर्म का उपयोग न होने से प्रत्ययार्थोपमा में धर्मोपमान लोप है। समासार्थोपमा में धर्मोपमान वाचक लोप है। यह सूक्ष्म दृष्टि से अवधारण योग्य है। इन सभी का दूसरा उदाहरण विस्तार के भय से नहीं लिखा जा रहा है।

यहाँ उपमान लुप्ता, वाचकोपमान लुप्ता, धर्मोपमान लुप्ता, धर्मोपमान वाचक लुप्ता का उदाहरण स्पष्ट किया गया है। 'काकतालीयम्' में उपमान लुप्ता तथा वाचकोपमान लुप्ता है और अवितर्कित संभवम् इस पद का हटाने से धर्मोपमान लुप्ता तथा धर्मोपमान

वाचक लुप्ता है। उदाहरण स्पष्ट होने से पहले काकतालीयम् शब्द की स्पष्ट व्याख्या आवश्यक है। इससे उदाहरण स्पष्टीकरण में कठिनाई नहीं होगी।

काकतालम्-काकतालीयम्

काकतालीय एक न्याय प्रसिद्ध है। यह भाग्यवश असंभव कार्य के संभव हो जाने के लिए प्रयोग किया जाता है। जैसे फल खाने का इच्छुक पेड़ के पास पहुँचा। फल तोड़ने का कोई साधन न था। अकस्मात एक कौआ वहाँ आया और पके फल पर बैठा। कौए के पदाघात से वह फल टूटकर गिर गया। नीचे खड़े फल की कामना करने वाले व्यक्ति की कामना पूरी हो गयी। यहाँ अकस्मात् जिस फल का टूटना संभव नहीं था, वह संभव हो गया। इसी वृत्ति को काकतालीय कहते हैं।

यहाँ कौए का आगमन और फल का पतन रूप क्रिया द्वय का समवेत भाव काकताल शब्द से द्योतित होता है। इसी काकताल से छ प्रत्यय करने से काकतालीय शब्द बनता है। प्रस्तुत उदाहरण में काकतालीय न्याय से एकान्त लब्धतरुणी का उपभोग निहित है। यहाँ कौए का आगमन उपमान वक्ता का एकान्तगमन उपमेय, फल का पतन, उपमान और तरुणी का मिलन उपमेय। इससे यह अर्थ लब्ध होता है कि जिस तरह कौए द्वारा गिराए गए फल का उपभोग बिना परिश्रम के उस पथिक ने या स्वयं कौए ने किया, उसी तरह इस तरुणी का रसास्वाद वक्ता ने लिया। आगे अवितर्कित संभवम् इसी की अगली कड़ी है। अब उदाहरण स्पष्ट हो जाता है।

(5) उपमान लुप्ता– जिसमें उपमान का लोप हो वहाँ उपमान लुप्ता होती है। 'काकतालीय' इस शब्द से कौए के द्वारा पतित फल का उपभोग रूप उपमान और वक्ता के द्वारा एकान्त प्राप्त तन्वी का उपभोग रूप उपमेय वाञ्छित है। प्रस्तुत शब्द (काकतालीयम्) छ प्रत्यय करने के बाद बना है। यहाँ प्रस्तुत उपमान शब्द से प्राप्त नहीं होता है अपितु प्रत्यय के बल पर अर्थ द्वारा लब्ध होता है। अतः यहाँ प्रत्ययार्थोपमा है। इस प्रत्यार्थोपमा में उपमान का लोप होने से यह उपमान लुप्ता का एक उदाहरण बनता है। यहाँ वाचक लुप्ता नहीं होगी, क्योंकि कौए के द्वारा फल के उपभोग एवं वक्ता द्वारा तन्वी के उपभोग

का ज्ञान छ प्रत्यय के द्वारा हो रहा है। यही प्रत्यय यहां वाचक है। अतः यह केवल उपमान लुप्ता है।

(6) वाचकोपमानलुप्ता– जहाँ उपमान वाचक शब्द और उपमान दोनों का लोप होता है, वहाँ वाचकोपमान लुप्ता होती है। यहाँ 'तदेतत्काकतालीयमवितर्कितसंभवम्' में एतत् पद उपमेय और अवितर्कित संभवम् साधारण धर्म है। 'काकतालम्' इस पद में 'काकगमनमिव फलपतनमिव' कौए के आगमन की तरह और फल की तरह इस अर्थ में 'समासाच्च तद्विषयात्' इस सूत्र में उपमावांचक शब्द इव का लोप होकर, काकताल शब्द बना है। यहाँ समासार्थोपमा है। यह शब्द समास में है और उपमान शब्दतः उपात्त नहीं, अर्थलभ्य है। अतः उपमान एवं वाचक दोनों का लोप होने से यहाँ वाचकोपमान लुप्ता है। उपमेय और साधारण धर्म उपस्थित हैं।

(7) धर्मोपमान लुप्ता– धर्म एवं उपमान का लोप होने से धर्मोपमान लुप्ता होती है। 'तदेतत्कालतालीयमवितर्कितसंभवम्' इस पूरे पद में एतत् उपमेय और अवितर्कितसंभवम् साधारण धर्म है। यदि अवितर्कितसंभवम् को हटा दिया जाए तो केवल काकतालीयम् से भी पूरा अर्थ लब्ध हो ही जाएगा। इस अवस्था में काकतालीयम् प्रत्ययार्थोपमा में उपमान का लोप और साधारण धर्म का (अवितर्कित संभवम्) लोप हो जाने से धर्मोपमान लुप्ता का उदाहरण बन जाएगा।

(8) धर्मोपमानवाचक लुप्ता– यहाँ धर्म उपमान और वाचक तीनों का लोप होता है। 'तदेतत्काकतालीयमवितर्कितसंभवम्' पद में पूर्व निर्दिष्ट नियमानुसार समासार्थोपमा में उपमान और वाचक का लोप तथा अवितर्कितसंभवम् रूप साधारण धर्म को हटा देने पर साधारण धर्म का लोप हो जाने से धर्मोपमानवाचक लुप्ता का उदाहरण बन जाता है।

यहाँ अप्पय दीक्षित ने लुप्तोपमा के आठ भेदों को दिखाया है, जिसमें एक में उपमान एवं उपमेय का साधारण धर्म एक है और दूसरे में साधारण धर्म पृथक-पृथक है। बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से दोनों समान धर्मों की एकरूपता होती है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपमा के २५ भेद दिखाए हैं। छह भेद पूर्णोपमा के और १९ भेद लुप्तोपमा के हैं। यह भेद निम्न हैं-

पूर्णोपमा- (1) वाक्यगा श्रौती (2) वाक्यगा आर्थी (3) समासगा श्रौती (4) समासगा आर्थी (5) तद्धितगा आर्थी।

(1) लुप्तोपमा-धर्मलुप्ता-यह पाँच प्रकार की है- (1) वाक्यगत श्रोती धर्मलुप्ता (2) वाक्यगत आर्थी (3) समासगा श्रौती (4) समासगा आर्थी (5) तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता।

(2) वाचक लुप्ता- यह छह प्रकार की होती है- (1) समासगा वाचक लुप्ता (2) कर्म के क्यच् प्रत्यय होने पर (3) आधार में क्यच् प्रत्यय होने पर (4) क्यङ् प्रत्यय होने पर (5) कर्म में णमुल प्रत्यय होने पर (6) कर्ता में णमुल प्रत्यय होने पर

(3) धर्म और वाचक लुप्ता- यह दो प्रकार की है- (1) क्विप् प्रत्यय होने पर (2) समास में।

(4) धर्म तथा उपमान- इनके लोप होने पर यह दो प्रकार की होती है- (1) वाक्यगा धर्मोपमान लुप्ता (2) समासगा धर्मोपमान लुप्ता

(5) वाचकोपमेय लुप्ता- वाचक तथा उपमेय के लोप होने पर यह एक प्रकार की होती है। क्यच् प्रत्यय होने पर

(6) उपमान वाचक तथा साधारण धर्म- तीनों के लोप होने पर यह एक प्रकार की होती है। यह समासगा होती है।

इस तरह यह उपमा 25 प्रकार की होती है।

पूर्णोपमा - ६

लुप्तोपमा-

धर्मलुप्ता- ५ वाचक लुप्ता ६ उपमान लुप्ता २ धर्मवाचक लुप्ता २ धर्मोपमान लुप्ता २ वाचकोपमेय लुप्ता १ वाचक धर्मोपमान लुप्ता १

५+६+२+२+२+१+१+१९+६=२५

स्वयं अप्पय दीक्षित ने चित्र मीमांसा में उपमा के 32 भेद बताये हैं। इन भेदों को भी वह पूर्ण नहीं मानते। लुप्ता के भेदों को दिङ्मात्र प्रदर्शन मानते हैं। "तस्मात्लुप्ता विभागे दिङ्मात्र प्रदर्शनमेवेदं न तु सामस्त्येन विभागः।" (चित्रमीमांसा)

काव्यदर्श में दण्डी ने भी 32 भेद बताए हैं। उपमा वाचक शब्द के विवेचन में भी दण्डी सबसे आगे हैं। उपमालंकार के और भी विधिक प्रकारक भेद आलंकारिकों ने दिखाया है, जिसका पूर्ण विवेचन यहाँ उपयुक्त नहीं है। अप्पय दीक्षित जी का निम्न कथन सही है।

> तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्
> ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिल भेद सहिता सा॥ (चित्रमीमांसा)

(2) अनन्वयालङ्कार

उपमानोपमेयत्वं यदेकस्यैव वस्तुनः।
इन्दुरिन्दुरिव श्रीमानित्यादौ तदनन्वयङ ॥ १०॥

एकस्यैव वस्तुनः उपमानोपमेयत्ववर्णनमनन्वयः। वर्ण्यमानमपि स्वस्य स्वेन साधर्म्यं नान्वेतीति व्युत्पत्तेः। अनन्वयिनोऽप्यर्थस्याभिधानं सदृशान्तरव्यवच्छदेनानुपमत्वद्योतनाय। इन्दुरिन्दुरिव श्रीमान् इत्युक्ते श्रीमत्त्वेन चन्द्रस्य नान्यः सदृशोऽस्तीति सदृशान्तर व्यवच्छेदोलक्ष्यते। ततश्च स्वस्य स्वेनापि सादृश्यासंभवादनुपमेयत्वे पर्यवसानम्। यथा वा-

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥

पूर्वोदाहरणे श्रीमत्त्वस्य धर्मस्योपादानमस्ति। इह तु गगनादिषु वैपुल्यादेर्धर्मस्य तन्नास्तीति विशेषः॥ १०॥

जहाँ एक ही वस्तु का उपमान और उपमेय रूप वर्णन हो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। जैसे चन्द्रमा चन्द्रमा के समान कान्तिवाला है। १०।

एक ही वस्तु का उपमान और उपमेय रूप में वर्णन अनन्वय होता है। वर्ण्यमान

होने पर अपनी तुलना अपने साथ अन्वित नहीं हो पाती है। अतः इसका नाम अनन्वय है। अनन्वय होने पर भी सदृश अर्थ का ग्रहण केवल वस्तु की अनुपमता सिद्ध करने के लिए होता है, जिससे यह सिद्ध हो कि उस वस्तु के जैसा दूसरा कोई वस्तु नहीं है। 'इन्दुरिन्दुरिव श्रीमान्' इत्यादि में चन्द्रमा के जैसा शोभावाला दूसरा कोई नहीं है, यही निराकरण लक्षित होता है। इसलिए अपनी सदृशता अपने से ही संभव नहीं होने पर अनुपमेयत्व सिद्ध होता है। जैसे दूसरा उदाहरण–

आकाश आकाश के समान है। सागर सागर की उपमा वाला है। राम–रावण का युद्ध रामरावण के युद्ध जैसा ही है।

पहले उदाहरण में 'श्रीमत्व' धर्म का उपादान (कथन) हैं। यहाँ आकाश सागर और युद्ध का क्रमशः विपुलता, गम्भीरता, भीषणता, धर्म कथित नहीं है। यही पहले उदाहरण में विशेष है।

इस अलंकार का नाम स्वयं अपना अर्थ स्पष्ट कर देता है। न अन्वयः अनन्वयः। जिसका अन्वय नहीं होता हो। तात्पर्य यह है कि स्वयं की तुलना स्वयं से ही की जाये यह उचित नहीं है। परञ्च कवि लोगों की लेखनी ऐसी करती आ रही है। इसका अभिप्राय वस्तुतः वस्तु का अनुपमत्व सिद्ध करना है। इस वस्तु की तुलना में अन्य काई वस्तु नहीं है, अतः यह इसी के समान है। इसी वैशिष्ट्यबोधन के लिए अनन्वय अलंकार है। उदाहरण में कहा गया है कि चन्द्रमा–चन्द्रमा के समान शोभावाला है। चन्द्रमा के समान शोभावाला तत्त्व अन्य नहीं है, अतः चन्द्रमा का वैशिष्ट्य स्वयं ज्ञात होता है।

यह अलंकार भी पूर्णा और लुप्ता के भेद से दो तरह का होता है। पहले उदाहरण में चन्द्रमा उपमान उपमेय इव उपमानवाचक और 'शोभावाला' साधारण धर्म है। अतः यह पूर्ण अनन्वय है और दूसरे उदाहरण– 'गगनं गगनाकारं' में धर्म का लोप है। यहां केवल इतना ही कहा गया है कि आकाश आकाश के जैसा है। इसका विशालता रूप धर्म नहीं कहा गया है। इसी तरह सागर की गंभीरता, रूप, धर्म और युद्ध का भीषणता रूप धर्म नहीं कहा गया है। अतः यह लुप्ता है।

चित्रमीमांसा के 'सुधा' व्याख्याकार धरानन्द ने उपमालंकार की तरह ही इसके सभी भेदों का उदाहरण प्रस्तुत किया है– उसके अनुसार–

पूर्ण अनन्वय – ६ भेद

धर्मलुप्त अनन्वय – ५ भेद

वाचक लुप्त – अनन्वय – ६ भेद

धर्मवाचक लुप्त – अनन्वय – १ भेद है।

उपमानलुप्त आदि भेद अनन्वय में नहीं होते। क्योंकि ऐसे उदाहरण असम्भव हैं या अरुचिकर हैं।

चित्रमीमांसा में अनन्वय का लक्षण इस तरह है–

स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका।
अन्वर्थनाम धेयोऽयमनन्वय इतीरितः॥

चन्द्रालोक और कुवलयानन्द से लक्षण की समता प्रायः है। जैसा कि मंगलाचरण के पश्चात् लेखक ने स्वयं कहा है। उदाहरण में थोड़ा–सा अन्तर आ जाता है। चन्द्रालोक में अनन्वय का लक्षण+उदाहरण–

उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जागृतः।
इन्दुरिन्दुरिवेत्यादौ भवेदेवमनन्वयः॥ १०॥

(3) उपमेयोपमा

पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता
धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इवत्त्वयि॥ ११॥

द्वयोः पर्यायेणोपमानोपमेयत्वकल्पनं तृतीय सदृशव्यवच्छेदार्थम्। धर्मार्थयोर्हि कस्यचित्केनचित्सादृश्ये वर्णिते तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थसिद्धमपि मुखतो वर्ण्यमानं तृतीयसदृशव्यवच्छेदं फलति॥

यथा वा–

खमिव जलं जलमिव खं हंस इव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि॥

पूर्वत्र पूर्ण श्रीरिति धर्म उपात्तः। इह निर्मलत्वादि धर्मो नोपात्तः इति भेदः। उदाहरणद्वयेऽपि प्रकृतयोरेवोपमानोपमेयत्वकल्पनम्। राज्ञि धर्मार्थसमृद्धेः शरदि गगनसलिलादि नैर्मल्यस्य च वर्णनीयत्वात् प्रकृताप्रकृतयोरप्येषा संभवति। यथा वा-

गिरिरिव गजराजोऽयं गजराज इवोच्चकैर्विभाति गिरिः।
निर्झर इव मदधारा मदधारेवास्य निर्झरः स्त्रवति॥ ११॥

उपमान और उपमेय को परस्पर पर्याय रूप में उपमेय उपमान बनाया जाता है तो उपमेयोपमा अलंकार होता है। जैसे तुम्हारा धर्म अर्थ के समान पूर्ण श्री युक्त है और अर्थ धर्म के समान है। पहले धर्म उपमेय और अर्थ उपमान है। पुनः अर्थ उपमेय एवं धर्म उपमान है। पूर्ण श्री साधारण धर्म है।

उपमेयोपमा में एक दूसरे का अपमान एवं उपमेय भाव इसलिए दिखाया जाता है ताकि तीसरे का सादृश्य निषद्ध हो जाए धर्म और अर्थ में एक का सादृश्य वर्णित हो जाने पर दूसरे का सादृश्य अर्थ सिद्ध है ही तथापि शब्द से वर्णन करना मात्र तीसरे का निराकरण करने के लिए होता है। जैसे दूसरा उदाहरण-

आकाश के समान जल है जल के समान आकाश है। हंस के समान चन्द्र है चन्द्र के समान हंस है। कमुद के समान ताराएँ हैं और ताराओं के समान कुमुद है।

पहले उदाहरण में पूर्ण श्री रूप साधारण धर्म शब्द के द्वारा कहा गया है। इस उदाहरण में निर्मलत्वादि धर्म नहीं कहा गया है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है। दोनों उदाहरणों में प्रस्तुत की ही उपमान एवं उपमेयत्व कल्पना की गयी है। राजा के वर्णन में धर्म और अर्थ की समृद्धि का (पहले उदाहरण में) और शरद वर्णन में गगन सलिल आदि के निर्मलत्व का वर्णन होने से दोनों प्रकृत ही हैं। परञ्च यह प्रकृत और अप्रकृत की भी हो सकती है। यहाँ एक प्रस्तुत हो और एक अप्रस्तुत। जैसे-

पर्वत के समान यह गजराज है। गजराज के समान ऊँचा यह पर्वत है। निर्झर की तरह (समान) यह मदधारा है और इसकी मदधारा के समान निर्झर बहता है।

जहाँ उपमेय एवं उपमान को उलटकर उपमान एवं उपमेय बनाया जाता है, वहाँ उपमेयोपमा होती है। एक अंश में जिसकी उपमेयता है, दूसरे अंश में उसकी उपमानता होती है और पहले अंश में जिसकी उपमानता होती है, दूसरे में उसकी उपमेयता हो जाती है। तात्पर्य यह होता है कि ये दोनों वस्तु के आपस में समतुल्य है। कोई तीसरा वस्तु इसकी तुलना में नहीं आ सकता। अनन्वय अलंकार में एक ही उपमानता और उपमेयता होने से दूसरे वस्तु का निषेध किया जाता है और उपमेयोपमा में तीसरे का निषेध अपेक्षित होता है। यद्यपि एक की उपमेयता और दूसरे की उपमानता बता देने पर स्वतः उस उपमान भूत वस्तु की तुलना उपमेयभूत वस्तओं से हो जाती है। तथापि शब्द से कहा जाने के बाद यह सिद्ध हो जाता है कि कोई तीसरा इस तुलना में नहीं आ सकता। जैसे धर्म के समान अर्थ और अर्थ के समान धर्म। ये दोनों आपस में ही तुल्य हैं, तीसरे से नहीं।

उपमा अलंकार की तरह इसके भी पूर्ण और लुप्तादि भेद हो सकते हैं। पहले उदाहरण में 'पूर्ण श्री' साधारण धर्म उक्त है और दूसरे उदाहरण निर्मलत्वादि धर्म नहीं कहा गया है। अतः लुप्ता तो है ही। भेदोपभेद की उपमा की तरह ही हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त केवल प्रस्तुत की उपमेयोपमा तथा प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत की उपमेयोपमा ये दो भेद तो यहाँ दिखाए गए हैं। 'खमिव जलं' में उपमान एवं उपमेय दोनों प्रस्तुत हैं। दूसरे उदाहरण 'गिरिरिव गजराजोऽयं' में गजराज प्रस्तुत और गिरि अप्रस्तुत है। इसी तरह केवल अप्रस्तुत की भी उपमेयोपमेयता होने से तीसरा भेद हो सकता है।

पं. राज जगन्नाथ ने उपमेयापमा को पृथक न मानकर उपमा का भेद माना है। रस गंगाधर में उपमेयोपमा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

तृतीयसदृशव्यवच्छेद बुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानो-पमेयभावमापन्नयोरर्थयोः सादृश्यं सुन्दरमुपमेयोपमा॥

पं. राज के अनुसार व्यक्तधर्मा उक्तधर्मा आदि छह भेद हैं। चित्र मीमांसा में अप्पय दीक्षित ने उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया है-

'सदृशस्य तृतीयस्य व्यवच्छेदाय यद्भवेत्।
अन्योन्येनोपमानत्वं सोपमेयोपमा मता॥'

व्यक्तधर्मा, वाच्य धर्मा, वस्तु प्रति वस्तु भाव, बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव, विशेषण रूप में और विशेष्य रूप में इत्यादि भेद हैं।

(4) प्रतीपालङ्कारः

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम्।
त्वल्लोचनसमं पद्म त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः॥ १२॥
प्रसिद्धोपमानोपमेयभावः प्रातिलोम्यात्प्रतीयम्।

प्रतीप अलंकार में उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता दिखाई जाती है। जैसे तुम्हारी आंखों के समान कमल और तुम्हारे मुँह के समान विधु (चाँद) है। १२।

प्रसिद्ध उपमान और उपमेय को उलट देना प्रतीप अलंकार होता है।

यह अलंकार उपमा अलंकार के ठीक उलटा होता है। सदृश वस्तु में विशिष्ट गुण वाला उपमान और न्यूनगुण वाला उपमेय होता है। इसीलिए चन्द्रमा के समान मुख कहा जाता है। सौन्दर्याधिक्य वा आह्लादकत्व चन्द्रमा में अधिक होता है। अतः वह उपमान है। यद्यपि चन्द्रमिव मुखं की जगह 'मुखमिवचन्द्र' करने पर उपमा अलंकार बन जाता है, परञ्च कवि जगत की प्रसिद्धि की अवहेलना भी नहीं की जा सकती है, अतः वृत्ति में प्रसिद्ध उपमान कहा गया है। कवि लोग उपमेय का आधिक्य सूचित करने के लिए उपमेय को उपमान बना देते हैं। प्रतिकूल परम्परा प्रदर्शित होने से ही इसका नाम प्रतीप है। इसके भेदों का वर्णन भी आगे किया जाता है। प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के आगे तुच्छ बताना प्रतीप अलंकार का सार है। यहाँ उपमान की उपमेयता एवं उपमेय की उपमानता दिखाई जाती है। चाहे उपमेय का उत्कर्ष दिखाया जाए या उपमान को तुच्छ बताया जाए। उपमेय से ही उपमान का कार्य सिद्ध हो जाने से उपमान की व्यर्थता सूचित की जाये। किसी भाँति चमत्काराधिक्य सूचनार्थ उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता बतायी जाती है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

यथा वा-

यत्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये! तुवमुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि तवद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥ १२॥

हे प्रिये! तुम्हारी आँखों के समान कान्ति वाला कमल जल में मग्न हो गया (डूब गया)। तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाला शशी (चाँद) मेघ में छिप गया। तुम्हारी गति का अनुसरण करने वाले जो राजहंस थे, वे भी चले गए। तुम्हारे सादृश्य मात्र से मेरे विनोद को दैव नहीं सहन कर सकते हैं।

यहाँ कमल को उपमेय और आँख को उपमान, मुख को उपमान चाँद को उपमेय, गति को उपमान और राजहंस की गति को उपमेय बनाया गया है। कारिका के उत्तरार्द्ध वाले प्रथम उदाहरण में साधारण धर्म न बताकर केवल नेत्र को उपमान और कमल को उपमेय एवं मुख को उपमान तथा विधु को उपमेय बनाया गया है। इस प्रस्तुत उदाहरण में 'कान्ति' आदि साधारण धर्म भी प्रयुक्त हुआ है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है।

अन्योपमेय लाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत्।
अलं गर्वेण ते वक्त्र! कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः॥ १३॥

अत्युत्कृष्ट गुणतया वर्ण्यमानस्यान्यत्र स्वसादृश्यमसहमानस्योपमेयं किञ्चित्प्रदर्श्य तावता अस्य तिरस्कारो द्वितीयं प्रतीपं पूर्वस्यादपि विच्छित्ति-विशेषशालि।

यथा वा (रुद्रटालं.)

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे।
सन्तीदृशानि दिशिदिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि॥१३॥

अब प्रतीप अलंकार के दूसरे भेद का निरूपण करते हैं। अन्य वस्तु को उपमेय बनाकर यदि वर्ण्य वस्तु का तिरस्कार (अनादर) किया जाये तो वह प्रतीप का दूसरा भेद

होता है। जैसे- हे वक्त्र! (मुख) तुम्हारा गर्व व्यर्थ है, क्योंकि कान्ति से चाँद भी वैसा ही है।

वर्ण्य वस्तु जो अपने उत्कृष्ट गुण के आधार पर अपनी समानता करने वाले किसी अन्य वस्तु को सहन करने में असमर्थ हो। उसके (वर्ण्य) लिए कुछ उपमेय बताकर और उसी उपमेय के आधार पर उसका (वर्ण्य का) तिरस्कार करना दूसरा प्रतीप है। जैसे पहले प्रतीप से अधिक वैचित्र्यपूर्ण होता है।

जैसे- (रुद्रटालंकार)

हे भद्रे! अपनी इन आँखों पर इतना असह्य गर्व क्यों वहन करती हो। इन आँखों के समान तालाबों में नीलकमल प्रत्येक दिशा में है।

"इस दूसरे भेद में वर्ण्य वस्तु का तिरस्कार किया जाता है। यह तिरस्कार तत्सदृश किसी वस्तु के बल पर किया जाता है। जैसे कारिका के उत्तरार्द्ध वाले उदाहरण में मुख का तिरस्कार चाँद के द्वारा किया गया है। यहाँ तात्पर्य यह है कि मुख को सर्वश्रेष्ठ सुन्दर होने का गर्व है। कवि कहता है कि तुम्हारे गर्व का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि तुम्हारे जैसा सुन्दर ही चाँद भी है। अतः दोनों समान हो गए। समान हो जाने पर तुम्हारा गर्व उचित नहीं है। यहाँ चाँद को उपमेय बनाने से प्रतीप है। पहले जिस भेद को दिखाया गया था उसमें केवल उपमानोपमेय को उलट दिया गया था और इस भेद में वर्ण्य विषय का तिरस्कार किया जाता है। पूर्व भेद से यह अधिक शोभादायक होता है क्योंकि यहाँ तिरस्कार की प्रक्रिया श्रवण चारुत्व एवं मनन चारुत्व को बढ़ा देता है।

दूसरे उदाहरण में जो रुद्रटालंकार से उद्धृत है, में लोचन युगल का तिरस्कार नीलकमल के द्वारा किया गया है। नीलकमल उपमान होता है। इसे उपमेय बनाने में यह प्रतीपालंकार हुआ और इसी बल पर आँख का तिरस्कार होने से यह प्रतीप का दूसरा भेद है। पहले उदाहरण में कान्ति रूप साधारण धर्म का उल्लेख है और दूसरे में साधारण धर्म का अभाव है।

वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादरः।
कः क्रौर्यदर्पस्ये मृत्यो! त्वत्तुल्याः सन्ति हि स्त्रियः॥ १४॥

अत्युत्कृष्टगुणतया क्वचिदप्युपमान भावमहसमानस्यावण्यस्य वर्ण्योपमेयं परिकल्प्य तावता तस्य तिरस्कारः पूर्व प्रतीप वैपरीत्येन तृतीयं प्रतीपम्॥ यथा वा-

अहमेव गुरुः सुदारुणानाममिति हालाहल! तात! मा स्म दृप्यः।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मि न्वच्नानि दुर्जनानाम्॥

किसी अन्य (अवर्ण्य) वस्तु को उपमेय बनाकर यदि उसका तिरस्कार किया जाता है, तो यहाँ भी प्रतीप अलंकार होता है। जैसे- हे मृत्यु! तुम्हारी क्रूरता का घमण्ड व्यर्थ है, क्योंकि तुम्हारे समान स्त्रियाँ भी (क्रूर) हैं।

ऐसा अवर्ण्य, जो अपने उत्कृष्ट गुणों के बल पर कहीं अपने उपमान भाव को सहन नहीं करता है, उसे उपमेय बनाकर पुनः उसका तिरस्कार करना तीसरा प्रतीप है। यह दूसरे प्रतीप का उलटा होता है। जैसे-

हे तात! हालाहल! ऐसा गर्व न करो कि मैं ही सभी कठोर पदार्थों का गुरु हूँ। इस संसार में तुम्हारे जैसे अतिकठोर दुर्जनों के वचन विद्यमान हैं।

"यह प्रतीप अलंकार का तीसरा भेद है। यहाँ किसी अवर्ण्य वस्तु को उपमेय बनाकर उसका तिरस्कार किया जाता है। यह दूसरे भेद का ठीक उलटा होता है। दूसरे प्रतीप में मुख के लिए चाँद को उपमेय बनाकर मुख का तिरस्कार किया गया। अब तीसरे भेद में मृत्यु को उपमेय बनाकर एवं स्त्रियों की तुलना से मृत्यु का तिरस्कार किया गया है। यहाँ स्त्री की क्रूरता का वर्णन अभीष्ट है। मृत्यु को वर्ण्य विषय नहीं होते हुए भी उपमेय बनाया गया है और वर्ण्य विषय स्त्री की समानता दिखाई गई, पुनः तिरस्कार किया गया। दूसरे भेद में वर्ण्य उपमेय होता है, तीसरे में अवर्ण्य में उपमेय की कल्पना की जाती है। दूसरे भेद में उपमेय का तिरस्कार वास्तविक उपमान से और तीसरे में उपमान का तिरस्कार उपमेय से किया गया है। अतः यह परस्पर उलटा है।"

इसके दूसरे उदाहरण में हालाहल का तिरस्कार दुर्जन के वचनों से किया गया है।

समान्य रूप से कठोरता में दुर्जन वचन को उपमेय और हालाहल को उपमान होना चाहिए। यहाँ उलटकर हालाहल को उपमेय बनाकर सम्बोधित किया गया और पुनः उसका तिरस्कार किया गया। इसके दुर्जन वचन की कठोरता हालाहल से भी अधिक सिद्ध हुई।

वर्ण्येनान्यस्योपमाया अनिष्पत्तिवचश्च तत्।
मुधापवादो मुग्धाक्षि! त्वन्मुखाभं किलाम्बुजम्॥ १५॥

अवर्ण्ये वर्ण्योपमित्यनिष्पत्तिवचनं पूर्वेभ्य उत्कर्षशालि चतुर्थं प्रतीपम्। उदाहरणे मुधापवादत्वोक्त्योपमित्यनिष्पत्तिरुद्धारिता।

यथा वा-

आकर्णय सरोजाक्षि! वचनीयमिदं भुवि।
शशाङ्कस्तव वक्त्रेण पामरैरुपमीयते॥ १५॥

वर्ण्य विषय के सदृश दूसरी कोई वस्तु है, इस बात को झूठा बना दिया जाता है तो प्रतीप का चौथा भेद होता है। जैसे हे मुग्धाक्षि! यह बात झूठ है कि तुम्हारे मुख के समान कमल है।

अवर्ण्य में वर्ण्य की उपमानता को झूठा बनाने से यह चौथा भेद पूर्व भेद से उत्कर्षाधायक है। उदाहरण में मुधापवादत्व रूप उक्ति उपमिति को झूठा सिद्ध करती है। जैसे दूसरा उदाहरण- अयि कमलनयने! संसार में यह बात सत्य है कि नीच लोग ही तुम्हारे मुख की तुलना चाँद से करते हैं।

''इस चौथे भेद में वर्ण्य (उपमेय) की सदृशता अवर्ण्य (उपमान) से है, इस बात को झूठा बताया जाता है। इसी आधार पर वर्ण्य की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। कारिकागत उदाहरण में मुख के समान कमल है। इस बात को झूठा बताया गया है। तात्पर्य यह है कि तुम्हारे मुख के समान कमल नहीं हो सकता। यह मुख कमल से अधिक सुन्दर है। यहाँ कमल के सामने मुख को उत्कृष्ट बताना ही अभिष्ट है। दूसरे उदाहरण में कहा गया है कि तुम्हारे मुख के समान चाँद है, यह नीच लोग कहते हैं। अर्थात् जो तुम्हारे मुख की तुलना चाँद से करते हैं वो नीच हैं, उन्हें सौन्दर्य परीक्षण का ज्ञान नहीं है। तुम्हारा मुख चांद से

अधिक सुन्दर है। यहाँ वास्तविक तत्त्व को झूठा बताकर उपमेय का आधिक्य सिद्ध करना ही लक्ष्य होता है।''

इस उदाहरण की व्याख्या में एक टीकाकार ने लिखा है कि ''इस बात की निन्दा हो रही है कि नीच लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की तुलना करते हैं।'' यह उचित नहीं है। इससे यह अर्थ स्पष्ट होता है कि जो तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की तुलना करते हैं वो नीच हैं, इस बात की निन्दा होती है। अर्थात् वह नीच नहीं है। वह उत्कृष्ट है। यदि वह उत्कृष्ट है, तब तो मुख से चाँद की तुलना सही हो गई और तुलना सही हो जाने पर चौथा भेद नहीं होगा। यहाँ उपमेय के सादृश्य में उपमान को झूठा बताया जाता है।

प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते।
दृष्टं चेद्वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना॥ १६॥

उपमेयस्यैवोपमान प्रयोजन धूर्वहत्वेनोपमान कैमर्थ्यमुपमानप्रातिलोम्यात् पञ्चमं प्रतीपम्। यथा वा- (नै. १-१४)

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवा-
त्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥

केचिदनन्वयोपमेयोपमा प्रतीपानामुपमा विशेषत्वेन तदन्तर्भावं मन्यन्ते। अन्ये तु पञ्चमं प्रतीप प्रकारमुपमानाक्षेपरूपत्वादाक्षेपालंकारमाहुः॥ १६ ॥

उपमान का कैमर्थ्य (व्यर्थता) बताने पर भी प्रतीप अलंकार माना जाता है। जैसे उस (नायिका) का मुख देख लिया तो क्या कमल से और क्या चाँद से ?

उपमान का प्रयोजन उपमेय के लिए ही होता है। अतः उपमान की व्यर्थता होने से यह पाँचवाँ भेद है। तात्पर्य यह है कि उपमा का प्रयोजन वास्तव में उपमेय चारुत्व बोधनार्थ ही होता है। अतः उपमेय के आगे उपमान की व्यर्थता सिद्ध करने से उपमेय का

आधिक्य सिद्ध होता है। अतः उपमानोपमेय का प्रतिलोम (उलटा) आधिक्य सिद्ध होने से यह प्रतीप अलंकार है।

जैसे दूसरा उदाहरण नैषधीय चरितम् से-

उसके(नल के) ओज (प्रताप) और यश के रहते ये दोनों (सूर्य और चन्द्रमा) व्यर्थ हैं। यह विचार विधाता जब-जब मन में लाते हैं, तब-तब व्यर्थता सूचक घेरा को छलपूर्वक परिधि से निर्मित किया करते हैं।

यहाँ तेज के लिए प्रताप और धवलता के लिए यश के आगे सूर्य और चाँद की व्यर्थता सिद्ध होने से प्रतीप अलंकार कहा गया है।

कुछ लोग अनन्वय उपमेयोपमा तथा प्रतीप को उपमा का ही विशेष भेद मानकर उपमा में ही अन्तर्भाव मानते हैं। कुछ अन्य लोग प्रतीप के पाँचवे भेद को उपमान का आक्षेप रूप होने से आक्षेपालंकार मानते हैं।

इस पाँचवे भेद में उपमान की व्यर्थता बतायी जाती है। उपमान सतत सत्य है, अतः उसकी व्यर्थता नहीं हो सकती। इस शंका का निवारण करने लिए ही कहा गया कि उपमान का लक्ष्य उपमेय होता है। उपमेय का आधिक्य बोधन के लिए उपमान का वैयर्ध्य बताया जाता है। अतः यह व्यर्थता उचित ही है। कारिका के उत्तरार्द्ध वाले उदाहरण में मुख के आगे चाँद और कमल की व्यर्थता बतायी गयी है। इससे भाव यह है कि मुख देखने पर जो आह्लादकता या जो सौन्दर्यबोध मिलता है वह चांद या कमल से नहीं मिल सकता। अतङ आह्लादकता और सौन्दर्यबोध के लिए इस मुख के रहने पर चाँद और कमल व्यर्थ हैं। इसका कोई प्रयोजन नहीं है। मुख ही इन दोनों का काम करने में समर्थ है।

नैषधीयचरितम् के उदाहरण में यश और ओज के रहने पर चाँद और सूर्य की व्यर्थता होने से प्रतीप अलंकार है। इस श्लोक में प्रकृत परिवेष पर अप्रकृत कुण्डलता की स्थापना होने से अपह्नुति अलंकार और परिवेष के ब्याज से सूर्य और चन्द्रमा की कुण्डलना की उत्प्रेक्षा होने से उत्प्रेक्षालंकार भी है।

यहाँ प्रतीप अलंकार के पाँच भेद दिखाए गए हैं।

(1) उपमान की उपमेयत्व कल्पना और उपमेय की अपमानत्व कल्पना।

(2) उपमान को उपमेय बनाकर, वर्ण्य विषय का तिरस्कार करना।

(3) किसी अप्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में कल्पित कर उसका तिरस्कार करना।

(4) उपमेय के समान उपमान है, इस बात को दिखाकर झूठा सिद्ध करना।

(5) उपमान की व्यर्थता बतलाना।

पहले तीन भेद में उक्त साधारण धर्म और अनुक्त साधारण धर्म वाले उदाहरण हैं। चौथे और पाँचवे में एक-एक तरह का उदाहरण है। इन दोनों में भी उक्त साधारणधर्म और अनुक्त साधारण धर्म कल्पित होने पर १० भेद हो जाएँगे।

पं. राज जगन्नाथ प्रतीप को पृथक् अलंकार नहीं मानते। परञ्च मर्यादा रक्षणार्थ लक्षण बताते हैं। उनका मानना है कि प्रथम तीन भेद निष्पाद्यमान सुन्दर सादृश्य का अभाव नहीं होने पर उपमा में ही अन्तर्भूत है। चौथा भेद (यहाँ प्रस्तुत पाँचवा भेद) अपेक्षालंकार के अन्तर्गत आ जाता है। पाँचवा भेद (यहाँ चौथा) अनुक्त वैधर्म्य में गतार्थ हो जाता है।

चन्द्रिका व्याख्याकार (कुवलयानन्द की) इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि उपमान अलंकार में इसका अन्तर्भाव असंभव है, क्योंकि चमत्कार उत्पन्न करने वाला साधर्म्य प्रयोजकता ही नहीं है। यहाँ उपमान का तिरस्कार ही चमत्कृति का प्रयोजक है। यदि सादृश्य वर्णन मात्र से उपमालंकार हो जाए, तब तो-

धैर्यलावण्यगाम्भीर्य प्रमुखैस्त्वमुदन्वतः।
गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते॥

इस व्यतिरेकालांकार का भी उपमा में अन्तर्भाव हो जाएगा।

वास्तव में उपमालंकार का मूलाधार साधारण धर्म पर टिकता है, जो दोनों में समानता लाता है। चन्द्रमा के समान मुख करने पर आह्लादकता रूप साधारण धर्म के बल पर चन्द्रमा और मुख का समान आधार बनता है। यहाँ साधारण धर्म के आधार पर साम्य बोधन ही उपेक्षित है। जबकि प्रतीप में उपमान के तिरस्कार के आधार पर उमेय का

आधिक्य बोधन अपेक्षित है या उपमान को उपमेय बनाकर और उपमेय को उपमान बनाकर अपमेय का वैशिष्टय और उपमान की अधमता बोधन अपेक्षित है। इसी वैचित्र्य बोधन के लिए उपाय भिन्न होने पर व्यतिरेकादि अलंकार माने जाते हैं। व्यतिरेक में उपमान से अधिक उपमेय को वैधर्म्य से दिखाया जाता है। किसी गुण में उपमेय उपमान से अधिक होता है और प्रतीप में केलव उपमान को उपमेय बनाकर उसकी अधमता और उपमेय का आधिक्य सूचित किया जाता है। अतः इसको (प्रतीप) पृथक् अलंकार मानना अनुचित नहीं है।

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने भी इसको पृथक् अलंकार माना है। केवल भेद करने में चार भेद ही दिखाए हैं। पाँचवाँ भेद उन्होंने नहीं दिखाया है। शायद वो भी आक्षेपालंकार में ही मानते हैं।

वामन ने भी पाँचवे भेद को आक्षेपालंकार के अन्तर्गत माना है। अतः काव्यालंकार सूत्र में लिखा है-

उपमानकैमर्थ्यस्योपमानाक्षेपश्चाक्षेपः।

(5) रूपकालङ्कारः

विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्।
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः॥ १७॥
अयं हि धूर्जटिः साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात्।
अयमास्ते विना शम्भुस्तार्तीयीकं विलोचनम्॥ १८॥
शम्भुर्विश्वमवत्यद्य स्वीकृत्य समदृष्टिताम्।
अस्याः मुखेन्दुना लब्धे नेत्रानन्दे किमिन्दुना॥ १९॥
साध्वीयमपरा लक्ष्मीरसुधासागरोदिता।
अयं कलङ्किनश्चन्द्रान्मुखचन्द्रोऽतिरिच्यते॥ २०॥

जहाँ विषय का विषयी (उपमान) में अभेद पूर्वक ताद्रूप्य वर्णन किया जाए या विषय (उपमेय) का विषयी (उपमान) से रञ्जन किया जाये वहाँ रूपक अलंकार होता

है। यह रूपक उपमान के आधिक्य न्यूनत्व एवं अनुभय रूप में तीन प्रकार का होता है।

(आगे उदाहरण दिए गए हैं। इसकी व्याख्या वृत्ति में की गयी है।) ये साक्षात् धूर्जटि (शंकर) है, जिन्होंने क्षण भर में पुर (शत्रु नगर) को जला दिया। यह (राजा) तृतीय नेत्र से रहित शिव है। स्वयं शम्भु समदृष्टित्व स्वीकार कर, विश्व की रक्षा कर रहे हैं। इसका (नायिका का) मुखचन्द्र प्राप्त होने पर आँखों के आनन्द के लिए इन्दु से क्या लेना। यह साध्वी (सुन्दरी) दूसरी लक्ष्मी है, जो क्षीरसागर में उत्पन्न नहीं हुई है। यह मुखचन्द्र कलंकयुक्त चन्द्र से बढ़कर है, (अधिक शोभादायक है।)

''यहाँ रूपक के लक्षण में जो पद दिए गए हैं। उनकी मीमांसा इस तरह अपेक्षित है। (1) विषय (उपमेय में) विषयी उपमान का अभेद। (2) विषय और विषयी का ताद्रूप्य वर्णन। विषयी के द्वारा विषय का रञ्जन।''

(1) उपमेय में उपमान का अभेद दिखाया जाना रूपक है। मुखचन्द्र कहने पर मुख में चन्द्रमा का अभेद स्थापित होता है।

(2) उपमान और उपमेय का ताद्रूप्य वर्णन अभेद सम्बन्ध से किया जाता है। मुख और चन्द्रमा के अभेद होने पर मुख, चन्द्रमा ही है ऐसा ज्ञान होता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि परमार्थतः उपमान उपमेय में भेद तो होता ही है, परञ्च वर्णन में अभेद दिखाया जाता है।

उपमान के द्वारा उपमय का रञ्जन होता है। तात्पर्य है कि एक भित्ति पर रंग से रंगने पर भित्ति दूसरे रंग में दिखती है, उसी तरह उपमेय पर उपमान का रञ्जन होने से उपमेय उपमान बन जाता है। चन्द्रालोककार ने स्पष्ट लिखा है कि जहाँ उपमेय भित्ति उपमान चित्र से रंग दी जाती है वहाँ रूपक होता है।

यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते॥ (चन्द्रालोक)

यह तीसरा रञ्जन ऊपर के दोनों भेदों में प्रकार भिन्न से होता है।

(इस अलंकार की परिभाषा को लेकर विवाद है। चित्रमीमांसा में अप्पय दीक्षित ने जो परिभाषा की है, पं. राज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में उसका खण्डन किया है। पं. राज

और अप्पय दीक्षित में अहि-नकुल वैरता प्रसिद्ध है। पं. राज तर्क का जाल रचकर खण्डन में माहिर हैं। विशेषज्ञानार्थ दोनों पुस्तकें (चित्रमीमांसा और रसगंगाधर) द्रष्टव्य हैं। यहाँ उसका विवेचन अप्राकरणिक-सा होगा।)

१८-१९-२० कारिका में रूपक के उदाहरण दिये गये हैं जो तीन तरह का है। वृत्ति की व्याख्या में सभी उदाहरणों का स्पष्टीकरण दिया जा रहा है।

विषय्युपमानभूतं पद्मादि, विषयस्तदुपमेयभूतं वर्णनीयं मुखादि। विषयिणो रूपेण विषयस्य रञ्जनं रूपकम्; अन्य रूपेण रूपवत्करणात्। तच्च क्वचित्प्रसिद्ध विषय्यभेदे पर्यवसितं, क्वाचिद्भेदे प्रतीय मान एव तदीयधर्मारोपमात्रे पर्यवसितम्। ततश्च रूपकं तावद्विविधम् अभेद रूपकं ताद्रूप्यरूपकं चेति। द्विविधमपि प्रत्येकं त्रिविधम्। प्रसिद्ध विषय्याधिक्यवर्णनेन तन्न्यूनत्ववर्णनेनानुभयोक्त्या चैवं रूपकं षड्विधम्।

विषयी है उपमानभूत पदम चन्द्र आदि और विषय है उपमेय रूप मुख, जो वर्णनीय होता है। विषयी के रूप में विषय का रञ्जन रूपक कहलाता है, क्योंकि उसे (विषय) अन्य (उपमान) रूप में रूपित कर दिया जाता है। जैसे किसी उजले वस्तु को लाल रंग से रंग देने पर वह लाल ही दीखता है, उसी तरह मुख रूप उपमेय को चन्द्ररूप उपमान से रंग देने पर (मुख) चन्द्र सा दीखता है। मुख चन्द्रमा के रूप में परिणत हो जाता है। यही सार तत्व है । यह रञ्जन (रंगना) दो तरह का होता है। एक में प्रसिद्ध उपमान और उपमेय में अभेद दिखाया जाता है और दूसरे में उपमान और उपमेय में भेद तो व्यंग्य होता है। परञ्च उपमान के धर्म से उपमेय को रंग दिया जाता है अर्थात् व्यंग्य के द्वारा दोनों का भेद ज्ञात होता है तथापि उपमान का धर्म उपमेय में आरोपित कर दिया जाता है। इस तरह यह रूपक दो प्रकार का हुआ (1) अभेद रूपक (2) ताद्रूप्य रूपक। यह दोनों भेद भी प्रत्येक तीन तरह का होता है।

(1) प्रसिद्ध उपमान का आधिक्य वर्णन।

(2) प्रसिद्ध उपमान का न्यूनत्व वर्णन।

(3) प्रसिद्ध उपमान का अनुभय रूप वर्णन।

इस तरह अभेदरूपक-3 और ताद्रूप्यरूपक-3 होने से रूपक का छः भेद हुआ।

'अयं हि' इत्यादि सार्धश्लोकेनाभेदरूपकाणि, अस्या मुखेन्दुना इत्यादि सार्द्धश्लोकेन ताद्रूप्यरूपकाणि, आधिक्य न्यूनत्वानुभयोक्त्युद्देशक्रम प्रातिलोम्येनोदाहृतानि। येन दग्धा इति विशेषणेन वर्णनीय राज्ञि प्रसिद्धभेदानुरञ्जनाच्छिवस्य पूर्वावस्थातो वर्णनीय राजभावावस्थायां न्यूनत्वाधिक्ययोरवर्णनाच्चानुभयाभेद रूपकमाद्यम्। तृतीय लोचन प्रहाणोकत्या पूर्वावस्थातो न्यूनता प्रदर्शनान्यूनाभेदरूपकं द्वितीयम्। न्यूनत्ववर्णनमप्यभेददाढ्र्या पादकत्वाच्चमत्कारि। विषमदृष्टित्वपरित्यागेन जगद्रक्षकत्वोक्त्या शिवस्य पूर्वावस्थातो वर्णनीय राजभावावस्थायामुत्कर्ष विभावनादधिकाभेदरूपकं तृतीयम्। एवमुत्तरेषु ताद्रूप्यरूप कोदाहरणेष्वपि क्रमेणानुभयन्यूनाधिक भावा उन्नेयाः॥

'अयंहि' इत्यादि डेढ़ श्लोक में अभेद रूपक, "अस्या मुखेन्दुना" इस डेढ़ श्लोक में ताद्रूप्य रूपक आधिक्य, न्यून अनुभय रूप में प्रातिलोम्य (विपरीत) क्रम से उदाहृत हुए हैं। 'अयं ही' इत्यादि श्लोक में 'येन दग्धाः' इस विशेषण के द्वारा वर्णनीय राजा में शिव का अभेद दिखाने से शिव की पूर्णावस्था से वर्णनीय राजभाव की अवस्था में आधिक्य या न्यूनत्व नहीं होने से अनुभय रूप अभेद रूपक है। तृतीय लोचन विहीन की उक्ति से पूर्वावस्था से न्यूनता प्रदर्शन होने से न्यूनाभेद रूपक है। न्यूनत्व वर्णन भी अभेद की दृढ़ता को बढ़ाने वाला होने से चमत्कार करने वाला होता है। विषम दृष्टि परित्याग में जगद्रक्षकत्व की उक्ति से शिव की पूर्वावस्था से वर्णनीय राजभाव की अवस्था में उत्कर्ष होने से अधिकाभेद रूपक है। इसी तरह ताद्रूप्य रूपक के उदाहरण में भी क्रमेण अनुभय, न्यून अधिक अभेद रूपक ज्ञातव्य है।

"यहाँ पूर्वकथित रूपक के छह भेदों का उदाहरण दिखाया गया है। कारिका के पूर्व डेढ़ श्लोक में अभेद रूपक और अन्त में डेढ़ श्लोक में ताद्रूप्य रूपक है। क्रमशः उदाहरण- **(1) अनुभय रूप अभेद रूपक**- किसी राजा का वर्णन शिव रूप में किया

गया है, यह शंकर है, जिन्होंने दुश्मन की नगरी को जला दिया है। दुश्मन की नगरी जलाने वाला'' इस विशेषण के द्वारा शिव की पूर्वावस्था में और राजा के रूप में कोई अन्तर नहीं आया है। पहले प्रसिद्ध त्रिपुरदाह की आख्या के अनुकूल शिव नगर जलाने वाले हैं और राजा रूप में भी नगर जलाया है। अतः न तो पहले की अवस्था से आधिक्य है, और न न्यूनत्व। अतः अनुभय रूप अभेदरूपक है। इस भेद में केवल विषय में विषयी का अभेद स्थापन किया जाता है। यहाँ उपमेयभूत राजा से उपमानभूत शिव का अभेद स्थापन हुआ है।

(2) न्यूनत्व रूप अभेद रूपक- इस भेद में विषयी (उपमान) की पूर्वावस्था से न्यूनता दिखायी जाती है। यहाँ प्रस्तुत उदाहरण में 'तृतीय नेत्र विहीन' कहा गया है। अर्थात यह राजा शिव है परञ्च तीसरे आँख से रहित है। यहाँ विषयी शिव की न्यूनता है। पहले कवि प्रसिद्ध अवस्था में शिव 'त्रिलोचन' (तीन आँखों से युक्त है।) और इस उदाहरण में वर्णनीय राजभाव में आ जाने पर शिव त्रिलोचन नहीं द्विलोचन हो गए। अतः न्यूनता प्रदर्शित हुई। इसलिए वह न्यूनत्वरूप अभेद रूपक है।

(3) आधिक्य रूप अभेद रूपक- इस भेद में विषयी का पूर्वावस्था से आधिक्य दिखाया जाता है। यहाँ प्रस्तुत उदाहरण में कहा गया है कि 'समदृष्टि (नेत्रद्वय)' को स्वीकार कर विश्व की रक्षा करते हैं। यहाँ शिव की पूर्वावस्था से उत्कृष्टता दिखायी गयी है। शिव त्रिलोचनत्व स्वीकार करने वाले हैं। राजभाव में आकर उन्होंने द्विलोचनत्व स्वीकार किया, यह भी आधिक्य है। दूसरा शिव त्रिदेव में तमोगुण के स्वामी विश्वनाशक हैं और राजभाव में आकर विश्व के रक्षक हो गए। अतः उनका उत्कर्ष हुआ। इसलिए यहाँ आधिक्य रूप अभेदरूपक है।

(त्रिदेव में विष्णु-सतोगुण, ब्रह्मा-रजोगुण, शिव तमोगुण के स्वामी क्रमशः पालक सर्जक और नाशक माने जाते हैं।)

अब ताद्रूप्य रूपक के तीन भेद।

(1) अनुभय रूप ताद्रूप्य रूपक- इस भेद में विषयी रूप में विषय को प्रस्तुत

किया जाता है। जब विषयी और विषय एक रूप हो जाता है, तब उसके गुणोत्कर्ष या गुणहीनत्व नहीं होने पर यह भेद होता है। प्रस्तुत उदाहरण में एक नायिका का वर्णन है। इसके मुखचन्द्र रहने पर आँखों की खुशी के लिए चन्द्र से क्या लेना ? इस उदाहरण में मुख चाँद रूप है। मुख एवं चन्द्रः। इस अवस्था में आँखों की खुशी के लिए मुखचन्द्र के रहने पर साक्षात् चन्द्र की आवश्यकता नहीं है अर्थात् मुख चन्द्र से ही आँखों की खुशी हो जाती है। पूर्वावस्था में चन्द्र और मुखचन्द्र की अवस्था में चन्द्र की न तो अधिकता है और न न्यूनता, अतः अनुभय रूप ताद्रप्य रूपक है।

(2) न्यूनत्व रूप ताद्रूप्य रूपक- "यह (नायिका) लक्ष्मी है, लेकिन क्षीर सागर में उत्पन्न नहीं है। यहाँ लक्ष्मी रूप में नायिका के होने से ताद्रूप्य है। कवि जगत प्रसिद्ध लक्ष्मी क्षीरसागर से उत्पन्न है। यहाँ क्षीर सागर से उत्पन्न नहीं होने से लक्ष्मी की क्षीरसागरोत्पन्नत्व रूप वैशिष्ट्य की हीनता दिखाई गई है। इस तरह पूर्वावस्था से वर्णनीय नायिकावस्था में न्यूनता होने से न्यूनत्व रूप ताद्रूप्यरूपक है।"

(3) आधिक्य रूप ताद्रूप्यरूपक- मुख चन्द्र कलंकी चन्द्र से अधिक शोभा वाला है। यहाँ पूर्वावस्था में चन्द्र कलंकी (कलंक चिह्न) से युक्त है। परञ्च वर्णनीय मुखचन्द्र की अवस्था में कलंक से रहित हो जाता है। अतः यहाँ पूर्वावस्था से चन्द्र का आधिक्य होने से और शोभादायकत्व में भी आधिक्य होने से आधिक्य रूप ताद्रूप्यरूपक है।

इस तरह छः उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

अनेनैव क्रमेणोदाहरणान्तराणि-

चन्द्रज्योत्स्राविशद पुलिने सैकतेऽस्मिच्छरय्वा
वादद्यूतं चिरतरमभूत् सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एको वक्ति प्रथमनिहतं कैटभं कंसमन्य
स्तत्त्वं सत्वं कथय भगवन्! को हस्तस्तत्र पूर्वम॥

अत्र 'स त्वम्' इत्यनेन यः कंसकैटभयोर्हन्ता गरुड़ध्वजस्तत्तादात्म्यं वर्णनीयस्य राज्ञः प्रतिपाद्य तं प्रति कंस कैटभवधयोः पौर्वापर्यप्रश्नव्याजेन तत्तादात्म्यदाढ्‌र्य

करणात्पूर्वावस्थात उत्कर्षापकर्षयोरविभावनाच्चानुभयाभेदरूपकम्।

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षात् भर्गो नराकृतिः॥

अत्र साक्षादिति विशेषणेन विरक्तस्य प्रसिद्ध शिवतादात्म्यमुपदर्श्य नराकृतिरिति दिव्यमूर्तिवैकल्य प्रतिपादनान्यूनाभेद रूपकम्।

त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धु स्त्वं
सेतुमन्यकृदतः किमसौ विभेति।
द्वीपान्तरेऽपि न हि तेऽस्त्यवशंवदोऽद्य
त्वां राजपुङ्गव! निषेवत एव लक्ष्मीः॥

अत्र 'त्वं सेतुमन्थकृत' इति सेतोर्मन्थनस्य च कर्त्रा पुरुषोत्तमेन सहवर्णनीयस्य तादात्म्यमुक्त्वा तथापि त्वदागमनं सेतुबन्धाय वा मन्थनाय नेति समुद्रेण न भेतव्यम्। द्वीपान्तराणामपि त्वद्वशंवदत्वेन पूर्ववत् द्वीपान्तरे जेतव्याभावात् प्राप्तलक्ष्मीकत्वेन मन्थन प्रसक्त्याभावाच्चेति पूर्वावस्थात उत्कर्षविभावनादधिकाभेद रूपकम्।

कारिका क्रम में छः भेदों को दिखाने के बाद अब क्रमशः सभी उदाहरणों को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत किया जा रहा है। पहला उदाहरण अनुभय रूप अभेद रूपक का है। इस भेद में जिस वर्णनीय का जिससे अभेद दिखाया जाता है, उससे न तो आधिक्य दिखाया जाता है और न न्यूनत्व। प्रस्तुत उदाहरण में कोई कवि अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा में करता है कि-

सरयू नदी के चन्द्र ज्योत्स्ना के समान विशद रेतीले तट पर दो सिद्ध युवकों के बीच वाद-विवाद होता रहा। एक कहता है कि भगवान् विष्णु ने पहले कैटभ को मारा और दूसरा कहता है कि पहले कंस को मारा। अतः हे राजन्! आप स्वयं वास्तविकता बताएँ कि (आपने) पहले किसको मारा।

यहाँ कवि ने राजा और भगवान विष्णु में अभेद दिखाया है। 'स त्वम्' इस पद से यह स्पष्ट है कि जो भगवान विष्णु कैटभ और कंस के हन्ता हैं वही आप हैं। इस तरह

विष्णु और वर्णनीय राजा का तादात्म्य स्थापित हुआ है। इस तादात्म्य को और दृढ़तर करने के लिए पहले कैटभ को मारा या कंस को ? यह प्रश्न किया गया है। यहाँ पूर्वावस्था विष्णु रूप में भी कंस और कैटभ को मारा और यहाँ राजा रूप में भी वही सामर्थ्य दिखाया जा रहा है। भगवान विष्णु का ही रूप होने के कारण राजा से कंस और कैटभ के मृत्यु का पौर्वापर्य समय बताने को कहा गया है। इसमें पूर्व (भगवान्) की अवस्था में वर्तमान (राजा) की अवस्था में न तो कुछ आधिक्य दिखाया गया है और न कुछ न्यूनत्व दिखाया गया है। अत: उभयाभाव में यह अनुभय रूप अभेद रूपक का उदाहरण है।

दूसरा न्यूनत्वाभेद रूपक का उदाहरण है-

वेधा (ब्रह्मा) ने कान्ता (वनिता) और कनक (स्वर्ण) में भ्रम उत्पन्न किया। लेकिन कान्ता और कनक में अनासक्त यह नराकृति (कोई विरक्त मुनि) साक्षात् शिव है।

यहाँ 'साक्षात्' पद से विरक्त मुनि और शिव में तादात्म्य दिखाकर 'नराकृति' पद से दिव्य मूर्तित्व की न्यूनता दिखाने से यह न्यूनाभेद रूपक है।

शिव और विरक्त का तादात्म्य दिखाया गया है। पूर्वावस्था (शिव) में दिव्य मूर्तित्व है और वर्तमान (विरक्त) अवस्था में नराकृतित्व है। नराकृतित्व दिव्यमूर्तित्व का न्यूनता प्रदर्शन है। अत: यहाँ पूर्वावस्था से वर्तमानावस्था में न्यूनत्व होने से न्यूनाभेद रूपक है। तीसरा अधिकाभेद रूपक का उदाहरण है।

यहाँ कोई आश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजा की स्तुति में राजा की तुलना पुरुषोत्तम श्रीराम से करता है, परञ्च श्रीराम से राजा में आधिक्य दिखाता है। कवि कहता है-

हे राजन्! इस तट पर तुम्हारे आ जाने पर यह समुद्र क्यों काँपता है ? तुम सेतु (बाँध) बाँधने वाले हो या सागर मन्थन करने वाले हो। (परञ्च) द्वीपान्तर में भी ऐसा कोई राजा नहीं जो तुम्हारे वश में न हो और राजपुङ्गव स्वयं लक्ष्मी तुम्हारी सेवा करती है।

यहां त्वं 'सेतुमन्थकृत' इस पद से बाँध बाँधने वाले पुरुषोत्तम से, समुद्र मथने वाले विष्णु से वर्णनीय राजा का तादात्म्य बताकर "तुम्हारा आगमन सेतु बन्धन के लिए या

सागर मन्थन के लिए है यह सोचकर समुद्र को नहीं डरना चाहिए। द्वीपान्तर में भी सभी राजा तुम्हारे वशवर्ती हैं, अतः पहले की तरह द्वीपान्तर में जेतव्य के अभाव में लक्ष्मी प्राप्त होने से मन्थनाभाव से पूर्वावस्था (राम, विष्णु) से वर्तमान (राजा) अवस्था में आधिक्य होने से अधिकाभेद रूपक है।''

सारतया यह कहना है कि सागर तुम्हें राम या विष्णु समझ कर डरता है। राम ने सेतु बाँधा था और विष्णु ने सागर मन्थन किया था। वही बन्धन या मन्थन पुनः न हो यही सोच, सागर के भय का कारण है। परञ्च तुमको (राजा को) इन दोनों की (मन्थन और बन्धन) की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि राम ने सागर को इसलिए बाँधा क्योंकि उसे सागर पार जाकर लंका के राजा रावण को जीतना था। वह रावण राम का वशवर्ती नहीं था और विष्णु ने सागर मन्थन लक्ष्मी प्राप्ति के लिए किया था। मन्थन पूर्व लक्ष्मी अप्राप्त थी। परञ्च इस राजा के लिए अन्य द्वीपों के राजा भी वशवर्ती ही हैं। अतः बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं है। पार जाने की आवश्यकता तब होती, जब कोई राजा इनके वश में न होता और वश में करने की आवश्यकता होती। उसी तरह लक्ष्मी इन्हें प्राप्त ही है, अतः सागर मन्थन की आवश्यकता नहीं है। इस (मन्थन) की आवश्यकता तब होती, जब इन्हें लक्ष्मी प्राप्त करना होता।

इस तरह राम को जेतव्याभाव (जीतने के लायक राजा का अभाव) और विष्णु को प्राप्त लक्ष्मी (लक्ष्मी की प्राप्ति) नहीं थी, अतः उन्हें बन्धन और मन्थन करना पड़ा। यहां पूर्वावस्था राम और विष्णु में जेतव्याभाव और प्राप्त लक्ष्मीकत्व का अभाव था और वर्तमान (राजा) अवस्था में दोनों प्राप्त हैं।

अतः पूर्वावस्था (राम विष्णु) से वर्तमान (राजा) अवस्था में आधिक्य वर्णन होने से अधिकाभेद रूपक है।

तीन तरह के अभेद रूपक का उदाहरण दिखाने के बाद अब तादूप्य के तीन भेदों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयानानन्दं विधत्ते न किं

वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ?
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे ॥

अत्र अपरः "शीतांशुः" इत्यनेन वक्त्रेन्दोः प्रसिद्ध चन्द्राद्भेदमाविष्कृत्य तस्य च प्रसिद्ध चन्द्र कार्यकारित्वमात्र प्रतिपादनेनोत्कर्षापकर्षयोरप्रदर्शनादनुभयताद्रूप्यरूपकम्।

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् वादरायणः॥

अत्र हर्यादौ 'अपर' इति विशेषणात्त्रिष्वपि ताद्रूप्यमात्रविवक्षा विभाविता, चतुर्वदनत्वादिवैकल्यं चोक्तमिति न्यूनताद्रूप्यरूपकम्। इदं विशेषोक्त्युदाहरणमिति वामनमतम्। यदाह (काव्या. सू 4/3/23) एक गुणहानिकल्पनायां गुणसाम्यदार्ढ्यं विशषोक्तिः इति।

किमसुभिर्ग्लपितैर्जड़! मन्यसे मयि निमज्जतु भमसुतामनः।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरांविबुधः स्मरः॥नै. 4/52/

अत्र दमयन्ती कृतचन्द्रोपालम्भे प्रसिद्धचन्द्रो न निर्याणकालिकमनः प्रवेशश्रुतितात्पर्यविषयः किन्तु नलमुखचन्द्र एवेति ततोऽस्याधिक्यप्रतिपादनादधिकता द्रूप्यरूपकम्। रूपकस्य सावयत्व निरवयवत्वादि भेदप्रपञ्चनं तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्।

कोई कवि अपनी नायिका के मुख का वर्णन कर रहा है। इस मुख को वह चाँद की तरह मानता है। दोनों (चन्द्र और मुख) के गुणों का वर्णन करते हुए कहता है-

क्या यह (मुख चन्द्र) कमल की शोभा का नाश नहीं करता ? क्या नयनों का आनन्द उत्पन्न नहीं करता ? देखने मात्र से ही क्या यह झषकेतन (कामदेव) की वृद्धि नहीं करता ? तुम्हारे मुखचन्द्र के रहते यह दूसरा चन्द्र उगता है तो क्या ? यदि इस चाँद को अमृत का घमंड है, तो वह (अमृत) भी तुम्हारे इस बिम्बाधर में है ही।

यहाँ "अपरः शीतांशुः" इस पद से मुखचन्द्र और प्रसिद्ध गगन गतचन्द्र का भेद

दिखाकर प्रसिद्ध चन्द्र के कार्य मात्र का प्रतिपादन किया गया है। जो कार्य प्रसिद्ध चन्द्र का है वही मुख चन्द्र का भी है। दोनों के कार्यों में न उत्कर्ष दिखाया गया है और न अपकर्ष। इसलिए वह अनुभय रूप ताद्रूप्य रूपक है। यहाँ मुखचन्द्र का वर्णन प्रसिद्ध चन्द्र के रूप में किया गया है। अभेद रूपक में दोनों (वर्णनीय तथा उपमानभूत) में भेद नहीं किया जाता है। परञ्च ताद्रूप्य रूपक में भेद किया जाता है। अनन्तर वर्णनीय को प्रसिद्ध से मिलाकर या बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है। यहाँ अपरः पद से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यह मुखचन्द्र प्रसिद्धि प्राप्त चन्द्र नहीं है। परञ्च गुणवैशिष्ट्य में दोनों की समता दिखायी गई है। चन्द्र को देखकर कमल शीत के कारण बंद हो जाता है और मुख चन्द्र को देखकर अपने स्वरूप के पराजय की ग्लानि से आँखों का आनन्द जितना चाँद देता है उतना ही इस नायिका का मुखचन्द्र देता है। चाँद झषकेतन (सागर) की वृद्धि करता है यह मुख झषकेतन (कामदेव) की वृद्धि करता है। चन्द्रमा के पास अमृत है, तो वह मुखचन्द्र के पास अधर में अमृत है। अतः दोनों बराबर हैं। मुखचन्द्र का चन्द्ररूप में वर्णन होने से ताद्रूप्य है। उत्कर्षापकर्षाभाव में यह अनुभय रूप है।

यहाँ 'झषकेतन' में श्लेष है। इससे सागर और कामदेव दोनों अर्थों की प्राप्ति होती है और बिम्बाधर में उपमा है। इन दोनों अलंकारों की स्थिति में संकर अलंकार बनता है। परञ्च यहाँ मूल लेखक ने जिस भाव से उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह उचित ही है। यहाँ मुखचन्द्र को प्रधानचन्द्र के रूप में वर्णित करना अभीष्ट है। जिससे यह ताद्रूप्य रूपक बनता है। मुख्य आशय को आधार मानकर ही यहाँ ताद्रूप्य रूपक दिखाया गया है।

अब न्यून ताद्रूप्य रूपक का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भगवान वादरायण (व्यास) बिना चार मुख वाले ब्रह्मा, दो भुजा वाले, दूसरे भगवान् विष्णु और बिना भाललोचन (तृतीय नेत्र) वाले शिव हैं।

यहाँ हरि आदि में 'अपर' इस शब्द में ताद्रूप्य की विवक्षा है। चतुर्वदनत्वादि का अभाव होने से न्यून ताद्रूप्य रूपक है। वामन के मत से यह विशेषोक्ति का उदाहरण है,

जिन्होंने कहा है कि एक गुण की हीनता और शेष गुणों की पुष्टता होने पर विशेषोक्ति होता है।

यहाँ भगवान वादरायण (व्यास) को ब्रह्मा विष्णु और शिव के रूप में समान चित्रित किया गया है। यहाँ भी 'अपर' शब्द ब्रह्मा विष्णु और शिव से पार्थक्य दिखाता है। परञ्च गुण वैशिष्ट के आधार पर वादरायण इन तीनों के समान है। अब यह देखना है कि दोनों के गुणों में आधिक्य है या न्यूनता। ब्रह्मा (मूल) चार मुख वाले हैं और वादरायण एक मुख वाले, विष्णु चार भुजा वाले हैं और वादरायण दो भुजा वाले, शिव त्रिनेत्र वाले हैं और वादरायण नेत्रद्वय वाले। यहाँ क्रमशः तीनों रूपों में वर्णनीय (वादरायण) की न्यूनता ही है। अतः यह न्यूनताद्रूप्य है।

वामन के मत से एक गुण की अल्पता और शेष गुणों की समता के आधार पर पुष्टि होने से विशेषोक्ति होता है। यहाँ ब्रह्मा विष्णु और महेश के क्रमशः चतुर्मुखत्व चतुर्भुजत्व तथा त्रिनेत्रत्व का अभाव है। परञ्च और सारे गुण तो समान हैं, जिसके बल पर वारदायण को ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा गया है। अतः यहाँ विशेषोक्ति है। परञ्च दीक्षित जी के मत से यहाँ न्यून ताद्रूप्य रूपक ही है, क्योंकि चमत्कारोत्पादकत्व न्यूनाद्रूप्य रूपक में ही है।

अब अधिकताद्रूप्य रूपक का उदाहरण देते हैं। यह श्लोक नैषधीयचरितम् महाकाव्य के चौथे सर्ग में उद्धृत है। विरहपीड़िता दमयन्ती विरह सन्तापदायक चन्द्र को उपालम्भ देती हुई कहती है-

ऐ मूर्ख (जड़) चन्द्रमा! क्या तुम यह समझ रहे हो कि भीमसुता (दमयन्ती) का मन प्राण छूटने के बाद मुझमें (चन्द्र में) लीन हो जाएगा ? मुझे तो विद्वान् कामदेव ने उस अर्थ वाले श्रुति का विशिष्टार्थ नल के मुख रूप चन्द्र का बता दिया है।

यहाँ दमयन्ती के द्वारा किए गए चन्द्रोपालम्भ में यह कहा गया है कि प्राणोत्सर्जन के बाद मन चन्द्र में लीन हो जाता है। इस श्रुति के अर्थ का तात्पर्य प्रसिद्ध गगनगत चन्द्र से नहीं है। अपितु वह चन्द्र राजा नल का मुख रूप चन्द्र है। इसमें प्रसिद्ध चन्द्र की अपेक्षा

नल के मुखचन्द्र का वैशिष्टय होने से अधिकता द्रूप्य रूपक है। रूपक के सावयवत्व निरवयवत्व आदि भेदों का निरूपण चित्रमीमांसा में देखना चाहिए।

'नैषधीयचरितम' का यह श्लोक सुन्दर है। इसमें विरह पीड़िता दमयन्ती चन्द्र की भर्त्सना कर रही है। चन्द्र विरही जनों को क्यों सताता है ? इसका कारण दमयन्ती उस श्रुति को मान लेती है जिसमें कहा गया है कि प्राणोत्सर्जन के बाद जीव का मन चन्द्र में लीन हो जाता है- ''यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मोषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु रोहितं च रेतश्च निधीयत।''

अर्थात चन्द्रमा दमयन्ती को इसलिए सता रहा है कि इस विरह पीड़ा से यदि दमयन्ती मर जाए तो इसका मन मुझमें आकर मिल जाएगा तब मैं इसके सम्मिलन का आनन्द प्राप्त कर सकूँगा; परञ्च दमयन्ती कहती है कि ऐ चन्द्र! यदि तुम ऐसा (उपुर्यक्त अर्थ समझते हो तो तुम मुर्ख हो, क्योंकि मुझे विद्वान् कामदेव ने बताया है कि उस श्रुति का अर्थ तुमसे (प्रसिद्ध चन्द्र) से नहीं है अपितु राजा नल के मुख रूप चन्द्र से है। ऐसी अवस्था में यदि मैं मर भी जाती हूँ तो मेरा मन नलमुखचन्द्र में जाकर मिलेगा जो वस्तुतः मेरा अभीष्ट भी है। अतः तुम्हें मुझे सताने में कुछ लाभ मिलने वाला नहीं है। तुम मूर्ख हो जो श्रुति का सामान्य अर्थ पकड़कर चल रहे हो। विद्वान् लोग सामान्यार्थ को छोड़कर विशिष्टार्थ को लेकर ही चलते हैं। इस तरह यहाँ नल मुख और चन्द्र की तद्रूपता तो है, पर श्रुत्यर्थ के बल पर दोनों पृथक-पृथक हैं। दमयन्ती के कथनानुसार मनः प्रवेश प्रसिद्ध चन्द्र में नहीं अपितु नलमुखचन्द्र में होगा। अतः प्रसिद्ध चन्द्र से नलमुख चन्द्र की विशेषता होने से यहाँ अधिकताद्रूप्यरूपक है।

दीक्षित जी ने यहां स्पष्ट लिख दिया है कि रूपक के सावयवत्व और निरवयवत्वादि भेद 'चित्रमीमांसा' में देखना चाहिए। दिग्दर्शन मात्र यहाँ उन भेदों का दिया जा रहा है। रूपक के मूलतः तीन भेद हैं- निरवयव, सावयव और परम्परित। निरवयव के दो भेद केवल निरवयव, माला निरवयव। सावयव के दो भेद- समस्त वस्तु विषयक, एक देश

विवर्ति। परम्परित के चार भेद–शिलष्ट केवल परम्परित, अशिलष्ट केवल परम्परित शिलष्ट माला परम्परित, अशिलष्ट माला परम्परित।

इस निरवयव और सावयव को काव्य प्रकाशादि में निरङ्ग और साङ्ग कहा गया है।

(1) **केवल निरवयव**– यह रूपक अंगागिभाव से रहित होता है। यथा

कुरंगीवागानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखी कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चावन्तः स्वपिति तदयो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेम लतिकाम्॥

यहाँ प्रेम पर लतिका का आरोप है। इस आरोप का अंगभूत कोई और आरोप नहीं है। अतः यह केवल निरवयव है।

(2) **माला निरवयव**– जब एक आरोप विषय पर अंगागिभाव से रहित बहुतों का आरोप होता है, तब यह भेद होता है। जैसे–

सौन्दर्यस्य तरङ्गिनी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मवचसामुल्लासनावासभूः।
विद्यावक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात् क्रिया
प्राणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूड़ामणिः सा प्रिया॥

यहाँ एक प्रेमिका रूप उपमेय पर, सौन्दर्य की तरङ्गिनी, तरुणिमोत्कर्ष का हर्षोद्ग आदि बहुत से उपमान का आरोप है। ये परस्पर अंगागिभाव से रहित भी है, अतः यह निरंगमालारूपक है।

(3) **समस्त वस्तु विषयक सावयव (साङ्ग)**– इसमें आरोप विषय पर आरोप्यमान शब्दतः उपात्त (प्राप्त) होता है। एक रूपक के अंग भूत सभी रूपक होते हैं। इसीलिए सह सावयव या साङ्ग कहलाता है। जैसे

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला विभ्रती तारकास्थी
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।

द्वीपात् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्यच्छलेन॥

यहाँ रात्रि पर कापालिकी का आरोप है। कापालिकी के अनुकूल अन्य सभी वस्तुओं पर तत्तत् आरोप होने से अंगागिभाव है। जैसे- तारा पर अस्थि का आरोप, चन्द्रमा पर कपाल का आरोप आदि यह सभी आरोप कापालिकी रूप आरोप का अंग है। अतः यह सावयव या साङ्ग है।

(4) एकदेशविवर्ति सावयव (साङ्ग)- सावयव में आरोप शब्दतः उपात्त होता है। यहाँ (एकदेशविवर्ति) एक आरोप शब्दतः उपात्त होता है, तो दूसरा अर्थतः उपात्त होता है। अंगागिभाव होता ही है। जैसे-

प्रौढ़मौक्तिकरुचः पयोमुचां बिन्दवः कुटजपुष्पबन्धवः।
विद्युतां नभसि नाट्यमण्डपे कुर्वते स्म कुसुमाञ्जलिश्रियम्॥

यहाँ नभ में नाट्यमण्डप का आरोप शब्दतः लभ्य है, पर विद्युत में नर्तकी का आरोप अर्थलभ्य है। नाट्यमण्डप अंगी आरोप के अन्य आरोप अंग है। अतः यहाँ एक देशविवर्ति रूपक है।

(5) श्लिष्ट केवल परम्परित- परम्परित रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है। शब्द के श्लिष्ट होने से यह श्लिष्ट के बल परम्परित है। जैसे-

अलौकिक महालोक प्रकाशित जगत्त्रयः।
स्तूयते देव सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान्॥

यहां 'वंश' शब्द कुल और वेणु (बाँस) अर्थ में श्लिष्ट है एवं राजा पर मुक्तारत्न के आरोप का कारण वंश पर वेणु (बाँस) का आरोप है। अतः यह श्लिष्ट केवल परम्परित है।

(6) माला श्लिष्ट परम्परित- यहाँ एकाधिक आरोप अन्य आरोप के कारण होते हैं। अतः यह माला परम्परित कहलाता है। जैसे-

विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासङ्कोचदीप्तद्युते।
दुर्गामार्गण नीललोहितसमित्स्वीकार वैश्वानर।
सत्यप्रीतिनिधानदक्ष विजय प्राग्भावभीमप्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥

यहाँ राजा पर हंस के आरोप का कारण विद्वानों पर मानस का आरोप है। इससे यह परम्परित रूपक है। 'मानस' शब्द मन और मानसरोवर अर्थ में श्लेष होने से श्लिष्ट है। वैरी कमल का आरोप ही राजा पर सूर्यत्वारोप का कारण है। इस तरह एकाधिक आरोप होने से माला है। अतः यह माला श्लिष्ट परम्परित रूपक है।

(7) अश्लिष्ट केवल परम्परित– इसमें शब्द श्लिष्ट नहीं होता है। जैसे–

निरवधि च निराश्रयं च स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम्।
प्रथममिह भवान स कूर्मनाथो जयति चतुर्दश लोकवल्लिकन्दः॥

यहाँ स्थिति पर निरवधित्व निराश्रयत्व का आरोप राजा पर कूर्ममूर्तित्व के आरोप का निमित्त है। इसलिए यह परम्परित है। शब्द श्लिष्ट नहीं होने से अश्लिष्ट परम्परित है।

(8) अश्लिष्ट माला परम्परित–

पर्यङ्को राजलक्ष्म्याः हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गः
सङ्ग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसलीलाम्बुवाहः।
भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः
खड्गक्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य॥

यहाँ मालवाखण्डल के खड्ग पर राजलक्ष्मी का पर्यङ्क, पौरुषाब्धि का तरंग आदि बहुत आरोप होने से यह माला अश्लिष्ट परम्परित है।

इस तरह रूपक के आठ भेद हुए। ये भेद साधर्म्य से दिखाए गए हैं। वैधर्म्य से भी केवल और माला रूपक दो भेद होते हैं।

केवल (वैधर्म्य से)–

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ
रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।

शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा
बालारुणोऽभूद्रुधिर प्रवाहः॥

माला रूपक- (वैधर्म्य)

सौजन्याम्बु मरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुणः
ज्योत्स्ना कृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा।
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्र सुलभे सेवा कियत् कौशलम्॥

इस तरह साधर्म्य के आठ और वैधर्म्य के दो जोड़ करने पर 10 भेद रूपक के हुए। आचार्य विश्वनाथ के मत से 'परम्परित' भी 'एकदेशविवर्ति' होता है। ''क्वचित् परम्परितमप्येक देश विवर्ति।'' (सा. द.)

चन्द्रालोककार ने रूपक का चार भेद माना है। (1) सोपाधिरूपक (2) सादृश्यरूपक (3) आभास रूपक (4) रूपित रूपक।

अपनी शैली में उन्होंने लक्षण पुरस्सर उदाहरण इस तरह लिखा है-

समानधर्मयुक् साध्यारोपात्सोपाधिरूपकम्।
उत्सिक्तक्षितिभृल्लक्ष्यपक्षच्छेदपुरन्दरः॥ १९॥
पृथक्कथितसादृश्यं दृश्यं सादृश्यरूपकम्।
उल्लसत्पञ्चशाखस्ते राजते भुजभूरुहः॥ २०॥
स्यादङ्गयष्टिरित्येवं विधमाभासरूपकम्।
अङ्गयष्टि धनुर्वल्लीत्यादि रूपित रूपकम्॥

(६) परिणामालङ्कारः –

परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना।
प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा॥ २१॥

यत्रारोप्यमाणो विषयी किञ्चित्कार्योपयोगित्वेन निबध्यमानः स्वतस्तस्य तदुपयागित्वासंभावात्प्रकृतात्मना परिणतिमपेक्षते यत्र परिणामालङ्कार। अत्रोदाहरणम् प्रसन्नेति। अत्र हि अब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं निबध्ये, न तु दृशः। मयूर व्यंसकादि

समासेनोत्तर पदार्थप्राधान्यात्। न चोपमित समासाश्रयणेन दृगव्जमिवेति पूर्वप्राधान्यमस्तीति वाच्यम्। प्रसन्नेति सामान्य धर्म प्रयोगात्। ''उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (पा. 2/1/56)'' इति तदप्रयोग एवोपमितसमासानुशासनात्। अव्जस्यवीक्षणोपयोगित्वं न स्वात्मना संभवति। अतस्तस्य प्रकृतदृगात्मना परिणत्यपेक्षणात् परिणामालङ्कार॥

जहाँ विषयी (उपमान) विषय (उपमेय) के रूप में ही क्रिया की सिद्धि कर सके, वहाँ 'परिणाम' अलंकार होता है। जैसे यह मन्दिरेक्षणा प्रसन्न नेत्रकमलों में देखती है।

यहाँ नेत्र पर कमल को आरोपित किया गया है। नेत्र और कमल (अब्ज) का साधारण धर्म प्रसन्न भी कहा गया है। परञ्च उपमान (कमल) स्वयं वीक्षण (देखना) रूप क्रिया की सिद्धि तो कर नहीं सकता, इस क्रिया को सिद्ध करने के लिए उसे (उपमान) विषय (उपमेय) रूप में परिणत होना होगा। इसलिए यहाँ परिणामालंकार है। इसी बात को वृत्ति में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं।

जहाँ आरोप्यमाण विषयी किसी कार्य की उपयोगिता को ध्यान में रखकर निबद्ध किया गया है, लेकिन वह (विषयी) स्वयं उस क्रिया की सिद्धि में उपयुक्त न होता हो, प्रकृत (विषय) रूप में परिणत होकर क्रियासिद्ध करता हो (क्रिया सिद्धि के लिए विषय रूप में परिणति की अपेक्षा रखता हो) वहाँ परिणामालङ्कार होता है। यहाँ 'प्रसन्नेन...' यह उदाहरण है। यहाँ अब्ज (कमल) देखने की उपयोगिता के लिए निबद्ध है। न कि आँख। 'दृगव्ज' पद में 'मयूरव्यंसकादय' इस सूत्र से समास हुआ है। इससे उत्तर पद (अव्ज) की प्रधानता होने से अव्ज की वीक्षण क्रिया से सम्बद्ध होता है 'दृक्' नहीं। इस 'दृगव्ज' पद में 'दृक् अब्जमिव' इस तरह यदि उपमान समास बनाकर इस प्रकृत अर्थ में उपयोगी बनाया जाए, तो यह उचित नहीं होगा। क्योंकि यहाँ उपमा अलंकार नहीं है। उपमालंकार के कारण यहाँ पूर्व पद प्रधान है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ''पाणिनीय सूत्र २/१/५६ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामन्यप्रयोगे'' इस सूत्र के आधार पर समान धर्म के अभाव में ही उपमित समास हो सकता है और प्रस्तुत उदाहरण में 'प्रसन्न' यह समान धर्म प्रयुक्त है।

अतः यहाँ मयूरव्यंसकादि समास ही है। अब्ज की उपयोगिता देखने में अपने बल पर संभव नहीं है। अतः प्रकृत (विषय) दृक् के रूप में परिणति की अपेक्षा होने से यहाँ परिणामालंङ्कार है।

'दृगब्ज' में मयूरव्यंसकादि समास करने पर दृक् पर अब्ज का आरोप होने से उत्तर पद प्रधान अर्थात अब्ज की प्रधानता होती है। अब्ज का सम्बन्ध देखना रूप क्रिया से बनता है। इस देखना रूप क्रिया में अब्ज की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। पूर्वपक्षी 'दृगब्ज' में उपमालंकार बनाना चाहते हैं, जिससे पूर्व पद दृक् की प्रधानता हो जाये और देखना रूप क्रिया से सम्बद्ध होने पर कोई बाधा न आए। पर यहाँ उपमित समास नहीं बन सकता। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे' इस सूत्र से सामान्य धर्माभाव से ही उपमित समास होगा। इस प्रत्युत उदाहरण में दृग् और अब्ज का समान धर्म प्रसन्न दिया हुआ है। अतः मयूरव्यंसकादि समास के बल पर उत्तर पद प्रधान होने से अब्ज का सीधा सम्बन्ध 'वीक्षते' से होगा और इस वीक्षण में अब्ज की असमर्थता होने से अब्ज को दृग रूप से परिणत होना होगा। ऐसी परिणति की अपेक्षा होने से परिणामालङ्कार होगा।

इसी तरह ''कुवलयानन्द'' के मंगलाचरण में 'गौरीचरणपङ्कजम्' पद में भी परिणामालंकार है। दुरित दूर करने की क्षमता पङ्कज में नहीं है और मयूरव्यंसकादि समास होने पर उत्तर पद की प्रधानता होने से दुरित दूर करने का सम्बन्ध पङ्कज से ही बनता है। ऐसे में पङ्कज को चरण रूप में परिवर्तित होना पड़ता है। अतः यहाँ परिणामालंकार ही है।

उपर का उदाहरण 'दृगब्ज' समासगत था। अब समास भिन्न उदाहरण देकर इस अलंकार को पुष्ट करते हैं-

यथा वा-

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्त्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय
स्तस्मै सोमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छादन्वीयमानः क्षणमचलमथो चित्रकूटं प्रतस्थे॥

अत्रारोप्यमाण आतरः सौमित्रीमैत्रिरूपतापत्त्या गुहोपकारलक्षणकार्योपयोगी न स्वात्मना, गुहस्य रघुनाथप्रसादैकार्थिकत्वेन वेतनार्थित्वाभावात्॥

प्रस्तुत श्लोक अनर्घराघव नाटक से उद्धृत है। कवि कहते हैं- भगवान् रामचन्द्र ने सीता-लक्ष्मण के साथ भगवान शंकर की मौलिमाला सुरनदी (गंगा) को पार कर उस नाविक (गुह) के लिए सौमित्रिमैत्री रूप आतर (पार उतरने का किराया) दिया। इसके बाद कौतुक से विकसित आँखों वाली और हाथ के विस्तार के पकड़ने के लायक स्तनों वाली भील युवतियों से अनुगत होकर चित्रकूट की ओर प्रस्थान किया।

यहाँ 'आतर' आरोप्यमाण है, और सौमित्रिमैत्री आरोपित है। यहाँ आतर सौमित्रमैत्री रूप में परिणत होकर ही नाविक (गुह) का उपकार करने में समर्थ है, स्वयं नहीं। वह नाविक मात्र रघुनाथ की कृपा का याचक है पार उतारने के लिए किराये का नहीं। अतः यहां परिणाम अलंकार है।

यहाँ सौमित्रमैत्री पर आतर का आरोप किया है। यह नाविक आतर (किराया) नहीं बल्कि रघुनाथ की कृपा दृष्टि चाहता है। यह कृपा लक्ष्मण की मैत्री ही हो सकती है। अतः नाविक का उपकार आतर 'सौमित्र मैत्री' के रूप में ही कर सकता है, इसलिए परिणाम अलंकार है।

चन्द्रालोककार ने परिणाम का लक्षण करते हुए लिखा है-

परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति।
कान्तेन पृष्टा रहसि मौनमेवोत्तरं ददौ॥

कवेल उपमान और उपमेय में अभेद एवं क्रिया पद के साथ अन्वय होना परिणाम है। ऐसी अवस्था में उपमान और उपमेय की एकता को रूपक में देखकर परिणाम को अलग मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर 'काव्य प्रकाश' में परिणाम को पृथक् अलंकार नहीं माना गया है। परञ्च इस विषय में 'अप्पय दीक्षित' ने चित्रमीमांसा में लिखा है- **यत्रारोप्यमाणं किञ्चितकार्योपयोगित्वेन निवध्यमानं स्वतस्तस्य तदुपयोगित्वासम्भवात् प्रकृतात्मतापत्तिमपेक्षते तत्रैव**

परिणामाङ्गीकारात्। सामान्यतया देखा जाये तो रूपक और परिणाम में थोड़ा सा अन्तर है। रूपक में उपमेय और उपमान में अभेद होते हुए उपमान का प्राधान्य होता है। प्रकृत और अप्रकृत रूप में काम करता है। जैसे– आँख रूप कमल में वह देखती है। यहाँ आँख पर कमल का आरोप है। कमल देखने में असमर्थ है, अतः वह आँख में परिणत होकर ही देखता है। अप्रकृत कमल प्रकृत आँख बनकर ही देखना रूप काम कर सकता है। चित्रमीमांसा में दीक्षित जी ने लिखा भी है–

विषय्याकारमारोप्य विषयस्थगनं यथा।
रूपकत्वं तदा तत्र रञ्जनेन समन्वयः॥
यदा तु विषयो रूपात् स्वस्यादप्रच्युतो भवेत्।
उपयुक्त्यै तदाकारः परिणामस्तदा मतः॥

पं. राज जगन्नाथ ने परिणाम का लक्षण इस प्रकार किया है– **विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणामः॥**

क्या परिणाम तुल्याधिकरणक और अतुल्याधिकरणक के भेद से दो प्रकार का होता है। साहित्यदर्पणकार ने लिखा है–

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनी।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा॥

पं राज के मत से तुल्याधिकरण समासगत और वाक्यगत भी होता है। विशेषनार्थ तत्तत् ग्रन्थ अवलोकनीय है।

(7) उल्लेखालङ्कारः

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते।
स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षि सः॥21॥

यत्र नानाविधधर्मयोग्यमेकं वस्तु तत्तत् धर्मयोग रूप निमित्तभेदेनानेकेन गृहीत्रानेक धोल्लिख्यते तत्रोल्लेखः। अनेकधोल्लेखने रुच्यर्थित्वभयादिकं यथार्हं प्रयोजकम्। रुचिरभिरतिः। अर्थित्वं लिप्सा। ''स्त्रीभिरित्युदाहरणम्'' अत्रैक एव राजा

सौन्दर्यवितरणपराक्रमशालीति कृत्वा स्त्रीभिरर्थिभिः प्रत्यर्थिभिश्च रुच्यर्थित्वभयैः कामकल्पतरुकालरूपो दृष्टः। यथा वा-

गजत्रातेति वृद्धाभिः श्रीकान्त इति यौवतैः।
यथास्थितिश्च बालाभिर्दृष्टः शौरिः सकौतुकम्॥

अत्र यस्तथा भीतं भक्तं गजं त्वरया त्रायते स्म सोऽयमादि पुरुषोत्तम इति वृद्धाभिः संसार भीत्या तदभयार्थिनीभिः कृष्णोऽयं मथुरापरं प्रविशन् दृष्टः। यस्तथा चञ्चलत्वेन प्रसिद्धा याः श्रियोऽपि कामोपचार वैदग्ध्येन नित्यं वल्लभः सोऽयं दिव्ययुवेति युवति समूहैः सोत्कण्ठैर्दृष्टः। बालाभिस्तु तद्वाह्यगत रूपवेषालङ्कारदर्शनमात्र लालसाभिर्यथास्थितवेषादियुक्तो दृष्ट इति बहुधोल्लेखः। पूर्वः कामत्वाद्यारोप रूपकसंकीर्णः। अयं तु शुद्ध इति भेदः॥ 22॥

एक ही वर्ण्य वस्तु का बहुतों से संबंध होने के कारण या बहुतों के द्वारा बहुत ढंग से उल्लेख किया जाये, तो वह उल्लेख अलंकार कहलाता है। जैसे वह (राजा) स्त्रियों के द्वारा कामदेव, याचकों के द्वारा कल्पवृक्ष और शत्रुओं के द्वारा काल (के रूप में) देखा गया।

जहाँ विविध धर्म से युक्त एक वस्तु का तत्तत् धर्मयुक्तत्व रूप भेद से ग्रहण करने वालों के द्वारा पृथक-पृथक उल्लेख किया जाता है, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। पृथक-पृथक उल्लेख करने में रुचि, अर्थित्व और अभय आदि प्रयोजक हैं। रुचि, अभिरति को कहते हैं। अर्थित्व लिप्सा का बोधक है। ''स्त्रीभिः'' यह कारिकार्द्ध उदाहरण है। यहाँ एक ही राजा सौन्दर्य, वितरण और पराक्रम तीनों से युक्त है इसलिए स्त्री, याचक और शत्रु तीनों ने पृथक-पृथक् रुचि, अर्थित्व और अभयत्व के कारण काम देव, कल्पवृक्ष और काल रूप में देखा।

जैसे-कौतूहल वश भगवान श्री कृष्ण, वृद्धाओं के द्वारा गजत्राता के रूप में युवतियों के द्वारा श्रीकान्त (विष्णु) के रूप में और यथारूप (बाल रूप) में बालाओं के द्वारा देखे गए।

यहाँ जो भगवान् भयभीत हाथी को तुरन्त ग्राह से मुक्त कराने वाले थे, वही आदि

पुरुष हैं, इस तरह संसार के भय से भयभीत वृद्धाओं के द्वारा अभय कामना से यह कृष्ण मथुरापुरी में प्रवेश करता हुआ देखा गया। जो चञ्चलता के कारण प्रसिद्ध लक्ष्मी (श्री) के भी कामुकता पूर्णोपचार कुशलता से पति हैं, वहीं दिव्ययुवा (भगवान विष्णु) हैं, इस तरह उत्कण्ठित युवती समूहों के द्वारा देखा गया। बालाओं के द्वारा जिसकी लालसा केवल ब्रह्मरूप वेष, आभूषादि दर्शन में थी, उस बाल रूप में ही देखा गया, इस तरह तीन तरह के द्रष्टाओं के लिए एक ही कृष्ण का तीन रूप में उल्लेख है। पहले का उदाहरण कामत्वादि के आरोप के कारण रूपक से संकीर्ण है। यह उदाहरण शुद्ध उल्लेख है। यही दोनों में भेद है।

यहाँ दो उदाहरण दिए गए हैं। एक रूपक से युक्त है दूसरा शुद्ध उल्लेख है। एक ही वस्तु का उल्लेख यहाँ पृथक्-पृथक् लोगों के द्वारा पृथक-पृथक किया जाता है। इसका मूल कारण होता है तत्तत् द्रष्टों के द्वारा तत्तत् वस्तु विशिष्ट में रुचि और वर्ण्य विषय में तत्तत् धर्म का समावेश। जैसे कारिकार्द्धगत उदाहरण में एक ही राजा में सौन्दर्य, दानशीलता और पराक्रम तीनों धर्मों का समावेश है। द्रष्टा क्रमशः स्त्री, याचक और शत्रु है। स्त्रियों को अपने नायक के रूप में सौन्दर्य की कामना होती है, अतः स्त्रियों ने उसे कामदेव के रूप में देखा। अवशिष्ट गुणों पर उसने ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उसकी कामना उसे नहीं थी। याचक को धन चाहिए। मनोनुकूल वस्तु तत्क्षण प्रदान करने की शक्ति कल्पवृक्ष में है और यह राजा भी याचकों को तत्क्षण सन्तुष्ट करने की क्षमता रखता है। अतः याचकों ने कल्पवृक्ष के रूप में देखा। याचकों को सौन्दर्य और पराक्रम से क्या लेना देना? शत्रुओं ने काल (यमराज) रूप में देखा। शत्रु लोग इसके पराक्रम से भयभीत हो गए, जीवन की आशा नहीं बची। अतः यह राजा उन्हें यमराज दिखने लगा। अब इसी राजा की कृपा पर उसका जीवन बचना संभव था। स्वीय अभयत्व की आकांक्षा की पूर्ति इसी राजा से संभव थी। मृत्यु ही किसी को जीवन दे सकती है या ले सकती है। अतः शत्रु ने इसे काल रूप में देखा। यहाँ तीन द्रष्टाओं के द्वारा पृथक्-पृथक् वस्तु की अपनी रुचि के कारण एकी राजा पृथक्-पृथक् रूप में देखा गया। यद्यपि राजा में तीनों गुण हैं पर जिसकी जो कामना होती है, वह सामने वाले को उसी रूप में देखता है। संत तुलसीदास ने कहा है-

जाकी रही भावना जैसी
प्रभु मूरत देखहि तिन तैसी॥

दूसरा उदाहरण श्लोक रूप में है। जब भगवान श्री कृष्ण मथुरापुरी में पहुँचे तो वृद्धाओं ने गजत्राता, युवतियों ने लक्ष्मीपति और बालाओं ने शिशु रूप में देखा। वृद्धावस्था में सभी इस संसार के भय से मुक्ति चाहते हैं। भगवान ने गज का ग्राह से त्राण (रक्षा) किया था, तो मेरा भी करेंगे यही सोचकर वृद्धा गजत्राता समझती हैं। युवतियों की सतत ऐसे प्रेमी की कामना होती है, जो सौन्दर्यवान् हो और विविध कामकला विशारद भी हो। अतः लक्ष्मीपति के रूप में देखा, क्योंकि जो अत्यन्त चञ्चला लक्ष्मी को भी अपने सौन्दर्य और कामकला-प्रावीण्य में भी वश में कर ले, भला इससे अधिक सौन्दर्य और काम प्रवीणता किसमें होगी? युवतियों को इन दो गुणों के अतिरिक्त चाहिए भी क्या ? तीसरी बालाएँ हैं। बच्चों को केवल सुन्दर-सुन्दर गहने कपड़े आदि देखने का शौक होता है। वो कपड़े और गहने बालरूप में थे ही, अतः बालाओं ने बच्चे को देखा। यहाँ एक कृष्ण वृद्धा के लिए गजत्राता, युवतियों के लिए विष्णु और बालाओं के लिए बच्चा बने हैं। तीनों दृष्टा पृथक्-पृथक् रुचि के कारण ही गजत्रातृत्व, श्रीकान्तत्व और शिशुत्व गुण से युक्त कृष्ण को पृथक्-पृथक् धर्म विशिष्ट रूप में देखते हैं।

यहाँ पहले उदाहरण में राजा पर कामदेव कल्पतरु और काल का आरोप होने से रूपकालंकार से युक्त उल्लेख अलंकार है। दूसरे उदाहरण में आरोप नहीं होकर शुद्ध उल्लेख होने से शुद्ध उल्लेख अलंकार है। राजा पर त्रिविध धर्मत्व पर आरोप कवि द्वारा किया गया है। जबकि कृष्ण में तीनों गुण हैं ही द्रष्टा पृथक्-पृथक् देखता है।

एकेन बहुधोल्लेखेऽप्यसौ विष्यभेदतः।
गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने॥ 22॥

ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषय भेदाद्बहुधोल्लेखनादसावुल्लेखः। उदाहरणं श्लेष संकीर्णम्। वचो विषये महान्पटुरित्यादिवद्-बृहस्पतिरित्याद्यर्थान्तर स्यापि क्रोडीकरणात्।

शुद्धो यथा-

अकृशं कुचयोः कृशं विलग्ने विपुलंचक्षुषि विस्तृतं नितम्बे।
अधरेऽरुणमाविरस्तु चित्ते करुणाशालि कपालिभागधेयम्॥ 23॥

एक ही ग्रहीता के द्वारा यदि विषय भेद से वर्णनीय का विधि ढंग से उल्लेख होता है तो वह भी उल्लेख अलंकार है। जैसे- वचन में गुरु कीर्ति में अर्जुन और शरासन में भीष्म हैं।

ग्रहीता का पृथक्-पृथक् न होने पर भी विषय भेद में वर्णनीय का विधि ढंग से उल्लेख होने पर उल्लेख होता है। यहाँ जो उदाहरण कारिकार्द्ध में दिया गया है वह श्लेष से संकीर्ण (युक्त) है। वचन के विषय में महान् पटु बृहस्पति रूप अर्थान्तर का बोध भी कराता है। उसी तरह अुर्जन धवल और कुन्ती पुत्र का तथा भीष्म भयंकर और शान्तनुतनय का बोध कराता है।

अब शुद्ध का उदाहरण देते हैं, जो श्लेष से युक्त नहीं है।

मेरे हृदय में कपालि (शंकार) का भागधेय (भाग्य) आविर्भूत हो, जो स्तनयुगल में पुष्ट (अकृश) मध्यभाग में कृश, आँखों में विस्तृत, नितम्ब में विशाल, अधर में लाल और करुणा से युक्त है।

उल्लेख अलंकार के विषय में प्रायः सभी आलंकारिकों की परिभाषा एक जैसी ही है। दोनों भेदों में केवल इतना अन्तर है कि एक (पहले) में ग्रहीता पृथक्-पृथक् होता है। सभी वर्णनीय को अपनी-अपनी दृष्टि में पृथक्-पृथक् देखता है और दूसरे भेद में ग्रहीता एक ही होता है। केवल विषय के भेद में वह वणनीय को पृथक्-पृथक् देखता है। जैसे पहले उदाहरण में वृद्धा, युवती और बाला, ये ग्रहीता पृथक़-पृथक हैं और दूसरे उदाहरण में ग्रहीता भक्त एक ही है। अंग विशेष से वह पार्वती को पृथक्-पृथक् देखता है। यहाँ ग्रहीतृ पार्थक्य रूप पहला भेद भी शुद्ध संकीर्ण दो प्रकार का है और विषय पार्थक्य होने पर भी यह शुद्ध संकीर्ण दो प्रकार का है। अतः उल्लेख अलंकार चार प्रकार का है।

(1) ग्रहीतृ पार्थक्य शुद्ध - गजत्रातेति वृद्धाभिः .....।

(2) ग्रहीतृ पार्थक्य संकीर्ण - स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः .....।

(3) विषय पार्थक्य शुद्ध - अकृशं कुचयोः ......।

(4) विषय पार्थक्य संकीर्ण - गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं।

कुछ आलंकारिक इस अलंकार को नहीं मानते हैं। इसलिए आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है- केचिदाहुः अयमलङ्कारो नियमेनालङ्कार विच्छित्तिमूलः। पुनः उन्होंने खण्डन भी किया है। एतदर्थ 'साहित्यदर्पण' अवलोकनीय है।

इस अलंकार की परिभाषाएं निम्न हैं-

क्वचिद्भेदाद् गृहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥ सा. दर्पण
निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनोयदनेकधा।
उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते॥ - चित्रमीमांसा

एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद्यनेकैर्ग्रहीतृभिरनेक प्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः। ''रसगंगाधर''

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता।
स्त्रीभिः कामः प्रियैश्चन्द्रः कालः शत्रुभिरैक्षि सः॥ चन्द्रालोक

(8-10) स्मृति-भ्रान्ति स्नेहालंकाराः।

स्यात् स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदङ्कालङ्कृतित्रयम्।
पङ्कजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मनः॥ 23॥
अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेत्ति पङ्कजम्।
पङ्कजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः॥ 24॥

स्मृति भ्रान्ति सन्देहैः सादृश्यान्निवध्यमानैः स्मृति भ्रान्तिमान्सन्देह इति स्मृत्यादि पदाङ्कितमलङ्कारत्रयं भवति। तच्च क्रमेणोदाहृतम्। यथा वा-

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्ताद-
म्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम्।

उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्ती
मस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः॥

पूर्वत्र स्मृतिमदुदाहरणे सदृशस्यैव स्मृतिरत्र सदृश लक्ष्मी स्मृत्ति पूर्वकं तत्सम्बन्धिनो जलनिधिमन्थनस्यापि स्मृतिरिति भेदः।

पलाश मुकुल भ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिं धुर्तमिच्छति॥

अत्रान्योन्यविषयभ्रान्ति निबन्धनः पूर्वादाहरणाद्विशेषः।

जीवनग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुन्नताः।
किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः॥

पूर्वोदाहृत संदेहः प्रसिद्ध कोटिकः अयं तु कल्पित कोटिक इति भेदः॥

यहाँ स्मृति भ्रान्ति और संदेह अलंकार का निरूपण करते हैं। जहाँ किसी वस्तु को देखकर किसी अन्य का स्मरण होता है वहां स्मृति, जहां किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ भ्रान्ति और जहाँ एक वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान हो तो परञ्च वह ज्ञान निश्चित नहीं होने पाए, वहाँ सन्देह अलंकार होता है। जैसे स्मृति- कमल को देखते हुए मेरा मन कान्तामुख को याद करता है। भ्रान्ति-यह प्रमत्त भौरा तुम्हारे मुख को कमल समझता है। सन्देह- यह कमल है या चन्द्रमा यह हम लोग निर्णय नहीं कर पाते हैं। सादृश्य निबन्धन होने से स्मृति भ्रान्ति और सन्देह होने पर क्रमशः स्मृति भ्रान्ति और सन्देह अलंकार होता है। क्रमशः इन तीनों का उदाहरण दिया गया है- जैसे-

(यह शिशुपालवध महाकाव्य में जलक्रीड़ा का वर्णन है।) जो दिव्यपुरुषों को सौन्दर्य से आश्चर्यित करने वाली थी तथा जिसके सुन्दर हाथ में सुन्दर कमल था, ऐसी लक्ष्मी की तरह किसी रमणी को जल में देखकर, भगवान कृष्ण ने जलनिधि मन्थन का स्मरण किया।

पहले (कारिका में) जो स्मृति का उदाहरण दिया गया है। उसमें सदृश वस्तु को देखकर सदृश वस्तु का स्मरण होता है और यहाँ सदृश वस्तु को देखकर सृदश लक्ष्मी के

स्मरण के साथ तत्सम्बन्धी समुद्र मंथन की भी स्मृति होती है। यही दोनों में भेद है।

भ्रान्ति– तोते की चोंच को पलाश का मुकुल (कलिका) समझ कर भौंरा उस (चोंच) पर गिर रहा है और तोता उस भौंरे को जामुन का फल समझकर पकड़ना चाहता है।

पहले (कारिकागत) उदाहरण में एक की भ्रान्ति दिखायी गयी है और यहाँ तोता एवं भौंरा दोनों की भ्रान्ति का वर्णन होने से यह पहले उदाहरण से भिन्न है।

सन्देह– जीवन ग्रहण समय में नम्र होता है और जीवन ग्रहण करने के बाद पुनः उन्नत हो जाता है। दुर्जन लोग (घटीयन्त्र) रहट से बड़े हैं या छोटे ?

पहले (कारिकागत) उदाहरण का सन्देह प्रसिद्ध कोटि का है और यह कल्पित कोटि का है।

ये तीनों अलंकार सामान्य हैं। सादृश्यमूलक ये सभी अलंकार हैं। (1) स्मृति– इसमें उपमान को देखकर उपमेय की स्मृति (स्मरण) होती है। कमल को देखकर मुख का स्मरण होता है। अर्थात् कमल और मुख का सादृश्य है। एक को देखने पर दूसरा उपस्थित-सा लगता है।

भ्रान्ति– इस अलंकार में उपमेय को देखकर उपमान का ज्ञान हो जाता है। द्रष्टा उपमेय को ही वस्तुतः उपमान समझ लेता है। जैसे-भौंरा मुख को ही कमल समझकर उस पर झपटता है। मुख और कमल का इतना सादृश्य है कि भौंरा भी भ्रम में पड़ जाता है। इस अलंकार को एक उदाहरण द्रष्टव्य है– कि एक चक्रवाक किस तरह भ्रमवश दिन को रात समझकर कान्तावियोग की आशंका में व्यथित हो जाता है।

भङ्क्त्वा भोक्तुं न भङ्कते शिथिलविसलताखण्डमिन्दोर्वितर्कात्
ताराकारा तृषार्तः पिवति न पयासं विप्लुषः पत्रसंस्थाः।
छायामम्भोजिनीनामलिकुल वसनां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्यां
कान्ताविश्लेषभीरुर्दिनमपि रजनीं मन्यते चक्रवाकः॥

कविवर 'गुप्त' जी का यह प्रयोग भी चिरस्मरणीय है– कि उर्मिला के नाम में फँसे

मोती को देखकर जो अधर की क़ान्ति से लाल हो रहा था, पिंजरे का तोता, दूसरा तोता समझकर चुप हो जाता है।

नाक का मोती अधर की कान्ति से
बीत दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है
सोचता शुक दूसरा यह कौन है ?

सन्देह- इस अलंकार में प्रकृत वस्तु को देखकर अप्रकृत का ज्ञान तो होता है। परञ्च यह निश्चित नहीं हो पाता है कि आखिर यह है क्या ? जैसे मुख को देखकर कोई कहता है कि यह कमल है या चाँद मुझे मालूम नहीं।

इस सन्देह अलंकार को आचार्य विश्वनाथ ने तीन भागों में बाँट दिया है-

संदेह : प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो निश्चय गर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा॥

(I) शुद्ध (II) निश्चय गर्भ (III) निश्चयान्त।

(I) शुद्ध- यह भेद वहाँ होता है, जहाँ सन्देह अन्त तक बना रहता है। कभी एक पक्षीय निर्णय नहीं हो पाता है। जैसे-

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवावल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्य वारांनिधेः।
उद्गढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यास विश्रम्भणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृंङ्गारिणः॥

(II) निश्चय गर्भ- इस भेद से पहले संशय होता है, फिर निश्चय होता है। पुनः संशय उत्पन्न होता है। गर्भ (मध्य) में निश्चित हो जाने से इसे निश्चय गर्भ कहा गया है। जैसे-

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।

कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥

(III) निश्चयान्त- इस भेद में पहले संशय तो होता है, पर बाद में निश्चय हो जाता है। जैसे-

किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विव्वोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥

यहाँ (कुवलयानन्द) में उदाहरणावलोकन से स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह के दो-दो भेद हैं।

(I) स्मृति	-	प्रकृत को देखकर अप्रकृत का स्मरण
(II) स्मृति	-	प्रकृत को देखकर अप्रकृत से संबंधित का स्मरण।
यथा	-	दिव्यानामपि .....
(I) भ्रान्ति	-	एक की एक वस्तु में भ्रान्ति। यथा - अयं प्रमत्त .....।
(II) भ्रान्ति	-	परस्पर दोनों की दोनों में भ्रान्ति। यथा - पलाश .....।
(I) सन्देह	-	प्रसिद्ध कोटिक सन्देह। यथा - पंकजं वा ....।
(II) सन्देह	-	कल्पित कोटिक सन्देह। यथा- जीवनग्रहणे .....।

अन्तिम उदाहरण श्लेष संकीर्ण है। यहाँ जीवन 'शब्द' जल और जीवनोपयोगी दोनों अर्थों में घटित होता है। अतः यदि इनका कल्पित कोटिक शुद्ध भेद खोजा जाये, तो सन्देह का तीन भेद हो जाएगा। यह भेद विश्वनाथ कृत भेद से पृथक् है।

इस स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह के लक्षण और उदाहरण (कारिका) में चन्द्रालोक का ऋण है। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में कारिकाएँ (प्रस्तुत) यथावत् हैं।

११. अपह्नुत्यलङ्कारः

शुद्धापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिह्नवः।
नायं सुधांशु किं तर्हि ? व्योमगङ्ग सरोरुहम् ॥ 25 ॥

वर्णनीये वस्तुनि तत्सदृशधर्मारोपफलकस्तदीय धर्मः निह्नवः कविमति

विकासितोत्प्रेक्षित धर्मान्तरस्यापि निह्नवः शुद्धापह्नुतिः। यथा चन्द्रे वियन्नदी पुण्डरीकत्वारोपफलकस्तदीय धर्मस्य चन्द्रत्वस्यापह्नवः। यथा वा-

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे, जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच्च संजगदिरे, भूच्छायमैच्छन् परे।
इन्दौ यत् दलितेन्द्र नीलशक लश्यामं दरीदृश्यते।
तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

अत्रौत्प्रेक्षिक धर्माणामप्यपह्नवः पर पक्षत्वोपन्यासादर्थसिद्धिः॥

अपह्नुति अलंकार के विवेचन क्रम में पहले शुद्धापह्नुति का लक्षण करते हैं।

शुद्धापह्नुति वहाँ होता है, जहाँ प्रकृत वस्तु के धर्म का गोपन करके अप्रकृत वस्तु का उस पर आरोप किया जाता है, जैसे यह चन्द्रमा नहीं है, तो क्या है ? यह आकाशगङ्गा का कमल है।

वर्णनीय वस्तु पर तत्सदृश धर्म वाले अप्रकृत का आरोप और प्रकृत के धर्म का गोपन, कवि की मति से उत्प्रेक्षित धर्मान्तर का भी गोपन, शुद्धापह्नुति कहलाता है। जैसे चन्द्र पर स्वर्नदीकमलत्व का आरोप और चन्द्रत्व रूप धर्म का गोपन होने से यहाँ शुद्धापह्नुति है। जैसे- दूसरा उदाहरण-

चन्द्रमा में जो टूटे इन्द्रनीलमणि के टुकड़े जैसा (श्याम) दाग है, उसे कोई कलंक मानते हैं। कोई सागर का कीचड़ मानते हैं, कोई उसे हरिण कहता है। कोई धरती की छाया कहते है। हम लोग तो कहते हैं कि चन्द्रमा के द्वारा पीया गया अन्धकार उसके पेट में जमा हो गया है। (वही धब्बा सा दीखता है।)

यहाँ उत्प्रेक्षित धर्म का भी गोपन हुआ है। पर पक्ष को रखने से यहाँ अर्थ सिद्ध होता है।

कारिकागत उदाहरण और इस उदाहरण में थोड़ा-सा अन्तर है। कारिकागत उदाहरण में कवि ने शब्द से प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत (कमल) का आरोप किया है और इस उदाहरण में शब्दतः प्रकृत का गोपन नहीं है। जैसे यह दाग नहीं कलंक है ऐसा नहीं कहा

गया है, अपितु केवल आरोप रख दिया गया है कि यह कलंक है या सागर का कीचड़ है आदि। पर पक्ष (आरोप) रख देने से स्वयमेव पूर्व पक्ष (प्रकृत) का गोपन हो जाता है। यह गोपन शब्दलभ्य नहीं अपितु अर्थलभ्य है। इसलिए यहाँ आर्थी अपह्नुति है।

स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुतिः।
नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः सिन्धोरौर्वोऽयमुत्थितः॥ 26॥

अत्र चन्द्र एव तीव्रत्व नैशत्वयुक्तिभ्यां चन्द्रत्वसूर्यत्वापह्नवो वडवानलत्वारोपार्थः। यथा वा-

मन्थानभूमिधर मूलशिलासहस्र
संघट्टनव्रणकिणः स्फुरतीन्दुमध्ये।
छायामृगः शशक इत्यतिपामरोक्ति-
-स्तेषां कथञ्चिदपि तत्र हि न प्रसक्तिः॥

अत्र चन्द्रमध्ये मन्थनकालिकमन्दरशिलासंघट्टनव्रणकिणस्यैव छायादीनां संभवो नास्तीति छायात्वाद्यपह्नवः पामरवचनत्वोपन्यासेनाविष्कृतः॥ 26॥

यही (पूर्वोक्त) अपह्नुति जब युक्तिपूर्ण होता है, तब हेत्वपह्नुति कहलाता है। जैसे- यह चन्द्रमा नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा तीव्र नहीं होता है। यह सूर्य भी नहीं है, क्योंकि सूर्य रात में नहीं होता है। यह सागर में उठा हुआ वडवानल है।

यहाँ चन्द्रमा में तीव्रत्व और नैशत्व रूप युक्ति के साथ चन्द्रत्व आर सूर्यत्व का गोपन हुआ है तथा उसमें (चन्द्रमा में) बड़वानलत्व का आरोप सिद्ध हुआ है। जैसे दूसरा उदाहरण-

यह जो (दाग) चन्द्रमा के मध्य दिख रहा है, वह मन्दराचल के जड़ के शिलाओं से टकराने से उत्पन्न घाव का दाग है। छाया मृग या खरहा इत्यादि पामर का वचन है। उन सबकी यह उपस्थिति कैसे हो सकती है।

यहाँ चन्द्र के मध्य में मन्थनकालिक मन्दराचल के शिला संघट्टन से उत्पन्न घाव

का दाग ही है, छाया आदि नहीं है। इस तरह छाया आदि का गोपन पामरवचनत्व कहकर सिद्ध किया गया है।

अन्यत्र तस्योपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः।
नायं सुधांशु किं तर्हि ? सुधांशुः प्रेयसीमुखम्॥ 27॥

यत्र क्वचित् वस्तुनि तदीय धर्म निह्नवः अन्यत्र वर्णनीये वस्तुनि तस्य धर्मस्यारोपार्थः स पर्यस्तापहनुतिः। यथा चन्द्रे चन्द्रत्वनिह्नवो, वर्णनीये मुखे तदारोपार्थः।

यथा वा-

हालाहलो नैव विषं, विषं रमा जनाः परं व्यत्ययमत्र मन्वते।
निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः॥

पूर्वाक्तोदाहरणे हेतूक्तिर्नाक्ति, अत्र तु सास्तीति विशेषः। ततश्च पूर्वापह्नुति वदत्रापि द्वैविध्यं द्रष्टव्यम्॥

जहाँ प्रकृत वस्तु का निषेध कर उसी प्रकृत का अन्यत्र अप्रकृत में आरोप किया जाये वहाँ पर्यस्तापह्नुति होता है। जैसे (चन्द्रमा को दिखाकर) यह चन्द्रमा नहीं है। फिर चन्द्रमा क्या है ? तो चन्द्रमा प्रिया का मुख है॥ 28॥

जहाँ कहीं प्रकृत वस्तु में उसके धर्म का निषेध कर अन्यत्र वर्णनीय वस्तु (अपृकृत) में उस धर्म का आरोप किया जाता है, वह पर्यस्तापह्नुति कहलाता है। जैसे चन्द्र में चन्द्रत्व का निषेध और वर्णनीय मुख में उस (चन्द्र) का आरोप है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

हालाहल विष नहीं है। विष रमा (लक्ष्मी) है, लेकिन साधारण लोग यहाँ उलटा ही मानते हैं। उस हालाहल को पीकर शंकर सूखपूर्वक जागते रहते हैं और इस लक्ष्मी का स्पर्श करने मात्र से ही भगवान् हरि निद्रा से मोहित हो जाते हैं।

पहले (कारिकागत) उदाहरण में हेतु नहीं है। यहाँ हेतु है, इसलिए यह उदाहरण पूर्व उदाहरण से भिन्न है। पहले (हेत्वपह्नुति) की तरह इस पर्यस्तापह्नुति के दो भेद ज्ञातव्य हैं।

यहाँ हालाहल का निषेध कर लक्ष्मी में आरोपित किया गया है। कारण भी दिया गया है। हालाहल (विष) का धर्म है कि वह शीघ्रातिशीघ्र लोगों को मूर्च्छित कर देता है। लेकिन भगवान शंकर हालाहल पीने के बाद भी जागरूक रहते हैं, अतः यह सिद्ध होता है कि हालाहल में विषत्व नहीं है। लक्ष्मी का स्पर्श मात्र होने से भगवान् विष्णु मोहाविष्ट होकर सोये रहते हैं। अतः सिद्ध है कि विषत्व लक्ष्मी में है, जो स्पर्श मात्र से ही मोहाविष्ट कर देती है।

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे
तापं करोति सोत्कम्पं, ज्वरः किं ? न सखि! स्मरः ॥ 28 ॥

अत्र तापं करोतीति स्मरवृन्तान्ते तस्य ज्वारसाधारण्यादृजुबुद्ध्या सख्या ज्वरः किम्? इति पृष्टे न सखि! स्मरः इति तत्त्वोक्त्या भ्रान्तिवारणं कृतम्। यथा वा-

नागरिक! समधिकोन्नतिरिह महिषः कोऽयमुभयतः पुच्छः।
नहि नहि करिकलभोऽयं शुण्डादण्डोऽयमस्य न तु पुच्छम्।

इदं संभवद्भ्रान्तिपूर्विकायां भ्रान्तापह्नुतावुदाहरणम्।

कल्पितभ्रान्तिपूर्वा यथा-

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम्।
इं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुराराति भ्रान्त्या कुसुमशर! किं मां प्रहरसि॥

अत्र कल्पित भ्रान्ति जटा नेयम् इत्यादि निषेध मात्रोन्नेया, पूर्ववत् प्रश्नाभावात्। दण्डी त्वत्र तत्त्वाख्यानोपमेत्युपमाभेदं मेने।

यदाह- न पद्मं सुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे।
इति विस्पष्टसादृश्यात्तत्त्वाख्यानोपमैव सा॥ 29॥

अब भ्रान्तापह्नुति का विवेचन करते हैं। जहाँ किसी वस्तु में किसी अन्य व्यक्ति को अन्य वस्तु की भ्रान्ति हो तथा उस भ्रान्ति का पुनः निराकरण किया जाये। वहां

भ्रान्तापह्नुति होता है। जैसे- कम्पन के साथ (वह) ताप कर रहा है। क्या ज्वर है ? नहीं सखि! यह तो कामदेव है।

यहाँ ताप करता है वह कामदेव वृत्तान्त के कहने पर ताप के साधारण ज्वर होने पर भी सरल बुद्धि वाली सखी के द्वारा क्या ज्वर है ? ऐसे पूछे जाने पर नहीं सखि! यह कामदेव है। इस तत्त्वोक्ति के द्वारा सखी की भ्रान्ति का निवारण हुआ है।

यहाँ एक विरहिणी नायिका अपनी सखि से अपने हृदय की बात कह रही है। इस लज्जा के कारण खुलकर बात न कहते हुए कहती है कि "वह कम्पपूर्ण ताप कर रहा है। कम्पपूर्ण ताप ज्वर से भी होता है और कामपीड़ा से भी।" सुनने वाली सखी सरल बुद्धि होने के कारण कामदेव पीड़ा रूप अर्थ को नहीं पा सकी और बोली कि क्या तुम्हें ज्वर है? इतना सुनने पर उस नायिका ने पुनः समझाया कि नहीं मुझे ज्वर नहीं है अपितु तुम समझ नहीं पायी। मुझे कामदेव की पीड़ा कम्प और ताप दे रही है। यहाँ नायिका के द्वारा कथित सोत्कम्प ताप में सखी को ज्वर का ज्ञान भ्रान्ति से होता है। यदि भ्रान्ति न होती तो वह सीधा काम पीड़ा समझ जाती। पुनः इस भ्रान्ति का निराकरण नायिक ने स्वयं कर दिया। यहाँ ताप में ज्वर की आशंका और काम पीड़ा कहकर पुनर्निवारण होने से यह भ्रान्तापह्नुति है।

जैसे दूसरा उदाहरण- एक गँवार व्यक्ति हाथी को देखकर एक नागरिक से कहता है- नागरिक! यह भैंसा अन्य भैंसे से अधिक ऊँचा है, इसके दोनों ओर पूँछ कैसा है ? इस पर वह नागरिक कहता है- नहीं, नहीं, यह भैंसा नहीं है, हाथी का बच्चा है। यह (आगे वाला) इसका सूँढ़ है पूँछ नहीं।

यह संभाव्य भ्रान्तिपूर्वक भ्रान्तापह्नुति का उदाहरण है। कारिका गत उदाहरण में ज्वर की भ्रान्ति हुई थी, पुनः उसका निवारण किया गया था। इसमें गँवार को भ्रान्ति (विश्वस्त) होती है। वह हाथी को भैंसा ही समझता है। बाद में नागरिक इस भ्रान्ति का निराकरण करता है। पहले का उदाहरण संदेहगर्भ था, दूसरा निश्चित है। अब कविकल्पित भ्रान्ति का उदाहरण दिया जा रहा है-

एक विरहिणी नायिका कामदेव से कह रही है।

यह जटा नहीं जूड़ा बने बालों का समूह है, मेरे गले में यह कस्तूरी है, विष नहीं। मेरे शिर पर यह फूल है शशिलेखा नहीं। मेरे शरीर पर प्रिय विरहोत्पन्न धवलता है भस्मा नहीं। हे कुसुमसायक! मुझे शंकर समझकर क्यों प्रहार करते हो।

यहाँ कल्पित भ्रान्ति "जटा नेयम्" इत्यादि निषेध मात्र से ज्ञातव्य है। यहाँ पहले की तरह प्रश्न नहीं है। दण्डी ने यहाँ तत्त्वाख्यानोपमा रूप उपमाभेद ही माना है। कहा है-

यह कमल नहीं मुख ही है, ये भौंरे नहीं आँखें ही हैं। इस तरह स्पष्ट सादृश्य के कारण तथ्य की स्थापना होने से यहाँ तत्त्वाख्यानोपमा ही है।

कवि कल्पित भ्रान्ति के उदाहरण में केवल निषेध से ही भ्रान्ति का ज्ञान अपेक्षित है। नायिका समझती है कि शायद कामदेव मुझे भ्रमवश शंकर समझ रहा है, इसलिए प्रहार कर रहा है। अतः वह समझाती है कि मझे शंकर मत समझो। यह मेरा केश जाल है, जटा नहीं। इससे यह ज्ञात है कामदेव इस केश को जटा समझ चुका है, क्योंकि उसके चिर शत्रु शंकर के शिर पर जटा है। अतः कामदेव के भ्रान्तिज्ञान को मिटाने के लिए नायिका को कहना पड़ता है कि ये मेरे केश जाल हैं। इस तरह अन्य भ्रान्ति को समझना चाहिए।

छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कातस्तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन्मतपदे लग्नः कान्तः किं ? नहि नूपुरः ॥ 29 ॥

कस्यचित् कञ्चित्प्रति रहस्योक्तावन्येन श्रुतायां स्वोक्तेस्तात्पर्यान्तरवर्णनेन तथ्यनिह्नवे छेकापह्नुतिः। यथा नायिकायाः नर्मसखीं प्रति प्रजल्पन्मतपदे लग्नः इति स्वनायकवृत्तान्ते निगद्यमाने तदाकर्ण्य 'कान्तः किम्' इति शङ्कितवतामन्यां प्रति नहि नूपुरः इति निह्नवः।

सीत्कारं शिक्षयति व्रणयत्यधरं तनोति रोमाञ्चम्।
नागरिकः किं मिलितो ? न हि न हि सखि! हैमनः पवनः ॥

इदमर्थयोजनया तथ्यनिह्नवे उदाहरणम्।

शब्दयोजनया यथा-

पद्मे! त्वन्नयने स्मरामि सततं भावो भवत्कुन्तले
नीले मुह्यति किं करोति महितैः क्रीतोऽस्मि ते विभ्रमैः।

इत्युत्स्वप्रवचो निशम्य सरुषा निर्भर्त्सितो राधया
कृष्णस्तत्परमेव तद्व्यपदिशन् क्रीड़ाविटः पातु वः॥

सर्वमिद विषयान्तरयोजने उदाहरणम्।

विषेयैक्येऽप्यवस्थाभेदेन योजने यथा–

वदन्ती जारवृत्तान्तं पत्यौ धूर्ता सखीधिया।
पतिं बुद्ध्वा, 'सखि! ततः प्रबुद्धास्मी' त्यपूरयत्॥

अब छेकापह्नुति का विवेचन करते हैं। इस अपह्नुति में चतुरता से शंका का निवारण किया जाता है। जहाँ किसी प्रयुक्त शब्द (वस्तु) की चतुरता पूर्ण व्याख्या से उसके मूल तत्व का गोपन किया जाये, वहाँ छेकापह्नुति नामक अलङ्कार होता है। जैसे मेरे पैर पर वह शब्द करते हुए लग गया, क्या प्रिय ? नहीं नूपुर।

कोई किसी के प्रति जब रहस्यपूर्ण वचन बोलती है। उस समय किसी अन्य (तृतीय) के द्वारा सुन लिये जाने पर (और शंका कर देने पर) जब चतुर नायिका अपनी युक्ति के तात्पर्य को बदल देती है और मूल तत्त्व को छिपा लेती है। (ताकि यह तीसरा इस मूल तत्त्व को न समझ लें) तब वहाँ छोकपह्नुति होता है। जैसे कारिकागत उदाहरण में नायिका किसी विश्वस्त सखी के प्रति जब अपने नायक का वृत्तान्त वर्णन करती हुई "शब्द करते हुए मेरे पैरों में आ लगा" यह कहा है, उसी समय यह शब्द सुनकर "क्या वो तुम्हारे प्रियतम ? ऐसा किसी ने शङ्का कर दिया तो प्रथम सखी ने कहा कि नहीं नहीं यह नूपुर है। ऐसा कहने से प्रथम सखी ने अपने पति विषयक तथ्य का गोपन किया है। 'शब्द करते हुए पैर से लगना' नूपुर का काम है और प्रियतमा को मनाने में रत प्रियतम का भी।

अब इसका दूसरा उदाहरण है– सीत्कार की शिक्षा देता है, अधर को व्रणयुक्त करता है, रोमाञ्च बढ़ाता है। क्या ? कोई नागरिक मिला, नहीं नहीं सखि! यह तो हेमन्त का पवन है।

अर्थ योजना के द्वारा यहाँ तथ्य का गोपन किया गया है। यहाँ कोई नायिका अपनी विश्वस्त सखी को प्रियतम का वृत्तान्त कर रही है। तभी कोई तीसरी (सखी) पति

विषयक शंका से पूछती है कि क्या कोई नागरिक है ? तो पहली सखी मूल तथ्य गोपन के लिए कहती है कि नहीं यह हेमन्त का पवन है। हेमन्त पवन के नाम से यह पति विषयक तथ्य का गोपन कर लेती है। यहाँ अर्थ योजना के बल पर ही तथ्य का गोपन होता है, क्योंकि सीत्कार शिक्षा अधर व्रण आदि प्रियतम के द्वारा और हेमन्त पवन के द्वारा होता है, यह अर्थलभ्य ही है, शब्द लभ्य नहीं।

अब शब्द योजना के द्वारा तथ्य गोपन का उदाहरण देते हैं–

पद्मे! तुम्हारे नेत्रों का स्मरण करता हूँ। तुम्हारे केश पाश में सतत मेरा मन लगा रहता है (मोहित हो जाता है) मैं क्या करूँ ? तुम्हारे इस कीमती विलासों के द्वारा मैं खरीद लिया गया हूँ। इस तरह स्वपन्न में श्रीकृष्ण के वचन को सुनकर राधा ने क्रोध में आकर उनकी (कृष्ण की) भर्त्सना की। परञ्च श्रीकृष्ण ने तत्क्षण इन (पद्मा विषयक) अर्थों को राधा विषयक बना दिया। (अब राधा प्रसन्न हो गई।) इस तरह क्रीडाविट (श्रीकृष्णं) आप लोगों की रक्षा करें।

यहाँ सब विषयान्तर में योजना का उदाहरण है। श्रीकृष्ण स्वपन में लक्ष्मी को देखकर ऐसी बातें बोलते हैं। इसे सुनकर राधा गुस्से में आ जाती है। राधा को मनाने के लिए श्रीकृष्ण तत्क्षण लक्ष्मी विषयक अर्थ को राधा विषयक बना देते हैं। पहले अर्थ में पद्मे! सम्बोधन है लक्ष्मी अर्थ में और पुनः जब राधा पक्ष में योजना की तो पद्मे को नयन का विशेषण बना दिया। सम्बोधन पद हटा देने से त्वत् पद से राधा का बोध हो गया। शेष सभी अर्थ तत्पक्षीय हो गए। यहाँ पद्मे पद शिलष्ट है। इसमें लिंग, वचन और विभक्ति श्लेष है। लक्ष्मी पद में यह स्त्रीलिंङ्ग सम्बोधन एक वचन का रूप है। राधा पक्ष में नयन का विशेषण हो जाने पर यह नपुंसक लिंग द्वितीय विभक्ति द्विवचन का रूप है। इन सभी उदाहरणों में एक विषय का गोपन तथा दूसरे का प्रतिपादन हुआ है। अब ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमें विषय एक ही है केवल अवस्था भेद से एक अवस्था का गोपन और दूसरी अवस्था का योजन किया गया है। जैसे–

कोई धूर्त नायिका अपने पति को भ्रमवश सखी समझ कर जार (अतिरिक्त पति) वृत्तान्त कह रही है। जब वह समझ गई कि यह मेरा पति है सखी नहीं, तो बोली कि इतना होने के बाद में जग गई।

यहाँ स्पष्ट है कि नायिका ने 'जग गई' कहकर पूर्व कही बातों को स्वप्रगत सिद्ध कर दिया, ताकि उसका पति पत्नी को व्यभिचारिणी न समझे। यहाँ केवल जाग्रत अवस्था का गोपन किया गया है।

कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः।
निर्यान्ति स्मर नाराचाः कान्तादृक्पात कैतवात्॥ 30॥

अत्रासत्यत्वाभिधायिना 'कैतव' पदेन 'नेम कान्ताकटाक्षाः किन्तु स्मर नाराचाः इत्यपह्नवः प्रतीयते। यथा वा-'

रिक्तेषु वारिकथया विपिनोदरेषु
मध्याह्न जृम्भित महातपतापतप्ताः।
स्कन्धान्तरोत्थितदवाग्निशिखाच्छलेन
जिह्वां प्रसार्य तरवो जलमर्थयन्ते॥ 31॥

अब केत्वापह्नुति का लक्षण करते हैं। जहाँ अपह्नति की अभिव्यक्ति के लिए व्याजादि (व्याज, छल, कैतव) पदों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ कैतवापह्नुति होता है। जैसे- कान्ता के कटाक्षपात के कैतव से कामदेव के बाण गिर रहे हैं।

यहाँ असत्य का बोध कराने वाले 'कैतव' पद से ये कान्ता के कटाक्ष नहीं अपितु कामदेव के बाण हैं। इस कान्ता के कटाक्षपात का गोपन हुआ है। जैसे दूसरा उदाहरण-

जल सूख जाने पर कानन मध्य में अत्यन्त ग्रीष्म के तप से दग्ध तरु शाखा घर्षणोत्थदवाग्नि शिखा के छल से जिह्वा फैलाकर जल की याचना करते हैं।

यहाँ 'छल' शब्द का प्रयोग हुआ है। दवाग्नि की ज्वाला का गोपन हुआ है। ज्वाला को वृक्ष की जिह्वा बताया गया है। इस तरह यहाँ कैतवापह्नुति है।

इस तरह अपह्नुति अलङ्कार के भेदों का निरूपण किया गया है। इसके पाँच भेद हैं-

(1) शुद्धापह्नुति (2) हेत्वपह्नुति (3) पर्यस्तापह्नुति (4) भ्रान्तापह्नुति (5) छेकापह्नुति।

उपभेद निम्नांकित किए गए हैं-

(1) शुद्धापह्नुति- (i) शब्द से निषेधपूर्वक
(ii) अर्थबल से निषेध पूर्वक

(2) हेत्वपह्नुति- (i) सकारण निषेध
(ii) विशिष्ट वचन पूर्वक निषेध

(3) पर्यस्तापह्नुति- (i) अहैतुक निषेध
(ii) सहैतुक निषेध

(4) भ्रान्तापह्नुति- (i) संभवत् भ्रान्तिपूर्वक
(ii) कल्पित भ्रान्तिपूर्वक

(5) छेकापह्नुति- (i) अर्थ योजना से निषेध
(ii) शब्द योजना से निषेध
(iii) अवस्था भेद की योजना से निषेध।

इस तरह कुल ग्यारह भेद हुए। इन सभी का उदाहरण क्रमशः पूर्वोक्त ही है। सभी कारिकाएँ चन्द्रालोक से मिलती हैं। अन्य उदाहरण पृथक हैं।

12 उत्प्रेक्षालङ्कारः

संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तु हेतुफलात्मना।
उक्तानुक्तास्पदाद्यात्र सिद्धाऽसिद्धास्पदे परे॥ 31॥
धूमस्तोमं तमः शंङ्के कोकीविरहशुष्मणाम्।
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः॥ 32॥
रक्तौ तवाघ्री मृदुलौ भुवि विक्षेपणाद्ध्रुवम्।
त्वन्मुखाभेच्छया नूनं पद्मैर्वैरायते शशी॥ 33॥
मध्यः किं कुचयोर्धृत्यै बद्धः कनकदामभिः।
प्रायोऽब्जं त्वत्पदेनैक्यं प्राप्तुं तोये तपस्यति॥ 34॥

अप्रकृत वस्तु के साथ प्रकृत की सम्भावना उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहलाता है। यह वस्तुरूप, हेतुरूप और फलरूप होता है। पहला वस्तुरूप उक्त (विषया) और अनुक्त (विषया) भेद से दो प्रकार के हैं। हेतु और फलरूप, सिद्धविषया और असिद्ध विषया भेद से दो प्रकार के है। अब क्रमशः इन छह भेदों का उदाहरण कारिका रूप में ही दिया जा रहा है।

(1) उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा- जहाँ विषय स्पष्ट रूप से कहा जाता है। जैसे- अन्धकार मानो चक्रवाकी की विरहाग्नि का धुँआ है। ऐसी शंका होती है। यहाँ अन्धकार प्रस्तुत है। इस अन्धकार की संभावना चक्रवाकी के विरह रूप अग्नि के धुँआ के रूप में की गयी है। अतः यह उक्त विषया है।

(2) अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा- जहां विषय स्पष्ट नहीं कहा जाता है। जैसे- अंधकार मानो अंगों को लीप रहा है। आकाश मानो कज्जल की वृष्टि कर रहा है। जैसे ऊपर के उदाहरण में प्रकृत में अप्रकृत की संभावना दी गई थी, उस तरह यहाँ दोनों (प्रकृत और अप्रकृत) नहीं कहा गया है। केवल प्रकृत को देखकर संभावना दी गई है। अप्रकृत पृथक् नहीं कहे जाने से अनुक्तविषया है। विशेष व्याख्या आगे द्रष्टव्य है।

(3) सिद्धविषया हेतुत्प्रेक्षा- जहाँ हेतु का विषय स्वतः सिद्ध होता है। केवल कवि उसे पृथक् रूप से संभावित करता है। जैसे- (अयि सुन्दरि!) तुम्हारे कोमल चरण धरती पर चलने के कारण लाल हो गये हैं। यहाँ कामिनी के चरण का रक्तत्व स्वतः सिद्ध है, लेकिन कवि ने संभावना की है कि कोमल चरण धरती पर चलने के कारण ही लाल हो गए हैं। अन्यथा यह लाल नहीं होता। यहाँ विषय (चरण का रक्तत्व) स्वतः सिद्ध है।

(4) असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा- (अयि सुन्दरि!) तुम्हारे मुख की कान्ति की इच्छा से ही चन्द्रमा पद्य (कमल) से वैर रखता है। यहाँ चन्द्रमा के उगने पर कमल का बन्द होना स्वाभाविक है। कवि की संभावना यह है कि कामिनी चरण की सुन्दरता की प्राप्ति कामना से चन्द्र कमल से वैर करता है। अर्थात् चरण की सुन्दरता चन्द्रमा चाहता है और यह कमल भी चरण की सुन्दरता चुराने वाला है। अतः चन्द्रमा को अपना अभीष्ट

प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक यह कमल है। कमल को अपना दुश्मन समझकर ही चन्द्रमा उसे बन्द कर देता है। यहाँ कवि कल्पित चन्द्र और कमल का वैरत्व हेतु सिद्ध नहीं है। जैसे ऊपर के उदाहरण में चरण का रक्तत्व सिद्ध है। यहाँ हेतु का विषय स्वतः सिद्ध नहीं होता है।

(5) सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा- इसमें फल का विषय स्वतः सिद्ध होता है। संभावना पृथक होती है। जैसे- क्या तुम्हारा मध्यभाग (कमर) स्तन युगल को धारण करने के लिए सोने की लड़ियों से बाँधा गया है ? यहाँ कामिनी के कमर में किङ्किणी (सोने की जंजीर) का होना (अलंकार के लिए) स्वतः सिद्ध है। पर कवि ने इसको बाँधने का कारण दूसरा लिया है कि स्तन भार को धारण करने के लिए क्षीण कमर की पुष्टि के लिए यह बाँधा गया है। अतः यहाँ सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

(6) असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा- यहाँ फल का विषय स्वतः सिद्ध नहीं होता है। प्रायः तुम्हारे पद की समानता (सौन्दर्य में) पाने के लिए ही कमल जल में तपस्या करता है। यहाँ फल का विषय तपस्या करना स्वतः सिद्ध नहीं है। कमल का जल में रहना स्वाभाविक है। तपस्या करना नहीं। अतः यह असिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा है।

अन्य धर्म सम्बन्ध निमित्तेनान्यस्यान्य तादात्म्य संभावनमुत्प्रेक्षा। सा च वस्तु हेतु फलात्मतागोचरत्वेन त्रिविधा। अत्र वस्तुनः कस्यचित् वस्त्वन्तरतादात्म्य संभावना प्रथमा स्वरूपोत्प्रेक्षेत्युच्यते। अहेतोर्हेतुभावेनाफलस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षेत्युच्यते। अत्र आद्या। स्वरूपोत्प्रेक्षा उक्तविषयाऽनुक्तविषया चेति द्विविधा। परे हेतुफलोत्प्रेक्षे सिद्धविषयाऽसिद्धविषया चेति प्रत्येकं द्विविधे। एवं षण्णामुत्प्रेक्षाणां धूमस्तोममित्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि। रजनीमुखे सर्वत्र विसृत्वरस्य तमसो नैल्यदृष्टि प्रतिरोधकत्वादि धर्म संबन्धेन गम्यमानेन निमित्तेन सद्यः प्रियविघटितसर्वदेशस्थित कोकांगना हृदुपगतप्रज्वलिष्यद्विरहानलधूस्तोम तादात्म्य संभावनास्वरूपोत्प्रेक्षा तमसो विषयस्योपादानादुक्तविशया! तमो व्यापनस्य नभः प्रभृति भूपर्यन्तसकलवस्तुसान्द्र मलिनीकरणेन निमित्तेन तमः कर्तृक लेपनतादात्म्योत्प्रेक्षा नभः कर्तृकाञ्जनवर्षण

तादात्म्योत्प्रेक्षा चानुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा उभयत्रापि विषयभूततमोव्यापनस्यानुपादानात्। नन्वत्र तमसो व्यापनेन निमित्तेन लेपनकर्तृकतादात्म्योत्प्रेक्षा, नभसो भूपर्यन्तं गाढ़नीलिमव्याप्तत्वेन निमित्तेनाञ्जनवर्षणकर्तृतादात्म्योत्प्रेक्षा, चेत्युत्प्रेक्षाद्वयमुक्त विषयमेवास्तु। मैवम् लिम्पति-वर्षतीत्याख्यातयोः कर्तृ वाच कत्वेऽपि भावप्रधानमाख्यातम् इति स्मृतेर्धात्वर्थक्रियाया इव प्राधान्येन तदुपसर्जनत्वेनान्वितस्य कर्तुरुत्प्रेक्षणीयतया अन्यत्रान्वयासंभवात्। अत एव (आख्यातार्थस्य कर्तुः क्रियोपसर्जनत्वेनान्यत्रान्वयासंभवादेव) अस्योपमायामुपमानतयान्वयोऽपि दण्डिना निराकृतः-

कर्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे।
स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यद्व्यपेक्षितुम्॥

(काव्यादर्शे 2/30) इति।

अन्य धर्म सम्बन्ध से अन्य (प्रकृत) या अन्य (अप्रकृत) के साथ तादात्म्य संभावना उत्प्रेक्षा अलंकार है। यह अलङ्कार तीन प्रकार का होता है। वस्तुरूप, हेतु रूप और फलरूप। जब किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के साथ तादात्म्य संभावित होता है, तब वह वस्तूत्प्रेक्षा कहलाती है। इसे ही स्वरूपोत्प्रेक्षा भी कहते हैं। जहाँ अहेतु को हेतु और अफल को फल बनाकर संभावना की जाती है, वहां हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नामक अलङ्कार होता है। यहां पहली स्वरुपोत्प्रेक्षा उक्तविषया और अनुक्तविषया के भेद से दो प्रकार का होता है। हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा भी सिद्धविषया ओरअसिद्ध विषया के भेद से दो प्रकार का होता है। इन छहों भेदों (वस्तूत्प्रेक्षा 2, हेतुत्प्रेक्षा 2 और फलोत्प्रेक्षा 2) के उदाहरण क्रमशः धूमस्तोम --- इत्यादि हैं। (ये पहले दिखा दिए गए हैं।) उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा-सायंकाल में सर्वत्र प्रसार प्राप्त अन्धकार का घननीलत्व और दृष्टिप्रतिरोधकत्व आदि धर्म सम्बन्ध से तुरन्त प्रियवियोग से युक्त होती हुई सर्वत्र स्थित चक्रवाकियों के हृदय में स्थित ज्वलनोद्य विरहानल से उत्पन्न धुएँ से अंधकार की तादात्म्य संभवना होने से स्वरूपोत्प्रेक्षा है। और अन्धकार रूप विषय का उपादान होने से उक्त विषया है।

अनुक्तविषया- अंधकार व्याप्त होने का आकाश से लेकर धरतीपर्यन्त सभी वस्तुओं को मलिन करने को निमित्त मानने से तम (अन्धकार) कृत लेपन से तादात्म्य रूप उत्प्रेक्षा है, नभ के द्वारा किया गया अञ्जन वर्णय तादात्म्य रूप उत्प्रेक्षा अनुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा है। दोनों स्थानों पर विषय भूत अन्धकार के व्यापन का उपादान (कथन) नहीं हुआ है। अन्धकार के व्यापन रूप निमित्त से लेपन कर्तृत्व तादात्म्य रूप उत्प्रेक्षा और आकाश से लेकर धरती पर्यन्त घननीलिता व्याप्ति रूप निमित्त से अञ्जनवर्णन कर्तृत्व तादात्म्य रूप की उत्प्रेक्षा, इस तरह उत्प्रेक्षाद्वय उक्तविषया ही है। ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि लिम्पति और वर्षति ये दोनों आख्यात हैं जिसकी कर्तृवाचकता अपेक्षित है तथापि 'भावप्रधानमाख्यातम्' इस स्मृति के अनुसार धात्वर्थ क्रिया की ही प्रधानता होती है, कर्ता की गौणता होती है। इस तरह गौणकर्ता जो उत्प्रेक्षणीय होता है उसका अन्यत्र अन्वय संभव नहीं है। अतः (आख्यातार्थ के कर्ता का क्रिया का उपस्कारक होने से अन्यत्र अन्वय संभावित है) इस उपमा में उपमान रूप में अन्वय भी दण्डी ने नहीं माना है। - यथा -

यदि कर्त्ता उपमान हो, किन्तु क्रिया गौण हो जाए जो स्वयं क्रिया की सिद्धि में संलग्न होता है, वह इतर सिद्धि में समर्थ नहीं हो पाता है। (काव्यादर्श 2/230)

यह व्याख्या विश्लेषणीय है। यहाँ उक्तविषया और अनुक्तविषया को स्पष्ट करना है। उक्तविषया का उदाहरण- सायंकालीन अंधकार कोकी विरहानल से उत्पन्न धुँआ है। ऐसी शंका होती है और अनुक्तविषया का उदाहरण- तम शरीर को लीपता सा प्रतीत होता है, अञ्जन आकाश में बरस रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। यहाँ पहले उदाहरण में सर्वत्र प्रस्तुत, नीलत्व, दृष्टिपथावरोधकत्व आदि धर्म से युक्त अंधकार की संभावना प्रियविघटन से उत्पन्न कोकी हृदय की विरहाग्नि के धुएँ के रूप में किया गया है। यहाँ पूर्व नीलत्वादि का कर्ता अंधकार है जिसकी तुलना विरहाग्नि से उत्थ धुंए से होती है (संभावना रूप में) यहाँ विरहाग्नि से उठा धुंआँ भी वियोग वैक्लव्यवश दृष्टिपथावरोधकत्वादि धर्म से युक्त है। यहाँ विरहाग्नि से उठा धुंआँ और वहाँ अंधकार दोनों स्वकर्तृव्य में स्पष्ट है। प्रकृत और अप्रकृत दोनों का विषय स्पष्ट होने से यहाँ उक्तविषया है। दूसरे उदाहरण में तम (अंधकार)

का नभ से लेकर भूपर्यन्त सभी वस्तु के मलिनीकरण रूप निमित्त से अंग को लीपने की संभावना व्यक्त हुई है। यहाँ तम (अंधकार) भू आकाश के मध्य सभी वस्तु को इतना मलिन कर रहा है जिससे प्रतीत होता है कि अंधकार शरीर को लीप रहा है। इस तरह अंधकार मलिनीकरणत्व और लेपन क्रिया सम्पादकत्व दोनों में व्यवहृत है। अब देखना यह है कि अंधकार किसका कर्ता होगा, लेपन क्रिया का या मलिनीकरण का। यहाँ पूर्वपक्षी का कथन है कि अंधकार के सर्वत्र व्यापन रूप निमित्त से लेपन कर्त्तृव्य का तादात्म्य है। अत: व्यापनत्व और लेपन कर्त्तृत्व दोनों उक्त होने से उक्तविषया ही है। पर उत्तरापक्ष का कहना है कि नहीं। भावप्रधानमाख्यातम् के अनुसार क्रिया की प्रधानता होती है कर्त्ता का नहीं। इसलिए तम: का अन्वय लेपन कर्तृव्य से होता है सर्वत्र व्यापनत्व से नहीं, इस विषय में काव्यादर्श पंक्ति का उल्लेख करते हैं। जहाँ दण्डी कहते हैं कि क्रिया की सिद्धि में सहायक कर्त्ता इतर सिद्धि में समर्थ नहीं हो पाता है। इस तरह तम: एक ओर ही कर्तृव्य धारण कर सकता है। अत: विषय उक्त नहीं हुआ और यह अनुक्तविषया हुआ। इसी तरह नभ: और वर्षति में भी है।

केचितु- तमो नभसोर्विषययोस्तत्कर्तृकलेपनवर्षणस्वरूप धर्मोत्प्रेक्षेत्याहुः। तन्मते स्वरूपोत्प्रेक्षायां धर्म्युत्प्रेक्षा धर्मोत्प्रेक्षा चेत्येवं द्वैविध्यं द्रष्टव्यम्। चरणयोः स्वतः सिद्धे रक्तिमनि वस्तुतो विक्षेपणं न हेतुरित्यहेतोस्तस्य हेतुत्वेन संभावना हेतूत्प्रेक्षा विक्षेपणस्य विषयस्य सत्वात् सिद्धविषया। चन्द्रपद्मविरोधे स्वाभाविके नायिकावदनकान्ति प्रेप्सा न हेतु रिति तत्र तद्धेतुत्वसंभावना हेतूत्प्रेक्षा वस्तुतस्तदिच्छाया अभावादसिद्धविषया। मध्यः स्वयमेव कुचौधरति न तु कनकदामबन्धत्वेनाध्यवसिताया बलित्रयशालिताया बलादीति मध्यकर्तृककुचधृतेस्तत्फ लत्वेनोत्प्रेक्षा सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा। जलजस्य जलावस्थितेरुदवासतपस्त्वेनाध्यवसितायाः कामिनीचरणसायुज्यप्राप्तिर्न फलमिति तस्या गगनकुसुमायमानायास्तप फलत्वेनोत्प्रेक्षणादसिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा।

कुछ लोग कहते हैं- तम और नभ के विषय में तत्कर्तृकलेपन वर्षण स्वरूप

धर्मोत्प्रेक्षा है। इनके मत में स्वरूपोत्प्रेक्षा में धर्मिउत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा रूप उत्प्रेक्षा का द्वैधिव्य देखना चाहिए। सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा के विषय में कहते हैं- चरण युगल की स्वतः सिद्ध रक्तिमा में वस्तुतः पादविक्षेपण कारण नहीं है। तथापि पादविक्षेपण रूप अहेतू का हेतु रूप में संभावना होने से हेतूत्प्रेक्षा है और विक्षेपण रूप विषय स्पष्ट होने से सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है। असिद्धविषया-चन्द्र और कमल के विरोध में स्वाभाविक रूप से नायिका वदन कान्ति प्राप्ति की इच्छा कारण नहीं है। तथापि उसके हेतु के रूप में संभावना होने से हेतूत्प्रेक्षा है। तथा उस इच्छा रूप विषय का अभाव होने से असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा है। सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा- मध्यभाग स्वतः एक स्तनयुगल को धारण करता है न कि कनक (सोना) की लड़ियों के बन्धन से युक्त त्रिबली के बल पर। लेकिन मध्य कर्कृक कुच धर्तृत्व को कनकदाम बन्धन का फल बताने से सिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा है। कुचधर्तृव्य रूप अफल को फल बताने से फलोत्प्रेक्षा और कनकदाम बन्धन रूप विषय स्पष्ट होने से सिद्धविषया है। असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा-कमल का, जल में स्थित होकर तपस्या करने का फल कामिनी के चरण युगल की समानता प्राप्त करना नहीं है। वह तो गगन कुसुम की तरह है। इसको तपस्या के फल के रूप में उत्प्रेक्षित करने से असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

यहाँ सिद्धविषया और असिद्ध विषया को स्पष्ट कर देना उचित है। सामान्यतया तो यह जानना चाहिए कि जिसका विषय सिद्ध है वह सिद्ध विषया और जिसका विषय असिद्ध है व असिद्ध विषया है। परञ्च यह इस तरह विश्लेषणीय है। सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण में है- तुम्हारे पैर भूमि पर विक्षेपण के कारण लाल हो गए हैं। यहाँ पैर के लाल होने के कारण भूविक्षेपण उत्प्रेक्षित है। यद्यपि यह वास्तविक कारण नहीं है। अकारण को कारण बनाने से ही उत्प्रेक्षा है। यहाँ कारण लाल होने का है। तो इस उत्प्रेक्षित कारण का विषय चरण की लालिमा है और यह लालिमा स्वतः सिद्ध (सुकुमारता के कारण) है। अतः यह सिद्ध विषया है। आगे असिद्धविषया में कहा गया है- तुम्हारे मुख की कान्ति प्राप्त करने की इच्छा से ही चाँद कमल से वैर करता है। यहाँ कारण (हेतु) है मुख कान्ति प्राप्त करने की इच्छा। जो कारण नहीं होते हुए भी कारण रूप में उत्प्रेक्षित

है। इस कारण का विषय है चाँद का कमल से वैर। यह विषय स्वयं असिद्ध है। जैसे नायिका के चरण का लाल होना स्वतः सिद्ध है उस तरह चाँद और कमल की वैरता सिद्ध नहीं है। यह तो कवि जगत् की प्रसिद्धि है। अतः विषय असिद्ध होने से असिद्धविषया है। इसी तरह फलोत्प्रेक्षा में भी जानना चाहिए। अब इन्हीं भेदों का पृथक् उदाहरण दिया जा रहा है-

अनेनैव क्रमेणोदाहरणानि-

बालेन्दुवक्रान्यविकासभावाद्
वभुः पलाशान्यति लोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

अत्र पलाशकुसुमानां वक्रलोहितत्वेन सम्बन्धेन निमित्तेन सद्यः कृत नखक्षत तादात्म्य संभावनादुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा।

पूर्वोदाहरणे निमित्तभूत धर्मसम्बन्धो गम्यः इह तूपात्त इति भेदः। नन्विव शब्दस्य सादृश्यपरत्वेन प्रसिद्धतरत्वादुपमैवास्तु। लिम्पतीव इत्युदाहरणे लेपन कर्तुरुपमानत्वार्हस्य क्रियोपसर्जनत्ववदिह नखक्षतानामन्योपसर्जनत्वस्योपमाबाधकस्याभावादिति चेत्, उच्चते उपमायाः यत्र क्वचित् स्थितैरपि नखक्षतैः सहवक्तुं शक्यत्या वसन्त नायकसमागत वनस्थली सम्बन्धित्वस्य विशेषणस्यानपेक्षिततत्वादिह तदुपादानं पलाश कुसुमानां नखक्षततादादाम्यसंभावनायामिवशब्दमवस्थापयति। तथात्व एव तद्विशेषणसाफल्यात्। अस्ति च संभावनायां 'इव' शब्दो 'दूरे' तिष्ठन्देवदत्त इवाभाति इति।

यह श्लोक महाकवि कालीदास प्रणीत कुमारसंभवम् महाकाव्य के तृतीय सर्ग के वसन्तवर्णन से उद्धृत है। पलाशकुसुम वर्णन प्रसङ्ग में कवि कहते हैं- पूर्ण विकास के अभाव में बाल चन्द्र की तरह टेढ़ा पलाशकुसुम अत्यन्त लोहित, ऐसा दीख रहा है, मानों सद्यः समागत वसन्त नायक के द्वारा वनस्थली नायिका के शरीर पर किया गया नखक्षत हो।

यहाँ पलाशकुसुम का वक्रत्व और लोहितत्व रूप सम्बन्ध के निमित्त से सद्यः किए गए नखक्षत की तादात्म्य संभावना से उक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा है।

पहले उदाहरण 'धूमस्तोमं- में निमित्त भूतधर्म- सम्बन्ध (सर्वत्र प्रसृतत्व दृष्टिप्रतिकोधकत्वादि धर्म) गम्य (व्यंग्य) था और यहाँ वाच्य है। यही दोनों उदाहरणों में अन्तर है। सादृश्य वाचक इव शब्द के प्रयोग होने से यहाँ उपमा अलंकार है यह कोई कह सकता है। क्योंकि 'लिम्पतीव' इस उदाहरण में जिस तरह तम लेपन क्रिया सिद्धि में सहायक होने से गौण होकर उपमानत्व में असमर्थ हो गया था, ऐसी बात नखक्षत में नहीं है, जिससे यहाँ उपमा बाधकता हो सके। ऐसा कहने पर यह कहा जाता है कि- उपमा अलंकार के लिए किसी नखक्षत से पलाश कुसुम की तुलना हो सकती है। फिर 'समागत वसन्त नायक के द्वारा वनस्थली नायिका के शरीर पर' यह विशेषण अपेक्षित नहीं रह जाता है। इस विशेषण का प्रयोग पलाशकुसुम की संभावना नखक्षत के रूप में है। यही व्यवस्था 'इव' शब्द करता है। ऐसा होने पर तत् विशेषण की सफलता है। संभावना में भी इस शब्द का प्रयोग होता है। जैसे वह दूर में बैठा ऐसा लगता है। जैसे देवदत्त हो।''

यहाँ इव शब्द के प्रयोग को देखकर उपमा अलंकार होने की शंका व्यक्त की गई है। समाधान भी दिया गया है। यह इस तरह स्पष्ट होता है-

पूर्वपक्षी- सादृश्य वाचक इव शब्द का प्रयोग होने से यहाँ उपमालंकार है।

उत्तरपक्ष- 'लिम्पतीव तमोङ्गानि' इत्यादि में भी इव शब्द का प्रयोग है, लेकिन वहाँ उपमा अलंकार नहीं है तो यहाँ कैसे होगा ?

पूर्व- उस 'लिम्पतीव' में तम लेपन क्रिया में सहायक होकर उपमान बनने में असमर्थ हो गया था। उपमानभाव में उपमालंकार नहीं हो सकता। यहाँ 'नखक्षत' उपमा हो सकता है, अतः यहाँ उपमालंकार है।

उत्तर- यदि यहाँ इस तरह उपमालंकार माना जाये तो तुरन्त आए हुए बसन्त नायक के द्वारा वनस्थली रूप नायिका का 'नखक्षत' यह विशेषण व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि टेढ़ापन और लालिमा के कारण पलाश कुसुम किसी भी नखक्षत का सादृश्य धारण कर

सकता है। यह विशेषण तभी सफल होगा जब कि नखक्षत के साथ पलाशकुसुम की तादात्म्य संभावना स्वीकार किया जाये। 'इव' शब्द इसी तादात्म्य संभावना को व्यक्त करता है। तादात्म्य संभावना में इव शब्द का प्रयोग नहीं होता है ऐसी बात नहीं है। जैसे "दूर में बैठा हुआ वह ऐसा दीख पड़ता है जैसे देवदत्त हो।" इस तरह 'इव' शब्द तादात्म्य संभावना की अभिव्यक्ति करता है। प्रस्तुत श्लोक में उत्प्रेक्षा है उपमालंकार नहीं।

पिनष्टीव तरङ्गाग्रैः समुद्रं फेनचन्दनस्य।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः॥

अत्र तरङ्गाग्रैः फेनचन्दनस्य प्रेरणं पेषणतयोत्प्रेक्ष्यते। समुद्रादुत्थितस्य चन्द्रस्य प्रथमं समुद्रपूरे प्रसृतानां कराणां दिक्षुव्यापनं च समुद्रोपान्त फेन चन्दनकृतलेपनत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। उभयत्र क्रमेण समुद्रप्रान्तगतफेनचन्दन पुञ्जीभवनं दिशां धवलीकरणञ्च निमित्तमिति फेन चन्दन प्रेरण किरणव्यापनयोर्विषययोरनुपादानादनुक्तविषये स्वरूपोत्प्रेक्षे। येषां तूपात्तयोः समुद्रचन्द्रयोरेव तत्कर्तृकपेषण लेपनरूप धर्मोत्प्रेक्षेति मतं, तेषां मते पूर्वोदाहरणे धर्मिणि धर्म्यन्तर तादात्म्योत्प्रेक्षा। इह तु धर्मिणी धर्म संसर्गोत्प्रेक्षेति भेदोऽवगन्तव्यः।

समुद्र मानो अपने तरङ्गों के अग्रभाग से फेन चन्दन को पीस रहा है। उस (चन्दन) को लेकर मानो चन्द्रमा दिगङ्गनाओं का लेपन कर रहा है।

यहां तरंग के अग्रभाग से फेन चन्दन के प्रेरण की संभावना पेषण रूप में की गयी है। समुद्र से उत्पन्न चन्द्र का, समुद्र के किनारे फैले किरणों के, सभी दिशाओं में (किरणों के) व्यापन की उत्प्रेक्षा फेन चन्दन से किए गए लेपन के रूप में हुआ है। यहाँ दो उत्प्रेक्षाएँ हैं। दोंनो जगह क्रमशः समुद्र के प्रान्त भाग में फेन चन्दन का एकत्र होना, और दिशाओं का धवलीकरण, इस निमित्त से फेन चन्दन प्रेरण और किरण व्यापन रूप विषय का उपादान नही होने से यह अनुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा है। जिसका मत है कि उपात्त समुद्र कर्तृकपेषण और चन्द्रकर्तृकलेपन रूप, धर्मोत्प्रेक्षा है। उसके मत में पहले उदाहरण में (बालेन्दु) एक धर्मी का दूसरे धर्मी में तादात्म्य रूप उत्प्रेक्षा है और यहाँ धर्मी में अन्य धर्म के संसर्ग की उत्प्रेक्षा है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है।

यहाँ अनुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा है। यहाँ दो उत्प्रेक्षाएँ हैं। एक तरंगों के द्वारा चन्दन (फेन) का पीसना, और दूसरा चन्द्रमा के द्वारा उस चन्दन से दिशा नायिकाओं को लीपना। इस तरह यहाँ दोनों उत्प्रेक्षाओं का (पेषण और लेपन का) फेन चन्दन का उत्पन्न होना और चन्द्र किरणों का समस्त दिशाओं में फैलना रूप विषय का उपादान नहीं हुआ है। तात्पर्य है कि तरंग चन्दन को पीसता है। यह उत्प्रेक्षा तो है पर इसका मूल विषय चन्दन की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है। पुनः चन्द्रमा की किरणों को सर्व दिशाओं में व्यापकता को देखकर ही दिगङ्गनाओं के चन्दन लेपन की उत्प्रेक्षा की गई, पर किरणों के प्रसार रूप विषय का उपादान नहीं किया गया है। अतः विषयाभाव (चन्दनोत्पत्ति और किरणों का प्रसार) में यहाँ अनुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा है।

दूसरी बात यह आई है कि जो धर्मीगत और धर्मगत उत्प्रेक्षा मानते हैं, उनके मत में समुद्र और चन्द्र में पेषण और लेपन रूप धर्म की उत्प्रेक्षा होने से धर्मोत्प्रेक्षा है। पहले उदाहरण (वालेन्दु बक्राण्य ---) में एक धर्मी (नखक्षत) का दूसरे धर्मी (पलाशकुसुम) के साथ तादात्म्य दिखाया गया था और यहाँ धर्मी में (समुद्र चन्द्र में) धर्म (पेषण और लेपन) की संभावना की गयी है। यही दोनों उदाहरणों में अन्तर है।

रात्रौ रवेर्दिवा चेन्दोरभावादिव स प्रभुः।
भूमौ प्रताप यशसी सृष्टवान् सततोदिते॥

रात्रौ रवेदिवा चन्द्रस्याभावः सन्नपि प्रतापयशसोः सर्गे न हेतुरिति तस्य तद्धेतुत्वसंभावना सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा।

विवस्वताऽनायिषतेव मिश्राः स्वगोसहस्रेण समं जनानाम्।
गावोऽपि नेत्रापरनामधेयास्तेनेदमान्ध्यं खलुनान्धकारैः॥

अत्र विवस्वता कृतं स्वकिरणैः सह जनलोचनानां नयनमसदेव रात्रावान्ध्यं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इत्यसिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा।

अब सिद्धविषया और असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण दिखा रहे हैं।

रात्रि में रवि (सूर्य) का और दिन में चाँद का अभाव रहता है, यही जानकर मानो उस राजा ने इस धरती पर सतत उदित प्रताप और यश की सृष्टि की।

रात्रि में सूर्य और दिन में चाँद का अभाव यद्यपि प्रताप और यश सृष्टि में कारण नहीं है तथापि कारण रूप में उसकी संभावना होने से सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा है।

असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा- सूर्य अपनी सहस्रों गायों (किरणों) के साथ ही लोगों की नेत्रनामधेय गायों को भी लेकर चला गया। इसी से यह अन्धता (नहीं दिखाई देना) है, अन्धकार से नहीं।

यहाँ सूर्य के द्वारा अपनी किरणों के साथ लोगों के लोचन रूप गायों को ले जाने को रात्रि अन्धता का कारण बनाया गया है। यह असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

सामान्य रूप में इस तरह जाना जाये कि पहले उदाहरण (रात्रौ) में राजा के प्रताप और यश वृद्धि का कारण रात्रि में सूर्य और दिन में चाँद का अभाव नहीं है। तथापि कारण रूप में कल्पित होने से उत्प्रेक्षा है। इस हेतु का विषय रात्रि में सूर्य और दिन में चाँद का अभाव सिद्ध है। अतः यह सिद्धविषया है।

और असिद्धविषया के उदाहरण (विवस्वता) में अन्धता के कारण सूर्य के द्वारा लोगों के नयन रूप गाय को ले जाना बताया गया है। यह उत्प्रेक्षा है। यहाँ, सूर्य के द्वारा नयन रूप गो का ले जाना कवि कल्पित है, सत्य नहीं। और यही नयनक्रिया अन्धत्व का कारण भी कल्पित है। विषय असिद्ध होने से यहाँ असिद्ध विषया है। रात्रि का अन्धकार ही लोगों के अन्धत्व का कारण होता है। पर यहाँ कल्पित कारण नितान्त असिद्ध है। जैसे सिद्धविषया के उदाहरण में रात्रि में सूर्य और दिन में चाँद का अभाव सिद्ध है उसी तरह सूर्य के द्वारा गाय का ले जाना सिद्ध नहीं है।

अब सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा और असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण देते हैं-

पूरं विधुर्वर्धयितुं पयोधेः शङ्केऽयमेणाङ्कमणिं कियन्ति।
पयांसि दोग्धि प्रियविप्रयोगे सशोककोकी नयने कियन्ति॥

अत्र चन्द्रेण कृतं समुद्रस्य बृंहणं सदैव तदा तेन कृतस्य चन्द्रकान्तद्राव्यणस्य कोकाङ्गनावाष्पस्त्रावणस्य च फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इति सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा।

रथस्थितानां परिवर्तनाय पुरातनानामिव वाहनानाम्।
उत्पत्तिभूमौ तुरगोत्तमानां दिशि प्रतस्थे रविरुत्तरस्याम्॥

अत्रोत्तरायणस्याश्व परितर्वन मसदेव फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यत

इत्यसिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा। एताः एवोत्प्रेक्षाः॥

सागर के जल को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा चन्द्रकान्तमणि को कितना दुहता है। और प्रिय वियोग में चक्रवाकी के नेत्रों को कितना दुहता है ? यह शंका की जाती है।

यहाँ चन्द्रमा के द्वारा किया गया समुद्रवृद्धि स्वतः सिद्ध है। चन्द्रकान्त मणि का दुहना और चक्रवाकी के आँसू का बहाना इन दोनों का फल है समुद्रवृद्धि, यह उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ सिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा है। तथा-

रथ में लगे पुराने वाहनों (घोड़ों) को बदलने के लिए उसकी (उत्तम घोड़ों की) उत्पत्ति भूमि उत्तर दिशा की ओर सूर्य प्रस्थित हुए।

यहाँ सूर्य के उत्तरायण होने का कारण अश्व परिवर्तन नहीं है तथापि अश्व परिवर्तन का फल उत्तरायण होना उत्प्रेक्षित है। यहाँ असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

पहले उदाहरण में चन्द्रकान्तमणि का दुहना और चक्रवाकी के आँसू का दुहना उत्प्रेक्षित है। इस दोहन का फल समुद्र का बढ़ना भी उत्प्रेक्षित है। इस फल का मूलाधार (विषय) है चन्द्रमा के उदित होने पर सागर का बढ़ना। इस सागर वृद्धि को देखकर ही कवि ने कल्पना की है कि चन्द्रमा ने चन्द्रकान्तमणि और चक्रवाकी के नयनों का दोह न किया, जिसके फलस्वरूप सागर में वृद्धि हुई। यहाँ चन्द्रमा के उदित होने पर सागर का बढ़ना तो स्वतः सिद्ध है। इसलिए यह सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

दूसरे (असिद्धविषया) में सूर्य के उत्तरायण होने का कारण कवि ने उत्प्रेक्षित किया है। सूर्य अपना पुराना घोड़ा बदलना चाहता है इसलिए वह उत्तर को जाता है,यह उत्तरायण होने का कारण नहीं है। घोड़े बदलने का फल उत्तरायण होना नहीं है, फिर भी फल रूप में दिखाने से फलोत्प्रेक्षा है। इसका मूलाधार (विषय) हुआ घोड़े का परिवर्तन जो उत्तर जाने का कारण हुआ। यह विषय सिद्ध नहीं अपितु कवि कल्पित है। इस तरह से असिद्ध होने से असिद्धविषया हुआ।

मन्ये-शङ्के-ध्रुवं-प्रायो-नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः॥

इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकत्वेन परिगणितानां शब्दानां प्रयोगेवाच्याः।

तेषामप्रयोगे गम्योत्प्रेक्षा - यथा -

त्वत्कीर्तिर्भ्रमणभ्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्॥

मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, न्यूने इत्यादि शब्दों से उत्प्रेक्षा की व्यञ्जना होती है। इव शब्द भी इन्हीं शब्दों जैसे उत्प्रेक्षा व्यञ्जक है। उत्प्रेक्षा व्यञ्जक इन शब्दों के प्रयोग होने पर वाच्योत्प्रेक्षा और प्रयोग नहीं होने पर गम्योत्प्रेक्षा होती है। जैसे-तुम्हारी कीर्ति घूमते-घूमते थककर स्वर्गङ्गा में प्रवेश कर गई।

यहाँ कीर्ति का गंगा में प्रवेश स्वरूपोत्प्रेक्षा और घूमने से थकना, में हेतूप्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा के इतने भेद ही हैं।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार एक विशिष्ट अलंकार है। सादृश्य मूलक अलङ्कारों में यह अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सामान्यतया इस अलंकार के विषय में कुछ बातें द्रष्टव्य हैं। यहाँ सादृश्य होता है, लेकिन संभावना का प्रधान्य होता है जबकि उपमा में सादृश्य का प्राधान्य होता है। यह संभावना कवि कल्पित चमत्कारपूर्ण होता है। चमत्कार के अभाव में यह संभावना ही रह जाती है, उत्प्रेक्षा अलङ्कार में नहीं आ पाता। इस अलंकार में एक पदार्थ का एक पदार्थ का तत्सदृश अन्य पदार्थ से भेद स्पष्ट ज्ञान होता है। फिर भी दोनों पदार्थो में रहने वाले किसी धर्मविशेष को निमित्त मानकर संभावना की जाती है। 'रसगंगाधर' में इसका लक्षण इस तरह है- **तद्भिन्नत्वेन तदभात्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्वन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा।**

इसके दो भेद हैं वाच्या प्रतीयमाना। वाच्या तो सामान्य है। प्रतीयमाना को लेकर विवाद खड़ा होता है। यहाँ किसी का कहना कि प्रतीयमाना अलंकार में कैसे गणित होगी जबकि वह व्यंग्य होने के कारण ध्वनि है। इस समस्या का समाधान वह स्वयं करते हैं कि

जहाँ उत्प्रेक्षा प्रतीति के बिना वाक्यार्थ ठीक नहीं बैठता है, वहाँ उत्प्रेक्षालंकार वाच्य का उपस्कारक होने से गौण हो जाता है। यह गौण उत्प्रक्षा ध्वनि में अन्तर्भावित नहीं होती अतः यह अलंकार है। जहाँ वाच्यार्थ स्वयं पूर्ण होता है तदनन्तर यदि शब्द शक्ति या अर्थ शक्ति से उत्प्रेक्षा होती है, तो वह उत्प्रेक्षा ध्वनि होती है।

इनके मत से उत्प्रेक्षा सर्वथा वाच्योपस्कारक ही है। जबकि वास्तव में यह प्रतीयमाना व्यञ्जना बोधिका नहीं है। अपितु वाच्येतर का बोधक है। जहाँ मन्ये शंके ध्रुवं प्रायः ऊहे तर्कयामि उत्प्रेक्षे अवैमि इत्यादि शब्दों का (उत्प्रेक्षा बोधक का) साक्षात् प्रयोग देखा जाता है वहाँ तो वाच्योत्प्रेक्षा होती है और जहां इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। तथा च उत्प्रेक्षा अर्थलभ्य होती है, उसे प्रतीयमान कहते हैं। रसगंगाधर में स्पष्ट लिखा है-

यत्र च प्रतिपादक शब्दरहितं तत्सामग्री मात्रम् तत् प्रतीयमान। व्याख्याकार ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है-

प्रतीयमानेति- अर्थ सामर्थ्यावसेयेत्यर्थः। न तु व्यंग्येति भावः। इस अवस्था में व्यंग्य की कल्पना करना और निदान खोजना व्यर्थ परिश्रम के अलावा और कुछ नहीं है।

इस अलंकार के भेदोपभेद बहुत हैं। आचार्य विश्वनाथ और पं. राज जगन्नाथ के अनुसार इनके भेदों का परिगणन करने के लिए तत्तत् (साहित्य दर्पण, रसगंगाधर) ग्रन्थ ही अवलोकनीय है। साहित्यदर्पण ने 176 (एक सौ छियत्तर) भेद किए हैं। अन्यत्र अधिक ही उपलब्ध होते हैं।

प्रस्तुत (कुवलयानन्द) में छह भेद दिखाए गए हैं। (1) उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा (2) अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा (3) सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा (4) असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा (5) सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा (6) असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा। इन सबका वाच्या और गम्या (प्रतीयमान) भेद कर दें, तो 12 भेद होते हैं। चन्द्रलोककार ने विशेष भेदोपभेद नहीं किया है।

इस अलंकार को पहचानने के लिए उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द (मन्ये, शंके आदि) दिए गए हैं। जहाँ इनका प्रयोग नहीं होता है, वहाँ गम्या उत्प्रेक्षा में उपमा से भेद करने में

कठिनाई होती है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उपमा का मूल आधार सादृश्य है जबकि उत्प्रेक्षा का मूल आधार संभावना है। इसी आधार पर "बालेन्दुवक्रान्यविकास-----" में उपमा नहीं उत्प्रेक्षा सिद्ध हुआ है।

13- अतिशयोक्त्यलङ्कारः

रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निस्सरन्ति शिताः शराः॥ 35॥

विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषयनिगरणं तत्पूर्वकं विषयस्य विषयिरूपतयाऽध्यवसानमाहार्यनिश्चयस्तस्मिन्सतिरूपकातिशयोक्तिः। यथा नीलोत्पल- शरशब्दाभ्यां लोचनयोः कटाक्षाणां च ग्रहणपूर्वकं तद्रूपताध्यवसानम्।

यथा वा-

वापी कापि स्फुरति गगने तत्परं सूक्ष्मपद्मा
सोपानालीमधिगतवती काञ्चनीमैन्द्रनीली।
अग्रे शैलो सुकृतिसुगमौ चन्दनच्छन्नदेशौ
तत्रत्यानां सुलभममृतं संनिधानात्सुधांशोः॥

अत्र वाप्यादि शब्दैर्नाभिप्रभृतयो निगीर्णाः। अत्रातिशयोक्तौ रूपकविशेषणं रूपके दर्शितानां विधानामिहापि संभवोऽस्तीत्यतिदेशेन प्रदर्शनार्थम्। तेनात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्य द्रष्टव्यम्। तत्राप्याधिक्यन्यूनताविभागश्चेति सर्वमनुसंधेयम्। यथा वा (विद्ध - भं0)

सुधाबद्धग्रासैरूपवनचकोरैरनुसृतां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम्।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः॥

इत्यत्र 'कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः' इत्युक्त्या प्रसिद्ध चन्द्राद्भेदस्तत उत्कर्षश्च गर्भितः। एवमन्त्राप्यूहनीयम्॥ 36॥

जहाँ अध्यवसान (अभेद रूप से) से विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) निगीर्ण कर लिया जाता है, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होता है। जैसे- देखो नीलकमल युगल से तीक्ष्ण बाण निकल रहे हैं।

विषय (उपमेय) का अपने शब्द से उल्लेख के बिना विषयी (उपमान) वाचक शब्द से ही ग्रहण होने पर, विषय (उपमेय) का निगरण पूर्वक विषय का विषयी रूप से ही अध्यवसाय निश्चित होने पर रूपकातिशयोक्ति होता है। जैसे- नीलोत्पल ओर शर शब्द के द्वारा लोचन और कटाक्ष का ग्रहण हुआ है और नीलोत्पल के द्वारा लोचन का और शब्द के द्वारा कटाक्ष का अभेदाध्यवसान हुआ है।

यहां किसी नायिका के आँख और कटाक्ष को देखकर कवि कहता है कि नीलकमल से वाण छूट रहा है। नीलकमल कहने मात्र से आँख का बोध और वाण से कटाक्ष का बोध हो रहा है। नीलकमल और आँख तथा कटाक्ष और वाण में अभेद होने से ऐसा कहा गया है। यहाँ नीलकमल ने आँख का निगरण किया और बाण ने कटाक्ष का निगरण किया है।

इसी तरह दूसरा उदाहरण-

कोई कवि नायिका के अंगों का वर्णन करता हुआ कहता है- आकाश में कोई वावली स्फुरित हो रही है। उसके उपर इन्द्रनीलमणि की छोटी पगडंडी (पतला रास्ता) सोने की बनी सीढ़ी तक जाती है। इसके आगे चन्दन से ढके दो पर्व हैं, जो सकृतियों के लिए ही गम्य हैं। जो वहाँ पहुँच जाता है, उसके लिए अमृत सुलभ है, क्योंकि नजदीक में ही चन्द्रमा की स्थिति है।

यहाँ वापी आदि शब्दों के द्वारा नाभि आदि अंग निगीर्ण कर लिया गया है। यहाँ अतिशयोक्ति में रूपक विशेषण इसलिए दिया गया है, ताकि रूपक के जितने भेद होते हैं उतने भेद इसके अभी हो सकते हैं, यह ज्ञान हो सके। इससे यहाँ भी अभेदातिशयोक्ति और ताद्रूप्यातिशयोक्ति भेद से दो भेद समझना चाहिए। वहाँ भी आधिक्य और न्यूनता का विभाग (रूपक की तरह) समझना चाहिए।

इस श्लोक में कवि के स्वरूप का वर्णन किया है। आकाश (कमर) वापी (नाभी), पंगडंडी (रोमावली), सीढ़ी (त्रिवली), चन्दनाच्छन्न शैल (स्तनयुगल), अमृत

(अधर), सुधांशु (मुख) वर्णित है, यहाँ तत्तत् उपमान से ही उपमेय का बोध अभेदाध्यवसाय से होता है। उपमान कह देने से ही उपमेय का बोध होता है। उपामन के द्वारा उपमेय का भक्षण ही निगरण कहलाता है। उपमेय उपमान के उदरस्थ हो जाता है जिससे शब्द रूप में केवल उपमान रह जाता है। अब रूप वर्णन इस तरह हुआ कि आकाश जैसे क्षीण कमर के ऊपर वापी जैसी नाभी है। इसके ऊपर पतली पगडंडी सी रोमावली है, जो सीढ़ी जैसी त्रिवली तक जाती है। उसके ऊपर चन्दनाच्छन्न पर्वत की तरह चन्दन लेपित स्तनयुगल है। यहाँ पहुँचाने वाले को अमियमय अधर सुलभ हो जाता है, क्योंकि सुधांशु रूप मुख विराजमान है।

इस अतिश्योक्ति को रूपकातिशयोक्ति इसलिए कहा है कि रूपक विशेषण से यह ज्ञान हो जाये कि जैसे रूपक का ताद्रूप्य और अभेद भेद होता है उसी तरह इस अतिशयोक्ति का भी भेद होता है। आधिक्य और न्यूनता के आधार पर जैसे रूपक के भेद हो जाते हैं उसी तरह अतिशेक्ति के भी भेद-अभेदातिशयोक्ति ताद्रूप्यातिशयोक्ति आदि हो सकते हैं। पं. राज जगन्नाथ, दीक्षित जी के मत से सहमत नहीं हैं। एतदर्थ रसगंगाधर अवलोकनीय है।

अनन्तर दूसरा उदाहरण देते हैं-

यहाँ परकोटे पर खड़ी किसी नायिका को देखकर कवि कहता है-इस परकोटे पर आँखें डालो और यह तर्क करो कि बिना आकाश के ही यह शीतकिरण (चाँद) कौन है, जिसका हरिण (दाग)गल चुका है। उपवन में रहने वाले चकोरों के द्वारा अमृत खाने की लोलुपता से जिसका अनुसरण किया जा रहा है। लवलि के पके फल के समान स्वच्छ चाँदनी को छिटका रही है।

यहाँ 'जिसका हरिण गल गया है ऐसा शीतकिरण कौन है' इस उक्ति के द्वारा प्रसिद्ध चन्द्र से प्रस्तुत चन्द्र का भेद स्पष्ट दिखाया गया है। प्रस्तुत चन्द्र का उत्कर्ष भी व्यञ्जित है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी समझना चाहिए।

यहाँ नायिका के मुख का वर्णन धरती पर स्थित चाँद के रूप में हुआ है। चाँद के द्वारा मुख का निगरण तो हो ही गया है। साथ-साथ जैसे रूपक में आधिक्य और न्यूनता से भेद किया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी है। चन्द्रमा का आकाश में होना सर्वजन सम्मत है। भूमि पर होने से उसकी दिव्यता, अदिव्यता में बदलकर न्यूनता को प्राप्त हुई है और चन्द्रमा में हरिण अंकित है। इस वर्ण्य का हरिण गल गया है। अर्थात् वहीं कलंक है और यहाँ नहीं है। इस तरह वर्ण्य चन्द्र का उत्कर्ष अभिव्यञ्जित होता है।

अब अतिशयोक्ति का दूसरा भेद सापह्नवातिशयोक्ति का निरूपण करते हैं-

यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता
त्वत्सूक्तिषु सुधा राजन्भ्रान्ताः पश्यन्ति तां विधौ॥ 36॥

अत्र त्वत्सूक्तिमाधुर्यमेवामृतम् इत्यतिशयोक्तिश्चन्द्रमण्डलस्थममृतं न भवतीत्यपह्नुतिगर्भा। यथा वा-

मुक्ताविद्रुममन्तरा मधुरसः पुष्पं परं धूर्वहं
प्रालेयद्युतिमण्डले खलु तयोरेकासिका नार्णवे।
तच्चोदञ्चति शङ्खमूर्ध्नि न पुनः पूर्वाचलाभ्यन्तरे
तानीमानि विकल्पयन्ति त इमे येषां न सा दृक्पथे॥

अत्राधररस एवं मधुरस इत्याद्यतिशयोक्तिः पुष्परसो मधुरसो न भवतीत्यपह्नुतिगर्भा। अलङ्कारसर्वस्वकृता तु स्वरूपोत्प्रेक्षायां सापह्नवत्वमुदायहृतम्-

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन
ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु।
यन्नोल्लसत्फेनततिच्छलेन
मुक्ताट्टहासेव विभाति शिप्रा॥

ततस्त्वियानत्र भेदः। एतत्तु शुद्धापह्नुतिगर्भम्। यत्र फेनततित्वमपह्नुतं तत्रैवाट्टहासत्वोत्प्रेक्षणात्, इह तु पर्यस्तापह्नुतिगर्भत्वमिन्दुमण्डलादावपह्नुतस्यामृतादेः सूक्त्यादिषुनिवेशनात्। इदञ्च पर्यस्तापह्नुतिगर्भत्वमुत्प्रेक्षायामपि संभवति।

तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षायां यथा (नै० ७/३५)-

जानेऽति रागादिदमेव बिम्बं बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम्।
द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणां नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम्॥

अत्र प्रसिद्धबिम्बफले बिम्बतामपह्नुत्यादि रागेण निमित्तेन दमयन्तत्यधरे तदुत्प्रेक्षा पर्यस्तापह्नुतिगर्भा। हेतूत्प्रेक्षाया तद्गर्भत्वं प्राग्लिखिते हेतूत्प्रेक्षोदाहरण एव दृश्यते। तत्र चान्धकारेष्वान्ध्यहेतुत्वमह्नुत्यान्यत्र तन्निवेशितम्।

फलोत्प्रेक्षायां यथा-

रवितप्तो गजः पद्मांस्तद्गृह्यान्बाधितुं ध्रुवम्।
सरो विशति न स्नातुं गजस्नानं हि निष्फलम्॥

अत्र गजस्य सरः प्रवेशं प्रतिफल स्नाने फलत्वमपह्नुत्य पद्मबाधने तन्निवेशितम्। अलमनया प्रसक्तानुप्रसक्त्या प्रकृतमनुसरामः॥ 37॥

जहाँ अपहनुति अलङ्कार से युक्त अतिशयोक्ति होता है उसे सापह्नवातिशयोक्ति कहते हैं। जैसे हे राजन्! तुम्हारे सुन्दर वचन में ही अमृत है, भ्रान्त (मूर्ख) लोग उसे (अमृत) को चन्द्रमा में देखते हैं।

यहाँ आपकी सूक्ति की मधुरता ही अमृत है, यह अतिशयोक्ति है। चन्द्रमण्डल में स्थित अमृत अमृत नहीं है यह अपह्नुति है। जैसे दूसरा उदाहरण-

कोई कवि नायिका के अंगों का वर्णन कर रहा है- मुक्ता (दांत) और विद्रुम (अधर) के बीच में मधुरस है। पुष्पों में तो केवल नाम के लिए है। यह दोनों (मुक्ता और विद्रुम) प्रालेयद्युति मण्डल (चन्द्र) में पाया जाता है, सागर में नहीं। वह (चाँद) शंख के शिर पर उगता है पूर्वाचल पर नहीं। जिनकी आँखों में यह सुन्दरी नहीं आयी है वही इन विषयों में तर्क किया करते हैं।

यहाँ अधर रस ही मधुरस है। यह अतिशयोक्ति है। पुष्परस में मधुरस नहीं होता यह अपह्नुति है। अलंकार सर्वस्वकार न स्वरूपोत्प्रेक्षा में ही अपह्नवयुक्तता को उदाहृत किया है-

जब पुर की विलासिनियाँ मछली के टकराहट के भयँ से तीर पर चली गईं तो उठते हुए फेन पंक्ति के छल से मुक्त अट्टास करती हुई सी शिप्रा नदी शोभित है।

इस उदाहरण में पहले उदाहरण से यह अन्तर है कि यह शुद्धापह्नुति युक्त है। यहाँ फेनततित्व को छिपाकर अट्टाहासत्व को स्थापित किया गया है। जबकि इन्दु मण्डल आदि में और सूक्ति में अमृतादि की उत्प्रेक्षा पर्यस्तापह्नुति युक्त है। यह पर्यस्तापह्नुतियुक्तता उत्प्रेक्षा में भी होती है।

स्वरूपोत्प्रेक्षा में उदाहरण। जैसे- (नै. ७/39)

दमयन्ती के स्वरूप वर्णन प्रसंग में यह श्लोक लिखा गया है। अधर का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

अत्यन्त राग के चलते यही (अधर) बिम्ब है। वास्तव बिम्ब की तो अधरता (नीचता) व्यक्त होती है। दोनों की विशेषता को जानने में जो अक्षम है, उन्हीं लोगों को इन दोनों को अधर बिम्ब और बिम्ब को जानने का भ्रम होता है। वे लोग अधर को बिम्बाधर और बिम्बाधर को बिम्ब कहते हैं।

यहाँ प्रसिद्ध बिम्बफल में बिम्बता को गौण करके अतिराग के निमित्त से दमयत्नी के अधर में बिम्ब की उत्प्रेक्षा पर्यस्तापहनुतिगर्भा है। हेतूत्प्रेक्षा में पर्यस्तापहनुतिगर्भत्व पूर्व लिखित हेतूत्प्रेक्षा (गावोऽपि नेत्रापरनामधेया ----) में देखा जाता है। वहाँ अन्धकार में अन्धत्व हेतु न दिखाकर (अपह्नुत कर) अन्यत्र (सूर्य द्वारा नयनगो नयन) में अन्धत्व हेतु निवेशित किया गया है।

फलोत्प्रेक्षा में उदाहरण। यथा-

सूर्य किरणों में तप्त हाथी सूर्यबन्धु कमल को बाधित करने के लिए ही तालाब में प्रवेश करता है, स्नान करने के लिए नहीं, क्योंकि हाथी का स्नान तो निष्फल होता है।

यहाँ हाथी के सर प्रवेश के प्रति स्नान रूप फल को अपह्नुत करके पद्मबाधन रूप फल की उत्प्रेक्षा की गई है। प्रसंगवश उपस्थित उत्प्रेक्षालंकार का विशेष विवेचन यहाँ उपयुक्त नहीं है। अत: अब प्रत्युत अतिशयोक्ति अलंकार की व्याख्या आगे बढ़ती है।

यहाँ उपह्नुतिगर्भातिशयोक्ति के विवेचन प्रसंग में उत्प्रेक्षा का वर्णन हो गया है। अपेक्षित यह है कि जैसे अपह्नुतिगर्भा अतिशयोक्ति होती है उसी तरह अलंकार सर्वस्वकार

(रूय्यक) के अनुसार उत्प्रेक्षा में भी अपह्नवत्व होता है। अतिशयोक्ति की इस व्याख्या में एक बात सामने आयी है कि अपह्नुतियुक्त अतिशयोक्ति होती है। शुद्धापह्नुति से युक्त और पर्यस्तापह्नुति से युक्त भी। कारिकागत उदाहरण में आया है कि राजन! अमृत तुम्हारे सुन्दर वचन में है चाँद में नही। यहाँ अपह्नुति (चाँद में नहीं) और अतिशयोक्ति (तुम्हारे वचन में है) यह स्पष्ट है। इसी तरह दूसरे उदाहरण में अक्षर में मधुरस है (अतिशयोक्ति) फूल में नहीं (अपह्नुति) मोती और विद्रुम चाँद में होता है (अतिशयोक्ति) सागर में नहीं (अपह्नुति) चांद शंख (गर्दन) पर उगता है (अतिशयोक्ति) पर्वाचल पर नहीं (अपह्नुति) इत्यादि वर्णित है। शंख नायिका के गर्दन के लिए प्रयुक्त है, प्रालेयद्युतिमण्डल मुख के लिए, मुक्ता विद्रुम दांत और अधर के लिए है। आगे उत्प्रेक्षा में अपह्नुति को दिखाया गया है।

यहाँ यह विचारणीय है कि अपह्नुतिगर्भा अतिशयोक्ति उचित है या नही। पं. राज जगन्नाथ ने तो इस भेद का स्पष्टतः खण्डन किया है। वो पर्यस्तापह्नुति को उचित नहीं मानते। रसगंगाधर में लिखते हैं- **यत्तु कुवलयानन्दे यद्यपह्नवगर्भत्वं---- तां विधौ। इत्यत्र पर्यस्तापह्नुतिगर्भामतिशयोक्तिमाहुस्तच्चिन्त्यम्। पर्यस्तापह्नुतेरपह्नुतित्वं न प्रामाणिक संमतमिति प्रगेवावेदनात्।**

सामान्यतया अतिशयोक्ति विषयी के द्वारा विषय के निगरण को कहा जाता है। साध्यवसाना लक्षणा ही इसका मूल है। साध्यवसाना में विषयी और विषय स्पष्ट नहीं होता है। केवल विषयी ही कहा जाता है। जैसे "वापी कापि स्फुरति" कहा गया है। यदि विषयी और विषय कह दिया गया तो अतिशयोक्ति रह गया या नहीं यह तो चिन्त्य है। अतिशयोक्ति का लक्षण करते हुए विश्वनाथ लिखते हैं-

'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते'। जहाँ अध्यवसाय सिद्ध होता हो साध्य नहीं। अध्यवसाय तो उत्प्रेक्षा में साध्य होता है। जैसे किसी लड़की को देखकर कोई कहे कि अरे देखो चाँद का टुकड़ा आ रही है। तो यह अतिशयोक्ति होगा, क्योंकि यहाँ केवल उपमान चाँद का टुकड़ा कहा गया है। यदि कहा जाये- अरे इसकी सुन्दरता देखो मानो चाँद धरती पर उतर आया है। यहाँ उत्प्रेक्षा है। यहाँ चाँद और लड़की का भेद स्पष्ट है।

दोनों में सौन्दर्य के तादात्म्य को लेकर संभावना की गयी है और यदि कहा जाये कि यार यह लड़की नहीं धरती पर आई चांदनी है अब अपह्नुति होगा, क्योंकि यहाँ लड़की का गोपन और चाँदनी की स्थापना होगी। अब विचार करें कि अपह्नुति में उपमेय (प्रकृत) का निषेध होता है तब उपमान (अप्रकृत) की स्थापना होती है। इतना होने पर विषयी और विषय स्पष्ट हो जाता है। दोनों के स्पष्ट होने पर साध्यवसाना नहीं होती। तब तो अतिशयोक्ति रह ही नहीं जाएगी। अतः यह भेद उपयुक्त नहीं होगा।

परञ्च विषयी के द्वारा विषय का निगरण होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इस निगरण शब्द की व्यख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं-

विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः
अधः करणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रक्षयते॥ इति॥

तात्पर्य है कि विषय का उपादान होने पर भी या न होने पर भी विषय का अधःकरण निगरण कहलाता है। अतिशयोक्ति में निगरण की प्रधानता है। इससे विषय का बोध विषयी के धर्म युक्तत्व के रूप में होता है।

यहाँ उपह्नुतिगर्भातिशयोक्ति माना है वहाँ तर्क यह रहा होगा कि प्रधानता विषयी के द्वारा विषय के निगरण (अधःकरण) का ही है परञ्च यह निगरण अपह्नुति से युक्त है। जैसे वचन में ही सुधा है। मुर्ख लोग कहते हैं कि सुधा चांद में है। यहां वचन ही सुधा है। इस अतिशयोक्ति को पुष्ट करने के लिए ही चाँद में अमृत समझने वाले को मूर्ख बताकर अपह्नुति प्रदर्शित हुआ है। लेकिन इस तर्क से यदि अतिशयोक्ति बनाया भी जाए तो भी वचन रूप विषय सुधा रूप विषयी ने निगीर्ण नहीं होता है। अनिगीर्णावस्था में अतिशयोक्ति होगी नहीं। इस तरह यह अतिशयोक्ति (अपह्नुतिगर्भा) उपयुक्त नहीं लगता है।

अब भेदकातिशयोक्ति का विवेचन किया जाता है।

भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्।
अन्यदेवास्य गाम्भीर्यमन्यद्धैर्यं महीपतेः॥ 37॥

अत्र लोक प्रसिद्धगाम्भीर्याद्यभेदेऽपि भेदो वर्णितः।

यथा वा-

अन्येयं रूप सम्पत्तिरन्या वैदग्ध्यघोरणी।
नैषा नलिनपत्राक्षी सृष्टिः साधारणी विधेः ॥ 38 ॥

भेदकातिशयोक्ति वहाँ होता है, जहाँ विषय का अन्यत्व रूप में वर्णन होता है। जैसे इस राजा की गम्भीरता और धैर्य अन्य ही है।

यहाँ लोक प्रसिदा गाम्भीर्यादि से अभेद में भी भेद वर्णित है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

यह कमलपत्राक्षी विधाता की सामान्य सृष्टि नहीं है। इसकी रूप सम्पत्ति अन्य ही है और चतुरता भी अन्य ही है।

यहाँ उदाहरण में विषय (गम्भीरता, धीरता या रूप सम्पत्ति चतुरता) का वर्णन अन्य रूप से हुआ है। यद्यपि लोक विख्यात जो धीरता गम्भीरता स्वरूपसम्पत्ति, चतुरता है, उससे पृथक् यह नहीं है, तथापि कवि ने कुछ वैशिष्टय प्रतिबोधन के लिए इसे अन्य ही कहा है यदि यह पृथक् होता तो कवि अन्यं किसी उपमान का प्रयोग करता पर ऐसा हुआ नहीं है। तात्पर्य है कि लोक विख्यात धैर्यादि और कवि वर्णित अन्यरूप धैर्यादि में भेद नहीं है लेकिन कवि ने भेद अन्य रूप में दिखा दिया है। इसलिए इसे भेदकातिशयोक्ति कहा गया है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे ''अभेदे भेदरूपातिशयोक्ति'' कहा है। इसका उदाहरण उन्होंने दिया है-

अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौदभसम्पदः।
तस्याः पद्यपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥

ऊपर के उदाहरण और इस उदाहरण में पर्याप्त साम्य है। (अन्य रूप में वर्णन के तौर पर)।

अव सम्बन्धातिशयोक्ति का विवेचन करते हैं-

सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्।
सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम् ॥ 38 ॥

यथा वा-

कतिपय दिवसैः क्षयं प्रयायात्
कनकगिरिः कृत वासरावसानः।
इतिमुदमुपयाति चक्रवाकी
वितरणशालिनि वीररुद्रदेवे॥

अत्र चक्रवाक्याः सूर्यस्तमयकारक महामेरुक्षयसंभावनाप्रयुक्त संतोषासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धो वर्णितः॥ 39॥

जहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना की जाती है, वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति होता है। जैसे इस महल का अग्रभाग चन्द्रमण्डल को छूता है।

और दूसरा उदाहरण- जैसे- (यहाँ राजा रुद्रदेव की दानशीलता के वर्णन में कवि कहता है)- वीर रुद्रदेव के दानशाली होने पर कुछ दिनों में दिन का अवसान करने वाला कनकगिरि (सुमेरु) नाश को प्राप्त हो जाएगा। यह सोचकर चक्रवाकी खुश हो रही है (ताकि समेरु के न रहने से दिन का अवसान नहीं होगा और दिन का अवसान न होने से मेरा प्रियवियोग नहीं होगा)।

यहाँ सूर्यास्त करने वाले सुमेरु के नाश की संभावना से चक्रवाकी के संतोष का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध वर्णन किया गया है।

यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन से तात्पर्य है कि जिस किसी वस्तु का जिस वस्तु से संबंध नहीं है। फिर भी कवि अपना वैशिष्ट्य दिखाने के लिए सम्बन्ध दिखाता है, तो वहाँ अतिशयोक्ति का यह भेद होता है। जैसे महल के अग्रभाग का चन्द्रमा से स्पर्श संभव नहीं है तथापि अत्युच्चता प्रदर्शित करने के लिए कवि ने चन्द्रमा से सम्पर्क सम्बन्ध जोड़ दिया है। दूसरे उदाहरण में चक्रवाकी के खुश होने का सम्बन्ध सुमेरु के नाश से नहीं है तथापि कवि ने अपनी उत्प्रेक्षा शक्ति से यह सम्बन्ध जोड़ दिया है। यहाँ उत्प्रेक्षा नहीं है क्योंकि तत् व्यञ्जक शब्द के अभाव में वाच्योत्प्रेक्षा नहीं है और न गम्योत्प्रेक्षा है, क्योंकि यहाँ अध्यवसाय साध्य नहीं सिद्ध है। यहाँ निश्चित रूप से चक्रवाकी को खुश होने का सम्बन्ध मेरु कें नाश से जोड़ा गया है। इस भेद को आचार्य विश्वनाथ नें असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्ति कहा है। उदाहरण दिया है-

यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारूलोचनम्।

अब असम्बन्धातिशयोक्ति का निरूपण करते हैं-

योगेऽप्ययोगोऽसंबन्धसातिशयोक्तिरितीर्यते।
त्वयि दातरि राजेन्द्र! स्वर्द्रुमान्नाद्रियामहे॥ 39॥

अत्र स्वर्द्रुमेष्वादरसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धो वर्णित इत्यसम्बन्धातिशयोक्तिः। यथा वा-

अनयोरनवद्याङ्गि! स्तनयोर्जृम्भमाणयोः।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे॥ 40॥

जहाँ सम्बन्ध रहते हुए भी असम्बन्ध वर्णित होता है, वहाँ असम्बन्धातिशयोक्ति होता है। जैसे- हे राजेन्द्र! तुम जैसे दानी के रहने हम लोग स्वर्द्रुम (कल्पवृक्ष) का भी आदर नहीं करते।

यहाँ स्वर्द्रुम के प्रति आदर रूप सम्बन्ध रहते पर भी असम्बन्ध वर्णन किया गया है। इसलिए असम्बन्धातिशयोक्ति है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

हे अनवद्याङ्गि! इस बढ़ते हुए स्तन युगल के लिए तुम्हारे बाहुयुगल के मध्य अवकाश पर्यन्त नहीं है।

यह भेद पूर्व भेद (सम्बन्धातिशयोक्ति) का उलटा होता है। वहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध दिखाया जाता है और यहाँ सम्बन्ध रहने पर भी असम्बन्ध दिखाया जाता है। (कारिकागत उदाहरण में) याचक लोगों का सतत कल्पवृक्ष से आदर रूप सम्बन्ध रहता ही है, क्योंकि वह सर्वदान समर्थ है। परञ्च कवि ने इस सम्बन्ध को असम्बन्ध बता दिया कि आपके (राजा के) रहने पर याचक लोग कल्पवृक्ष का आदर नहीं करते। यहां सम्बन्ध में असम्बन्ध हुआ। ठीक इसी तरह दूसरे उदाहरण में स्तन विकास के लिए बाहुयुगल के मध्य पर्याप्त स्थान होता है पर कवि ने स्तन की विशालता बताते हुए इस पर्याप्त स्थान को अपर्याप्त बता दिया। यहाँ भी सम्बन्ध में असम्बन्ध ही है।

अब अक्रमातिशयोक्ति का विवेचन करते हैं-

अक्रमातिशयोक्तिः स्यात् सहत्वे हेतुकार्ययोः।
आलिङ्गन्ति समं देव! ज्यां शराश्च पराश्च ते॥ 41॥

अत्र मौर्व्यां यदा शरसंधानं कृतं तदानीमेव शत्रवः क्षितौ पतन्तीति हेतुकार्ययोः सहत्वं वर्णितम्। यथा वा-

मुञ्चति मुञ्चति कोशं भजति च भजति प्रकम्पमरिवर्गः।
हम्मीर वीर खड्गे, त्यजति त्यजति क्षमामाशु॥

अत्र खड्गस्य कोशत्यागादिकाल एव रिपूणां धनगृहत्यागादि वर्णितम्॥ 41॥

जहाँ कारण और कार्य साथ-साथ वर्णित हो, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होता है। जैसे- हे देव! तुम्हारे बाण और शत्रु साथ-साथ ही ज्या (धनुष की डोरी) और पृथ्वी का आलिङ्गन करते हैं।

यहाँ धनुष पर जैसे ही शरसंधान हुआ वैसे ही शत्रु भूमि पर गिर पड़ते हैं। इस तरह कारण (बाण का लगना) और कार्य (भूमि पर गिरना) साथ-साथ वर्णितु हुआ है। जैसे दूसरा उदाहरण-

हम्मीर वीर का खड्ग जैसे ही म्यान को छोड़ता है वैसे ही अरि वर्ग प्रकम्पन को प्राप्त करता है। जैसे ही तलवार क्षमा छोड़ता है वैसे ही अरिवर्ग पृथ्वी छोड़ देता है।

यहाँ तलवार का म्यान त्यागना और शत्रुओं का धन, गृह, पृथ्वी आदि का त्यागना साथ-साथ वर्णित हैं।

कारण और कार्य में अन्तर तो होता ही है। कारण प्रयोग होने के बाद ही कार्य होना संभव है। जब तीर घनुष से छूटकर शत्रु के हृदय में प्रविष्ट होगा, तब ही उसकी मौत होगी। यह संभव नहीं है कि धनुष पर बाण चढ़े और शत्रु मर जाए। परञ्च कवि कारण का वैशिष्ट्य बताने के लिए कारण कार्य का साथ वर्णन कर देते हैं। जैसे कारिकागत उदाहरण में वर्णित हुआ है। दूसरे उदाहरण में भी तलवार का म्यान छोड़ना और दुश्मन का प्राण छोड़ना दोनों (कारण कार्य) साथ-साथ वर्णित हैं। इसलिए यहाँ अक्रमातिशयोक्ति है।

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में महाकवि कालिदास विरचित रघुवंश से एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है-

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलञ्च महीक्षिताम्॥

अब चपलातिशयोक्ति का विवेचन करते हैं-

चपलातिशयोक्तिस्तु कार्येहेतु प्रसक्तिजे।
यास्यामीत्युदिते तन्व्या वलयोऽभवदूर्मिका॥42॥

अत्र नायक प्रवास प्रसक्तिमात्रेण योषितोऽतिकार्श्यं कार्यमुखेन दर्शितम्। यथा वा-

आदातुं सकृदीक्षितेऽपि कुसुमे हस्ताग्रमालोहितं
लाक्षारञ्जनवार्तयापि सहसा रक्तं तलं पादयोः।
अङ्गानामनुलेपनस्मरणमप्यत्यन्तखेदावहं
हन्ताऽधीरदृशः किमन्यदलकामोदोऽपि भारायते॥

यथा वा-

यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तात्क्षणेन तन्वङ्ग्याः।
गलितानि पुरो वलयान्यपराणि तथैव दलितानि॥

यहाँ कारण के ज्ञानमात्र से कार्योत्पत्ति हो जाये, वहाँ चपलातिशयोक्ति होता है। जैसे- (पति के) मैं जाता हूँ, इतना कहते ही अंगूठी कंगन बन गई।

यहाँ नायक के प्रवास गमन ज्ञान मात्र से ही पत्नी की अतिकृशता रूप कार्य को दिखाया गया है। (कृशता के कारण ही अँगूठी कंगन बन गई) जैसे दूसरा उदाहरण-

किसी सुकुमारी का वर्णन करते हुए कवि कहता है- ग्रहण करने के लिए फूल को देखने मात्र से ही हाथ का अग्रभाग लाल हो गया। लाक्षा रंग की बात से ही उसका पादतल एकाएक लाल हो गया। अंगों के अनुलेपन का स्मरण मात्र अत्यन्त कष्टदायक है। अधीर नेत्रवाली (उस युवति) के विषय में अधिक क्या कहा जाये, केश पाश का सुगन्ध भी उसे भार मालूम होता है।

जैसे तीसरा उदाहरण–

जाता हूँ, नहीं जाता हूँ, पति के ऐसा कहने पर ही क्रमशः उस तन्वङ्गी के हाथ से कंगन गिर गए और कुछ टूट गए।

यह अतिशयोक्ति वास्तव में चमत्कारपूर्ण होता है। कारण के ज्ञान मात्र से कार्य हो जाता है। पति ने कहा– मैं जाता हूँ। इतना सुनते ही नायिका भविष्यत् विप्रयोग के कारण मात्र से इतनी दुबली हो गई कि अँगूठी जो ऊँगली में पहनने लायक होता है वह कंगन (मणिबन्ध में पहने लायक हो गया।)। विप्रयोग से शरीर का कृश होना तो संभव है। पर सुनने मात्र से ऐसा होना वास्तव में प्रेमातिशय का व्यञ्जक है। आगे देखिए नायिका इतनी कोमल है कि फूल को छूने की बात तो दूर देखने से ही हाथ लाल हो जाता है। तात्पर्य है कि कोमल हाथ कठोर स्पर्श से लाल हो जाता है। हाथ इतना कोमल है कि फूल उठाने से ही लाल हो जाता है। यह हाथ इतना कोमलतम है कि उठाना तो दूर इस भाव से देखने मात्र से ही लाल हो जाता है। यही स्थिति पैर के लाल होने में, अंग लेप स्मरण के खेद होने में, और केशगन्ध भार लगने में है। तीसरे उदाहरण में तो कवि का चमत्कार और हृदयहारक है। नायक ने कहा– मैं जाता हूँ तो नायिका सुनने मात्र से दुबली हो गयी कि हाथ के कंगण अपने आप गिर गए और ज्यूं ही कहा कि मैं नहीं जाता तो विप्रयोगाभाव की खुशी में इतनी फूल गई कि हाथ मे बचे कंगण हाथ के मोटा हो जाने से टूट गए। इस पद्य का मैथिली भाषा में भावपूर्ण अनुवाद एक कवि ने इस तरह किया है जो अत्यन्त हृदयहारि है–

जाइव आय पिया मुख सँ सुनितहिं तन धाम तड़ातड़ छूटल
हाथक ई लहठी छल जे सभटा खसि भूमि पड़ापड़ फूटल।
जाइव नै पुनि इ सुनितहिं मन मोद सुधाक वरावरि लूटल
हे सखि! इ अजगुत बड़ जे उर आंगिक बन्द तड़ातड़ टूटल॥

इस भेद में विभावना का संदेह होता है। कारणाभाव में कार्योत्पत्ति विभावना अलंकार का मूल है। कारण के ज्ञान मात्र से कार्योत्पत्ति में भी विभावना ही है। ऐसी शंका होती है। आचार्य विश्वनाथ के कारण कार्य पौर्वापर्य में अतिशयोक्ति माना है। वहाँ कारण

बाद में कार्य पहले होने को उदाहृत किया है। इससे तात्पर्य हुआ कि कारण तो परञ्च बाद में। लेकिन कारणज्ञान मात्र से कार्योत्पत्ति रूप चपलातिशयोक्ति कुछ विभावना को ही व्यञ्जित करता है। ऐसी व्याख्या भी हो सकती है कि कारण ज्ञान आने वाले कारण को सूचित करता है। इस तरह कारण की सत्ता बन जाने से ही कार्योत्पत्ति हुई। तब विभावना से यह पृथक् होगा। जैसे फूल को देखकर ही हाथ का लाल होना। इसमें नायिका ने समझा कि यह फूल मुझे उठाना ही है। यह ज्ञान होते ही उसे तज्जन्य कष्ट की अनुभूति हुई और हाथ लाल हो गया। जैसे सामान्यतया शिक्षक का उग्र स्वभाव देखते ही बच्चे बिना छड़ी लगे ही रोने लगते हैं। वहाँ छड़ी लगने का स्पष्ट भय ही रोने का कारण होता है। इस तरह यहाँ कारण स्पष्ट है और विभावना में कारणाभाव अपेक्षित होता है। इस तरह यह अतिशयोक्ति विभावना में पृथक् है।

अब अत्यन्तातिशयोक्ति का निरूपा करते हैं-

अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे
अग्रे मानो गतः पश्चाददुनीता प्रियेण सा॥ 42॥

यथा वा-

कवीन्द्राणामासन् प्रथमतरमेवाङ्गणभुव-
श्चलद्भृङ्गासङ्गाकुलकरि मदामोदमधुराः।
अमी पश्चात्तेषामुपरि पतिता रुद्रनृपतेः
कटाक्षाः क्षीरोदप्रसरदुरुवीचीसहचराः॥

एतास्तिस्त्रोप्यतिशयोक्त्यः कार्यशैघ्र्य प्रत्यायनार्थाः।

जहाँ कारण और कार्य का पौर्वापर्य (व्यतिक्रम) होता है। अर्थात् पहले कार्य तब कारण होता है, वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति होता है। जैसे- नायिका का मान पहले ही चला गया बाद में प्रिय के द्वारा अनुनय किया गया। यहाँ मान गमन रूप कार्य पहले हो गया और अनुनय रूप कारण बाद में हुआ।

जैसे दूसरा उदाहरण-

कवीन्द्रों के आँगन पहले ही चञ्चल भौंरों की संगति से व्याकुल मदमत्त गजराज के मद से सुगंधित हो जाते हैं। बाद में दुग्धसमुद्र में चञ्चल तरंग के समान रुद्रनृपति के कृपाकटाक्ष उस पर पड़ते हैं। यहाँ कृपा कटाक्ष रूप कारण बाद में वर्णित है और प्रचुर दान से मदमत्त हाथियों के प्रांगन का भरना रूप कार्य पहले वर्णित है।

ये तीनों अतिशयोक्तियाँ (अक्रमातिशयोक्ति चपलातिशयोक्ति और अत्यन्तातिशयोक्ति) कार्य की शीघ्रता की ही व्यञ्जना करती है। वास्तव में कारण पहले और कार्य बाद में ही होता है।

इस अतिशयोक्ति के निरूपण में विविध शंकाएँ होती हैं। कुछ का समाधान आसान है, पर कुछ का कठिन है। रूपक उत्प्रेक्षा आदि से भेद करना तो आसान है, जो पहले दिखा दिया गया है। पर इसका मूल लक्षण विचारणीय हो जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने लक्षण में लिखा है- सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। केवल अध्यवसाय का सिद्ध होना ही अतिशयोक्ति है। इसके अनुसार निम्न भेद हैं-

(1) भेद में अभेद (2) अभेद में भेद (3) सम्बन्ध में असम्बन्ध (4) असम्बन्ध में सम्बन्ध (5) कार्य कारण का पौर्वापर्य। दीक्षित जी के अनुसार निम्न भेद हैं- (1) रूपकातिशयोक्ति (2) सापह्नवा (3) भेदकातिशयोक्ति (4) सम्बन्धातिशयोक्ति (5) असम्बन्धातिशयोक्ति (6) अक्रमातिशयोक्ति (7) चपलातिशयोक्ति (8) अत्यन्तातिशयोक्ति।

केवल अध्यवसाय का सिद्ध होना ही यदि अतिशयोक्ति है, तब तो दीक्षित जी के मत में रूपकातिशयोक्ति को छोड़कर अन्यत्र अन्य अलंकार मानना होगा। तब यह स्वीकार करना होगा कि अध्यवसाय सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति, साथ-साथ भेदेऽप्यभेद इत्यादि स्थल में भी अतिशयोक्ति होता है। कोई लक्षण घटे तो अतिशयोक्ति मान जाए। इसी बात को ध्यान में रखकर चन्द्रिकाकार ने एक लक्षण प्रस्तुत किया है- "रूपकभिन्नत्वे सति चमत्कृति जनकाहार्यारोप निश्चय विषयत्वम्" (एव) अतिशयोक्ति सामान्य लक्षणम्। 'चमत्कृति जनकविषयत्व' सभी भेदों में पाया जाता है। केवल अपह्नवांतिशयोक्ति पर शंका रह जाती है। बाकी सात में- पहले में अभेद, दूसरे में अन्यत्व, तीसरे में सम्बन्ध,

चौथे में असम्बन्ध पञ्चम में सहत्व, छठे में हेतुप्रसक्तिजन्यत्व और सप्तम में पूर्वापरत्व का चमत्कृतिजनकविषयत्व है। देखने पर यह होता है कि अन्य अलंकारों की सत्ता में भी अतिशयोक्ति होगी तब केवल संकर या संसृष्टि का विषय रह जाएगा। लेकिन यह मानना होगा कि 'प्रधानत्वेन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुकूल ही हम अलंकार का नामकरण करते हैं। वैसे अतिशयोक्ति (अतिशयउक्ति) तो सर्वत्र दीख पड़ता है। जो अंगी होता है, उसी का नामकरण हम करते हैं। इसी विषय को मानकार आचार्य मम्मट ने लिखा है-

सर्वत्रैव विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां बिना प्रायेणालंकाराभावात्।

आचार्य दण्डी ने भी अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों में निहित माना है।

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीश सहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयम्॥ (काव्यादर्श)

विषय का निगरण रूप अतिशयोक्ति मूल है। महाकवि विद्यापति की यह पंक्ति सिद्धाध्यवसाय का बेजोड़ उदाहरण है-

कनक कदलि पर सिंह संवारल ता पर मेरु समाने
मेरु उपर दुई कमल फुलायल गति गजराजक भाने।

(1) कनककदली (जघन) (2) सिंह (कमर) (3) मेरु (छाती) (4) कमल (आँखें)

इस तरह सिद्धाध्यवसाय के साथ अन्य लक्षण भी अतिशयोक्ति को पुष्ट करते हैं।

(14) तुल्ययोगितालङ्कार

वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता।
संकुचन्ति सरोजानि स्वैरिणी वदनानि च॥ 43॥
त्वदङ्गमार्दवे दृष्टे कस्य चित्ते न भासते
मालतीशशभृल्लेखा कदलीनां कठोरता॥ 44॥

प्रस्तुतानाम प्रस्तुतानां वा गुण क्रिया रूपैक धर्मान्वयस्तुल्ययोगिता। संकुचन्तीति प्रस्तुततुल्ययोगितायाः उदाहरणम्। तत्र प्रस्तुत चन्द्रोदयकार्यतया वर्णनीयानां सरोजानां

प्रकाशभीरुस्वैरिणी वदनानां च संकोचरूपैकक्रियान्वयो दर्शितः। उत्तरश्लोके नायिका सौकुमार्यवर्णने प्रस्तुतेऽप्रस्तुतानां मालत्यादीनां कठोरतारूपैकगुणान्वयः। यथा वा-

संजातपत्र प्रकरान्वितानि समुद्वहन्ति स्फुटपाटलत्वम्।
विकस्वराण्यर्ककराभिमर्शाद्दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः॥
नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमान बाह्याः॥

अत्र ग्रीष्मवर्णने तदीयत्वेन प्रस्तुतानां दिनानां पद्मानां चैकक्रियान्वयः। ऊरुवर्णनेऽप्रस्तुतानां करिकराणां कदलीविशेषाणां चैकगुणान्वयः॥ 44-45॥

जहाँ वर्ण्यों (प्रस्तुत) और अवर्ण्यो (अप्रस्तुत) में एक धर्म से संबंध दिखाया जाता है, वहाँ तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है। जैसे-

(चन्द्रोदय होने पर) सरोज और स्वैरिणी (कुलटा) नायिका का बदन संकुचित हो जाता है। (यह प्रस्तुत तुल्ययोगिता है।)

(अप्रस्तुत तुल्ययोगिता) तुम्हारे अंगों की कोमलता को देखकर मालती चन्द्रलेखा और कदली की कठोरता किसके चित्त में भासित नहीं होता है।

प्रस्तुतों का या अप्रस्तुतों का जब गुण क्रिया रूप एक धर्म से अन्वय होता है तब तुल्ययोगिता होती है। 'संकुचन्तीति' प्रस्तुत तुल्ययोगिता का उदाहरण है। वहाँ प्रस्तुत चन्द्रोदय के कार्यरूप में वर्णनीय सरोज और प्रकाश से डरने वाली कुलटाओं का बदन संकोच रूप एक क्रिया का सम्बन्ध दिखाया गया है। चन्द्रोदय होने पर कमल संकुचित हो जाता है। यह ज्ञात तथ्य है। तथा कुलटा नायिका भी प्रकाश के डर से चन्द्रोदय होने पर संकुतिच होती है, क्योंकि प्रकाश में अन्य द्वारा देख लिए जाने का डर रहता है। वह तो अंधेरे में रमण करने जाती है। इस तरह संकुचन रूप क्रिया कमल और कुलटा दोनों में एक जैसा होती है। यही क्रिया दोनों को एक करती है। चन्द्रोदय की प्रस्तुति से दोनों प्रस्तुतों का एक धर्माभिसम्बन्ध दिखाने से यहां प्रस्तुत तुल्ययोगिता है। आगे की कारिका में नायिका की सुकुमारता वर्णन क्रम में जो प्रस्तुत है, सभी अप्रस्तुतों (मालती चन्द्रलेखा और

कदली) की कठोरता रूप एक गुण से संबंध दिखाया गया है। इसलिए यह अप्रस्तुत है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

(ग्रीष्म वर्णन)– नये पत्तों के समूह के युक्त होने से स्फुट पाटलता (लालिमा) को धारण करता हुआ दिन और कमल (विकसित) सूर्य की किरणों के सम्पर्क से वृद्धि को प्राप्त कर गए।

गजराज के शुण्डादण्ड (कर) के चमड़े में कर्कशता वश और कदली विशेष में एकान्तशीतलता वश, लोक में विशाल रूप प्राप्त होने पर भी उसके (पार्वती के)जाँघों की उपमानता से बाहर हो गए।

यहाँ ग्रीष्म वर्णन में प्रस्तुत दिन और कमल एक क्रिया (वृद्धि) से कथित है। दूसरे श्लोक में जघन वर्णन में हाथी के सूँढ़ और कदली की उपमानता से बाहर होना रूप गुण से एकत्व है।

यहाँ ग्रीष्म वर्णन में दिन और कमल में क्रिया का सम्बन्ध है। सूर्य की किरणों से नये पत्ते की लालिमा से युक्त दिन और कमल दोनों वृद्धि को प्राप्त करता है। यहाँ वृद्धि को प्राप्त करना रूप क्रिया एक है। दोनों प्रस्तुत हैं और जघन वर्णन में कदली और हाथी का सूँढ़ दोनों जघन के उपमान से बाहर हो गया। सूँढ़ में कठोरता है और कदली में एकान्त शीतलता। जबकि जघन (पार्वती का) इन दोनों दोषों से पृथक् है। कदली और शुण्डादण्ड में उपमानता से पृथक होना रूप गुण एक ही है। यह दोनों अप्रस्तुत हैं।

पं. राज जगन्नाथ ने 'गुण क्रिया रूपैक धर्मान्वयः' पर आपत्ति उठायी है। उनका कहना है कि गुण क्रिया के अतिरिक्त अभाव रूप धर्म का भी अन्वय हो सकता है अतः गुण क्रियादि रूपैकधर्मान्वयः करना चाहिए। इसके उदाहरण में यह श्लोक प्रस्तुत किया है–

शासति त्वयि हे राजन्नखण्डावनिमण्डनम्
न मनागपि निश्चिन्ते मण्डले शत्रुमित्रयोः।

यहाँ चिन्ताभाव रूप धर्म मित्र और शत्रु में एक-सा है। आचार्य विश्वनाथ ने इसका (तुल्ययोगिता) लक्षण इस तरह लिखा है-

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्
एक धर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।

एक धर्माभिसम्बन्ध की व्याख्या करते हुए शालिग्राम शास्त्री जी ने भी केवल गुण रूप और क्रिया रूप का ही उल्लेख किया है।

अब यहाँ तुल्ययोगिता के दूसरे रूप का निरूपण किया जाता है-

हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।
प्रदीयते पराभूतिर्मित्रशात्रवयोस्त्वया॥ 45॥

अत्र हिताहितयोर्मित्रवयोरुत्कृष्ट भूतिदानस्य पराभवदानस्य च श्लेषेणाध्यवसायाद् वृत्तितौल्यम्। यथा वा-

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा
यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः॥

अत्र वृश्चति- सिञ्चति अर्चति इत्याध्याहारेण वाक्यानि पूरणीयानि। पूर्वोदाहरणं स्तुतिपर्यवसायि, इदं तु निन्दापयवसायीति भेदः। इयं सरस्वतीकण्ठाभरणोक्ता तुल्ययोगिता॥

जहाँ हित और अहित में वृत्ति तुल्यता होती है, वहाँ तुल्ययोगिता का दूसरा भेद होता है। जैसे (राजन्!) आपके द्वारा मित्र और शत्रु के लिए पराभूति (अत्यधिक धन और पराजय) दी जाती है।

यहाँ हित और अहित मित्र और शत्रु के लिए उत्कृष्ट भूतिदान और पराभव दान का श्लेष से अध्यवसाय पूर्वक वृत्ति तुलना है। जैसे दूसरा उदाहरण-

जो नीम को फरसे से (काटता है) जो मधु और घी से (सींचता है।) और जो गन्ध-मल्यादि से (पूजन करता है।) सबके लिए यह नीम कड़वा ही होता है।

यहाँ वृश्चति (काटता है), सिञ्चति (सींचता है), अर्चति (पूजता है), इस

अध्याहार से वाक्य पूर्ति अपेक्षित है। पहला उदाहरण स्तुतिपरक है और दूसरा उदाहरण निन्दापरक है। यही दोनों का भेद है। यह भेद सरस्वतीकण्ठाभरण (भोज देव विरचित) में उक्त तुल्ययोगिता है।

यहाँ स्तुतिपरक उदाहरण में 'पराभूति' श्लिष्ट है। जो उत्कृष्ट विभूति और पराजय का बोधक है। यहाँ हित में और अहित में राजा की वृत्ति तुल्य है। पं. राज जगन्नाथ इस भेद को अलग भेद नहीं मानते हैं। वो लक्षण में आदि पढ़ जो जोड़कर इसका भी अन्तर्भाव वहीं कर देते हैं। यद्यपि यह भेद दीक्षित जी का अपना मत नहीं है। इन्होंने स्वयं कहा है कि यह भेद भोजदेव विरचित सरस्वतीकण्ठाभरण का है। चन्द्रालोक की टीका (पौर्णमासी) में भी एकधर्माभिसम्बन्ध में क्रिया और गुण का ही उल्लेख है। तथा च हिताहितविषयक भेद सरस्वतीकण्ठाभरण का है यह स्पष्ट उल्लिखित है "सरस्वती कण्ठाभरते तु हिताहितविषयकसमानवृत्तिकत्वं तुल्ययोगितात्वमुक्तम्"।

अब तुल्ययोगिता के तीसरे भेद का विवेचन करते हैं-

गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता।
लोकपालो यमः पाशी श्रीदः शक्रो भवानपि॥ 46॥

अत्र वर्णनीयो राजा शक्रादिभिलोकपालत्वेन समीकृतः।

यथा वा-

संगतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितान्यपि।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम्॥

पूर्वत्र स्तुतिः इह तु निन्दा। इयं काव्यदर्शे दर्शिता। इमां तुल्ययोगितां सिद्धिरिति केचिद्व्यवजह्रुः। यदाह जयदेवः-

सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः॥ इति॥

मतान्तरेष्वत्र वक्ष्यमाणं दीपकमेव॥ 47॥

जब उत्कृष्ट गुणों वाले पदार्थों से साम्यता दिखाकर वचन प्रतिपादन किया जाता है, तब एक अन्य (तीसरी) तुल्ययोगिता होती है। जैसे आप लोकपाल, यम, तरुण श्रीद

(कुवेर) और इन्द्र भी हैं।

यहाँ वर्णनीय राजा शक्रादियों के साथ एकीभूत कर दिया गया है। जैसे दूसरा उदाहरण–

मृगनयनियों की प्रारंभिक संगति और मेघ की बिजली क्षण भर टिकने वाली होती है। (दो क्षण भी नही ठहरती)

पहले उदाहरण में राजा की स्तुति है और दूसरे उदाहरण में मृगनयनियों की निन्दा है। यह भेद काव्यादर्श में दिखाया गया है। इस भेद को कोई सिद्धि भी कहते हैं। जैसे जयदेव ने (चन्द्रालोक में) कहा है–

ख्यात पदार्थों में तुल्यता दिखाने के लिए यदि वर्णन होता है तो सिद्धि होती है। जैसे–आप दोनों ही यहाँ विख्यात हैं आप अपने बल से और जलधि और अपने जल से। अन्य आलंकारिकों के मत से यहाँ दीपक अलंकार होता है।

पहले उदाहरण में राजा की प्रशंसा में यम, कुबेर, वरुण आदि की साम्यता दिखाई गयी है। राजा में तत्तत् गुण वैशिष्ट्य बोधन अपेक्षित है। दूसरे उदाहरण में मृगनयनी की निन्दा है। यहाँ मृगनयनी के प्रेम और बिजली की क्षणभंगुरता दिखाकर प्रेम के स्थायित्व का अभाव रूप निन्दा अभिव्यक्त है। यह भेद आचार्य दण्डी (काव्यादर्श में) द्वारा प्रतिपादित है। इससे स्पष्ट है कि यह मत दीक्षित जी का नहीं है। जयदेव ने चन्द्रालोक के तृतीय मयूख में इसे सिद्धि कहा है। कुछ इसे दीपक के अन्तर्गत मानते हैं, क्योंकि यहाँ राजा प्रस्तुत यमादि अप्रस्तुत, मृगनयनी प्रस्तुत बिजली अप्रस्तुत है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत की तुल्यधर्मता होने पर दीपक अलंकार होता है। तुल्ययोगिता में या तो दोनों प्रस्तुत होते हैं या दोनों अप्रस्तुत। यही दोनों अलंकारों में पार्थक्य है। यहाँ तुल्ययोगिता के तीन रूप दिखाए गए हैं। पहला दीक्षित जी का मत है। जिसका दोनों प्रस्तुत या दोनों अप्रस्तुत होने से दो भेद हैं। दूसरा भेद– भोजदेव का है। जो स्तुतिपरक और निन्दापरक होने से दो प्रकार का है। यह भेद जयदेव के मत में सिद्धि और अन्य आलङ्कारिकों के मत में दीपक के अन्तर्गत आता है।

15- दीपकालङ्कारः

वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः॥ 47॥

प्रस्तुताप्रस्तुतानामेकधर्मान्वयो दीपकम्। यथा कलभमहीपालयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्भान क्रियान्वयः। यथा वा-

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः॥

अत्र प्रस्तुतानां नृपाणामप्रस्तुतानां मण्यादीनां च शोभैकधर्मान्वयः। प्रस्तुतैकनिष्ठः समानो धर्मः प्रसङ्गादन्यत्रोपकरोति प्रसादार्थमारोपित्तो दीप इव रथ्यामिति दीपसाम्याद्दीपकम्। 'संज्ञायां च' (वा०) इति इवार्थे कन् प्रत्ययः। यद्यपि-

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

इत्यत्र प्रस्तुतानामप्रस्तुतानाम युगपत् धर्मान्वयः प्रतिभाति। मदेन भाति कलभ इत्यत्राप्रस्तुतस्यैव प्रथमं धर्मान्वयः तथापि प्रासङ्गिकत्वं न हीयते, वस्तुगत्या प्रस्तुतोद्देशेन प्रवृत्तस्यैव वर्णनस्याप्रस्तुतेऽन्वयात्। नहि दीपकस्य रथ्याप्रासादयोर्युगपदुपकारित्वेन जामात्रर्थं प्रस्तुतम्, अन्यदप्रस्तुतमिति विशेषाग्रहणात् सर्वोद्देशेनैव धर्मान्वय इति विशेषः। अयं चानयोपरो विशेषः- उभरोरनयोरुपमालङ्कारस्य गम्यत्वाविशेषेऽप्यत्राप्रस्तुतमुपमानं प्रस्तुतमुपमेयमिति व्यवस्थित उपमानोपमेयभावः, तत्र तु विशेषाग्रहणादैच्छिकः स इति॥ 48॥

वर्ण्य (प्रस्तुत) और अवर्ण्य (अप्रस्तुत) का एक धर्म सम्बन्ध वर्णित होने पर विद्वान् दीपक अलंकार कहते हैं। जैसे मद से कलभ (हाथी) और प्रताप से महीपति (राजा) शोभा पाते हैं।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म सम्बन्ध दीपक कहलाता है। जैसे कलभ और राजा रूप प्रस्तुत अप्रस्तुत का 'भ्रान्ति' (भान) क्रिया से अन्वय हुआ है। जैसे दूसरा उदाहरण-

शाण पर उल्लिखित मणि, समर में आयुधाघात से क्षतिविक्षत योद्धा, मदजल से क्षीण हाथी, शरद ऋतु में नवयौवना और याचकों को दान देने से नष्ट धन राजा कृशता से ही शोभा पाते हैं।

यहाँ प्रस्तुत राजा और अप्रस्तुत मणि योद्धा, हाथी आदि का शोभा रूप एक धर्म से अन्वय हुआ है। प्रस्तुत में निष्ठित् समय धर्म प्रसंगवश अन्यत्र भी उपकारक होता है। जैसे प्रासाद पर रखा दीपक गलियों में भी प्रकाश करता है। इस तरह दीपक की समता होने से यह दीपक अलंकार कहलाता है। यहाँ 'संज्ञायां च' इस वार्तिक से इव अर्थ में (दीप इव दीपक) कन् प्रत्यय हुआ है।

यद्यपि- सुवर्णपुष्पा पृथ्वी का चयन तीन लोग करते हैं। शूर, कृतविद्य और सेवा भाव जो जानता है।

यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साथ-साथ ही धर्म से सम्बन्ध है। मद से कलभ (हाथी) शोभता है 'यहाँ शोभा रूप धर्म पहले अप्रस्तुत' से ही अन्वित होता है। लेकिन इसकी प्रासंङ्गिकता खत्म नहीं होती। धर्म चाहे प्रस्तुत में पहले अन्वित हो या अप्रस्तुत में, उसकी प्रासङ्गिकता समाप्त नहीं होती। वस्तुतः प्रस्तुत उद्देश्य के लिए प्रयुक्त वर्णन का ही अप्रस्तुत में अन्वय हो जाता है। दीप प्रासाद के साथ-साथ ही गली को प्रकाशित करती है, तो उसकी प्रासंगिकता खत्म नहीं हो जाती। जैसे जामाता के लिए बनायी गयी दाल यदि आए अतिथि को पहले परोस दिया जाये तो उसकी प्रासङ्गिकता समाप्त नहीं होती। तुल्ययोगिता में एक प्रस्तुत होता है, दूसरा अप्रस्तुत, ऐसी बात नहीं है। दीपक में यही विशेषता है। यह दोनों अलंकारों की अपनी विशेषता है कि दोनों में उपमा व्यंग्य होता है पर दीपक में अप्रस्तुत उपमान होता है, प्रस्तुत उपमेय होता है। तुल्ययोगिता में तो ऐसा कोई भेदक तत्त्व नहीं होता। वहाँ कवि की इच्छा है कि जिसे चाहे उपमान बना दे जिसे चाहे उपमेय बना दे।

इस अलंकार की इतनी व्याख्या करने का कारण है, एक छोटी सी शंका। जो इसके नाम के साथ ही उत्पन्न होता है। जैसे दीपक प्रासाद पर जलता है तो गली में भी प्रकाश करता है, उसी तरह प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त धर्म अप्रस्तुत में भी अन्वित होता है। इसलिए इनका नाम दीपक है। यहीं यह शंका उत्पन्न होती है कि दीपक जलता है प्रासाद में प्रकाश के लिए न कि गली में प्रकाश के लिए। यह उसकी विशेषता है कि गली में भी प्रकाश करता है। उसी तरह जो धर्म प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त है वह यदि पहले प्रस्तुत में अन्वित होता है, बाद में प्रसंगवश अप्रस्तुत में भी अन्वित होता है तब तो दीपक नाम ठीक है। परञ्च जहाँ धर्म पहले अप्रस्तुत में ही अन्वित होता है तब प्रस्तुत में होता है या साथ-साथ ही दोनों में होता है, वहाँ दीपक कैसे होगा ? इसका समाधान करने के लिए इतनी व्याख्या की गयी है।

वास्तव में वह धर्म भले ही पहले अप्रस्तुत से अन्वित हो जाता हो परञ्च उसका प्रयोग प्रस्तुत के लिए ही होता है। अन्यत्र पहले अन्वित हो जाने से या साथ-साथ ही प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों में अन्वित होने से धर्म की प्रासंङ्गिकता खत्म नहीं होती। इसके स्पष्टीकरण में बहुत अच्छा तर्क दिया गया है कि जामाता के लिए बनायी गई दाल यदि तत्क्षण उपस्थित अतिथि को पहले परोस दिया जाता है तो क्या दाल की प्रासंङ्गिकता खत्म हो जाती ? नहीं, उस दाल की प्रासंङ्गिकता जामाता से ही रहती है। कभी बनाने वाले के मन में यह नहीं आएगा कि अतिथि के लिए बनी दाल जामाता को दी जा रही है। अपितु यही तथ्य है कि भले अतिथि पहले खा ले लेकिन जामाता के लिए ही बनी दाल अतिथि को दी गयी है। प्रासङ्गिकता उसी के साथ होती है, जिसको लक्ष्य कर प्रयोग किया जाता है। उसी तरह दीपक अलंकार में धर्म का प्रयोग तो प्रस्तुत के लिए ही होता है, भले वह पहले अन्वित अप्रस्तुत में हो जाये या साथ साथ ही दोनों जगह अन्वित हो।

तुल्ययोगिता और दीपक में तो यह अन्तर है ही कि दीपक में एक अप्रस्तुत और एक प्रस्तुत का सम्बन्ध होता है। परञ्च तुल्ययोगिता में या तो दोनों प्रस्तुत होता है या दोनों अप्रस्तुत। साथ-साथ एक और विशेषता है कि दीपक में प्रस्तुत उपमेय होता है। उपमान अप्रस्तुत होता है। परञ्च तुल्ययोगिता में ऐसी बात नहीं है। वहाँ कवि की इच्छा पर निर्भर है कि वह प्रस्तुत उपमेय बनाए या उपमान।

आचार्य विश्वनाथ ने इसके (दीपक के) लक्षण को बढ़ा कर लिखा है कि जहाँ अनेक क्रियाओं का कर्ता एक होता है, वहाँ भी दीपक होता है।

अप्रस्तुत प्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥

इसका उदाहरण उन्होंने दिया है-

दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन॥

16- आवृत्तिदीपकालङ्कार

त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम्
वर्षत्यम्बुदमालेयं वर्षत्येषा च शर्वरी॥ 48॥
उन्मीलन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः।
माद्यन्ति चातकास्तृप्ताः माद्यन्ति च शिखावलाः॥ 49॥

दीपकस्यानेकोपकारार्थतया दीपस्थानीयस्य पदस्यार्थस्योभयोर्वाऽऽवृत्तौ त्रिविधमावृत्ति दीपकम्। क्रमेणार्धत्रयेणोदाहरणानि दर्शितानि। यथा वा-

उत्कण्ठयति मेघानां माला वर्गं कलापिनाम्
यूनां चोत्कण्ठयत्यद्य मानसं मकरध्वजः॥
शमयति जलधरधारा चातकयूनां तृषं चिरोपनताम्।
क्षपयति च वधू लोचनजलधारा कामिनां प्रवासरुचिम्॥
वदनेन निर्जितं तव निलीयते चन्द्रबिम्बमम्बुधरे।
अरविन्दमपि च सुन्दरि! निलीयते पाथसां पूरे॥

एवं चावृत्तीनां प्रस्तुताप्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेऽपि दीपकच्छायापत्तिमात्रेण दीपक व्यपदेशः॥ 49-50॥

जहाँ दीपक (अलंकार) ही आवृत्ति होती है, उसे आवृत्तिदीपक कहते हैं। यह (आवृत्ति दीपक) तीन तरह का होता है। (1) पदावृत्ति (2) अर्थावृत्ति और उभयावृत्ति दीपक। जैसे अम्बुद माला (जलधरमाला) बरस रही है और यह शर्वरी (रात) वर्ष के समान लग रही है। (वर्षति) (यह पदावृत्ति है। यहाँ वर्षति पद की आवृत्ति है पर अर्थ पृथक्-पृथक् है।)

कदम्ब का उन्मीलन हो रहा है और कुटज की कलियाँ फूल रही हैं। यहाँ अर्थावृत्ति है। उन्मीलन और स्फुटन दो शब्द हैं, पर दोनों का अर्थ विकास एक ही है।

तृप्त चातक खुश हो रहे हैं और मयूर भी खुशी हो रहे हैं। यहाँ मयूर और चातक दोनों खुशी में एक जैसे ही हैं। अत: कवि ने माद्यन्ति दोनों के लिए पृथक्-पृथक् किया है। यह उभयावृत्ति दीपक है।

दीपक (अलंकार) अनेक पदार्थों का एक साथ (एक धर्माभिसम्बन्ध) उपकार करता है। दीपक के समान एक धर्मबोधक पद, अर्थ, उभय की आवृत्ति होने से यह आवृत्ति दीपक तीन प्रकार का है। क्रमशः ऊपर में तीन अर्धकारिताएँ इन तीनों का उदाहरण हैं। अब दूसरा उदाहरण। जैसे-

मेघों की माला मयूरों के समूह को उत्कण्ठित करती है। (उत्कण्ठयति) युवकों के मानव को मकरध्वज (कामदेव) उत्कण्ठित करता है। मेघ की धारा चिरकाल से उत्पन्न चातक युवा के प्यास को शान्त करती है और बन्धुओं की आँखों की धारा (आँसू) प्रियतम की प्रवास रुचि को शान्त करती है।

अयि सुन्दरि! तुम्हारे मुख की शोभा से पराजित चन्द्रमा मेघ में छिप जाता है और कमल जल में छिपता है।

यहाँ आवृत्तियों का एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत रूप विषय के अभाव में भी दीपक की छाया मात्र होने से इनका नाम भी दीपक (दीपकावृत्ति) कहा गया है।

प्रथम उदाहरण में 'उत्कण्ठयति' पद की आवृत्ति होने से पदावृत्ति दूसरे में 'क्षपयति' और 'शमयति' का समान अर्थ होने से अर्थावृत्ति और तीसरे में 'निलीयते' का दोनों (कमल तथा चाँद) के लिए प्रयोग होने से उभयावृत्ति दीपक है।

जैसे दीपकालंकार में एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत होता है और दोनों का एक धर्म सम्बन्ध होता है, उसी तरह दीपकावृत्ति में एक का प्रस्तुत और एक का अप्रस्तुत होना अनिवार्य नहीं है। जैसे 'वर्षति' वाले कारिकागत उदाहरण में रात का बड़ा होना साथ-साथ बारिश होना दोनों प्रस्तुत हैं। अन्तिम वाले उदाहरण में चंद्र और कमल का मेघ में तथा जल में छिपना, दोनों अप्रस्तुत हैं। अतः यहां दीपक नहीं है। परञ्च दीपकालंकार का एक अंश एकधर्माभिसम्बन्ध से इसे भी दीपक कहा गया है।

चन्द्रालोककार ने और दण्डी ने इस आवृत्ति दीपक को स्वीकार किया है।

आवृते दीपकपदे भवेदावृत्ति दीपकम्।
दीप्त्याग्निर्भाति भातीन्दुः कान्त्या भाति रविस्त्विषा॥

(चन्द्रालोक)

अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरित्यपि।
दीपकस्थानमेवेष्टमलङ्कारत्रयं यथा॥

(काव्यादर्श)

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

17. प्रतिवस्तूपमालङ्कारः

वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।
तापेन भ्राजते सूरः शूरश्चापेन राजते॥ 50॥

यत्रोपमानोपमेयपरवाक्ययोरेकः समानोधर्मः पृथङ्निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा। प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति व्युत्पत्तेः। यथाऽत्रैव भ्राजते राजत इत्येक एव धर्मः उपमानोपमेयवाक्ययोः पृथग्भिन्न पदाभ्यां निर्दिष्टः। यथा वा-

स्थिरा शैली गुणवत्तां खलबुद्ध्यसा न बाध्यते।
रत्नदीपस्य हि शिखा वात्ययापि न नाश्यते॥

यथा वा-

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्ष्यते॥

अत्र यद्यपि उपमेय वाक्ये अनिच्छा उपमान वाक्ये अवीक्षेति धर्मभेदः प्रतिभाति, तथापि वीक्षणमात्रस्यावजनीयस्य प्रतिषेधानर्हत्सादिच्छापूर्वक वीक्षा प्रतिषेधोऽयमनिच्छा पर्यवसित एवेति धर्मैक्यमनुसंधेयम्। अर्थावृत्ति दीपकं प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा, प्रतिवस्तूपमा तु प्रस्तुताप्रस्तुतानामिति विशेषः। अयञ्चापरो विशेषः- आवृत्ति दीपकं वैधर्म्येण न संभवति, प्रतिवस्तूपमा तु वैधर्म्येणापि दृश्यते। यथा वा-

विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जन परिश्रमम्।
न हि वन्ध्याविजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्॥
यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम्
न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते॥ 51॥

जहाँ दो वाक्यों (उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य) में एक ही सामान्य अर्थ पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट होता है, वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है। जैसे ताप से सूर्य प्रकाशित होता है और चाप से वीर शोभित होता है।

जहाँ उपमानपरक और उपमेयपरक वाक्य में एक समान धर्भ पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट होता है, वह प्रतिवस्तूपमा है। प्रतिवाक्यार्थ में उपमा (सामान्य धर्म) जिसमें होता है, वह प्रतिवस्तूपमा है। यह प्रतिवस्तूपमा की व्युत्पत्ति है। जैसे इस (कारिकागत) उदाहरण में भ्राजते और राजते यह एक ही धर्म है, जो उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य में भिन्न-भिन्न में निर्दिष्ट है।

(यहाँ तापेन भ्राजते उपमान वाक्य है और चापेन राजते यह उपमेय वाक्य है।)

जैसे दूसरा उदाहरण-

गुणवानों की स्थिर शैली दुष्ट बुद्धि से बाधित नहीं होती। रत्नदीप की शिखा तूफान से नहीं बुझती है। (यहाँ पूर्व वाक्य उपमेय वाक्य है और उत्तर वाक्य उपमान वाक्य है। जैसे तूफान से रत्नदीप की शिखा नहीं बुझती उसी तरह दुष्टों की बुद्धि से गुणवानों की शैली बाधित नहीं होती, यह वाक्यार्थ है।)

जैसे- तीसरा उदाहरण-

अमृत वृष्टि करने वाले तुम्हारे चरण कमल में जिसकी आत्मा निवेशित है, वह अन्य की इच्छा कैसे कर सकता है ? मकरन्द से परिपूर्ण कमल पर बैठा भ्रमर इक्षुरस को नहीं देखता।

यहाँ यद्यपि वाक्य में अनिच्छा और उपमान वाक्य में अवीक्षा होने से धर्मभेद प्रतीत होता है। तथापि अनिष्ट की वीक्षण मात्र प्रतिषेध योग्य नहीं होता अपितु इच्छापूर्वक प्रतिषेध होता है। यह प्रतिषेध अनिच्छा में ही पर्यवसित होता है इसलिए दोनों (उपमान और उपमेय) वाक्य का धर्म एक है, ऐसा कहा जा सकता है। अर्थावृत्ति दीपक और प्रतिवस्तूपमा में यह भेद है कि अर्थावृत्ति में यह निश्चित नहीं होता कि एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत हो या नहीं पर प्रतिवस्तूपमा में यह निश्चित है कि एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत होता है। यह दूसरी विशेषता है कि आवृत्ति दीपक वैधर्म्य से नहीं होता जबकि प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य से भी होता है। जैसे-

विद्वान् लोगों के परिश्रम को विद्वान् ही जानते हैं। वन्ध्या गुरुतर प्रसन्नवेदना को नहीं जानती है।

यदि पुरुषों में गुण है, तो गुण स्वयं विकास में आते ही है। कस्तूरी का सुगन्ध शपथ से प्रभावित नहीं होता॥

इस प्रतिवस्तूपमा में वस्तु प्रतिवस्तुभाव होता है। चन्द्रालोक की पौर्णमासी टीका में लिखा है- 'एकस्यार्थस्य शब्दद्वयेनाभिधानं वस्तुप्रतिवस्तुभाव:' वाक्यद्वयनिष्ट साधारण धर्मार्थत्वं प्रतिवस्तूपमात्वम्। तात्पर्य है कि उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य में एक ही सामान्य अर्थ पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट होता है। इसके तीसरे उदाहरण- ''त्वामृतस्यन्दिनि ---'' इस श्लोक पर विवाद है। पं. राज ने आपत्ति उठायी है। रसिकरञ्जिनीकार ने तीसरे चरण को थोड़ा बदलकर इसका समाधान किया है। इस विवाद और समाधान को सरल भाषा में, मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह श्लोक आलवन्दार स्तोत्रम् का है। यहाँ उपमेय वाक्य पहला है और उपमान वाक्य दूसरा। पहले वाक्य में 'पादपंकजे निवेशितात्मा' भक्त

है और दूसरे वाक्य में स्थितेऽरविन्दे यह पद मधुव्रत का विशेषण नहीं बन पाता है। इससे सप्तमी आधारित वस्तु प्रतिवस्तुभाव नहीं बनता। अतः चन्द्रिकाकार ने इसे 'स्थितोऽरविन्दे' यह पाठ बनाकर मधुव्रत और ऊपर वाले निवेशितात्मा को एक समान बनाया है। यही बात रसंगगाधर में भी कही गयी है, लेकिन यदि यहाँ 'स्थितेऽविन्दे मकरन्दनिर्भरे' इस वाक्य में तत्र निवेशितात्मा (मधुव्रत) का आक्षेप कर लिया जाये, तो भी काम चल जाएगा। पर यह आक्षेप अपेक्षित होगा। दूसरी बात है कि उपमेय वाक्य में अनिच्छा और उपमान वाक्य में अवीक्षा यह सामान्य धर्म नहीं बनता है। पर दीक्षित जी ने स्वयं समाधान करते हुए कहा कि अनिष्ट के वीक्षण मात्र में प्रतिषेध नहीं होता है। अर्थात अनिष्ट को हम स्वभावतः देखते नहीं, ऐसी बात नहीं है अपितु देखने की इच्छा को अनिष्टाशंका से बलात् रोक लेते हैं। इस प्रकार देखने की इच्छा को रोकना भी अनिच्छा में ही शान्त होता है। इस तरह दोनों का धर्म एक हो जाता है। इसकी विशद व्याख्या भोलाशंकर व्यास जी ने अपनी हिन्दी टीका में उपस्थापित की है। विशेषार्थ यह टीका या रसंगगाधर और रसिकरञ्जनी टीका द्रष्टव्य है।

आगे वैधर्म्य से होने वाले प्रतिवस्तूपमा पर भी पं. राज ने शंका उठायी है। चन्द्रिका कार ने इसका समाधान प्रस्तूत कर दिया है। पं. राज का कहना है कि यदि सन्ति गुणाः - इत्यादि में उपमान वाक्य कस्तूरि गन्ध शपथ से प्रभावित नहीं होता। इस वाक्य में यही अर्थ (अर्थापति से) लक्ष्य होता है कि कस्तूरी का गन्ध स्वयमेव प्रकाशित होता है। यही बात उपमेय वाक्य में भी है कि गुण स्वयं विकसित होते हैं, तब फिर वह वैधर्म्य कैसे हुआ; यह तो साधर्म्य ही हो गया। परञ्च सामान्यतया वाक्य में वैधर्म्य को देखकर ही वैधर्म्य से कहा गया है, क्योंकि वैधर्म्य का भी पर्यवसान तो साधर्म्य में ही होगा। जैसे वन्ध्या गुरुतर प्रसव वेदना को नहीं जानती। इससे यही अर्थ होता है कि जो सप्रसवा है, वही प्रसववेदना समझ सकती है। यह पूर्वार्ध यानी विद्वान् ही विद्वान् का परिश्रम जानते हैं, का साधर्म्य ही हो जाएगा। अतः मूल वाक्य में वैधर्म्य के आधार पर ही वैधर्म्य भेद कहा गया है। आचार्य विश्वनाथ ने वैधर्म्य का उदाहरण लिखा है-

चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिका पानकर्मणि।
विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि।

यहाँ निपुणत्व का निषेध है। इसका चतुरत्व के साथ साम्य संभव नहीं है। परञ्च व्यतिरेकाक्षिप्त वैपरीत्व के साथ साम्य फलित होता है। फिर यदि साम्य नहीं होगा तो प्रतिवस्तूपमा नहीं होगी। अतः सामान्य वाक्य में वैधर्म्य जो आक्षिप्त वैपरीत्य में साधर्म्य बनकर प्रतिवस्तूपमा बनती है वही उचित है। यही अर्थावृत्ति दीपक से भेद कारक भी है, क्योंकि अर्थावृत्ति दीपक वैधर्म्य से नहीं होता है।

18 – दृष्टान्तालङ्कारः

चेद्बिम्बप्रतिबिम्त्वं दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः।
त्वमेव कीर्तिमान् राजन्! विधुरेव हि कान्तिमान्॥ 51॥

यत्रोपमानोपमेयवाक्ययोर्भिन्नावेव धर्मो बिम्ब प्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टौ तत्र दृष्टान्तः। त्वमेव कीर्तिमान इत्यत्र कीर्ति कान्त्योबिम्ब प्रतिबिम्बभावः।

यथा वा – (रघुवंशे –6/22/)

कामं नृपा सन्ति सहस्त्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

यथा वा–

देवीं वाचमुपासते हि बहबः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुल क्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता
मापाताल निमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

नन्वत्रोपमानोपमेयवाक्ययोर्ज्ञानमेक एव धर्म इति प्रतिवस्तूपमा युक्ता। मैवम् अचेतने मन्थाचले ज्ञानस्य बाधितत्वेन तत्र जानातीत्यनेन सागराधस्तलावधिसंस्पर्शमात्रस्य विवक्षितत्वात्। अत्रोदाहरणे पदावृत्ति दीपकाद्विशेषः पूर्ववत् प्रस्तुताप्रस्तुतविषयत्व कृतो द्रष्टव्यः। वैधर्म्येणाप्ययं दृश्यते–

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्नयावदायात्युदयाद्रिमौलिताम्॥

जहाँ उपमान और उपमेय वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है जैसे- हे राजन्! तुम्हीं कीर्तिमान हो और चाँद ही कान्तिमान है॥

जहाँ उपमान तथा उपमेय वाक्य में भिन्न धर्म बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से निर्दिष्ट होता है, वहाँ दृष्टान्त होता है। तुम ही कीर्तिमान हो, यहाँ कीर्ति और कान्ति में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। (यहाँ प्रथम वाक्य में कीर्तिमत्व और दूसरे वाक्य में कान्तिमत्व धर्म है।)

जैसे दूसरा उदाहरण - यद्यपि हजारों राज इस पृथ्वी पर हैं, पर धरती राजन्वती इसी राजा के कारण कही जाती है। नक्षत्र तारों और ग्रहों से युक्त भी रात्रि चन्द्रमा से ही ज्योतिष्मती कहलाती है।

जैसे तीसरा उदाहरण- देवी (वाणी) की आराधना तो बहुत लोग करते हैं, पर सरस्वती के सार तत्त्व को गुरुकुल में रहकर क्लेशपूर्वक पढ़ने वाला यह मुरारी कवि ही जानता है। वानर सैनिकों के द्वारा समुद्र लाङ्घा गया पर सागर की गहराई को पाताल तक निमग्र पुष्ट शरीर वाला मन्दराचल ही जानता है।

यहाँ उपमान और उपमेय वाक्य में ज्ञान रूप धर्म के एक होने से प्रतिवस्तूपमा होना चाहिए, परञ्च ऐसा नहीं है, क्योंकि अचेतन मन्दराचल में चेतन लभ्य ज्ञान के बाधित होने से ''जानाति'' पद से सागर के अन्तस्तल तक का स्पर्श ही विवक्षित है। यहाँ उदाहरण में पदावृत्ति दीपक से यह विशेष है कि वहाँ (पदावृत्ति दीपक) दोनों प्रस्तुत होता है या दोनों अप्रस्तुत। पर यहाँ मुरारी वृत्त प्रस्तुत है और मन्दराचल वृत्त अप्रस्तुत। यह (दृष्टान्त) वैधर्म्य से भी होता है- जैसे -

आपने अपने मन को गर्वाभिमुख किया, मेरे शत्रु मारे गए अब और क्या ? अंधकार तब तक रहता है, जब तक सूर्य उदयाचल के शिर पर नहीं आता है।

दृष्टान्त अलंङ्कार में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव की महत्ता है। इसके अभाव में दृष्टान्त नहीं हो सकता। सामान्यतया पूर्व वाक्य को दृढ़ करने के लिए लोक तत्सदृश दूसरा वाक्य देते हैं। यह दूसरा वाक्य ऐसा होता है, जो पूर्व वाक्य से इतना मिलता-जुलता है कि वह प्रतिबिम्बित बिम्ब सा दीख पड़ता है। दोनों वाक्यों के तात्पर्य में इतनी समता होती है कि एक में दूसरे की परछाई दीखती है। दोनों वाक्यों का धर्म अलग-अलग होता है। अलग-अलग प्रतिपादन भी होता है तथापि साम्य दीखता है। इस साम्य का ढंग बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होता है। बिम्ब प्रतिबिम्बभाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है- **'द्वयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्वभावः।'**

इसके उपमान वाक्यगत सारे तत्त्वों का प्रतिबिम्ब उपमेयगत वाक्यों में दिखता है। तथा उपमेय वाक्यों का प्रतिबिम्ब उपमान वाक्य में दिखता है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षण किया है- **'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्'** आचार्य विश्वनाथ ने लिखा- **'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।'**

अब यहाँ प्रयुक्त उदाहरणों पर नजर डालें। कारिकागत उदाहरण में- कीर्तिमत्व और कान्तिमत्व दो धर्म हैं। एक का कर्ता राजा दूसरे का चाँद है। यहाँ स्पष्ट है कि राजा का प्रतिबिम्ब चाँद में और कीर्तिमत्व का प्रतिबिम्ब कान्तिमत्व में है। भाव यह आता है कि जैसे चाँद अकेला कान्तिमान है उसी तरह यह राजा अकेला कीर्तिमान है। दोनों में अद्वितीयता बोधन लक्ष्य है। दूसरे उदाहरण में मगधराज का वर्णन है, जो इन्दुमति के स्वयम्वर में सुनन्दा के मुख से महाकवि कालीदास ने किया है। यहाँ इसी राजा से धरती राजन्वती है और चन्द्रमा से ही रात्रि ज्योतिष्मती है। यह दो वाक्य हैं। इससे राजा का प्रतिबिम्ब चाँद में राजवन्ती का प्रतिबिम्ब ज्योतिष्मती में धरती का प्रतिबिम्ब रात्रि में और राजाओं का प्रतिबिम्ब सितारों में हैं। भाव यह है कि लाख सितारे रहें पर चन्द्र के बिना रात्रि शोभायमाना नहीं होती, उसी तरह लाखों राजा रहे पर मगधाधिप के बिना धरती राजा से युक्त नहीं कहलाती है। यहाँ चन्द्रमा और राजा का अपने गुणों में सर्वश्रेष्ठत्व सूचित करना लक्ष्य है। तीसरे उदाहरण में गुरुकुलक्लिष्ट मुरारि कवि सारस्वत सार को जानता है

और मन्दराचल ही सागर की गहराई को जानता है, यह दो वाक्य हैं। यहाँ मुरारि कवि का प्रतिबिम्ब मन्दराचल में विद्या की गहराई का प्रतिबिम्ब सागर की गहराई में अन्य छात्रों द्वारा कृत आयास का प्रतिबिम्ब बन्दर द्वारा कृत प्रयास में दीख पड़ता है। भाव यह आता है कि जैसे- सागर की गहराई को पार करने वाला बन्दर नहीं अपितु अन्तस्तल तक डूबने वाला मन्दराचल जानता है, उसी तरह विद्या के सारतत्व को साधारण छात्र नहीं अपितु गुरुकुल में दुःख सहकर पढ़ने वाला मुरारि कवि जानता है।

यहाँ एक समस्या आती है कि 'जानाति और जानीते' पद से ज्ञान रूप धर्म एक होने से प्रतिवस्तूपमा अलंकार क्यों नहीं माना जाये ? या 'ज्ञा' धातु के दो बार प्रयुक्त होने से पृथगर्थ में रहने से पदावृत्ति यमक क्यों न माना जाये। इसका समाधान यद्यपि कारिका की व्याख्या में है, तथापि थोड़ा विवेचन यहाँ मैं कर देता हूँ ताकि छात्रों को स्थिति स्पष्ट हो सके।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त- इस दोनों अलंकारों में थोड़ा सा अन्तर है। एक में वस्तु प्रतिवस्तुभाव होता है और दूसरे में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव **''एकस्यार्थस्य शब्द द्वयेनाभिधानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः तथा द्वयोर्द्विरूपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः''**। एक ही अर्थ को दो शब्दों से कहना (पुनरुक्ति के भय से) वस्तु प्रतिवस्तुभाव कहलाता है। और दो धर्म का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहलाता है। अब यहाँ जानीते और जानाति एक ही अर्थ 'ज्ञान' का बोध कराता है, यह शंका है। परञ्च ऐसा नहीं है। जानीते पद मुरारि कवि के लिए प्रयुक्त है यह ज्ञान अर्थ में सही है परञ्च जानाति पद मन्दराचल के लिए प्रयुक्त है। यह यदि ज्ञान अर्थ में हो, तो मन्दराचल (अचेतन) के लिए यह अर्थ उपयुक्त नहीं होगा। ज्ञान चैतन्य लभ्य धर्म है। तब गहराई जानने के लिए मन्दराचल का सागरतलगामित्व ही पर्याप्त है एतदर्थ यहाँ मन्दराचल पक्ष में जानाति सागर तलस्पर्शित्व का बोध कराता है। अब यहाँ एक ही अर्थ का शब्दद्वय से प्रतिपादन नहीं हुआ। अतः प्रतिवस्तूपमा नहीं है तथा दो भिन्न धर्म का पृथक् प्रयुक्त होने पर जानना और 'सागर तल स्पर्श करना' का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने से यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

'पदावृत्ति दीपक-दृष्टान्त'- यहाँ 'ज्ञा' धातु की आवृत्ति 'जानीते' और 'जानाति'से पदावृत्ति दीपक जान पड़ता है परञ्च है नहीं, क्योंकि पदावृत्ति दीपक में दोनों प्रस्तुत होता है या दोनों अप्रस्तुत। पर यहाँ मुरारिवृत्त प्रस्तुत है और मन्दराचल वृत्त अप्रस्तुत। अत: यहाँ पदावृत्ति दीपक नहीं है।

वैधर्म्य से भी दृष्टान्त होता है, इसका उदाहरण स्पष्ट ही है। इस उदाहरण में राजा का गर्वाभिमुख होना और शत्रु का मरना सूर्य के उदयाचल पर न आना और अन्धकार के टिकने में प्रतिबिम्बित है। तात्पर्य है कि सूर्य जैसे ही उदयाचल पर आता है वैसे ही अन्धकार का नाश हो जाता है वैसे ही शत्रु तभी तक ठहरता है जब तक राजा ने गर्वाभि मुख मन न किया है। गर्वाभिमुख होने पर शत्रु और उदयाचल पर (सूर्य) आने पर अन्धकार का नाश निश्चित है। मूल में राजा का साधर्म्य उपमान के वैधर्म्य में दीखता है। अत: यह वैधर्म्य का उदाहरण है।

इस अलंकार के विषय में रसिकरञ्जिनीकार ने कहा है कि दृष्टान्त सतत काव्यलिंग से संकीर्ण होता है। – ''सर्वत्र दृष्टान्तस्य काव्यलिंग संकीर्णतैव।'' यह उपयुक्त नहीं है। यदि ऐसा हो तो 'देवी वाचमुपासते' --- में काव्यलिंग नहीं अर्थान्तरन्यास अलंकार है। और यह श्लोक दृष्टान्त के उदाहरण में है। प्रधानतावश दृष्टान्त होता है। दृष्टान्त अपने कथन को दृढ़ करने के लिए दिया जाता है। अत: अर्थान्तरन्यास तो माना जा सकता है। काव्यलिंग नही। संकीर्णत्व में दृष्टान्त नहीं हो पाएगा यह शंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि प्राधान्येन विवक्षा होती है। अतिशयोक्ति के विषय में यह स्पष्ट किया गया है कि अन्य स्थान पर अतिशयोक्ति के रहते हुए भी प्राधान्य विवक्षा से अन्य अलंकार होते हैं। (अतिशयोक्ति व्याख्या द्रष्टव्य)। वाक्य पदार्थ में कारण कार्य भाव होने पर काव्यलिंग अलंकार होता है। सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। पाठक अब स्वयं विचार कर सकते हैं कि 'देवी वाच'...... श्लोक में अर्थान्तरन्यास है या काव्यलिंग।

19. निदर्शनालङ्कारः

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।
यद्दातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलङ्कता॥ 52॥

अत्र दातृ पुरुषसौम्यत्वस्योपमेयवाक्यार्थस्य पूर्णेन्दोरकलङ्कत्वस्योपमान वाक्यार्थस्य यत्तद्भ्यामैक्यारोपः।

यथा वा-

अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्।
श्वपुच्छमवनामितं वधिरकर्णजापः कृतो
धृतोऽन्धमुखदर्पणो यदबुधो जन सेवितः॥

अत्राबुध जनसेवायाः अरण्य रोदनादीनां च यत्तद्भ्योमैक्यारोपः।

जहाँ दो समान वाक्यार्थों में ऐक्य आरोप हो, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। जैसे- जो दाता की सौम्यता है, वह यह पूर्णचन्द्र की निष्कलङ्कता है।

यहाँ दाता पुरुष की सौम्यता रूप उपमेय वाक्यार्थ का पूर्णेन्द्र के अकलङ्क रूप उपमान वाक्यार्थ से यत् तत् पद के द्वारा ऐक्यारोप हुआ है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

अबुध (मूर्ख) लोगों की जो सेवा की, (वह) अरण्यरोदन किया, शव के शरीर पर उबटन लगाया, जमीन पर कमल लगाया (रोपित किया) बञ्जर जमीन पर वर्षा किया, कुत्ते की पूँछ को सीधा किया, बहरे के कान में जप किया, अन्धे के मुख के आगे दर्पण दिया।

यहाँ मूर्खों की सेवा और अरण्यरोदन आदि का यत् तत् शब्द के द्वारा ऐक्यारोप हुआ है।

इस अलंकार में भी उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य की एकता होती है। इस एकता को देखकर विविध शंकाएँ खड़ी हो जाती हैं। जैसे शोभाकार मित्र इसे शाब्द माला

वाक्यार्थ रूपक मानते हैं। दूसरे उदाहरण- अरण्यरुदितं-- में उनके मत से तत् यत् शब्द से विषयी और विषय का समानाधिकरण्य पाया जाता है। यद्यपि यहाँ यत् शब्द तो है, पर तत् शब्द आर्थ ही है शाब्द नहीं। यहाँ तत् पद आक्षिप्त ही है। फिर भी शाब्द कहना उचित नहीं जँचता है।

कारिकागत उदाहरण में दाता की सौम्यता और पूर्णेन्द्र की निष्कलंकता का ऐक्य यत् तत् पद से हुआ है। परञ्च दूसरे उदाहरण में तो तत् नहीं है। तथापि वृत्ति में यत्तद्भ्यां पद को देखते हुए शायद यह शंका आई कि यह शाब्द है। परञ्च तत् पद आक्षिप्त होने पर ही अर्थ की संगति होती है। भाव यह आता है कि मूर्खों की सेवा करना अरण्य रोदन करना, शव पर उबटन लगाना आदि जैसा है। शाब्द यहाँ दोनों की एकता नहीं है। अरण्यरोदन करना और मूर्खों की सेवा करना दोनों पृथक् वस्तु है। जब तत् पद के आक्षेप से दोनों की एकता सिद्ध की जाती है तब यह अर्थ ज्ञात होता है, मूर्खों की सेवा अरण्यरोदन जैसा ही है। अब देखिए कुत्ते की दुम सीधा करना और मूर्खों की सेवा करना में शब्द से क्या ऐक्य है, मुझे तो मालूम नहीं होता। जब अर्थ के बल दोनों में बिम्बानुबिम्बत्व देखें तब अर्थ ठीक जँचता है और एकता होती है। जैसे कुत्ते की दुम सीधी करना व्यर्थ मेहनत है (निष्फल है।) उसी तरह मूर्खों की सेवा भी निष्फल है। निदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्बभाव का भी महत्त्व है। आचार्य विश्वनाथ ने लक्षण इस प्रकार लिखा है-

संभवन् वस्तुसम्बन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना॥

पं. राज जगन्नाथ ने भी कारिकागत उदाहरण का खण्डन किया है। वहाँ यत् तत् पद से वह शाब्द ऐक्य मानते हैं और शाब्दाभेद पर वह रूपक ही मानते हैं। उनके मत में रूपक में भी बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है, आर्थाभेद होना वो निदर्शना में जरूरी मानते हैं। और इसी आर्थाभेद को निदर्शना का जीवन मानते हैं। **''एवंचारोपाध्यवसानवहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शना जीवितम्''** (रसगंगाधर) निदर्शना के लक्षण में लिखते हैं-

'उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना (रसगंगाधर)' दूसरे उदाहरण में आर्थाभेद है ही।

अब निदर्शना के दूसरे भेद का निरूपण करते हैं।

पदार्थवृत्तिमप्येके वदन्त्यन्यां निदर्शनाम्
त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः ॥ 53 ॥

अत्र नेत्र युगले नीलाम्बुजगतलीलापदार्थारोपो निदर्शना।

यथा वा-

वियोगे गौड़नारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा।
अदृश्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुषु ॥

पूर्वस्मिन्नुदाहरणे उपमेये उपमानधर्मारोपः, इह तूपमाने उपमेय धर्मारोप इति भेदः। उभयत्राप्यन्यधर्मस्यान्यत्रासंभवेन तत्सदृशधर्माक्षेपादौपम्ये पर्यवसानं तुल्यम्। इयं पदार्थ वृत्ति निदर्शना ललितोपमेति जयदेवेन व्याहृता। यद्यपि ''वियोगे गौड़नारीणाम्'' इति श्लोकः प्राचीनैर्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनायामुदाहृतः, तथापि विशिष्टयोर्धर्मयोरैक्यारोपो वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना। उपमानोपमेययोरन्यतरस्मिन्नन्यतरधर्मारोपः पदार्थ वृत्ति निदर्शनेति व्यवस्थामाश्रित्यास्माभिरिहोदाहृतः।

पदार्थवृत्ति निदर्शना को भी कुछ आलंकारिक मानते हैं।

जैसे- तुम्हारे नेत्रयुगल नीलाम्बुज युगल की शोभा को धारण करते हैं। यहाँ नेत्र युगल में नीलाम्बुजगतलीला रूप पदार्थ का आरोप है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

गौर नारियों की वियोगावस्था में जो गण्डस्थल की पाण्डुता है, वह खर्जूरी की मञ्जरी की गर्भधूलि में देखी गयी।

पहले (कारिकागत) उदाहरण में उपमेय में उपमान के धर्म का आरोप है और इस उदाहरण में उपमान में उपमेय के धर्म का आरोप है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है। दोनों

उदाहरणों में अन्य के धर्म का अन्यत्र होना असंभव है, फिर भी तत्सदृश धर्म का आक्षेप करके औपम्य (सादृश्य) में पर्यवसान होता है। यह पदार्थवृत्ति निदर्शना जयदेव (चन्द्रालोककार) के द्वारा ललितोपमा नाम से कही गयी है। यद्यपि 'वियोगे गौड़नारीणां' इस श्लोक प्राचीनों के द्वारा वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना के रूप में उदाहृत है, तथापि विशिष्टधर्मों (उपमान और उपमेय के पृथक् धर्मों) का जब ऐक्य आरोपित होता है, तब वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना होती है। उपमान और उपमेय में से किसी एक के धर्म का अन्य पर आरोप होने पर पदार्थ वृत्ति निदर्शना होती है, इस व्यवस्था को आधार मानकर ही मैंने इसे ''वियोगे.....'' पदार्थ वृत्ति निदर्शना में उदाहृत किया है।

यह निदर्शना का दूसरा प्रकार है। यह पदार्थ वृत्ति निदर्शना और वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ दो उदाहरण दिए गए हैं। पहले उदाहरण में उपमेय (नेत्रयुगल) पर उपमान (नीलाम्बुज लीला) का आरोप है और दूसरे उदाहरण में उपमान (खर्जूरी मञ्जरी) पद उपमेय (गण्डतल पाण्डिमा) का आरोप है। प्राचीनाचार्यों के मत में यही पार्थक्य पदार्थवृत्ति निदर्शना और वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना का नियामक है। अर्थात जहाँ उपमेय पर उपमान के धर्म का आरोप है, वहाँ पदार्थवृत्ति निदर्शना और जहाँ उपमान पर उपमेय के धर्म का आरोप है, वहाँ वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना होती है, पर स्वयं दीक्षित जी इससे सहमत नहीं हैं। इनके मत से जहां उपमेय और उपमान पृथक्-पृथक् धर्म एक दूसरे पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव में देखा जाता है वहाँ वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना और जहाँ उपमान या उपमेय के धर्म का उपमेय या उपमान पर आरोप होता है वहाँ पदार्थवृत्ति निदर्शना होती है।

इस भेद में यह विश्लेषणीय है कि यहाँ अभवन् वस्तु सम्बन्ध इस लक्षण को स्पष्ट देखा जाता है। जैसे नेत्र नीलकमल की लीला को कैसे धारण कर सकता है ? यह असंभव है। तब तत्सदृश धर्म का आक्षेप होता है, तब दोनों की उपमानोपमेयता सटीक होती है। जैसे नीलकमल की चञ्चलता या सौम्यता इन आँखों में है, इस भाव में दोनों की साम्यता

होती है। अन्यथा एक का धर्म दूसरे में नहीं जा सकता है। आचार्य जयदेव ने इसे ललितोपमा कहा है-

उपमाने तु लीलादिपदाद्ये ललितोपमा

त्वत्रेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः। (चन्द्रालोक)

दोनों उदाहरण एक ही हैं। असंभव वस्तु सम्बन्ध के उदाहरण में आचार्य विश्वनाथ ने भी ऐसा ही उदाहरण दिया है।

यहाँ दीक्षित जी ने विवेचन में वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना के लिए प्राचीनाचार्यों के मत का आदर न करके अपने सिद्धान्त से उदाहरण रखा है। यदि ऐसी शंका हो कि एक पदगत निदर्शना पदार्थवृत्ति निदर्शना और अनेक पद (वाक्य) गत निदर्शना वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना होती है। तब आप क्या कहेंगे ? तो दीक्षित जी कहते हैं कि नहीं, जहाँ अनेकपदगत (वाक्यगत) निदर्शना होती है, वहाँ वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना है ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ वाक्य एक ही है लेकिन वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना है। जैसे-

एवं च-

त्वयि सति शिव! दातर्यस्मदभ्यर्थिताना-
मितरमनुसरन्तो दर्शयन्तोऽर्थिमुद्राम्।
चरमचरणपातैर्दुग्रहं दोग्धुकामाः
करभमनुसरामः कामधेनौ स्थितायाम्॥

"दोर्भ्यामब्धिं तितीर्षन्तस्तुष्टुवुस्ते गुणार्णवम्।"

इत्यादिषु वाक्यभेदाभावेऽपि वाक्यार्थवृत्तिरेव निदर्शना, विशिष्टयोरैक्यारोपसद्भावात्। 'वाक्यार्थयोः सदृशयोः' इति लक्षण वाक्ये वाक्यार्थ शब्देन बिम्ब प्रतिबिम्ब भावापन्नवस्तु विशिष्ट स्वरूपयोः प्रस्तुताप्रस्तुतधर्मयोर्विवक्षितत्वादिति।

हे शिव! तुम जैसे दाता के रहते दूसरे (दाता) के पीछे अपनी याचकता दिखाते हुए

हम लोग कामधेनु के रहते दूध दुहने की कामना से पिछले चरणघात से दुःखपूर्वक ग्रहण करने योग्य करभ (ऊँटनी) का अनुसरण करते हैं।

अपने बाहुयुगलों से समुद्र तैरने की इच्छा रखने वालों ने आपके गुण समुद्र का वर्णन (स्तवन) किया।

इन सभी में वाक्य भेद के अभाव में भी वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना है, क्योंकि इसमें विशिष्ट उपमान और उपमेय के धर्मों का परस्पर ऐक्यारोप है। निदर्शना लक्षण में जो 'वाक्यार्थयोः सदृशयोः' कहा गया है। वहाँ वाक्यार्थ शब्द से बिम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त दोनों (उपमान उपमेय गत विशिष्ट धर्मों) धर्मों का प्रस्तुत अप्रस्तुतगत होना विवक्षित है।

यहाँ प्रस्तुत उदाहरण में भाव यह है कि समस्त वस्तु दान समर्थ शिव के रहते अन्य के आगे हाथ फैलाना, दूध की कामना से कामधेनु के रहते ऊँट के पीछे जाना है। यहाँ एक वाक्य में ही उपमान तथा उपमेय दोनों उक्त हैं। उपमेय वाक्य शिव के रहते अन्य से याचना करना तथा उपमान वाक्य कामधेनु के रहते ऊँट के पीछे जाना है। यहाँ उपमेय वाक्यगत विशिष्ट धर्म (अन्य से याचना करना) पर उपमान वाक्यगत विशिष्ट धर्म ऊँट के पीछे जाना आरोपित है। उपमेय वाक्य यहाँ प्रस्तुत है और उपमान वाक्य अप्रस्तुत है। दूसरे उदाहरण में भी उपमेय वाक्य के विशिष्ट धर्म (गुणस्तवन) पर उपमान के विशिष्ट धर्म (हाथों से समुद्र तैरने की इच्छा) आरोपित है। यहाँ भी दोनों वाक्य पृथक् नहीं बल्कि एक ही हैं। तथापि उपमानगत विशिष्ट धर्म और उपमेयगत विशिष्ट धर्म में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने से और औपम्य में पर्यवसित होने से वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना है।

लक्षण में जो वाक्यार्थयोः कहा गया है इसका तात्पर्य यह नहीं कि वाक्य पृथक्-पृथक् होना चाहिए अपितु अपेक्षित यह है कि उपमान गति विशिष्ट धर्म और उपमेयगत विशिष्ट धर्म में परस्पर ऐक्यारोप हो और एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत हो। दोनों धर्मों का अलग-अलग उपादान होना चाहिए। यदि वाक्यार्थयोः का तात्पर्य दो पदों का होना अपेक्षित होता, तो वहाँ वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना नहीं होती, जहाँ एक पद में उपमेय और पृथक् एक पद में उपमान होता है। परञ्च ऐसा होता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए लिखते हैं-

एवञ्च-

राजसेवा मनुष्याणामसिधारावहेलनम्।
पञ्चानन परिष्वङ्गो व्यालीवदन चुम्बनम्॥

इत्यत्र प्रस्तुताप्रस्तुत वृत्तान्तयोरेकैकपदोपात्तत्वेऽपि वाक्यार्थवृत्ति निदर्शनायाः न क्षतिः। तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवस्तु विशिष्टव्यवहार रूपत्वात्। अतएव निदर्शनाया रूपकाद्भेदः। रूपके ह्यविशिष्टयोरेवमुखचन्द्रादिकयोरैक्यारोपः।

अङ्घ्रिदण्डो हरेरूर्ध्वमुत्क्षिप्तो बलिनिग्रहे।
विधिविष्टरपद्मस्य नालदण्डो मुदेऽस्तु वः॥

इति विशिष्ट रूपकोदाहरणेऽपि न बिम्बप्रतिबिम्बभावापत्र वस्तुविशिष्टरूपता, विधिष्टिर कमलदण्डविशिष्टत्व रूप साधारण धर्मवत्ता सम्पादनार्थमेव तद्विशेषणोपादानात्। यद्वातुः सौम्यता इत्यादि निदर्शनोदाहरणेषु दातृपूर्णेन्द्वादीनामानन्दकरत्वादिनेवात्र विशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावोऽस्ति। यत्र तु विषय विषयि विशेषणानां परस्परसादृश्येन बिम्बप्रतिबिम्बभावोऽस्ति।

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरण धवला विभ्रती तारकास्थी
न्यन्तर्धानव्यसन रसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्र मुद्रा कपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जन-परिमलं लाञ्छनस्यच्छलेन॥

इति सावयवरूपकीदाहरणे। तत्रापि विषय विषयिणोस्ताद्विशेषणानां च प्रत्येकमेवैक्यारोपः न तु ज्योत्स्नादिविशिष्टरात्रिरूपंविषयस्य भस्मादिविशिष्ट कापालिकीरूपविषयिणश्च विशिष्ट रूपेणैक्यारोपोऽस्तीति। तस्मात् 'राजसेवा मनुष्याणाम्' इत्यादावपि वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शनैव युक्ता। मतान्तरेत्विहंपदार्थवृत्यैव निदर्शनया भाव्यमिति।

इस प्रकार –

मनुष्यों के लिए राजसेवा असि (तलवार) धार पर चलना, (चाटना) सिंह का आलिङ्गन करना और नागिन का चुम्बन करना है।

यहाँ प्रस्तुत (राजसेवा) और अप्रस्तुत (तलवार धार चाटना आदि) वृत्तान्त का एक-एक पद से उपात्त होने पर भी वाक्यार्थ निदर्शना में कोई हानि नहीं होती है, क्योंकि उन दोनों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत)का बिम्ब प्रतिबिम्बयुक्त व्यवहार का आरोप है। इसलिए निदर्शना और रूपक का भेद है। रूपक में अविशिष्ट (धर्मादि रहित) मुख चन्द्र आदि का आरोप होता है।

जैसे - बलि के बाँधने में ऊपर उठाए भगवान् विष्णु का पाददण्ड, ब्रह्मा के आसनभूत कमल का नालदण्ड है, आप लोगों की खुशी के लिए हो।

यहाँ विशिष्ट धर्मयुक्त रूपक के उदाहरण में भी बिम्ब प्रतिबिम्बभावयुक्त वस्तु विशिष्टरूपता है। ब्रह्मा के आसनभूत कमल दण्ड के विशिष्ट धर्म रूप साधारण धर्म सम्पादन के लिए ही ऐसा विशेषण दिया गया है। 'यद्दातुः सौम्यता' इत्यादि निदर्शना के उदाहरण में दाता और पूर्णेन्दु आदि के आनन्दकरत्व रूप धर्म के द्वारा विशेषण में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव है। जहाँ और विषयी के तत्तत् धर्मों का परस्पर सादृश्य के द्वारा बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है। वहाँ, जैसे -

चाँदनी रूप भस्म लपेटने से उजली तारा रूप हड्डी को धारण करती हुई अन्तर्ध्यान रूप व्यस्न की रसिका रात्रि रूपा यह कापालिकी एक द्वीप से दूसरे द्वीप पर घूमती रहती है। चन्द्र मुद्रा रूप कपाल में कलंक के छल से सिद्धाञ्जन का चूर्ण रख लिया है।

इस सावयव रूपक के उदाहरण में यहाँ भी विषयी और विषय के तत्तत् धर्मों का आरोप तत्तत् वस्तु पर है। न कि ज्योत्स्नना आदि विशिष्ट रात्रि रूप विषय का और भस्मादि विशिष्ट कापालिकी रूप विषयकी का विशिष्ट रूप से ऐक्यारोप है। इसलिए मनष्यों के लिए राजसेवा इत्यादि में भी वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना ही है। मतान्तर से यहाँ पदार्थवृत्ति निदर्शना होनी चाहिए।

यहाँ 'मनुष्याणां राजसेवा' में राजसेवा एक उपमेय वाक्य है और तलवार की धार को चाटना, सिंह का आलिंगन करना, तथा नागिन को चूमना, पृथक् उपमान वाक्य हैं। यहाँ प्रस्तुत (राजसेवा) और अप्रस्तुत (धार चाटना आदि) का बिम्बप्रतिबिम्बभाव बनता

है। दोनों धर्म उपस्थित होने से तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से यहाँ वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना ही है। एक-एक पद होने से वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना होने में कोई हानि नहीं है। यह दीक्षित जी का मत है। रूपक और निदर्शना का भेद स्पष्ट करते हुए इनका कहना है कि रूपक में धर्मादि से रहित विषयी और विषय का ऐक्यारोप होता है। जहाँ धर्मादि से युक्त विषयी और विषय ऐक्य होता भी है, वहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता है जैसे - 'अङ्घ्रिदण्ड..........' उदाहरण में विष्णु के चरण दण्ड पर ब्रह्मा के आसन भूत नाल (कमल दण्ड) का आरोप है। यहाँ उत्क्षिप्तत्व धर्मयुक्त चरण दण्ड पर आसनत्व विशिष्ट धर्मयुक्त कमलनाल दण्ड का आरोप है। परञ्च दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव का अभाव है। यदि ब्रह्मा के आसन रूप धर्म होने के कारण से चरण दण्ड पर आरोप होता तब बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता परञ्च यहाँ ऐसी बात नहीं है। केवल आसनभूत कमल का वैशिष्ट्य चरण नाल पर आरोपित हुआ है। जैसे कि 'यद्दातुः सौम्यता' वाले उदाहरण में प्रस्तुत (दाता) और अप्रस्तुत (पूर्णेन्दु) में सौम्यता और निष्कलंकता के बीच आनन्दजनकत्व कारण है। इस तरह 'अङ्घ्रिदण्ड -------' में नहीं है। यही दोनों में अन्तर है। अतः यहाँ रूपक है (अघ्रिदण्ड में)। और (यद्दातुः सौम्यता) में निदर्शना है। केवल विषयी का विषय पर आरोप रूपक में होता है, और निदर्शना में तत्तत् व्यवहार रूप ऐक्यतापूर्ण आरोप होता है। यही व्यवहार युक्त ऐक्य बिम्बप्रतिबिम्बभाव का कारण होता है।

अब सावयव रूपक में विदर्शना न माना जाये इसलिए दीक्षित जी ने 'ज्योत्स्नना भस्म-------' उदाहरण दिखाया है। सावयव रूपक में विषय के तत्तत् अंग पर विषयों के तत्तत् अंग का आरोप होता है। न कि तत्तत् धर्म विशिष्ट विषय पर तत्तत् धर्म विशिष्ट विषयी का आरोप होता है। जैसे - रात्रि पर कापालिकी का आरोप, ज्योत्स्ना पर भस्म का तारा पर हड्डी का, चन्द्र पर कपाल का, कलंक पर सिद्धाञ्जन का आरोप है। यहाँ एक-एक अंग पर एक-एक वस्तु का आरोप है न कि भस्मादि विशिष्ट कापालिकी का ज्योत्स्नादि विशिष्ट रात्रि पर आरोप है। यदि तत्तत् धर्म विशिष्ट रात्रि पर उस धर्म के युक्तत्व के कारण तत्तत् धर्म विशिष्ट कापालिकी का आरोप होता तब निदर्शना की चिन्ता होती। जैसे -

'मानव के लिए राज सेवा' शेर के आलिंगनादि के बराबर है। यहाँ राजसेवा की दुरूहता ही शेर के आलिंगन रूप आरोप का कारण है। यहाँ सेवा व्यवहार की दुरूहता और शेर के आलिङ्गन की दुरूहता के आधार पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अतः यहाँ निदर्शना है। निदर्शना का आरोप बिम्बप्रतिबिम्बभाव से युक्त होता है और रूपक का आरोप मात्र ऐक्य बोधक होता है। यही दोनों का का भेदक 'मानवाणां ----' इत्यादि में उन लोगों के मत में पदार्थवृत्ति निदर्शना होती है, जो एक पद होने पर पदार्थवृत्ति निदर्शना और पदाधिक्य होने पर वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना मानते हैं। यहीं निदर्शना मालारूपा वाक्यार्थ निदर्शना है। ठीक ऐसा ही उदाहरण आचार्य विश्वनाथ ने मालारूप निदर्शना के लिए उपन्यस्त किया है। यथा –

क्षिपसि शुकं वृषदंश कवदने मृगमर्पयसि मृगादनरदने।
वितरसि तुरगं महिष विषाणे निदधच्चेतो भोगविताने॥

इस तरह 'अरण्य रूदितं -----' पूर्वोक्त उदाहरण भी माला वाक्यार्थ वृत्ति निदर्शना के अन्तर्गत ही है।

अब निदर्शना के अन्य प्रकार का निरूपण करते हैं –

अपरां बोधनं प्राहुः क्रिययाऽसत्सदर्थयोः।
नश्येद्राजविरोधीति क्षीणं चन्द्रोदये तमः॥ 54॥
उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम्।
विभावयन् समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहः॥ 55॥

कस्यचित्किञ्चित्क्रियाविशिष्टस्य सक्रियया परान्प्रति असतः सतोवार्थस्य बोधनं यन्निवध्यते तदपरां निदर्शनामाहुः। असदर्थबोधने उत्तरार्धमुदाहरणम्। तत्र नश्येदिति बोधयदिति वक्तव्ये बोधयदित्यस्य गम्यमानत्वादप्रयोगः। ततश्च राज्ञा चन्द्रेण सह विरूध्य स्वयं नाशक्रियाविशिष्टं तमः स्वकीयनाशक्रियया दृष्टान्त भूतया अन्योऽप्येवं राजविरूद्धश्चेन्नश्येदित्यनिष्टपर्यवसायिनमर्थ बोधयदे व नष्टमित्यर्थ निबन्धनादसदर्थदिर्शना।

तथा उत्तरश्लोके सविता स्वोदय समय एव पद्मेषु लक्ष्मीमादधानः स्वया पद्मलक्ष्म्याधानक्रिययापरान्प्रति समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रह एवेति श्रेयस्करमर्थ बोधयन्निवद्ध इति सदर्थनिदर्शना।

जहाँ किसी विशिष्ट क्रिया के दूसरे के सत् या असत् अर्थ का बोधन कराया जाता है, वहाँ निदर्शना का दूसरा प्रकार होता है। जैसे-राजा का विरोधी नाश को प्राप्त होगा, इसलिए चन्द्रोदय होने पर अन्धकार का नाश हो गया।

सूर्य उदय होते ही कमल में लक्ष्मी (शोभा) अर्पित करता है। समृद्धि का फल सुहृद् पर अनुग्रह होता है, इसी बात को वह (सूर्य) कहता है।

किसी की किसी विशिष्ट क्रिया के द्वारा दूसरे के प्रति असत् या सत् अर्थ का बोधन जब निबद्ध किया जाता है, तब दूसरी (प्रकार की) निदर्शना होती है। असदर्थ बोधन में प्रथम कारिका का उत्तरार्ध उदाहरण है वहाँ 'नाश होता है यह बोधन करता है' यह कहने के स्थान पर 'बोधयत्' यह पद गम्य है (व्यंग्य है) अतः प्रयोग नहीं किया गया है। इसके अनन्तर चन्द्र के साथ विरोध करने पर नाशक्रिया विशिष्ट अन्धकार अपनी नाश क्रिया रूप दृष्टान्त से अन्य भी राजा के साथ विरोध करने पर नाश होगा, इस अनिष्ट बोधन में पर्यवसित अर्थ का बोधन करता है। नाश होगा, इस असत् अर्थ के निबन्धन से यह असदर्थ निदर्शना है तथा दूसरी कारिका में सूर्य अपने उदय के समय ही कमल में लक्ष्मी (शोभा) को प्रदान करता हुआ कमल में लक्ष्मी आधान रूप अपनी क्रिया के द्वारा दूसरे के प्रति समृद्धि का फल सुदृढ़ पर अनुग्रह ही है, इस श्रेयस्कर अर्थ का बोधन करता है। इस तरह सदर्थ निबन्धन से सदर्थनिदर्शना है।

यहाँ सदर्थ निदर्शना और असदर्थनिदर्शना का निरूपण किया गया है। जहाँ सुन्दर अर्थ का बोधन है वो सदर्थ और असुन्दर (अमंगल) अर्थ का बोधन है। वहां असदर्थ निदर्शना है। यह भेद प्रायः आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ के द्वारा उक्त 'संभवन् वस्तु सम्बन्ध' रूपा निदर्शना है। पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना ''असंभवन् वस्तु सम्बन्धा'' था। यहाँ प्रथम उदाहरण में चाँद के उदय पर अंधकार का नाश, राजा के विरोधी होने पर लोगों के नाश होने को बताता है। यहाँ चाँद में वक्तृत्व का सम्बन्ध हो

सकता है। एक वक्ता के द्वारा उपदेश अपनी क्रिया के द्वारा संभव है। यहाँ 'बोधयत' पदगम्य है। और दूसरे उदाहरण में सूर्य उदय होते ही कमल में शोभावृद्धि करता है। यहाँ समृद्धि का फल सुदृढ़ अनुग्रह है, यह बोधन अभीष्ट है। यहाँ सूर्य में वक्ता का सम्बन्ध है, जो संभव है। पहला उदाहरण नाश होने रूप अमंगल अर्थ से असदर्थ और दूसरा मंगल होने से सदर्थनिदर्शना का उदाहरण है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आगे और उदाहरण देते हैं-

यथा वा-

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन्।
शैलशेखरगतः पृषद्गणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः॥

अत्र गिरिशेखरगतो वृष्टिबिन्दुगणो मन्दमारुतमात्रेणापि कम्पितः पतन् लघोरुन्नतपदप्राप्तिः पतनं हेतुरित्यसदर्थ बोधयन्निबृद्ध इत्यसदर्थनिदर्शना।

चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम्।
सतां कार्याऽतिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः॥

अत्र समागतं रविं शिरसा संभावयन्नुदयाचलः स्वनिष्ठया रवि धारणक्रियया समागतानां सतामेवं गृहमेधिभिरात्थ्यिं कार्यमिति सदर्थं बोधयन्निबद्। इति सदर्थनिदर्शना। अत्र केचित् वाक्यार्थ वृत्ति- पदार्थ वृत्तिनिदर्शना द्वयमसंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धनमिति, तृतीया तु संभवद्वस्तुसम्बन्धनिवन्धनेति च व्यवहरन्ति। तथा हि- आद्य निदर्शनायां वाक्यार्थयोरैक्यमसंभवत्तयोः साम्ये पर्यवस्यति। द्वितीयनिदर्शनायामपि अन्यधर्मोऽन्यत्रासंभवन् धर्मिणोः साम्ये पर्यवस्यति। तृतीयनिदर्शनायांतु स्वक्रियया परान्प्रति सदसदर्थबोधनं संभवदेव समतां गर्भी करोति। 'बोधयन् गृहमेधिनः' इत्यादौ हि 'कारीषोऽग्नि रध्यापति' इतिवत्समर्थाचरणे णिचः प्रयोगः। ततश्च तथाकारीषोऽग्निः शीतापनयनेन बटूनध्ययनसमर्थान्करोति एवं वर्ण्यमानः पर्वत स्वयमुपमानभावेन गृहमेधिन उक्त बोधनसमर्थान्कुतुं क्षमते। यथाऽयं पर्वतः समागतं रविं शिरसा संभावयति, एवं गृहमेधी समागतं सन्तमुचितपूजा संभावयेदिति। अतः संभवति बोधन सम्बन्ध इति॥ ५५-५६॥

जैसे-

उन्नत पद पाकर भी जो क्षुद्र है वह अपनी हेला (गर्व) से गिरता ही है, यह कहता हुआ शैल शिखर पर स्थित बारिश की बूँद हल्की हवा के झोंके से नीचे गिरती है।

यहाँ पर्वत शिखर पर स्थित बारिश की बूँद समूह मन्द हवा के झोंके से भी कम्पित होकर गिरता हुआ, लघु की उन्नत पद प्राप्ति पतन का कारण है इस असदर्थ का बोधन करते हुए निबद्ध है। अतः यह असदर्थनिदर्शना है।

जो (उदयाचल) 'सज्जनों को अतिथि सत्कार करना चाहिए' वह गृहस्थों को बतलाता हुआ, आए हुए सूर्य देव को अपने शिर पर धारण करता है।

यहाँ आए हुए सूर्य को शिर पर धारण करता हुआ उदयाचल स्वनिष्ट सूर्यग्रहण क्रिया से 'आए हुए सज्जनों का ऐसे ही सत्कार करना चाहिए' यह गृहस्थों का बोधन करता हुआ निबद्ध है। यह सदर्थनिदर्शना है। यहाँ कुछ लोग वाक्यार्थवृत्ति और पदार्थवृत्ति निदर्शनों को असंभवत् वस्तुसम्बन्ध निबन्धन और तीसरी को संभवत् वस्तु सम्बन्धनिबन्धन कहके व्यवहार करते हैं, क्योंकि- पहली (वाक्यार्थ) निदर्शना में वाक्यार्थ की एकता असंभव होते हुए सोम्य में पर्यवसित होता है। दूसरी (पदार्थ) निदर्शना में अन्य धर्म अन्यत्र संभव नहीं होता हुआ धर्मी के साम्य में पर्यवसित होता है। तीसरी निदर्शना में स्वक्रिया में दूसरे के प्रति सत् असत् धर्म का बोधन संभव है। इस अवस्था में साम्य दिखाता है। 'बोधयन् गृहमेधिनः' इत्यादि में 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' की तरह समर्थाचरण में 'णिच' का प्रयोग है। जैसे करीष (उपला) की अग्नि शीत के उपनयन के बटुओं को अध्ययन समर्थ बनाता है, उसी तरह वर्ण्यमान पर्वत स्वयं उपमान की तरह गृहस्थों को उक्त बोधन की समर्थता को धारण कर सकता है। जैसे यह पर्वत सूर्य को शिर पर धारण करता है, उसी तरह गृहस्थों के लिए आए अतिथि की सेवा करनी चाहिए। अतः यहाँ बोधन सम्बन्ध संभव है।

असदर्थ और सदर्थ की व्याख्या उपर की जा चुकी है। संभवत् वस्तु सम्बन्ध और असम्भवत् वस्तु सम्बन्ध मम्मट और विश्वनाथ आदि ने स्वीकार किया है। वाक्यार्थ

निदर्शना में वस्तु सम्बन्ध असंभव होता है। जैसे- यद्दातुः सौम्यता में चांद की निष्कलंकता से दाता की सौम्यता का सम्बन्ध असंभव है। तब यह उपमान और उपमेय सादृश्य में जाकर समाप्त होता है। (जैसी चाँद की निष्कलंकता है, वैसी ही दाता की सौम्यता है) दूसरी (पदार्थवृत्ति) निदर्शना में एक या धर्म दूसरे में संभव नहीं होता। जैसे- 'त्वन्नेत्र .....' में नीलकमल की लीला को नेत्र धारण नहीं कर सकता। तब धर्मी के साम्य में (कमल और नेत्र के साम्य में) यह समाप्त होता है। तीसरे में अपनी क्रिया के द्वारा दूसरे के प्रति अर्थ बोधन संभव है। जैसे सूर्य के द्वारा कमल में शोभा अर्पित करने की क्रिया से यह उपदेश देना कि समृद्धि का फल मित्रों की वृद्धि करना है। यहाँ सूर्य के उपदेश दातृत्व सम्बन्ध सम्भव है।

अन्तिम उदाहरण- 'चूडामणि ------' में यह शंका है कि पर्वत अचेतन है उसमें बोधन का सम्बन्ध कैसे संभव है। जैसे सूर्य में उपदेश कर्तृव्य संभव है। उस तरह पर्वत तो अचेतन है वह भला किसी को बोध कैसे करा सकता है ? इसके समाधान में दीक्षित जी कहते हैं कि जैसे 'कारीषोग्निध्यापयति' में णिच का प्रयोग हुआ है। करीष (उपला) की अग्नि वटुओं को पढ़ाती है। यहाँ प्रेरणार्थक णिच का प्रयोग अचेतन में कैसे हुआ ? अर्थ यह होता है कि आग अपनी गर्मी से ठंडक को दूर करता है। ठंडक दूर होने पर बच्चे पढ़ने को तैयार हो जाते हैं। इस तरह आग बच्चे को पढ़ाती है। इसी तरह अचेतन पर्वत भी उपमान बनकर अपनी क्रिया से लोगों का बोधन करता है। रवि को शिर पर धारण करते हुए (पर्वत) को देखकर गृहस्थ को यह बोध होता है कि आए हुए अतिथि की सेवा करनी चाहिए।

डॉ. भोला शंकर व्यास ने अपनी टीका में रसिकरञ्जिनीकार को साक्षी मानकर लिखा है कि निदर्शना का यह तीसरा भेद (सदसदर्थनिदर्शना) उत्प्रेक्षा से अतिरिक्त नहीं। यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि यहां गम्योत्प्रेक्षा मानना पड़ेगा। यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा के शब्द नहीं है। यह इसलिए उचित नहीं है कि उत्प्रेक्षा का प्राणं संभावना है। संभावना साध्य होता है सिद्ध नहीं। जबकि निदर्शना में सिद्ध है। यहाँ गृहस्थों को अतिथि सत्कार का बोधन

कराता हुआ पर्वत शिर पर सूर्य को धारण करता है, इसमें यह निश्चित है कि पर्वत यही कहता है। उत्प्रेक्षा में यह निश्चित नहीं होता। वहाँ मानो यह यही कहता है ऐसा प्रयोग होता है और यह सम्भावना साध्य हो जाती है। अतः उत्प्रेक्षा और यह निदर्शना दोनों पृथक-पृथक हैं।

बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से निदर्शना दृष्टान्त-सी लगती है। पर दोनों में यह अन्तर है कि दृष्टान्त में वाक्यार्थ पर्यवसित (पूर्ण) होता है। दृढ़ (वाक्य को) करने के लिए स्वसामर्थ्यवश सादृश्य की प्रतीति बिम्बप्रतिबिम्ब रूप से होती है। निदर्शना में जब तक बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का आक्षेप न किया जाये, तब तक वाक्य विश्रान्ति नहीं होती है।

20. व्यतिरेकालङ्कारः

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः
शैलाः इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृति कोमलाः ॥ 56 ॥

अयमुपमेयाधिक्य पर्यवसायी व्यतिरेकः।

यथा वा-

पल्लवतः कल्पतरोरेष विशेषः करस्य ते वीर!
भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्णं तिरस्कुरुते ॥

तन्न्यूनत्वपर्यवसायी यथा-

रक्तस्त्वं नवपाल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक! केवलमहं छात्रा सशोकः कृतः ॥

अनुभवपर्यवसायी यथा-

दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषन्नस्य सहजमलिनस्य।
कृपाणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥

जहाँ उपमान और उपमेय में यदि परस्पर विलक्षणता होती है, वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है। जैसे- सन्त शैल की तरह उन्नत होते हैं, लेकिन स्वभाव से कोमल होते

हैं।

उपमेय आधिक्य में पर्यवसित यह व्यतिरेक है। (सन्त पर्वत के समान ऊँचा है, पर शैल कठोर होता है, लेकिन सन्त कोमल होते हैं।) यह (कोमलता) सन्त की विशेषता है। अत: उपमान से उपमेय में आधिक्य है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

हे वीर! कल्पवृक्ष के पल्लव से तुम्हारी यह विशेषता है कि वह कर्ण (देवांगनाओं के कान) को भूषित करता है और तुम (दूसरा) कर्ण (कुन्ति पुत्र) का तिरस्कार करते हो।

न्यूनत्वपर्यवसायी का उदाहरण। जैसे–

(अशोक को सम्बोधन कर कोई कह रहा है।) नए पल्लवों से तुम लाल (रक्त) हो, मैं भी प्रिया के श्लाघ्य गुणों के कारण रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुम पर शिलीमुख (भ्रमर) आते हैं, हम पर भी कामदेव के धनुष से मुक्त शिलीमुख (बाण) आते हैं। कान्ता के पैर तल का आघात तुम्हारी खुशी के लिए होता है वैसे ही मेरे लिए भी (खुशी देने वाला है।) ऐ अशोक! मेरा और सब कुछ बराबर है पर तुम अशोक (शोक रहित) हो और विधाता ने मुझे सशोक (शोक से युक्त) कर दिया है।

यहाँ दु:खाधिक्य से उपमेय (विरही) की न्यूनता स्पष्ट है। अनुभवपर्यवसायी का का उदाहरण– जैसे–

कसकर मुट्ठी बाँधने, कोष में बैठे रहने और सहज मलिनता से, कृपण और कृपाण के मध्य में आकर (आ की मात्रा) का भेद है।

उपमा से उपमेय में आधिक्य होना ही व्यतिरेक है। यहां उपमान से आधिक्य या न्यूनता दोनों अवस्था में व्यतिरेक माना है। आचार्य विश्वनाथ ने भी यही स्वीकार किया है। **आधिक्य मुपमेयेस्योपमानान्न्यूनताऽथवा व्यतिरेकः**। परञ्च पं. राज जगन्नाथ ने यह स्वीकार नहीं किया है। वे केवल आधिक्य में ही उपमा मानते हैं। यहाँ पहले उदाहरण में उपमान शैल में उपमेय सन्त का आधिक्य तथा तीसरे उदाहरण रक्तत्व में उपमान अशोक से उपमेय विरही का न्यूनत्व दिखाया गया है। दूसरे उदाहरण में– (पल्लवत: में) उपमान

से कर्ण का भूषण और उपमेय में तिरस्कार होने से दोनों में पार्थक्य है। यहाँ उपमान से उपमेय में न्यूनता अथवा वैशिष्टय तो नहीं कहा जा सकता, हाँ वैशिष्ट्य जरूर है। इसी वैशिष्ट्य के बल पर व्यतिरेक है। यहाँ यह कहा गया है कि शैला इवोन्नता: में उपमानोपमेय का साम्य उन्तत्व पद से शाब्द है, और पल्लवत: में रक्तत्व पद गम्य है। यहाँ रक्तता के आधार पर ही वीर के कर और कल्पतरु के पल्लव का सादृश्य होता है।

एक उदाहरण यहाँ अनुभवपर्यवसायी का है। जहाँ उपमान और उपमेय का वैशिष्ट्य केवल अनुभव में ही शान्त होता है। जैसे कृपाण और कृपण में पार्थक्य केवल 'आकार' का है। यहाँ वैशिष्टय केवल आ वर्ण का है। अथवा कृपण और कृपाण दोनों बराबर ही हैं। यह श्लेषानुप्राणित है। आचार्य विश्वनाथ ने व्यतिरेक के अड़तालीस भेद किये हैं।

21. सहोक्त्यलङ्कार

सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जनः।
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिस्सह॥ 57॥

यथा वा-

छाया संश्रयते तलं विटपिनां श्रान्तेव पान्थैः समं
मूलं याति सरो जलस्य जड़ता ग्लानेव मीनैस्सह।
आचामत्यहिमांशुदीधितिपरस्तप्तेव लोकैः समं
निद्रा गर्भगृहं सह प्रविशति क्लान्तेव कान्ताजनैः॥

'जनरञ्जन' इत्युक्ते 'अनेन सार्द्धंविरहाम्बुराशेः (रघु0 6/57)' इत्यादौ न सहोक्ति रलङ्कारः॥ ५८॥

जहाँ दो भाव एक साथ उक्त हो, लेकिन जनरञ्जन (चमत्कार) से युक्त हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है। जैसे- इनकी (राजा की) कीर्ति शत्रुओं के साथ दिगन्त तक चली गई।

जैसे दूसरा उदाहरण-

(यह ग्रीष्म वर्णन है।) पथिकों के साथ थककर छाया वृक्षों के तल का आश्रय ले

रही है। तालब के जल की शीतलता, मछलियों के साथ ही मानो तालाब के मूल (अन्तः भाग) में चली गयी है। हिमांशु की किरणें तप्त लोगों के साथ जल का आचमन कर रही हैं। निद्रा क्लान्तकान्ताजनों के साथ गर्भगृह में प्रवेश करती है।

'जनरञ्जन' यह पद देने से 'अनेन सार्द्धं' इत्यादि में सहोक्ति अलंकार नहीं है।

इस सहोक्ति अलंकार में सहभाव और जनरञ्जन दो पद ध्यातव्य हैं। सहभाव का तात्पर्य है एक शब्द 'सह' अर्थ के बल से दो अर्थों का वाचक हो। तात्पर्य है कि एक ही शब्द दो अर्थों का बोध कराता है, वह अर्थ दोनों में सह भाव से जुड़ा होता है। जैसे प्रथम उदाहरण में राजा की दुश्मन और कीर्ति का दिगन्त में जाना विवक्षित है। यहाँ एक 'अगमत्' दोनों अर्थों का बोध कराता है। शत्रु दिगन्त में डर से भाग गए और कीर्ति भी उसी के साथ चली गई। इस तरह कीर्ति और शत्रु का जाना सह (साथ) भावयुक्त है। इसी तरह द्वितीय उदाहरण में भी दो अर्थ सह भाव युक्त हैं। दूसरा शब्द है जनरञ्जन अर्थात चमत्कार। चमत्कार के अभाव में अलंकार नहीं होता यह तो सत्य ही है। दूसरे उदाहरण 'छाया संश्रयते' में इव शब्द की उत्प्रेक्षा का वाचक लगता है पर वहाँ संभावना का वैशिष्ट्य नहीं है। चमत्काराभाव में-

अनेन सार्द्धं विरहाम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥

इस श्लोक में सहोक्ति अलंकार नहीं है।

इस अलंकार में अतिशयोक्ति युक्तत्व होता है। जैसे- 'दिगन्तमग---' इस उदाहरण में कारण (शत्रुपलायन) और कार्य (कीर्ति प्रसार) साथ-साथ वर्णित होने से अतिशयोक्ति है। सह शब्द के साथ होने से यहाँ सहोक्ति अलंकार है। दूसरे उदाहरण- 'छाया ----' में भी सह अर्थवाचक शब्द उपात्त ही है। आचार्य विश्वनाथ ने इसकी (सहोक्ति) परिभाषा करते हुए लिखा है-

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्॥

यह अतिशयोक्ति अभेदाध्यवसायमूला, कारण कार्य पौर्वापर्य विपर्ययमूला होती है। यह अभेदाध्यवसायमूला श्लेषयुक्ता श्लेषरहिता भी होती है। इन सभी का उदाहरण 'साहित्यदर्पण' में पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट है।

22. विनोक्त्यलङ्कारः

विनोक्तिश्चेद्विना किञ्चित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते।
विद्या हृद्यापि साऽवन्द्या विना विनय सम्पदम्॥ 58॥

यथा वा

यश्च रामं न पश्येत्तु यं न रामो न पश्यति।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हति।

अत्र च रामदर्शनेन बिना हीनत्वं 'विना' शब्दमन्तरेणैवदर्शितम्।

तच्चेत्किञ्चिद्विना रम्यं विनोक्तिः सापि कथ्यते।
बिना खलेर्विभात्येषा राजेन्द्र! भवतः सभा॥ 59॥

यथा वा

आविर्भूतेशशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गारोधः पतन कलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥

अत्र तमः प्रभृतीन्विना निशादीनां रम्यत्वं 'विना' शब्दमन्तरेण दर्शितम्॥

एक के अभाव में दूसरे की हीनता यदि 'बिना' शब्द के द्वारा उपस्थापित की जाती है, तो वहाँ विनोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे हृदयहारिणी विद्या भी विनयसम्पदा के बिना निन्दनीया हो जाती है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

जो राम को नहीं देखता और जिसको राम नहीं देखता, वह संसार में निन्दित होता है। उसकी आत्मा भी उसकी निन्दा करती है।

यहाँ रामदर्शन के बिना लोगों की हीनता 'बिना' शब्द के अभाव में ही वर्णित की गयी है।

विनोक्ति का दूसरा प्रकार इस तरह है- जहाँ कोई वस्तु किसी के अभाव में 'बिना' शब्द प्रयोग के साथ रमणीय होता है, वहाँ भी विनोक्ति होता है। जैसे- हे राजेन्द्र! दुष्टों के बिना आपकी सभा शोभित हो रही है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

चन्द्रमा के उगने पर जैसे रात्रि अन्धकार से मुक्त हो जाती है जैसे घने धुएँ (अन्धकार) के छटने पर रात का दीपक आग की तरह दीखता है, तट के गिरने से कलुषित गङ्गा जैसे (पुनः) स्वच्छता प्राप्त करती है वैसे ही यह कोमलाङ्गी अपने हृदय के मोह से पृथक् हो गयी है। यहाँ तमः प्रभृति के बिना निशा की रमणीयता 'बिना' शब्द के अभाव में ही दिखायी गयी है।

यह अलङ्कार भी 'सहोक्ति' जैसा ही होता है। सहोक्ति में 'सह' शब्द का प्रयोग होता है यहाँ 'बिना' शब्द का। 'बिना' शब्द के प्रयोग के द्वारा एक वस्तु के अभाव में दूसरे की हीनता या उत्कृष्टता दिखाई जाती है। यहाँ भी दोनों वाक्यों में सहोक्ति की तरह ही साम्यता होती है। यह 'बिना' शब्द कहीं शाब्दी और कहीं आर्थी भी होता है। जैसे- 'विद्या हृद्यापि' में बिना शाब्दी है और 'यश्च राम' में आर्थी। यहाँ राम के बिना लोगों की हीनता होती है। इसमें बिना शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उसी तरह- 'आविर्भूते' इत्यादि में भी रात्रि की रमणीयता तम के बिना होती है। यह भाव 'बिना' शब्द के अभाव में ही ज्ञात होता है। अतः यहां भी 'बिना' आर्थी है।

आचार्य विश्वनाथ ने दोनों तरह की विनोक्ति एक साथ ही परिभाषित किया है।

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधुवा।

23. समासोक्त्यलङ्कारः

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।
अयमैन्दीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः॥ 60॥

यत्र प्रस्तुते वृतान्ते वर्ण्यमाने विशेषणसाम्यवलादप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्तिस्तत्र समासोक्तिलङ्कारः। समासेन संक्षेपेण प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोर्वचनात्। उदाहरणम्- अयमैन्द्रीति। अत्र हि चन्द्रस्य प्राचीप्रारम्भ लक्षणमुखसम्बन्धलक्षणे उदये वर्ण्यमाने 'मुखशब्दस्य' प्रारम्भ वदन साधारण्यात् 'रक्त' शब्दस्यारुणकामुक साधारण्यात् 'चुम्बति' इत्यस्य प्रस्तुतार्थसम्बन्धमात्रपरस्यशक्यार्थान्तरसाधारण्याच्च चन्द्रमा शब्द गत पुल्लिङ्गेन ऐन्द्री शब्द गत स्त्रीलिङ्गेन तत्प्रतिपाद्येन्द्र सम्बन्धित्वेन चोपस्कृतादप्रस्तुतपरवनितासक्त पुरुषवृत्तान्तः प्रतीयते।

जहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त में अप्रस्तुत वृत्तान्त की परिस्फूर्ति (व्यञ्जना बलातृज्ञान) होती है, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- यह रक्त चन्द्रमा ऐन्द्री (प्राची दिशा) मुख को चूमता है, देखो। जहां वर्ण्यमान प्रस्तुत वृत्तान्त में विश्लेषण साम्य के बल से अप्रस्तुत (वृत्तान्त) की भी स्फूर्ति (व्यञ्जना) होती है। वहां समासोक्ति अलङ्कार होता है। समास से (संक्षेप से) प्रस्तुत और अप्रस्तुत कथन के होने से यह समासोक्ति है। अयत्रमैन्द्रीति यह कारिका का आधा भाग उदाहरण है। यहाँ प्राची के आरम्भ (मुख) से सम्बद्ध चन्द्रमा के उदय वर्णन में 'मुख' शब्द का प्रारम्भ, बदन की साधारणता से 'रक्त' शब्द का अरुण (लाल) और कामुक की साधारणता की ''चुम्बति'' शब्द का प्रस्तुत अर्थ (चन्द्रोदय वर्णन) मात्र में सम्बन्ध होने पर भी शक्य अर्थान्तर की साधारणता से 'चन्द्रमा' शब्द के पुल्लिग होने से और 'ऐन्द्री' शब्द के स्त्रीलिंग होने से एवं इन्द्र सम्बन्ध में प्रतिपाद्य होने से प्राप्त (दृढ़) अप्रस्तुत अर्थ (पर वनिता आसक्त पुरुष वृत्तान्त) प्रतीत होता है।

'जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत वृत्तान्त समास (संक्षेप) रूप में कहा जाता है, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है। संक्षेप रूप में कहने से तात्पर्य यह है कि केवल प्रस्तुत का वर्णन होने पर विशेषण साम्यता के बल पर अप्रस्तुत अर्थ की पुष्टि होती है। केवल विशेष्य की साम्यता होने पर यह अलङ्कार नहीं होता है जैसे- रक्त चन्द्रमा ऐन्द्री मुख का चुम्बन करता है। यहाँ केवल विशेष्य चन्द्रमा या ऐन्द्री पर नायक नायिका का आरोप घटित नहीं है। अपितु 'रक्त' विशेषण लाल अर्थ से चन्द्रमा में और राग अर्थ में नायक में तथा चुम्बति'

यह क्रिया समान रूप से चन्द्रमा और नायक दोनों में घटित होता है। यहाँ स्पष्ट रूप से चन्द्रमा के पुल्लिग होने से नायक और ऐन्द्री के स्त्रीलिंग होने से नायिका का व्यवहार घटित होता है। ऐन्द्री (इन्द्र सम्बन्धी) का प्रयोग चन्द्रमा के लिए स्पष्ट परकीया का बोध कराता है। अतः यहाँ पर नायक का परकीया नायिका के मुख चुम्बन का व्यापार स्पष्ट होता है। इसलिए चन्द्रकृत ऐन्द्री मुख चुम्बन और नायक कृत परनायिका मुख चुम्बन दोनों साथ-साथ वर्णित हुआ है। यहाँ प्रस्तुत विशेष्य और विशेषण के बल पर नायक और नायिका के व्यापार की स्फूर्ति (व्यञ्जना) होती है। यदि केवल ऐन्द्री प्रयोग होता और 'रक्त' तथा 'चुम्बति' पद नहीं होता तो ऐन्द्री से नायिका और चन्द्रमा से नायक की स्फूर्ति तो होती परञ्च तव समासोक्ति अलङ्कार नहीं होता रूपक में केवल विशेष्य की समानता होती है और यहाँ (समासोक्ति में) विशेष्य तथा विशेषण की साम्यता से अप्रस्तुत के व्यापार की स्फूर्ति हो जाती है और रूपक और समासोक्ति में अन्तर है।

अब इस अलङ्कार को और स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण देते हैं। इसमें गेंद खेलती नायिका का वर्णन है और गेंद के वर्णन से नायक का वर्णन स्फूर्त हो रहा है। जैसे-

यथा वा-

व्यावल्गत्कुचभारमाकुलकचं व्यालोलहारावलि
प्रेङ्खत्कुण्डलशोभिगण्ड युगलं प्रस्वेदिवक्त्राम्बुजम्।
शश्वद्दतकरप्रहारमधिकं-श्वासं रसादेतया
यस्मात्कन्दुक! सादरं सुभगया संसेव्यसे तत्कृति॥

अत्र कन्दुकवृत्तान्ते वर्ण्यमाने व्यावल्गत्कुचभारम् इत्यादि क्रियाविशेषण साम्याद्विपरीत रतासक्तनायिका वृत्तान्तः प्रतीयते। पूर्वत्र विशेषणानि शिलष्टानि इह साधारणीति भेदः। सारूप्यादपि समासोक्तिर्दृश्यते।

यहाँ गेंद खेलती नायिका को देखकर उस नायिका पर आसक्त कोई प्रेमी कह रहा है- हे कन्दुक! तु धन्य हो, जो इस सुन्दरी नायिका से सेवित हो रहे हो। इसका (नायिका

का) स्तन भार विशेष चंचल हो रहा है। केश पाश बिखर गए हैं। हरावली हिल रही है। झूलते हुए कुण्डल से गण्डस्थल (कपोल) शोभित हो रहा है। मुख कमल पसीने से युक्त हो गया है। बार-बार (तुम पर) हाथ से प्रहार करने से इसके श्वास अधिक हो गए हैं। (इस तरह प्रेम पूर्वक यह तेरी सेवा कर रही है।)

यहाँ वर्ण्यमान कन्दुक वृत्तान्त में 'चंचल कुचभार' आदि क्रिया विशेषण साम्य से विपरीत रति में आसक्त नायिका का वृत्तान्त प्रतीत हो रहा है। पहले (कारिकागत) उदाहरण में विशेषण श्लिष्ट था पर यहाँ विशेषण श्लिष्ट नहीं है, यही दोनों उदाहरणों में भेद है। सारूप्य से भी समासोक्ति होती है।

यह उदाहरण इसलिए दिया गया कि 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' वाले उदाहरण में 'रक्त' विशेषण श्लिष्ट था। उससे (रक्त से) लाल और रागी दोनों अर्थ अभिव्यक्त होता था। पर यहां विशेषणश्लिष्ट नहीं है। गेंद खेलने के समय, स्तन भार का चंचल होना, केशपाश का बिखरना, हारावली का झूलना, कुण्डल का हिलना, मुख पर पसीना (स्वेद बूँद) आना, श्वास अधिक होना, सामान्य बातें हैं। ठीक यही सब तब घटित होना सम्भव है जब नायिका नायक पर आसक्त है और बलात् उसे अपने वश में करना चाहती है, नायक उसके पास आना नहीं चाहता है। विपरीत रति में, नायक नायिका पर नहीं, नायिका नायक पर हावी (अक्रान्त) होती है। देखने वाले को यह प्रतीत होता है कि नायिका किसी से जबरन शृंगार चाहती है। अतः यहाँ उसने गेंद खेलने के बहाने परनायकासक्त नायिका का वर्णन समास (संक्षेप) में साथ-साथ कर दिया। यहाँ कुचभार का हिलना आदि जो खेलने रूप क्रिया का विशेषण है श्लिष्ट नहीं है। अपितु यह जैसे खेलने की अवस्था में घटित हो रहा है। ठीक वैसे ही नायक को बलात् ग्रहण करने की अवस्था में भी घटित होता है। यहाँ केवल विशेष्य (गेंद) पर ही नायक वृत्तान्त घटित नहीं होता अपितु सभी क्रिया विशेषण सामान्य रूप से दोनों ओर (प्रस्तुत) गेंद क्रीड़ा वृत्तान्त और अप्रस्तुत (नायकाकर्षण वृत्तान्त) समान रूप से घटित होता है।

विशेषण साम्य से समासोक्ति होती है, यह तो पहले तथा दूसरे उदाहरण से स्पष्ट

हो गया। अब कहते हैं कि कहीं-कहीं सारूप्य सम्बन्ध होने पर भी समासोक्ति अलङ्कार होता है। इस तथ्य को आगे स्पष्ट करते हैं-

यथा वा (उत्तर राम चरितम् 2/27)

पुरा यत्र स्त्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
वहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं दृढ़यति॥

अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात्कुटुम्बिषु धनसंतानादिसमद्ध्यसमृद्धिविपर्यासं प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादेर्वृत्तान्तः प्रतीयते।

जहाँ पहले नदी की धारा बहती थी वहाँ अब नदी का किनारा है। वृक्षों के घन और विरल भाव का विपर्यास (जहाँ घन था वहाँ विरल और जहाँ विरल था वहाँ घन) हो गया है। बहुत दिनों के बाद देखने से यह वन दूसरा ही मालूम होता है, पर पर्वतों की स्थिति से 'वही वन' है यह विश्वास होता है।

यहाँ प्रस्तुत वर्णन में वन के सारूप्य से कुटुम्बियों की धन-समृद्धि संतानादि की वृद्धि और अल्पता होने से तत्समाश्रित नगर, गाँव का वृत्तान्त प्रतीत हो रहा है।

यह जंगल बहुत दिन देखने के बाद दूसरा (वन) जैसा दिख रहा है। तात्पर्य यह है कि बहुत दिन बीतने के कारण जंगल की स्थिति बदल गई है। जहाँ धारा बहती थी वहाँ धारा के बदल जाने से अब किनारा हो गया है। जहाँ कहीं-कहीं वृक्ष थे, वहां अब घने जंगल हो गए हैं, और जहाँ घने थे वहाँ (पेड़ों के कट जाने आदि से) पेड़ कम हो गए हैं। यह वर्णन अप्रस्तुत नगर या गाँव का वृत्तान्त अभिव्यञ्जित करता है। जैसे कोई आदमी बहुत दिनों बाद अपने गांव या नगर लौटे और यहाँ अपने संबंधियों की स्थिति विपर्यास (संयोगवश अमीर गरीब हो जाये, गरीब अमीर हो जाये, कुटिया महल बन जाये, महल वाले दरिद्र होकर कुटिया में रहने लगे) को देखकर उसे गाँव दूसरे जैसा ही लगता है। यहाँ वन वर्णन (प्रस्तुत) में ग्राम वर्णन (अप्रस्तुत) अभिव्यञ्जित हो रहा है। अतः प्रस्तुत से

अप्रस्तुत की समासत्वेन व्यञ्जना होने से समासोक्ति अलंकार है। यहाँ एक शंका आती है कि विशेष्य (वन) में ग्राम के आरोप की अभिव्यञ्जना होती है विशेषण में (श्लिष्ट या अश्लिष्ट रूप से) नहीं होता है। जैसे पूर्व उदाहरण 'चन्द्रश्चुम्बति.....' में रक्त पद चन्द्रमा और नायक दोनों पक्ष में लग जाता है। वा कन्दुक क्रीड़ा वाले वर्णन का विशेषण अप्रस्तुत अर्थ में भी समान रुप से लगता है। उसी तरह यहाँ वन वर्णन में विशेषण (धनविरलभावादि) प्रस्तुत नगरादि में नहीं लगता है। तब यहां समासोक्ति अलङ्कार कैसे होगा। इस शंका का समाधान करते हुए लिखते हैं-

अत्र च प्रस्तुताप्रस्तुत साधारण विशेषणवलात् सारूप्यबलाद्वायदप्रस्तुत वृत्तान्तस्य प्रत्यायनं तत्प्रस्तुते विशेष्ये तत्समारोपार्थं, सर्वथैव प्रस्तुतानन्वयिनः कविसंरम्भगोचरत्वायोगात्। ततश्य समासोक्ताव प्रस्तुत व्यवहार समारोपश्चारुता हेतुः न तु रूपक इव प्रस्तुतेऽप्रस्तुत रूप समारोपोऽस्ति। 'मुखं चन्द्रः' इत्यत्र मुखे चन्द्रत्वारोपहेतु चन्द्रपद समभिव्याहारवत् 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' इत्यादि समासोक्त्युदाहरणे चन्द्रादौ जारत्वाद्यारोपहेतोस्तद्वाचकपदसमथिव्याहारस्याभावात्।

यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत साधारण विशेषण के बल से या सारूप्य के बल से जो अप्रस्तुत वृत्तान्त की व्यञ्जना होती है, उसमें प्रस्तुत विशेष्य में ही अप्रस्तुत का आरोप (प्रधान) है, क्योंकि कवि कर्म में ऐसा कोई प्रयोग नहीं होता है, जो प्रस्तुत से सम्बद्ध नहीं हो। इसलिए समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप चारुत्व का कारण होता है। रूपक की तरह ही यहाँ प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के रूप का आरोप नहीं होता है। 'मुख चन्द्रः' इस पद में मुख पर चन्द्रत्व के आरोप का कारणभूत चन्द्र-पद स्पष्ट कहा गया है। जबकि 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' इत्यादि समासोक्ति के उदाहरण में चन्द्रादि पर जारत्वादि के आरोप का कारणभूत जार आदि पद का प्रयोग नहीं हुआ है।

यहाँ स्पष्टीकरण इस तरह दिया गया है कि प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का जो आरोप होता है, चाहे वह विशेषण के बल पर हो या सारूप्य के बल पर। तात्पर्य यही होता है कि उस व्यञ्जित अप्रस्तुत वृत्तान्त का प्रस्तुत पर समारोप हो। प्रस्तुत उदाहरण में वन में जो ग्राम

नगर का वृत्तान्त अभिव्यञ्जित होता है, उसका कारण पेड़ के घनविरल भाव का होना आदि है। जैसे पेड़ों की सघनता और विरलता को देख कर यह दूसरा वन-सा प्रतीत होता है, उसी तरह ग्राम या नगर गत लोगों की समृद्धि और दरिद्रता के उलट-पुलट हो जाने पर गाँव भी दूसरा जैसा ही लगता है, क्योंकि जहाँ पहले झोपड़ी थी वहाँ महल खड़ा होता है, जहाँ मैदान थे वहाँ खेत दीखते हैं, जहाँ खेत थे वहाँ मैदान देखते हैं। यहाँ तत्तत् विशेषण की समरूपता से व्यञ्जित सादृश्य की प्रतीति होती है। प्रायः कवि की व्यञ्जनाशक्ति से प्राप्त, प्रस्तुत से असम्बद्ध नहीं होता है। अतः दोनों का साम्य होता ही है। दीक्षित जी ने विशेषण साम्य या सारूप्य साम्य दोनों में समासोक्ति माना है। इस सादृश्य (सारूप्य) से समासोक्ति होने वाले तथ्य को पं. राज स्वीकार नहीं करते। वो विशेषण साम्य में ही समासोक्ति मानते हैं। सारूप्य सम्बन्ध वाले भेद के पक्ष में दीक्षित जी कहते हैं कि सारूप्य होने पर रूपक की प्रतीति होती है पर रूपक और समासोक्ति में यह भेद है कि समासोक्ति में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप ही चारुत्व बढ़ाता है। केवल रूप सादृश्य नहीं और रूपक 'मुख चन्द्र' पद में मुख पर चन्द्रत्व का आरोप जो होता है, तो वहाँ जिसका आरोप होता है वह स्पष्ट कहा गया होता है। जैसे मुख और चन्द्र। लेकिन पूर्व दत्त उदाहरण 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' में चन्द्रमा पर जार (परनायक) का आरोप है, लेकिन जार पद का वाचक नहीं है। उसी तरह वन वर्णन में भी वन पर ग्राम नगर का आरोप है, पर ग्राम नगर पद वाचक महीं है। अतः यहाँ सारूप्य में भी समासोक्ति होता है।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि यदि चन्द्रमा पर जारत्व के आरोप का वाचक नहीं होने से समासोक्ति मानते हैं और मुखचन्द्र में चन्द्र के वाचक होने पर रूपक मानते हैं तो जैसे एक देश विवर्ति रूपक में सादृश्य आर्थ भी होता है उसी तरह यहाँ वाचक शब्द के अभाव में शाब्द नहीं आर्थ मान लेने पर तो रूपक हो सकता है। इस समस्या का समाधान करते हुए लिखते हैं-

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैस्सह किन्नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्त्ततरं ररास॥

इत्येकदेशविवर्तिरूपकोदाहरण इव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतरूप समारोपगमकस्याप्यभावात्। तत्र हि 'विद्युन्नयनैः' इत्यत्र निरीक्षणागुण्यादुत्तरपदार्थपधानरूपमयूरव्यंसकादि समास व्यवस्थितादुत्तरपदार्थभूत नयनान्वयानुरोधात्- पयोदेऽनुक्तमपि द्रष्टृपुरुषत्वरूपणं गन्यते। न चेह तथा निरीक्षण वत् त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धुः'' इति श्लोके सेतु कृत्वादिवच्चाप्रस्तुतसाधारणवृत्तान्त उपात्तोऽस्ति।

रात्रि में विद्युत रूप आँखों से 'अभिसारिका' के मुख को देखकर (उसे चाँद समझकर) क्या मैंने अपनी धारा पतन के साथ चाँद को उगल दिया है, यह सोचकर मेघ जोर से चिल्लाने लगा।

इस एकदेशविवर्ति रूपक उदाहरण की तरह प्रस्तुत में अप्रस्तुत के आरोप में गमक का अभाव है, लेकिन यहाँ 'विद्युन्नयन' इस पद में निरीक्षण गुण के कारण उत्तर पदार्थ प्रधान मयूरव्यंसकादि समास से उत्तर पदार्थीभूत नयन के अन्वयानुरोध में पयोद (मेघ) में बिना कहे हुए भी द्रष्टापुरुषत्व का आरोप व्यञ्जित होता है। इस निरीक्षण क्रिया की तरह या 'त्वय्यागते किमिति....' इस श्लोक में सेतुमन्थकृत्वादि की तरह अप्रस्तुत वृतान्त 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' इत्यादि में उपात्त नहीं है।

तात्पर्य यह है कि एकदेशविवर्ति रूपक में एक आरोप दूसरे आर्थ आरोप का कारण होता है। जैसे इस 'निरीक्ष्य ...' श्लोक में निरीक्षण क्रिया के आधार पर मेघ में द्रष्टा का आरोप है और यह द्रष्टा का आरोप शाब्द नहीं आर्थ है। लेकिन यहाँ यह आरोप विद्युत पर नयन के आरोप के आधार पर है। विद्युत पर नयन का आरोप नहीं हो तो मेघ पर द्रष्टा का आरोप असिद्ध हो जाएगा, क्योंकि 'नयन' उत्तर पद होने के कारण प्रधान है और इस नयन का सम्बन्ध मेघ से है, अतः मेघ द्रष्टा है। इस तरह एक देश (भाग) में रूपक होने से समस्त श्लोक में रूपक मानना पड़ता है और रूपक प्रसंग में उदाहृत ''त्वय्यागते'' इस श्लोक में सेतुमन्थकृत पद के द्वारा अप्रस्तुत वृत्तान्त का आरोप है। यह सेतमन्थकृत रूप वृत्तान्त प्रस्तुत और अप्रस्तुत पर समान रूप से घटित होता है। लेकिन ''रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा'' इत्यादि उदाहरण में ऐसी स्थिति नहीं है। अतः वहाँ समासोक्ति है रूपक नहीं।

'पुनश्च एक शंका हो सकती है कि जैसे 'सेतुमन्थकृत्' पद प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थों में घटित होता है। इसी तरह 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' में चुम्बति क्रिया से मुख चुम्बन रूप व्यापार का आरोप है ही। चुम्बति पद प्रस्तुत और अप्रस्तुत पर समान घटित होता है। तब यहाँ रूपक क्यों नहीं हो सकता ? इसका समाधान करते हैं-

नापि श्लिष्ट साधारणादिविशेषणसमर्पितयोः प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोरप्रस्ततवृत्तान्तस्य विद्युन्नयनत्वादि प्राधान्यमस्ति। येन तदनुरोधात्त्वं सेतुमन्थकृदित्यत्रेव प्रस्तुतेऽनुक्तमप्य प्रस्तुतरूपसमारोपमभ्युपगच्छेम। तस्माद्विशेषणसमर्पिता प्रस्तुत व्यवहार समारोपमात्रमिह चारुता हेतुः।

यहाँ 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' आदि में साधारण विशेषण के द्वारा समर्पित प्रस्तुत अप्रस्तुत वृत्तान्तों में 'विद्युन्नयनत्वादि' की तरह अप्रस्तुत की प्रधानता है। जिससे उन नियामक तत्त्व के अनुरोध से 'त्वं सेतु-मन्थकृत्' इत्यादि की तरह प्रस्तुत में अनुक्त का समारोप कर लें। इसलिए विशेषणसमर्पित अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप ही (समासोक्ति में) चारुता का कारण होता है।

तात्पर्य यह है कि 'चुम्बति पद' प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में लगता तो है लेकिन जिस तरह रूपक में अप्रस्तुत की प्रधानता होती है, वैसे समासोक्ति में नहीं होती है। रूपक में अप्रस्तुत की प्रधानता होती है। जैसे 'विद्युन्नयन' वाले उदाहरण में उत्तर पद प्रधान होने से प्रधानता नयन की है, क्योंकि निरीक्षण रूप क्रिया उसी नयन से संभव है और इसी क्रिया को प्रधान मानकर मेघ में द्रष्टा का आरोप (आर्थ) करते हैं। यदि अप्रस्तुत नयन की प्रधानता नहीं है तो मेघ में आरोप नहीं होगा और विद्युन्नयन सामासिक पद भी उपयुक्त नहीं होगा। उसी तरह 'सेतुमन्थकृत' आदि उदाहरण में समुद्रमन्थन कार्य अप्रस्तुत विष्णु से सम्भव है। अतः पहले उस अप्रस्तुत का ही बोध होता है तब उस अप्रस्तुत का आरोप प्रस्तुत राजा में होता है। राजा में समुद्रमन्थन की क्षमता नहीं होने से इसकी प्रधानता नहीं है।

इसी 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' आदि में अप्रस्तुत 'जार' की प्रधानता नहीं है। यहाँ

अप्रस्तुत की प्रधानता सिद्ध करने का कोई हेतु नहीं है। अतः यहाँ रूपक नहीं है। यहाँ (समासोक्ति में) चमत्कार का कारण अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप है रूप का आरोप नहीं।

विद्युन्नयन की भाँति शाब्द प्राधान्य न होने पर भी समान विशेषण के बल से अप्रस्तुत की प्राप्ति होने से अप्रस्तुत की आर्थ प्रधानता है इस शंका का समाधान करते हैं-

यद्यपि प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोरिह श्लिष्टसाधारणविशेषणसमर्पितयोर्भिन्नपदोपात्त विशेषणयोरिव विशेष्येणैव साक्षादन्वयादस्ति सप्रधान्यम् तथाप्यप्रस्तुत वृत्तान्तान्वयानुरोधान्न प्रस्तुतेऽप्रस्तुत समारोपोऽङ्गीकार्यः। तथा हि-यथा प्रस्तुत विशेष्ये नास्त्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्यान्वयोगयता तथैव वाऽप्रस्तुतेऽपि जारादौ नास्ति प्रस्तुत वृत्तान्तस्यान्वययोग्यता। एवञ्च समप्रधानयोः प्रस्तुताप्रस्तुत वृत्तान्तयोरन्यतरस्यारोपेऽश्यमभ्युपगन्तव्ये श्रुत एव प्रस्तुतेऽप्रस्तुत वृत्तान्तस्यारोपश्चारुता हेतुरिति युक्तम्।

यद्यपि प्रस्तुत और अप्रस्तुत वृत्तान्त में श्लिष्ट साधारण विशेषण के द्वारा या अश्लिष्ट साधारण विशेषण के द्वारा विशेष्य (प्रस्तुत अप्रस्तुत) की समप्रधानता है, तथापि प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के अन्वय अनुरोध से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप स्वीकार्य है। यद्यपि प्रस्तुत विशेष्य में अप्रस्तुत विशेष्य के अन्वय की योग्यता नहीं है। उसी तरह अप्रस्तुत जार आदि में भी प्रस्तुत चन्द्र आदि वृत्तान्त के अन्वय की योग्यता नहीं है। इस तरह किसी में किसी को अन्वय योग्यता नहीं होने पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वृत्तान्त का एक दूसरे पर आरोप अवश्य स्वीकार करने की अवस्था में जो सुना जाता है, उस प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप चारुता का कारण है। यही मानना उचित है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' आदि में रक्त और चुम्बति आदि साधारण विशेषण के बल पर प्रस्तुत विशेष्य चन्द्र वृतान्त और अप्रस्तुत विशेष्य जार वृतान्त का अर्थ प्राप्त होता है। इस तरह दोनों बराबर हैं। अब इन दोनों में प्रधानता किसकी होगी यह विचारणीय है। प्रस्तुत चन्द्र वृतान्त में अप्रस्तुत जार वृत्तान्त को अन्वित करने की

क्षमता नहीं है और अप्रस्तुत जार वृत्तान्त में भी प्रस्तुत चन्द्र वृत्तान्त को अभिव्यक्त करने की क्षमता (साक्षात्) नहीं है, क्योंकि चन्द्र और जार में कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु रक्तताविशिष्ट चन्द्रमा के द्वारा ऐन्द्रीमुख चुम्बन रूप व्यापार को देखकर जारकृत परनायिका मुख चुम्बन की स्फूर्ति होती है। इस तरह दोनों की प्रधानता (शाब्द या आर्थ) बराबर है। ऐसी परिस्थिति में किसी की प्रधानता नहीं होगी। अतएव कहते हैं कि सर्वप्रथम श्रुत (प्रस्तुत) की अभिव्यक्ति होती है। इसके बाद व्यापार साम्य की व्यञ्जना से जारादि (अप्रस्तुत) वृत्तान्त की स्फूर्ति होती है। इसलिए जो (प्रस्तुत) पहले प्राप्त होता है। वही अप्रस्तुत के आरोप का कारण होगा, ऐसा मानना उचित जान पड़ता है। जबकि रूपक में पहले अप्रस्तुत (विद्युन्नयनादि में) ही प्रधानता अभिव्यक्त होती है।

नन्वेवं सति विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।

विशेषणानां साम्येन यत्र प्रस्तुतवर्तिनाम्।
अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरिष्यते॥

इत्यादीनि प्राचीनानां समासोक्ति लक्षणानि न संगच्छेरन्। प्रस्तुते श्लिष्टसाधारणादि रूप विशेषण समर्पितानुरागपूर्वक वदनचुम्बनाद्यप्रस्तुतवृत्तान्तसमारोपमात्रस्य चारुत्व हेतुत्वाभ्युपगमेन विशेषणसाम्यकृतकामुकाद्यप्रस्तुतधर्मिव्यञ्जनानपेक्षणादिति चेत् उच्यते; स्वरूपतोऽप्रस्तुत वृत्तान्तस्यारोपो न चारुता हेतुः, किन्त्वप्रस्तुत कामुकादि सम्बन्धित्वेनावगम्यमानस्य तस्यारोपः तथाभूतस्यैव रसानुगुणत्वात्। न च तावदवगमने विशेषण पदानां सामर्थ्यमस्ति। अतः श्लेषादिमहिम्ना विशेषणपदैः स्वरूपतः समर्पितेन वदनचुम्बनादिना तत्सम्बन्धिनिकामुकादावभिव्यक्ते पुनस्तदीयत्वानुसंधानं तत्र भवति। यथा स्वरूपतो दृष्टेन राजाश्वादिना तत्सम्बन्धिनी राजादौ स्मारिते पुनरश्वादौ तदीयत्वानुसंधानं तद्वदिति विशेषणसाम्येन वाच्योपस्कारकस्यप्रस्तुत व्यञ्जनस्यास्त्यपेक्षा। अत एव श्लिष्ट विशेषणायामिव साधारण विशेषणायामप्यप्रस्तुतव्यवहारसमारोप इत्येव प्राचीनानां प्रवादः। कन्दुके

व्यावल्गत्कुचभारत्वादि विशिष्ट वनिता सेव्यत्वस्य कामुक सम्बन्धित्वेनैव समारोपणीयत्वात्। स्वरूपतः कन्दुकेऽपि तस्य सत्वेनासमारोपणीयत्वात्।

किञ्च सारूप्यनिबन्धनत्वेनोदाहृतायां समासोक्तावप्रस्तुतवृत्तान्तस्याशब्दार्थस्या प्रस्तुत वृत्तान्तरुपेणैवावगम्यतया तेन रूपेणैव तत्र समारोपसिद्धेरन्यत्रापि तथैव युक्तमिति युक्तमेव प्राचीनानां लक्षणमिति विभावनीयम्॥ ६०॥

इस तरह विशेषण साम्य से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर समासोक्ति अलङ्कार होता है। (ऊपर व्याख्या के अनुकूल धर्मिविशिष्ट व्यापार का समारोप होने से निम्न प्राचीनोक्त लक्षण असंगत हो जाएगा। यथा) विशेषणों के साम्य से जहाँ प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, वहाँ समासोक्ति होता है (प्रतापरुद्रीय, विद्यानाथ)

इत्यादि प्राचीन आलङ्कारिकों का समासोक्ति लक्षण संगत नहीं होता। (यदि यह कहा जाये)- प्रस्तुत वर्णन पर श्लिष्ट साधारण विशेषण से अनुरागपूर्वक वदन चुम्बन आदि के समारोप मात्र की चारुता के कारण हैं और विशेषण के साम्य से कामुक आदि धर्मी की व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है। तो कहते हैं कि- स्वरूपतः अप्रस्तुत वृत्तान्त का अरोप चारुता का कारण नहीं है, किन्तु अप्रस्तुत कामुक आदि के सम्बन्ध से अवगम्यमान अप्रस्तुत का आरोप रसानुगुणक होता है और विशेषण पदों में जारत्वादि रूप अप्रस्तुत के बोधन की क्षमता नहीं है। अतः श्लेषादि की महिमा से विशेषण पद से स्वरूपतः वदन चुम्बनादि के द्वारा तत्सम्बन्धी कामुक आदि की अभिव्यक्ति होती है। तदनन्तर उस कामुक के साथ वदन चुम्बनादि को जोड़कर प्रतीति होती है। जैसे स्वरूप से राजा के अश्व को देखने पर पहले घोड़े के सम्बन्धी राजा का ज्ञान होता है, तदनन्तर पुनः राजा का घोड़ा है यह अनुसंधान होता है। उसी तरह विशेषण साम्य से वाच्य के उपस्कारक अप्रस्तुत व्यञ्जन की अपेक्षा है। अतएव श्लिष्ट विशेषण की तरह अश्लिष्ट विशेषण वाले स्थान पर भी अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप होता है। यही प्राचीनों का कहना है। (ऐसा मानना चाहिए) गेंद पर हिलते हुए सतनभार आदि से विशिष्ट वनिता के द्वारा सेव्यत्व का कामुक सम्बन्धत्व से ही आरोप होता है। स्वरूपतः कन्दुक में भी पाये जाते हैं, पर कामुक सम्बन्ध के बिना ये आरोप नहीं हो सकते।

किञ्च सारूप्यनिबन्धनरूप समासोक्ति में अप्रस्तुत वृत्तान्त के वाच्यार्थ नहीं होने पर अप्रस्तुत वृत्तान्त रूप में ही होता है और इसी रूप में उसके (अप्रस्तुत) के आरोप की सिद्धि भी होती है। यही युक्त है। अतः प्राचीन का लक्षण उपयुक्त ही है ऐसा जानना चाहिए।

प्रस्तुत विश्लेषण भाग थोड़ा उलझा हुआ सा दिखता है। इसको स्पष्ट करने के लिए यहाँ समस्या समाधान मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ ताकि समझने में कुछ सहायता हो सके।

प्रश्न – यदि प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप ही समासोक्ति में चारुता का कारण होता है, तो विद्यानाथ कृत यह लक्षण असङ्गत हो जाएगा कि विशेषण के साम्य से प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर समासोक्ति होता है।

उत्तर – केवल विशेषण के सारूप्य से अप्रस्तुत के स्वरूपतः आरोप से कोई चमत्कार नहीं होता। जैसे रक्तश्चुम्बतिचन्द्रमा में स्वरूप से वदन चुम्बन का आरोप हो जाए तो वह चारुत्व का कारण नहीं होगा, क्योंकि चन्द्रमा के द्वारा निशा के चुम्बन में (अचेतन होने से) कोई चमत्कार नहीं होता। चुम्बति पद को देखने से ही स्वरूप साम्य से वदन चुम्बन की व्यञ्जना तो होती है पर यह चमत्कार तब होता है जब चुम्बन को कामुक से जोड़कर देखें। तब यह वृत्तान्त आरोपित होता है कि कामुक परकीया के मुख का चुम्बन करता है। जैसे राजा के घोड़े को देखने के बाद तुरंत राजा का स्मरण हो आता है। परञ्च यदि केवल घोड़े का पृथक् और राजा का पृथक् स्मरण हो, तो चमत्कार नहीं होता। तब मुझे इस घोड़े का सम्बन्ध राजा से जोड़ने पर यह राजा का घोड़ा है, ऐसा ज्ञान होता है। तब वह चमत्कारी होता है। उसी तरह स्वरूपतः चुम्बन को जब तक तत्सम्बन्धी कामुक के साथ नहीं जोड़ा जाए तब तक चमत्कार नहीं होता। अतः व्यापार का आरोप होता ही है।

प्रश्न– क्या शिलष्ट और अश्लिष्ट दोनों तरह के विशेषणों में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होता है ?

उत्तर – जी हाँ, शिलष्ट विशेषण वाला उदाहरण तो ऊपर में देख लिया। अब

अश्लिष्ट वाला उदाहरण 'व्यावल्गत्कुचभार' को देखिए। 'हिलते हुए स्तन आदि विशेषण से युक्त वाला' के द्वारा गेंद का सेवन कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं करता। यह चमत्कारी तब होता है जब गेंद पर कामुक का आरोप हो। कामुक का आरोप होने पर किसी नायिका के द्वारा बलात् नायक पर अधिकार जमाने का वृत्तान्त अभिव्यञ्जित होगा। तब यह वर्णन चमत्कारी होगा। यदि कामुक के साथ गेंद पर आरोप को न देखा जाए तो कामुकत्व स्पष्ट नहीं होगा, क्योंकि स्तन का हिलना आदि तो गेंद खेलना में भी होता है। अतः यहाँ भी **अप्रस्तुत धर्मी से युक्त व्यवहार समारोप ही चारुता का कारण होता है।**

प्रश्न– श्लिष्ट और अश्लिष्ट विशेषण वाले उदाहरण में तो विशेषण प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पर घटित होता है इसलिए आपने अपने तर्क को सिद्ध कर दिया, पर आपके अनुसार सारूप्यनिबन्धना समासोक्ति में विशेषण वाच्यार्थ नहीं है। तब वहाँ समासोक्ति कैसे होगी ?

उत्तर– यह सही है कि सारूप्यनिबन्धना में विशेषण (अप्रस्तुत और प्रस्तुत में घटित होने वाला) वाच्य नहीं होता परञ्च पूरे प्रस्तुत वृत्तान्त पर पूरे अप्रस्तुत वृत्तान्त का आरोप होता है। जैसे– पुरा यत्र स्रोतः इत्यादि उदाहरण में वन में वृक्षों के घन विरल भाव के विपर्यास पर कुटुम्बियों के समृद्धि असमृद्धि के विकास का आरोप हाता है। इस तरह प्रस्तुत विशेषण से ही अप्रस्तुत की स्फूर्ति हो जाती है। अतः प्राचीन के द्वारा कथित लक्षण उपयुक्त ही है। यहां प्रस्तुत धर्मी के व्यापार पर धर्मी समेत अप्रस्तुत के धर्मी तथा तत्सम्बद्ध व्यापार का आरोप होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप को कार्य लिङ्ग तथा विशेषण तीनों आधार पर माना है–

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तूनः।

दीक्षित जी ने कारिका (समासोक्ति लक्षण) 'चन्द्रालोक' से पूरी मिलती है। प्रायः

वही कारिका है।

२४. परिकरालङ्कारः

अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः॥ 61॥

अत्र सुधांशुकलितोत्तंसः अति विशेषणं तापहरण सामर्थ्याभिप्रायगर्भम्। यथा वा (कुमार संभवम्-3/10)

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं को मम धन्विनोऽन्ये॥

अत्र 'पिनाकपाणेः' इति हर विशेषणं कुसुमायुध इत्यर्थं लभ्याहमर्थविशेषणं च सारासारायुधत्वाभिप्रायगर्भम्। यथा वा-

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते॥

अत्र शरीर विशेषणानि तस्य हेयत्वेनासंरक्षणीयत्वाभिप्रायगर्भाणि।

परिकर अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ विशेषण किसी अभिप्रायः विशेष से लगाया जाता है। जैसे सुधांशु से शोभित शिर वाले शङ्कर आप लोगों का ताप हरण करें।

यहां 'सुधांशु से शोभित शिर' यह विशेषण तापहरण के सामर्थ्य के अभिप्रायः से ही किया गया है। जैसे- दूसरा उदाहरण।

आपकी कृपा से पुष्पायुध होते हुए भी केवल मधु (वसन्त) को सहायक (रूप में) लेकर पिनाकपाणि हर (शंकर) के धैर्य को भी मैं डिगा सकता हूँ, तो फिर अन्य धनुषधारियों का कहना ही क्या ?

यहाँ हर का विशेषण पिनाकपाणि तथा कुसुमायुध यह अर्थलभ्य 'अहम्' (कामदेव) का विशेषण बलशाली और अबलशाली होने से अभिप्रायः से युक्त है। जैसे-

जो सभी अपवित्रता का घर है, जो कृतघ्न है, जो विनाशशील है ऐसे शरीर के लिए भी मूढ़ लोग पाप किया करते हैं।

यहाँ शरीर के सभी विशेषण उसकी (शरीर की) हेयता के कारण अरक्षणीयत्व के अभिप्रायः से युक्त हैं।

क्रमशः सभी के साभिप्रायत्व का विश्लेषण इस प्रकार है-

1. पहले उदाहरण में शिव का विशेषण चन्द्रमा (सुधांशु) से युक्त शिर वाला है। यहाँ शिव को ताप हारक कहा गया है। ताप का हरण करने के लिए शीत की अपेक्षा अधिक रहती है। गर्मी की शान्ति चन्द्रज्योत्सना करती है। अतः जो शिव चन्द्रज्योत्सना (शीतलता) से सुशोभित है, वो ताप हरण करे। यह विशेषण ताप हरण रूप क्रिया की सिद्धि में विशिष्ट भाव रखता है। अतः यह उद्देश्य पूर्ण विशेषण है।

2. दूसरा उदाहरण 'कुमार संभवम्' महाकाव्य से उद्धृत है। इसमें कामदेव इन्द्र के सामने अपनी कुशलता का परिचय बढ़ा-चढ़ाकर दे रहा है। इसी क्रम में प्रस्तुत श्लोक में शंकर का विशेषण 'पिनाकपाणि' और स्वयं का विशेषण 'कुसुमायुध' देता है। तात्पर्य है कि मैं कुसुमायुध (अत्यन्त अल्प शक्ति वाला) होते हुए भी पिनाकपाणि (अति विशाल धनुष धारण करने वाले) को हरा सकता हूँ। यहाँ पुष्पायुध में अपनी असारता और पिनाकपाणि से शङ्कर की बलशालिता का बोधन अपेक्षित है। अतः यह विशेषता उद्देश्यपूर्ण है।

3. तीसरे उदाहरण में शरीर के सभी विशेषण- (अपवित्रता का घर आदि) सोद्देश्य हैं, क्योंकि इन सभी विशेषणों से यह सूचित होता है कि यह शरीर किसी भी तरह रक्षा के लायक नहीं है। इनकी रक्षा के प्रयत्न में केवल मूर्खता ही स्पष्ट होती है। यदि यह शरीर अपने गुण विशेषण के बल पर रक्षणीय होता तब शरीर की रक्षा में प्रयत्नशील व्यक्ति मूर्ख नहीं कहलाता, अतः यहाँ प्रयुक्त विशेषण उद्देश्यपूर्ण है।

ऐसे स्थलों पर ये विशेषण "अधिक पदत्व" नामक दोष की श्रेणी में नहीं आते हैं। वहाँ वही पद दोषी होता है जो साभिप्राय नहीं होता है।

यथा वा-

व्यास्थं नैकतया स्थितं श्रुतिगणं, जन्मी न वल्मीकतो
नाभौ नाभवमच्युतस्य, समुहद्धाष्यं च नाभाषिषम्।
चित्रार्था न वृहत्कथामचकथं, सूत्राम्णि नासं गुरु-
-र्देव! त्वद्गुणवृन्दवर्णनमहं कर्तुं कथं शक्नुयाम॥

अत्र "श्रुतिगणं 'व्यास्थम्' इत्यादि विशेषणानि स्वस्मिन् व्यासाद्यसाधारण कार्यकर्त्तव्यनिषेधमुखेन 'नाहं व्यासः' इत्याद्याभिप्रायगर्भाणि। तत्राद्ययोरुदाहरणयोरेकैकं विशेषणम्, समनन्तरयोः प्रत्येकं बहूनि विशेषणानि। तत्रापि प्रथमोदाहरणे सर्वाणिविशेषणान्येकाभिप्रायगर्भाणि पदार्थरूपाणि च द्वितीयोदाहरणे भिन्नाभिप्रायगर्भाणि वाक्यार्थरूपाणि चेत् भेदः। एतेषु व्यङ्ग्यार्थसद्भावेऽपि न ध्वनिव्यपदेशः। शिवस्य तापहरणे, मन्मथस्य कैतुमिकन्यायेन सर्वधन्विधैर्यभञ्जकत्वे शरीरसंरक्षणार्थं पापमाचरतां मूढत्वे, स्वस्य वर्णनीयराजगुणकथनासक्तत्वे च वाच्य एवोपस्कारत्वात्। अतएव व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यपरिकरत्वात् परिकर इति नामास्यालङ्कारस्य।"

मैंने वेद को विस्तारित नहीं किया, वल्मीक से मेरा जन्म नहीं हुआ, विष्णु की नाभि पर मैं उत्पन्न नहीं हुआ, न मैंने महाभाष्य की रचना की है। अत्यन्त विचित्र बृहत्कथा भी मैंने नहीं कही और न मैं देवराज का गुरु हूँ, तो हे देव! आपके गुण समूह का वर्णन करने में मैं कैसे समर्थ हो सकता हूँ।

यहाँ 'श्रुतिगणं व्यास्थम्' इत्यादि विशेषण अपने में व्यासादिकों के असाधारण कर्त्तव्य निषेध से मैं व्यास नहीं हूँ, यह अभिप्रायः है। यहाँ पहले के दो उदाहरण "सुधांशुकलित्तो..." और ..... तव .... प्रसादात् में एक विशेषण है, और बाद वाले दोनों उदाहरणों में ("सर्वाशुचि..... और व्यास्थं ....") एकाधिक विशेषण है। यहाँ भी पहले उदाहरण में (सर्वाशुचि ....) सभी विशेषण एक अभिप्रायः से कहे गए तथा पदार्थरूप हैं तथा दूसरे उदाहरण में सभी विशेषण पृथक्-पृथक् अभिप्रायः से तथा वाक्यार्थ रूप में है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है। इन सभी में व्यङ्ग्यार्थ रहते हुए भी ध्वनि व्यवहार नहीं

होगा, क्योंकि शिव के तापहरण में, मन्मथ (कामदेव) का कैमुतिक न्याय से सभी धनुषधारियों के धैर्य को तोड़ने में, शरीर सुरक्षा के लिए पाप करने वालों की 'मूढ़ता' में तथा अपने वर्णनीय राजा के गुणों के वर्णन में असमर्थता में वाच्य का ही उपस्कारक व्यंग्य होता है। अतएव व्यङ्ग्यार्थ के वाच्य का परिकर (पोषक) होने से इस अलङ्कार का नाम परिकर है।

इस अंश में कुछ तथ्य स्पष्ट करना आवश्यक सा जान पड़ता है। जैसे- 'सुधांशु कलितोत्तंस' और तव प्रसादात् में विशेषण पदार्थ रूप है और शेष दोनों में वाक्यार्थ रूप। कामदेव में सर्वधन्विभञ्जकत्व का ज्ञान कैमुतिक न्यास से व्यंग्य होने पर भी यहाँ ध्वनि नहीं होता है। कैसे ?

'सुधांशुकलित्तोतंसः' यह पद स्व अर्थ के बल शंकर के तापहरणत्व रूप अभिप्राय को पुष्ट करता है तथा 'पिनाकपाणि' या 'कुसुमायुध' यह पद भी बली और निर्बल का बोध पदार्थ रूप में ही कराता है, जबकि 'सर्वाशुचि----' इस उदाहरण में सभी विशेषण मिलकर शरीर का असुरक्षणीय होना अभिव्यक्त करते हैं। तब इसकी रक्षा के लिए पाप करने वाला मूर्ख है, यह वाक्यार्थ होता है। इसी तरह 'व्यास्थं नैकतया' में भी कवि राजा के गुण वर्णन की असमर्थता व्यक्त करता है। यहाँ भी वाक्यार्थ रूप में ही यह अर्थ प्राप्त होता है। सर्वाशुचि के सभी विशेषण शरीर के लिए ही प्रयुक्त हैं जो उसकी अनुपयोगिता को बतलाता है। 'व्यास्थं' में सभी विशेषण पृथक् अर्थ को व्यक्त करते हैं पर वाक्यार्थ रूप में कवि की असमर्थता को व्यक्त करता है अर्थात् मैं व्यास नहीं हूँ, वाल्मीकि नहीं हूँ, ब्रह्मा नहीं हूँ, पतञ्जलि नहीं हूँ, गुणाढ्य नहीं हूँ, बृहस्पति नहीं हूँ इत्यादि यही सूचित करते हैं कि आपके गुण वर्णन में यही लोग समर्थ हो सकते हैं- मैं नहीं। इस तरह पहले दोनों उदाहरण में पदार्थ और बाद वाले दोनों उदाहरण में वाक्यार्थ हैं।

कामदेव का पुण्यबाण होने से अल्पबलता और शंकर के पिनाकपाणि होने से सर्वश्रेष्ठ बलशालिता बोधित है। साथ ही साथ 'कोममधन्विनोऽन्ये' कथन से 'सर्वधन्विधैर्यभञ्जकत्व' रूप अर्थ कैमुतिक न्याय से प्राप्त होता है। किम् उत् यह प्रश्न

होने प जब अर्थ के बल वाक्य की पुष्टि होती है तब वह न्याय होता है। जैसे शंकर का भी धैर्य भङ्ग कर सकता हूँ, तो फिर अन्य का क्या? अर्थात् जब शङ्कर जैसे धुर्धर को हरा सकंता हूँ तो फिर दूसरा कैसे टिक सकता है। बड़े को हराने से छोटे पर विजय स्वतः सिद्ध होता है। अतः यह 'सर्वधन्विधैर्य भद्धजकत्व' कैमुतिक न्याय से प्राप्त होता है।

व्यंग्य होने पर ध्वनि प्रयोग वहाँ होता है जहाँ ध्वनि की प्रधानता है वाच्य की नहीं। जहाँ ध्वनि वाच्य का पोषक बन जाता है, वहाँ वाच्य की प्रधानता होने से गुणीभूत व्यंग्य ही होता है। इन सभी उदाहरणों में विशेषण की व्यञ्जकता 'तापहरण'सर्वधन्विभञ्जकत्व' 'मूढ़त्व' 'राजगुणवर्णनासमर्थत्व' रूप वाच्य को ही पुष्ट करती है।

वाच्य का परिकर होने से ही इसे परिकर अलंकार कहते हैं।

सप्रयोजन विशेषण के होने पर केवल अपुष्टार्थ या अधिपदत्व नामक दोष का निवारण मात्र होने से परिकर अलङ्कार नहीं है। यह अलंकार वहीं होगा, जहाँ एक विशेष्य के लिए बहुत सारे विशेषण साभिप्राय हो। अन्यथा यह दोष परिमार्जन मात्र होगा, अलंकार नहीं। इस पक्ष का समाधान करने के लिए लिखते हैं –

केचितु निष्प्रयोजनविशेषणोपादानेऽपुष्टार्थत्वदोषतयोक्तत्वात् सप्रयोजनत्व विशेषणस्य दोषाभावमात्रं न कश्चिदलङ्कार एकनिष्ठतादृशानेकविशेषणोपन्यासे परं वैचित्र्यविशेषात्परिकर इत्यलङ्कारमध्ये परिगणित इत्याहुः। वस्तुतस्त्वनेक विशेषणाोपन्यास एव परिकर इति न नियमः। श्लेषयमकादिम्बपुष्टार्थदोषाभावे तत्रैकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्तिविशेषसद्धावात् परिकरत्वोत्पत्तेः। यथा वा –

अतियजेत् निजां यदि देवतामुभयतश्च्यवते जुषतेऽप्यधम्।
क्षितिभृतैव सदैवतका वयं वनवताऽनवता किमहि द्रुहा॥

अत्र हि पुरूहूतपूजोद्युक्तान्नन्दादीन्प्रति भवगतः कृष्णस्य वाक्ये 'गोवर्धन गिरिरेव चास्माकं रक्षकत्वेन दैवतमिति स एव पूजनीयः, न त्वरक्षकः, पुरूहूतः' इत्येवं परम्, वनवतेत्ति गोवर्धनगिरेर्विशेषणं, काननत्वान्निर्झरादिमत्वाच्च पुष्पमूलफल

तृण जलादिभिराण्यकानामस्माक मस्मद्धनानां गवां चायमेव रक्षक इत्यभिप्रायगर्भम्।

एवमत्र साभिप्रायैकविशेषणविन्यासस्यापि विच्छित्तिविशेषवशादस्य साभिप्रायस्यालङ्कारत्वसिद्धावन्यत्रापि 'सुधांशुकलितोत्तंस' इत्यादौ तस्यात्मलाभो न निवार्यते। अपि च एक पदार्थ हेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार इति सर्वसम्मतं, तद्वदेकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्यालङ्कारत्वं युक्तमेव॥ ६२॥

कुछ लोगों का मत है कि निष्प्रयोजन विशेषण के उपादान पर अपुष्टार्थ नामक दोष होता है और सप्रयोजन विशेषण उस दोष का परिमार्जन करता है। अत: यह दोषाभाव मात्र है, कोई अलङ्कार नहीं। एक विशेष्य के लिए अनेक विशेषणों (सप्रयोजन) के रखने पर विशिष्ट वैचित्र्य (चमत्कार) होने से यह परिकर अलङ्कार के बीच गिना जाता है (अप्पय दीक्षित इस मत से सहमत नहीं है अत: कहते हैं) - वस्तुत: अनेक विशेषणों के उपन्यस्त होने पर ही परिकर अलङ्कार होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। श्लेष यमक आदि अलंकारों में अपुष्टार्थदोषाभाव के कारण एक भी विशेषण के साभिप्राय होने पर विशेष वैचित्र्य के कारण परिकरत्व की उत्पत्ति होती है। जैसे -

(कृष्ण गोपों से कहते हैं)- जो अपने निजी देवता को छोड़कर अन्य की पूजा करता है, वह दोनों लोकों से गिरता है और पाप का भागी होता है। हम लोग क्षितिभृत (गोवर्धन पर्वत) से ही सदैवत (देवता वाले) हैं, जो वन से युक्त हैं। रक्षा नहीं करने वाले इन्द्र से क्या लेना देना?

यहाँ इन्द्र पूजन के लिए तैयार नन्दादि गोपों के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण के वाक्य में- गोवर्धन पर्वत ही हम लोगों का रक्षक होने के कारण देवता हैं, अत: वही पूजनीय है न कि अरक्षक इन्द्र। इसी तरह 'वनवता' वह गोवर्धन का विशेषण जंगल होने से निर्झर आदि से युक्त होने से फूल फल-मूल जल आदि से सम्पन्न होने के कारण जंगल निवासी हम लोगों की गायों का यही रक्षक हैं यह अभिप्राय है। इस तरह यहाँ एक ही साभिप्राय विशेषण के विन्यास से वैचित्र्य विशेष के बल से इस (परिकर) अलङ्कार की सिद्धि होती है। इसी तरह दूसरी जगह - 'सुधांशु कलितोत्तंस' आदि में भी एक विशेषण के साभिप्राय होने पर

परिकर अलंकार का वारण नहीं किया जा सकता है और एक पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग को सभी अलङ्कार मानते हैं, उसी तरह एक विशेषण के साभिप्राय होने पर परिकर अलङ्कार का औचित्य है ही।

एक विशेषण के भी साभिप्राय होने पर परिकर होता है। एतत् विषयक दीक्षित जी का अभिमत स्पष्ट है। पर पं. राज जगन्नाथ अपनी परिभाषा में विशेषण में एकाधिक्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं-

विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः (रसगंगाधर) आचार्य विश्वनाथ ने भी लक्षण में बहुवचन का प्रयोग किया है- उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः। (सा. द.)

25. परिकराङ्कुरालङ्कारः

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्करः।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः॥ 62॥

अत्र चतुर्भुज इति विशेष्यं पुरुषार्थचतुष्टयदानसामर्थ्याभिप्रायगर्भम्। यथा वा-

फणीन्द्रस्ते गुणान्वक्तुं लिखितुं हैहयाधिपः।
द्रष्टुमाखण्डलः सक्तः क्वाहमेष, क्व ते गुणाः॥

फणीन्द्र इत्यादि विशेष्यपदानि सहस्रवदनाद्यभिप्रायगर्भाणि॥ 63॥

विशेष्य के साभिप्राय प्रयोग होने पर परिकराङ्कुर अलङ्कार होता है। जैसे - भगवान् चतुर्भुज चारों पुरूषार्थों के दाता हैं।

यहाँ 'चतुर्भुज' यह विशेष्य पुरुषार्थचतुष्टय के दान के सामर्थ्य के अभिप्रायः से युक्त है। जैसे दूसरा उदाहरण-

तुम्हारे गुणों का वर्णन करने में फणीन्द्र, लिखने में हैहयराज, देखने में इन्द्र, समर्थ हो सकते हैं। कहाँ मैं और कहाँ आपके ये गुण?

यहाँ फणीन्द्र आदि विशेष्य पद सहस्रवदनादि अभिप्रायः से युक्त है।

पहले उदाहरण का 'चतुर्भुज' इस अभिप्रायः से प्रयुक्त हुआ है कि वह चार पुरुषार्थ को प्रदान करने में समर्थ है। चार वस्तु प्रदान करने के लिए चार हाथ का होना उपयुक्त है। अतः यह विशेष्य साभिप्राय है।

तथा दूसरे उदाहरण में फणीन्द्र से हजार मुँह वाला, हैहयाधिप से हजारों हाथ वाला, और आखण्डल से हजारों नेत्र वाला, यह अभिप्रायः गुण के वैशिष्ट्य को बताता है। अर्थात् गुण इतना विशाल (पर्याप्त) है कि हजार मुख वाला पूर्ण वर्णन कर सकता है, हजारों हाथ वाला ही लिख सकता है और हजारों नेत्र वाला ही देख सकता है। सामान्यजन न वर्णन कर सकता है, न लिख सकता है न देख सकता है। यहाँ सभी विशेष्य साभिप्राय हैं।

परिकर में विशेषण साभिप्राय होता है और परिकराङ्कुर में विशेष्य साभिप्राय होता है, यही दोनों अलङ्कारों में पार्थक्य है।

26. श्लेषालङ्कारः

नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः।
सर्वदो माधवः पायात् स योऽगं गामदीधरत्॥ 63॥
अब्जेन त्वन्मुखं तुल्यं हरिणाहितशक्तिना
उच्चरद्भूरिकीलालः शुशुभे वाहिनीपतिः॥ 64॥

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः स च त्रिविधः प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेक विषयः प्रकृताप्रकृतानेकाविषयः। सर्वदा इत्यादि क्रमेणेदाहरणानि। तत्र 'सर्वदोमाधव' इति स्तोतव्यत्वेन प्रकृतयोर्हरिहरयोः कीर्तनं प्रकृतश्लेषः। वाहिनीपतिः सेनापतिः समुद्रश्च। तत्र समितौ शस्त्रप्रहारोत्पतद्रुधिरस्य सेनापतेरेव वर्णनं प्रकृतमिति प्रकृताप्रकृतश्लेषः।

जहाँ वर्ण्य तथा अवर्ण्य के आश्रित विविध अर्थों को प्रतिपादित करने वाले शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ श्लेषालङ्कार होता है। जैसे- सब कुछ देने में समर्थ भगवान् माधव तुम्हारी रक्षा करें, जिन्होंने अग (पर्वत) और पृथ्वी को धारण किया है। (विष्णु पक्ष में) उमा के पति (शङ्कर) सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें, जिन्होंने गंगा को (सिर पर) धारण किया। (शंकर पक्ष में)। (अयि सुन्दरि!) तुम्हारा मुख उस अब्ज (कमल) के समान है, जिसने सूर्य से शक्ति प्राप्त कीया है (कमल पक्ष में)। तथा मुख उस अब्ज (चन्द्र) के समान है,

जिसने हरिण से आसक्ति (प्रेम) किया है (चन्द्रपक्ष)। जिसका प्रचुर रक्त बह रहा था, वह वाहिनीपति (सेनापति) शोभित हो रहा था। (सेनापति पक्ष में) तथा जिसका जल उफन रहा था ऐसा वाहिनीपति (सागर) शोभित हो रहा था।

अनेकार्थक शब्द विन्यास को श्लेष कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है। (1) जिसमें प्रकृत में अनेक विषयक अर्थ होता है। (2) जिसमें अप्रकृत में अनेक विषयक अर्थ होता है। (3) जिसमें प्रकृत और अप्रकृत रूप में अनेक अर्थ बोधक शब्द प्रयोग होता है। ''सर्वदा......'' इत्यादि कारिका क्रमशः तीनों के उदाहरण हैं। वहां सर्वदोमाधव यह स्तोतव्य होने के कारण शिव और विष्णु दोनों प्रकृत हैं। अब्ज, कमल, 'अब्ज चन्द्र' इन दोनों के उपमान मात्र होने से दोनों अप्रकृत है तथा 'वाहिनीपति' यह सेनापति और समुद्र दोनों का बोधक है। यहाँ युद्ध में शस्त्र प्रहार से घायल होने पर बहते रुधिर से सेनापति का वर्णन प्राकृत है और सागर का अप्रकृत है। अतः यहाँ प्रकृत श्लेष है।

यहाँ श्लेष के तीन प्रकार बताए गए हैं। पहले का उदाहरण 'सर्वदोमाधवः' है। इसमें भगवान् की स्तुति की गई है। स्तुत्य होने से शिव और विष्णु दोनों प्रकृत हैं। दूसरा उदाहरण 'अब्जेन त्वन्मुखं' है। इसमें मुख का वर्णन है और कमल तथा चन्द्र से उपमान दिया गया है। उपमान होने से दोनों (कमल और चन्द्र) अप्रकृत हैं। तीसरे का उदाहरण 'उच्चरत्' है। इसमें युद्धस्थल के प्रकृत वर्णन से सेनापति प्रकृत है और सागर अप्रकृत। इस तरह तीनों का उदाहरण दिया गया है।

यथा वा –

त्रातः काकोदरो येन द्रोग्धापि करूणात्मना
पूतनामारणख्यातः स भेऽस्तु शरणं प्रभुः॥
नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां त्वदीक्षणे॥

असावुदयमारूढ़: कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुलैः करैः॥

तत्राद्ये स्तोतव्यत्वेन प्रकृतयोः रामकृष्णयोः श्लेषः। द्वितीय उपमानत्वेना प्रकृतयोः पद्महरिणयोः। तृतीये राजा हरति लोस्य इति चन्द्र वर्णनप्रस्तावे प्रत्यग्रोदितचन्द्रस्याप्रकृतस्य नवाभिषिक्तस्य तृपतेः श्लेषः।

(1) यह प्रकृतानेक का उदाहरण है- जिन्होंने अपनी करुणात्मा से द्रोह करने वाला होने पर भी कौए (जयन्त) की रक्षा की। जो पवित्र नाम और रण में विख्यात हैं वो प्रभु (राम)मेरे शरण हो तथा जिस करूणात्मा के द्वारा द्रोहकर्त्ता कालियनाग भी रक्षित हुआ और पूतना को मारने के लिए जो विख्यात हैं, वो प्रभु (कृष्ण) मेरे शरण बनें।

(2) अप्रकृतानेक विषयक- अयि सुन्दरि! तुम्हारे नेत्रयुगल बहुत सारे लुब्ध भौंरे से आकुल हुए तथा वन (जल) में बढ़े हुए कमल के समान है तथा तुम्हारे नेत्र युगल लुब्ध व्याध के बाणों से आकुल तथा वन में बढ़े हुए कमल (एतन्नामक हरिण विशेष) के समान है।

(3) प्रकृताप्रकृत विषयक- नित्य उन्नति पर आरूढ़ कान्ति सम्पन्न जिस पर सम्पूर्ण मण्डल (राजमण्डल) अनुरक्त है; वह राजा कम कर (टैक्स) से लोगों के हृदय को जीत रहा है तथा उदयाचल पर आरूढ़ शोभा सम्पन्न रक्त वर्ण वाला राजा (चाँद) अपनी शीतल किरणों से लोगों के मन को हरण करता है।

यहाँ पहले उदाहरण में स्तुति करने के योग्य होने से राम और कृष्ण दोनों प्राकृत हैं। दूसरे उदाहरण में उपमान रूप में कमल और हरिण का वर्णन होने से दोनों अप्रस्तुत हैं तथा तीसरे उदाहरण ''राजा हरति लोकस्य'' यह चन्द्र वर्णन के प्रस्ताव में होने से सामने में उदित चाँद प्रकृत और नये अभिषिक्त राजा अप्रकृत हैं। (इस तरह यहाँ श्लेष के तीनों उदाहरण हैं।)

जैसे पहले कारिका वाले भाग में तीनों का उदाहरण दिया गया था, उसी तरह यहाँ भी तीनों उदाहरण प्रस्तुत हैं। पहले में राम और कृष्ण का श्लेष है। दूसरे में कमल और

हरिण का श्लेष है। तीसरे में राजा का चाँद का श्लेष है। पहले में स्तुत्य होने से राम और कृष्ण दोनों प्रकृत हैं। दूसरे में उपमान होने से कमल और हरिण दोनों अप्रकृत हैं। तीसरे में चन्द्र वर्णन का प्रसंग होने से चाँद प्रकृत और राजा अप्रकृत हैं।

अब प्रकृताप्रकृतविषयक श्लेष में शब्द शक्ति मूलक ध्वनि रूप शंका का समाधान करते हैं –

यदत्र प्रकृताप्रकृत श्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चः तत्प्रकृताभिधानमूलकस्योपमादेरलङ्कारस्य व्यंग्यत्वाभिप्रायम् न त्वप्रकृतार्थस्यैव व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायम्। अप्रकृतार्थस्यापि शब्दशक्त्या प्रतिपाद्यस्याभिधेयत्वावश्यंभावेन व्यक्त्यनपेक्षणात्। यद्यपि प्रकृतार्थे प्रकरण बलाज्झटिति बुद्धिस्थे सत्येव पश्चान्नृपतितद् गग्राह्यधनादिवाचिनां राजकरादिपदानामन्योन्यसंनिधान बलात्त त्तद्विषयशवत्यन्तोन्मेष पूर्वकमप्रस्तुतार्थः स्फुरेत्। न चैतावता तस्य व्यङ्ग्यत्वम्, शवत्या प्रतिपाद्यमा ने सर्वथैव व्यवन्त्यनपेक्षणात् पर्यवसिते प्रकृतार्थाभिधाने पश्चात्स्फुरति चेत्-कामं गूढ़ श्लेषो भवतु।

जो यहां प्रकृत और अप्रकृत श्लेष के उदाहरण में प्राचीन आलंकारिक शब्द शक्ति मूल ध्वनि मानते हैं, उनका अभिप्रायः यह है कि अभिधामूलक जो प्रकृत है और अप्रकृत है, उसमें उपमालंकार की व्यञ्जना होती है न कि अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है। अप्रकृत अर्थ के भी शब्द शक्ति से प्रतिपाद्य होने पर अभिधेयत्व तो अवश्यंभावी है और अभिधेयत्व के अवश्यंभावी होने पर व्यञ्जना की अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि प्रकृतार्थ में प्रकरण बल से तुरंत बुद्धि के स्थित हो जाने पर बाद में राजा के द्वारा ग्राह्य धनादि वाचक राजकरादि पदों के एक से दूसरे का सन्निधान होने से तत्तत् विषयक अर्थ शक्त्यन्तर से ही स्फुरित होता है तथापि केवल इतना होने से ही वहाँ व्यङ्ग्यत्व नहीं आता, जहाँ शक्ति (अभिधा) से अर्थ का प्रतिपादन होता है, वहाँ व्यञ्जना की अपेक्षा नहीं होती। जब प्रकृतार्थ की प्रतीति की समाप्ति हो जाये तदनन्तर दूसरे अर्थ की उपस्थिति हो तो वहाँ गूढ़श्लेष भले माना जाये। (व्यञ्जना नहीं)।

यहाँ शब्दशक्तिमूलध्वनि और श्लेष दोनों का विषय विभाग किया गया है। शब्दशक्तिमूलध्वनि में उपमालंकार की व्यंग्यता मानी जाती है अप्रस्तुत अर्थ की नहीं। जैसे –'राजा हरति लोकस्य' में प्रकृत चन्द्र का वर्णन है। अप्रकृत राजा का वर्णन श्लेष से प्राप्त है। राजा और चाँद में उपमानोपमेयभाव की कल्पना से उपमालङ्कार व्यंग्य होता है न कि राजा विषयक अप्रस्तुत अर्थ, क्योंकि अप्रकृत राजा विषयक अर्थ भी सीधा शब्द ग्राह्य होने से अभिधा ही है। अभिधा जहाँ होती है, व्यञ्जना (ध्वनि) वहां हो ही नहीं सकती। यहां चाँद पक्ष में अर्थ के निहित हो जाने के बाद राज कर आदि पद से राजा तथा टैक्स का ज्ञान व्यञ्जना से होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि टैक्स और राजा रूप अर्थ भी अभिधा ग्राह्य है और अभिधा होने पर व्यञ्जना की अपेक्षा नहीं होती। यदि ऐसा हो कि प्रस्तुत अर्थ में ही साथ-साथ अप्रस्तुत अर्थ प्रतीत न हो बल्कि प्रस्तुतार्थ की प्रतीति के बाद अप्रस्तुतार्थ की प्रतीति हो तब क्या होगा? तो उस अवस्था में गूढ़श्लेष होगा। (यह दीक्षित जी का अभिप्रायः है।)

प्राचीनों के मत में व्यञ्जना अप्रकृत अर्थ तथा अलंकार होता है जबकि दीक्षित जी के मत में केवल अलंकार ही व्यंग्य होता है। प्रायः ध्वन्यालोककार का भी यही मत है-

''यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एवं ध्वनेर्विषयः। (ध्वन्यालोक)''

गूढ़श्लेष का अन्यत्र उदाहरण दिखलाते हैं-

अस्ति चान्यत्रापि गूढ़ श्लेषः। यथा (माघ ४/२९)

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरूद्धाः।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीविभर्ति॥
मन्दमग्निमधुरर्यमोपला दर्शितश्वयथु चाभवत्तमः।
दृष्टयस्तिमिरजं सिषेविरे दोषमोषधिपतेरसंनिधौ॥

अत्र ही समासोक्त्युदाहरणयोः प्राकरणिकेऽर्थे प्रकरणवशात् झटिति बुद्धिस्थे

विशेषणसाम्यादप्रकृतोऽपि वृद्धवेश्यावृत्तान्तादिः प्रतीयते। तत्र समासोक्तिरभङ्गश्लेष इति सर्वेषामाभिमतमेव। एवमन्यत्रापि गूढ़श्लेषे ध्वनिबुद्धिर्न कार्या।

(रैवतक वर्णन से यह श्लोक उद्धृत है) अत्यन्त कठोर अत्यधिक बड़े लटकते हुए मेघों से अवरुद्ध प्राणियों के लिए सतत अगम्य दिग्गजों के दन्तप्रहार से परिणत ये तटी (तलहटी) है तथा (वेश्या पक्ष में) अतिवृद्ध स्थूलकाय, लटकते स्तनों से युक्त नखक्षत तथा दशनक्षत से युक्त युवकों के लिए सुरत क्रीडा में अनुपयुक्त (ये वेश्याएँ) हैं।

सूर्यकान्तमणि ने चन्द्रमा के विरह में मन्दाग्नि को धारण किया, अंधकार ने अपनी पुष्टता (मोटापा) दिखाई दृष्टियों ने अन्धत्व दोष को प्राप्त किया (चन्द्रपक्ष)। तथा औषधिपति (वैद्य) के अभाव में सूर्यकान्त को मन्दाग्नि रोग हो गया, अंधेरे की चर्बी बढ़ गई और दृष्टि को रतौंधी हो गया।

यहाँ समासोक्ति के दोनों उदाहरणों में प्राकरणिक अर्थ में विश्रान्त होने पर विशेषण साम्य से अप्रकृत अर्थ (वृद्ध वेश्यादि) प्रतीत होता है। यहाँ समासोक्ति तथा अभङ्गश्लेष सभी मानते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी गूढ़श्लेष के उदाहरण में ध्वनि की बुद्धि नहीं करनी चाहिए।

यहाँ उदाहृत दोनों श्लोकों में समासोक्ति अलंकार है, क्योंकि गिरि तथा वृद्धा, चन्द्र तथा वैद्य दोनों की साथ-साथ उक्ति है। यहाँ गिरि पर वृद्ध वेश्या के व्यवहार का समारोप है तथा चन्द्र व्यवहार में वैद्य व्यवहार का समारोप है। यहाँ अभंगश्लेष की सत्ता सभी स्वीकार करते हैं। अभंगश्लेष वहाँ होता है, जहाँ शब्द का भंग (तोड़ना) नहीं होता परञ्च दो अर्थों की प्राप्ति होती है। जैसे 'पयोधरोपरुद्धाः' पद का खण्ड किए बिना ही मेघ रूप अर्थ तथा स्तन रूप अर्थ का बोध होता है। यहाँ प्रकरणगिरिवर्णन में बुद्धि के स्थित हो जाने के बाद विशेषण साम्य से वेश्या रूप अर्थ की प्रतीति होती है तथापि यहाँ गूढ़श्लेष की सत्ता मानी जाती है, व्यंग्य की नहीं। अतः अन्यत्र भी गूढ़श्लेष की जगह व्यञ्जना नहीं मानना चाहिए।

यथा वा (माघ ३/५३)

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥

अत्र द्वितीयान्त विशेषण समर्पितार्थान्तराणां न शब्द सामर्थ्येण वधूभिरन्वयः विभक्तिभेदात्। न च विभक्तिभेदेऽपि तदन्वयाक्षेपकं साधर्म्यमिहनिबद्धमस्ति। यतः-

एतस्मिन्नधिकपयः श्रियं वहन्त्यः संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः।
वाल्मीकेरहितरामलक्ष्मणानां साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः॥

(मा. ४/५९)

इत्यत्रेवाक्षिप्तश्लेषो भवेत्।

जैसे-माघ विरचित शिशुपालवध के तृतीय सर्ग में-

जहाँ (नगरी में) युवा लोग रमणीय होने से ऊँची ध्वजा वाली, विविक्त (निर्जन) होने से राग बढ़ाती हुई और नम्र नीध्र से युक्त वलभी (कूटागार), रमणीयता के कारण प्रसिद्ध विमल होने से राग बढ़ाने वाली तथा झुकी त्रिवलियों से युक्त वधुओं की सेवा किया करते थे।

यहाँ द्वितीयान्त समर्पित दूसरे अर्थों का शब्द सामर्थ्य से वधू के साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ विभक्ति भेद है। विभक्ति भेद होने पर उसके अन्वय का आक्षेप करने वाला साधर्म्य भी यहाँ निबद्ध नहीं है।

इन पहाड़ों पर अत्यधिक जलसमृद्धि को धारण करने वाली, हवा से उत्पन्न गति से संक्षोभ वाली, सारस की जोड़ियों से युक्त महासरसी, अधिक गुणलंकारादि से युक्त पवनपुत्र हनुमान् की वाणी के समान है।

इस तरह यहाँ श्लेष आक्षिप्त है।

ऊपर वाले श्लोक में वलभी और वधू का विशेषण साथ-साथ है। केवल द्वितीयान्त विशेषण वलभी के लिए है। ये सभी विशेषण वधू के साथ अन्वित नहीं होते क्योंकि वधू में तृतीय विभक्ति का प्रयोग है। तथा च विभक्ति भेद होने पर वधू के अन्वय का आक्षेप करने वाला साधर्म्य प्रयुक्त नहीं हुआ है। जैसे नीचे वाले श्लोक में वाणी और सरसी का

साथ-साथ वर्णन है, पर यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि 'साधर्म्य दधति' अतः गिरां का षष्ठी रूप में परिणाम कर तदर्थ के साथ अन्वय होता है। परञ्च पहले श्लोक में इसका अभाव है। इसी की विशेष व्याख्या आगे करते है।

समामित्येतत्तु क्रियाविशेषणं सहार्थत्वेनाप्युपपन्नम् वधूषुश्लिष्ट विशेषणार्थान्वयात्प्राक् द्रागप्रतीतं साम्यार्थ नालम्बते। तस्मादर्थसौन्दर्यबलादेव तदन्वयानुसन्धानमिति गुढ़श्लेषः। तदनु तद्बलादेव 'शब्दस्य साधर्म्यार्थ कल्पनमिति वाच्यस्यैवोपमालङ्कारस्याङ्गमयं श्लेष इत्यलं प्रजञ्चन। तस्मात् सिद्ध श्लेषत्रैविध्यम्। एवं च श्लेषः प्रकारान्तरेणपि द्विविधः सम्पन्नः। उदाहरणगतेषु 'अब्ज कीलाल वाहिनीपत्या' 'जो गङ्गां' 'हरिणाहितशक्तिना' इत्यादि शब्देषु परस्पर विलक्षणं पदभंगपेक्ष्य नानार्थक्रोड़ीकाऱात् भङ्गश्लेष इति। तत्र सभङ्गश्लेषः शब्दालङ्कारः। अभङ्गश्लेषस्त्वर्थालङ्कार इति केचित्।

उभयमपि शब्दालङ्कार इत्यन्ये। उभयप्यर्थलङ्कार इति स्वाभिप्रायः। एतत् विवेचनं तु चित्र मीमांसायां द्रष्टव्यम्।

'रम्या इति प्राप्तवती' इस उदाहरण में जो 'सम' शब्द का प्रयोग है, वह क्रियाविशेषण बनकर 'साथ' रूप में प्राप्त है। यह वधू रूप अर्थ में श्लिष्ट विशेषण रूपार्थ अन्वय से पहले साम्य अर्थ में नहीं आ सकता है। इससे अर्थ सौन्दर्य के बल से उस वधू के अन्वय का अनुसंधान अपने आप नहीं होता अपितु करना पड़ता है अतः मूढ़ श्लेष है। इसके बाद अर्थ सौन्दर्य के बल स ही 'सम' शब्द की साधर्म्य कल्पना होती है। इससे वाच्य रूप उपमालंकार का ही श्लेष अंग बनता है। इसका विवेचन यहाँ बेकार है। इससे श्लेष तीन प्रकार का होता है। प्रकारान्तर से भी श्लेष दो प्रकार का है। उदाहरण गत अब्ज की लाल वाहिनीपति, आदि शब्दों में परस्पर विलक्षण पदभंग की अनपेक्षा से ही अनेकार्थ प्राप्ति होने से अभंग श्लेष है। 'सर्वदोमाधवः योगेंगो' 'हरिणाहित' इत्यादि शब्दों में परस्पर विलक्षण पदभङ्ग की अपेक्षा से विविध अर्थ प्राप्ति पर यह सभङ्ग श्लेष है। सभंगश्लेष शब्दालंकार है। अभंगश्लेष अर्थालङ्कार है। ऐसा कोई कहते हैं। दोनों शब्दालंकार ही हैं यह कोई और कहते हैं। दोनों अर्थालङ्कार हैं, यह अपना अभिप्रायः है। इसका पूरा विवेचन चित्रमीमांसा में देखना चाहिए।

यहाँ स्पष्ट किया गया है कि दूसरे उदाहरण में साधर्म्य के बल पर विभक्ति पृथक होने पर वाणी विषयक अर्थ का अन्वय आक्षेप से होता है और उपमानोपमेयभाव बनता है। पर पहले श्लोक में ऐसा नहीं होता। वहाँ प्रयुक्त सम शब्द क्रिया विशेषय है वह साधर्म्य की प्रतिपत्ति नहीं करा सकता। इस तरह पूर्वोक्त श्लेष में तीन प्रकार हैं। यदि प्रकारान्तर से भी देखें तो सभंग तथा अभंगश्लेष यह दो भेद होते हैं। जहाँ पृथक् अर्थ प्राप्ति के लिए शब्द को तोड़ना पड़ता है। वहाँ सभंगश्लेष और जहाँ बिना शब्द को तोड़े पृथक् अर्थ की प्राप्ति होती है, वहाँ अभंगश्लेष होता है। सभंग तथा अभंग दोनों कोई शब्दालंङ्कार मानते हैं तो कोई अर्थालङ्कार। दीक्षित जी इसे (दोनों को) अर्थालंङ्कार मानते हैं। आचार्य मम्मट अर्थालंकार वहीं मानते हैं, जहाँ शब्द का परिवर्तन करने पर भी श्लेष रहता है। यदि शब्द परिवर्तन के साथ श्लेष भी खत्म हो जाता है, तो वे शब्दालङ्कार ही मानते हैं। दीक्षित जी के अर्थालङ्कार मानने का पूरा विवेचन चित्रमीमांसा में द्रष्टव्य है।

27 अप्रस्तुत प्रशंसालङ्कारः

अप्रस्तुत प्रशसास्यात् सा यत्र प्रस्तुताश्रया।
एकः कृती शकुन्तेषु याऽन्यं शक्रान्न याचते॥ 65॥

यत्राप्रस्तुत वृत्तान्तवर्णनं प्रस्तुतवृत्तान्तावगतिपर्यवसायि तत्रप्रस्तुत प्रशंसालंकारः। अप्रस्तुत वृत्तान्तवर्णनेन प्रस्तुतावगतिश्च प्रस्तुतप्रस्तुतयोः सम्बन्धे सति भवित। सम्बन्धश्च सारूप्यं सामान्यविशेषभावः कार्यकारणभावो वा सम्भवति। तत्र सामान्य विशेष भावे सामान्यात् विशेषस्य विशेषाद्वासामान्यस्यावगतौ द्वैविध्यम्। कार्यकारणभावेऽपि कार्यात्कारणस्य कारणाद्वा कार्यस्यावगतौ द्वैविध्यम्। सारुप्ये एको भेदः इत्यस्याः, पञ्च प्रकाराः। यदाहुः।

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुतेसति
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ इति॥

तत्र सारूप्य निवन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणं 'एकः कृती' इति। अत्राप्रस्तुतस्य चातकस्य प्रशंसा प्रशंसनीयत्वेन प्रस्तते तस्रूपे क्षेद्रेभ्यो याचनान्निवृत्ते मानिनि पर्यवस्यति।

जहाँ अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, उसे अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार कहते हैं। जैसे-पक्षियां में एक ही (चक्र-चातक) कृती है जो शक्र को छोड़ अन्य से याचना नहीं करता है।

जहाँ अप्रस्तुत का वर्णन प्रस्तुत वृत्तान्त की अवगति कराने वाला होता है, वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार होता है। अप्रस्तुत वृत्तान्त वर्णन से प्रस्तुत की अवगति प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध होने पर ही होता है। यह सम्बन्ध तीन तरह का होता है- 'सारूप्य-सामान्य विशेषभाव और कार्यकारणभाव।' वहाँ सामान्य विशेष भाव से सामान्य से विशेष की ओर विशेष से सामान्य की अवगति होने से दो प्रकार हैं। कार्यकारण भाव में भी कार्य से कारण की और कारण से कार्य की अवगति होने पर दो प्रकार हैं। सारूप्य का एक भेद ही होता है। अतः इसमें पाँच प्रकार हैं। कहा भी गया है-

कार्य में, कारण में, सामान्य में, विशेष में, किसी एक के प्रस्तुत होने पर, किसी एक के अप्रस्तुत वाच्य रूप में होने पर समान धर्म वाले प्रस्तुत का इससे बाधा होने से अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद होते हैं।

वहाँ सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण 'एकः कृति' यहाँ अप्रस्तुत चातक की प्रशंसा की गई है। चातक वृत्तान्त के प्रशंसनीय होने से उसके समान क्षुद्रों से याचना से निवृत्त किसी मानी (व्यक्ति) की व्यञ्जना होती है।

अप्रस्तुत प्रशंसा में किसी अप्रस्तुत का वर्णन होता है और उस अप्रस्तुत से किसी प्रस्तुत का बोध होता है। इस तरह प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सरूप, सामान्य विशेष भाव तथा कार्यकारण भाव से संबंध होता है। इसी सम्बन्ध के प्रकार भेद से अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद होते हैं- (1) सारूप्य सम्बन्ध (2) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की व्यञ्जना (3) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की व्यञ्जना (4) अप्रस्तुत कार्य के कारण रूप प्रस्तुत की व्यञ्जना (5) अप्रस्तुत कारण से कार्यरूप प्रस्तुत की व्यञ्जना।

यही बात मम्मट ने कही है। कारण कार्य विशेष या सामान्य में एक के प्रस्तुत और एक के अप्रस्तुत होने पर तथा सामान्य अप्रस्तुत से सामान्य प्रस्तुत के तुल्य होने से अप्रस्तुत

प्रशंसा पाँच प्रकार की होती है। 'एकः कृती' में सामान्य अप्रस्तुत से सामान्य प्रस्तुत का ज्ञान होता है। चातक की प्रशंसा (अप्रस्तुत) से उस प्रस्तुत (व्यक्ति) का ज्ञान होता है, जो चातक की तरह सभी से याचना न कर केवल एक से याचना करता है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

यथा वा-

आबद्ध कृत्रिम सटाजटिलांसभित्ति
रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य॥

अत्र शुनकस्य निन्दा निन्दनीयत्वेन प्रस्तुते तत्सरूपे कृत्रिम वेषव्यवहारदिमात्रेण विद्वत्ताऽभिनयवति वैधेये पर्यवस्यति।

यथा वा-

अन्तश्छिद्राणि भसांसि कण्टकाः बुवबो बहिः।
कथं कमल नालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः॥

अत्र कमल नाल वृत्तान्त कीर्तनं बहिः खलेषु जाग्रत्सु भ्रातृपुत्रादिभिरन्तः कलहं कुर्वाणे पुरुषे पर्यवस्यति। एवं च लक्ष्यलक्षणयोः प्रशंसा शब्दः, स्तुति निन्दा स्वरूपाख्यानसाधारणकीर्तनमात्रपरो द्रष्टव्यः।

यदि किसी कुत्ते के कंधे पर बनावटी अयाल लगाकर मृगपति पद पर उसे आरोपित कर दिया जाये, तो वह मत्त गजराज के कुम्भस्थल को फाड़ने में पटु सिंह का नाद कैसे कर सकता है।

यहाँ कुत्ते की निन्दा निन्दनीय रूप में प्रस्तुत होने से तत्सरूप किसी कृत्रिम वेष व्यवहार से विद्वान् का अभिनय करने वाले पुरुष में पर्यवसित होता है। तथा च

जिस कमलनाल के अन्त में सैकड़ों छिद्र हैं तथा बाहर में सारे काँटे हैं, उसके गुण भङ्गुर क्यों न हों।

यहाँ कमल नाल वृत्तान्त का कीर्तन उसके बराबर किसी ऐसे पुरुष की व्यञ्जना करता है, जिसके बारह सभी शत्रु हों और अपने भ्राता पुत्र आदि के कलह किया करता हो। इस तरह लक्षण और लक्ष्य में 'प्रशंसा' शब्द स्तुति, निन्दा तथा स्वरूपाख्यान रूप कीर्तन समझना चाहिए।

यहाँ एक श्लोक में कुत्ते की निन्दा की गई है। अयाल बाँध कर कुत्ते को यदि सिंह बना दिया जाये तो रूप से तो सिंह हो सकता है, लेकिन सिंह की गर्जन वह कैसे कर पाएगा ? तात्पर्य है कि कोई मूर्ख अपने वस्त्र विशेष से भले अपने को विद्वान् कहने लगे लेकिन विद्वान का कार्य भला वह कैसे कर सकता है ? यहाँ कुत्ते की (अप्रस्तुत) निन्दा से उस व्यक्ति (प्रस्तुत) की निन्दा होती है, जो बीच सभा में केवल विशिष्ट वेशभूषा के बल पर अपने को विद्वान् कहता फिरता है। उसी तरह दूसरे श्लोक में कमल नाल का वृत्तान्त वर्णित है। इस वृत्तान्त में उस व्यक्ति (प्रस्तुत) का वर्णन किया गया है, जिसके सारे दुश्मन चारों ओर लगे हुए हों और वह अपने भाई-पुत्रों आदि से भी कलह किया करता हो। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि प्रशंसा शब्द से केवल अप्रस्तुत की प्रशंसा से प्रस्तुत की प्रशंसा ही अपेक्षित नहीं है अपितु निन्दा स्वरूपाख्यान भी अपेक्षित है।

सामान्यनिबन्धना यथा (माघ - २/४२)

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्।

अत्र प्रागेव सामर्षे शिशुपाले रुक्मिणीहरणादिना वैरं दृढ़ीकतवता कृष्णेन तस्मिन्नुदासितुमयुक्तमिति वक्तव्येऽर्थे प्रस्तुते-तत्प्रत्यायनार्थं सामान्यभिहितम्। यथा वा-

सौहार्दस्वर्णरेखाणामुच्चावचभिदाजुषाम्।
परोक्षमिति कोऽप्यस्ति परीक्षानिकषोपलः॥

अत्र यदि त्त्वं प्रत्यक्ष इव परोक्षेऽपि मम हितमाचरसि, तदा त्वमुक्तमः सहत् इति विशेषे वक्तव्यत्वेन प्रस्तुते सामान्यमभिहितम्॥

सामान्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है। क्रोध शत्रु के प्रति वैर भाव बनाकर जो नर उदासीन हो जाता है, वह घास के ढेर पर आग फेंककर हवा के रुख पर सोता है। यहाँ पहले से क्रुद्ध शिशुपाल और रुक्मिणीहरण आदि के द्वारा शत्रुता को बढ़ाकर कृष्ण का उदासीन हो जाना उपयुक्त नहीं है, इस वक्तव्य अर्थ (प्रस्तुत) प्रत्याथन के लिए सामान्य अप्रस्तुत का कथन किया गया है। जैसे दूसरा उदाहरण-

सौहार्द्ररूप स्वर्णरेखा की उच्चता और नीचता की परीक्षा के लिए परोक्ष ही निकषोपल हैं।

यहाँ "यदि तुम प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष में भी मेरा हित करते हो, तब तुम उत्तम मित्र हो" इस विशेष वक्तव्य (प्रस्तुत) के लिए सामान्य (अप्रस्तुत) कहा गया है।

सामान्य निबन्धना उसे कहते हैं, जहाँ सामान्य अप्रस्तुत से विशेष प्रस्तुत का बोध कराया जाता है। पहले उदाहरण में कहना यह है कि पहले से ही क्रोधी शिशुपाल को रुक्मिणीहरण से और क्रोधी बनाकर कृष्ण का चुप बैठना ठीक नहीं है। इस विशेषार्थ प्राप्ति के लिए सामान्य अप्रस्तुत का प्रयोग हुआ है कि जो वैरता को बढ़ाकर उदासीन हो जाता है, वह घास में आग लगाकर हवा के रुख पर सोता है। तात्पर्य हुआ कि जिस तरह घास में आग लगाकर हवा के रुख पर सोना उचित नहीं, उसी तरह शिशुपाल को चिढ़ाकर कृष्ण का उदासीन होना उचित नहीं है। उसी तरह दूसरे उदाहरण में भी मित्र को यह कहना है कि यदि परोक्ष में भी मेरा हित चाहते हो तो अच्छे मित्र हो, पर कहा गया है कि मित्रता की परीक्षा के लिए परोक्ष ही कसौटी है। जो कसौटी पर खरा उतरता है, वही सच्चा होता है। अतः यहाँ दोनों उदाहरणों में विशेष (प्रस्तुत) के लिए सामान्य अप्रस्तुत का प्रयोग होने से यह सामान्य निबन्धना है।

विशेषनिबन्धना यथा (माघ २/५३)

अङ्काधिरोपित मृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः॥

अत्र कृष्णं प्रति वलभद्र वाक्ये मार्दवदूषण परे पूर्वप्रस्तावानुसारेण 'क्रूर एव

ख्यसातिभाग्भवति' न तु मृदुः इति सामान्ये वक्तव्ये तत्प्रत्यायनार्थमप्रस्तुतो विशेषोऽभिहितः। एवं वृहत्कथादिषु सामान्यतः कञ्चिदर्थं प्रस्तुत्य तद्विवरणार्थमप्रस्तुतकथाविशेषोदाहरणे ष्वियमेवाप्रस्तुत प्रशंसा द्रष्टव्या॥

विशेष निबन्धना जैसे-

मृग को अंक में रखने वाला चन्द्रमा मृगलाञ्छन कहलाता है और मृग समूह को निष्ठुरता में फेंकने वाला (मारने वाला) मृगपति कहलाता है।

यहाँ कृष्ण के प्रति बलराम के कथन में 'कोमलता बुरी है', यह बताने के लिए पूर्व प्रस्तावानुकूल क्रोधी ही ख्याति पाता है कोमल नहीं, इस सामान्य वक्तव्य के प्रत्यायन के लिए अप्रस्तुत विशेष का कथन हुआ है। इसी तरह वृहत्कथा आदि में सामान्य रूप से किसी अर्थ को प्रस्तुत कर उसे समझाने के लिए अप्रस्तुत कथा विशेष के उदाहरण में भी यही (विशेष निबन्धना) अप्रस्तुतप्रशंसा देखनी चाहिए।

यहाँ विशेष अप्रस्तुत से सामान्य प्रस्तुत का बोध होता है। बलराम कृष्ण को यह कहना चाहता है कि कठोरता को ही ख्याति मिलती है, मृदुता को नहीं। इस सामान्य प्रस्तुत के लिए विशेष अप्रस्तुत (सिंह चन्द्र वृत्तान्त) कहा गया है। चाँद ने हरिण को गोदी में बिठाया (कोमलता दिखाई) तो वह मृगलाञ्छन (मृग का कलंक वाला) हो गया और सिह क्रूरता से मृगसमूह को उठाकर फेंकता है, फाड़कर खा जाता है (क्रूरता दिखाता है) तो वह मृगधिप कहलाता है अर्थात् ख्याति वहीं मिलती है, जहाँ कठोरता है।

कारणनिबन्धना यथा (नै. २/२५)

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यविलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥

अत्र प्राकरपिकेन्दु मण्डलगततयोत्प्रेक्ष्यमाणेन दमयन्तीवदननिर्माणार्थं सारांशहरणेन तत्कारणेन तत्कार्यरूपं वर्णनीयता प्रस्तुतं दमयन्ती वदनगतलोकोत्त्रं सौन्दर्यं प्रतीयते। यथा वा मदीय वरदराजस्तवे-

आश्रित्य नूनममृतद्युतयः पदं ते
देहक्षयोपनतद्दिव्यपदाभिमुख्याः।
लावण्यपुण्यनिचयं सुहृदि त्वदास्ये
विन्यस्य यान्ति मिहिरं प्रतिमासभिन्नाः॥

यह कारण निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है। दमयन्ती के मुख का निर्माण करने के लिए मानों विधाता के द्वारा इन्दुमण्डल का सार भाग ले लिया गया है। इससे चन्द्रमण्डल के बीच गड्ढा हो गया है। उस गम्भीर गड्ढे से आकाश की नीलिमा दीख पड़ती है।

यहाँ प्रकरण वश इन्दु मण्डल गत उत्प्रेक्षा से दमयन्ती मुख के सौन्दर्यतिशय का वर्णन अपेक्षित है। दमयन्ती मुख का निर्माण करने के लिए चन्द्र सार हरण रूप कारण से वर्णनीय दमयन्ती मुख के सौन्दर्यातिशय की प्रतीति होती है। जैसे दूसरा उदाहरण मेरे (अप्पय दीक्षित) वरदराजस्तव से-

प्रत्येक महीने में भिन्न-भिन्न चन्द्रमा अपने देहक्षय से दिव्यपद के प्रति उन्मुख होकर तुम्हारे मुख रूप अपने मित्र के पास लावण्य पुण्य का भण्डार रखकर सूर्य के पास चले जाते हैं।

इस कारण निबन्धना अतिशयोक्ति में कारण रूप अप्रस्तुत के कार्यरूप प्रस्तुत का ज्ञान होता है। पहले श्लोक में चन्द्रमा के 'सार का हरण' कारण है, जो अप्रस्तुत है। इस कारण दमयन्ती मुख का सौन्दर्यातिशय रूप कार्य की प्रतीति हो रही है। दूसरे उदाहरण में चन्द्रमा के द्वारा अपने पुण्य संचय का निक्षेप कारण है जो अप्रस्तुत है और भगवान् के मुख में अनन्त चन्द्र का लावण्य है यह प्रस्तुत ज्ञान होता है। यहाँ प्रस्तुत कार्य का कारण अप्रस्तुत है।

इसी उदाहरण को और स्पष्ट करते हैं-

अत्राप्राकरणिकचन्द्र कर्तृकतयोत्प्रेक्ष्यमाणेन लावण्यपुण्यनिचयविन्यासेन कारणेन तत्कार्यमनन्तकोटि चन्द्र लावण्यशालित्वमनन्यमुखसाधारणं भगवन्मुखे

वर्णनीयतया प्रस्तुतं प्रतीयते। तथाहि- चन्द्रस्तावन्मन्त्रलिङ्गात् वृद्धिक्षयाभ्यामभेदेऽपि भेदाध्यवसायाद्वा प्रतिमासं भिन्नत्वेन वर्णितः। तेनातीताश्चन्द्रा अत्यन्त कोटय इति लब्धम्, कालस्यानादित्वात्। भगवच्चरणं प्रपन्नानां च देहक्षयोपस्थितौ परमपदप्राप्त्याभिमुख्यं, तदानीमेव स्वसुहृद्वर्गे स्वकीयसुकृत स्तोमनिवेशनं, ततः सूर्यमण्डल प्राप्तिश्चेत्येतत्सर्वं श्रुतिसिद्धमिति तदनुरोधेन तेषां देहक्षय कालस्यामावास्यारूपस्योपस्थितौ सूर्यमण्डल प्राप्तेः प्राच्य प्रत्यक्षसिद्धं पुण्यत्वेन निरूपितस्य लावण्यस्य प्रहाणं निमित्तीकृत्य तस्य चन्द्रसादृश्यस्वरूपोपमिततत्सौहार्दवति भगवन्मुखे न्यसनमुत्प्रेक्षितम्। यद्यपि सुहृद्बहुत्वे तावदल्पपुण्य संक्रमो भवति, तथाप्यत्र 'सुहृदि' एकवचनेन भगवन्मुखमेव चन्द्राणां सुहृद्भूतं, न मुखान्तराणि चन्द्रसादृश्यगन्धस्याप्यास्पदानीति भगवन्मुखस्येतरमुखेभ्योव्यतिरेकीऽपिव्यञ्जितः। ततश्च तस्मिन्नेव सर्वेषां चन्द्राणां स्वस्वयावल्लावण्यपुण्यविन्यसनोत्प्रेक्षणेन प्राग्वर्णितः प्रस्तुतोऽर्थः स्पष्टमेव प्रतीयते। यद्यपि श्रुतौ सूर्यमण्डल प्राप्त्यनन्तरभावि विरजानद्यतिक्रमणानन्तरमेव सुहृत् सुकृतसंक्रमणं श्रूयते; तथापि शारीरिक शास्त्रे तस्यार्थ वशात् प्राग्भावः स्थापित इति तदनुसारेण विन्यस्य मिहिरं प्रति यान्तीत्युक्तम्।

यहाँ चन्द्रमा के द्वारा लावण्य पुण्य समूह के विन्यास के कारण भगवान् के मुख में अनन्तकोटि चन्द्र लावण्य है तथा वह मुख अन्य मुख से पृथक् है यह उत्प्रेक्षा द्वारा व्यञ्जित है। जैसे- मंत्र के आधार पर चन्द्रमा की वृद्धि और क्षय में अभेद होने पर भी भेद का अध्यवसाय करके प्रत्येक महीने चन्द्रमा को भिन्न माना गया है। इससे बीता हुआ चाँद अनन्त करोड़ हुआ, क्योंकि काल अनादि है और अनादिकाल से यह क्रम जारी है। सभी चाँद आकाश में समाहित है। यहाँ श्लेष से आकाश में समाश्रयण भगवच्चरण में समाश्रयण में अध्यवसित हुआ है। प्रपन्न व्यक्ति देहक्षय के समय परम पद की प्राप्ति के लिए भगवच्चरण के प्रति उन्मुख होते हैं, उसी समय अपने मित्र वर्गों में अपने सुकर्म समूह का निवेश करते हैं, उसके बाद सूर्य मण्डल की प्राप्ति के लिए भगवच्चरण के प्रति उन्मुख

होते हैं, उसी समय अपने मित्र वर्गों में अपने सुकर्म समूह का निवेश करते हैं, उसके बाद सूर्यमण्डल की प्राप्ति होती है। यह सभी वेदसिद्ध होने से चन्द्रमा के देहक्षय काल अमावास्या की उपस्थिति पर सूर्यमण्डल की प्राप्ति के पूर्व प्रत्यक्षसिद्ध पुण्य रूप में निरूपित लावण्यनिक्षेप को निमित्त बनाकर चन्द्रसदृशस्वरूप के कारण सौहार्द्रपूर्ण भगवान् के मुख में उसका (निमित्त का) रखना उत्प्रेक्षित है। यद्यपि मित्रबाहुल्य होने पर थोड़े से पुण्य का संक्रमण ही हो पाता है तथापि 'सुहृदि' इस एक वचन से भगवान् का मुख ही चन्द्रमा का सुहृत् है, और दूसरा मुख तो चन्द्रमा के सादृश्य के गन्ध को भी प्राप्त करने लायक नहीं है, इस तरह अन्य मुखों में भगवान के मुख का व्यतिरेक भी व्यञ्जित होता है। तदनन्तर उसी मुख में सभी चन्द्र का अपने-अपने लावण्य पुण्य न्यास की उत्प्रेक्षा से पूर्व वर्णित (भगवान् मुख का शोभातिशय वर्णन) अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। यद्यपि वेद में सूर्यमण्डल की प्राप्ति के बाद विरजा नामक नदी को पार करने के बाद मित्रों में पुण्य संक्रमण सुना जाता है, लेकिन शारीरिक शास्त्र में उस अर्थ की प्राप्ति के लिए पहले ही पुण्य स्थापन उचित है, इसलिए उसके अनुसार ही पहले विन्यास कर मिहिर (सूर्य) के प्रति जाते हैं, यह कहा गया है।

यहाँ दीक्षित जी ने अपने श्लोक की विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। इसमें कुछ बातें ध्यातव्य हैं-

(1) मृत्यु को आया देखकर सामान्य लोग परम पद प्राप्ति की कामना से भगवच्चरण के प्रति उन्मुख होता है। अतः चाँद भी उन्मुख हुआ।

(2) चन्द्र के क्षय और वृद्धि में अभेद होते हुए भी भेद की कल्पना से अतिशयोक्ति की गई।

(3) आकाश में समाश्रयण (चाँद का) श्लेष से भगवच्चरण में समाश्रयण को प्रतिपादित करता है।

(4) वेद के अनुसार लोग अपने पुण्य का संक्रमण मित्रों में करते हैं। अतः चाँद ने भी किया।

(5) बहुत मित्र होने पर पुण्य का संक्रमण सभी में होने से पुण्य अल्प हो जाएगा और भगवान् के मुख में अनन्त कोटि चन्द्र का सौन्दर्य नहीं आ पाएगा। अतः एकवचन प्रयोग करके यह सिद्ध किया कि चन्द्रमा का मित्र केवल भगवान् का मुख ही है। दूसरा मुख नहीं। इस तरह अन्य मुख से भगवान् के मुख का वैशिष्ट्य होने से व्यतिरेक हुआ।

(6) जब प्रत्येक महीने अलग-अलग चाँद हुआ तो अनादि काल से ऐसा होने के कारण चन्द्रमा का अनन्तकोटित्व सिद्ध हुआ।

(7) वेद में शरीर के मरने के बाद आत्मा के सूर्य मण्डल की प्राप्ति के बाद विरजा नदी को पार कर पुण्य बाँटने का कथन है। यहाँ पहले होता है, अतः वेद विरुद्ध हुआ, लेकिन वेद की बातें आत्मा के लिए है, जो अविनाशी है। परञ्च शारीरिक शास्त्र में पुण्य का विन्यास पहले करना ही अर्थसङ्गत है, क्योंकि शरीर नाश के बाद पुनः पुण्य विन्यसन संभव नहीं हो पाएगा। अतः पहले ही विन्यास उत्प्रेक्षित है।

(8) सभी चाँद का लावण्य विन्यास (अप्रस्तुत) भगवन्मुख में अनन्त कोटि चन्द्रसौन्दर्य (प्रस्तुत) कार्य का कारण है। अतः कारण (अप्रस्तुत) से कार्य (प्रस्तुत) का बोध होने से यहाँ कारणनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा है।

कार्यनिबन्धना यथा-

नाथ! त्वदंघ्रिनखधावनतोयलग्ना
स्तत्कान्तिलेशकणिका जलधिं प्रविष्टाः।
ता एव तस्य मथनेन घनीभवन्त्यो
नूनं समुद्रनवनीतपदं प्रपन्नाः॥

अत्र भगवत्पादाम्बुजक्षालनतोयरूपायां दिव्यसरित्यलक्तसरकादिवल्लग्नानां तया सह समुद्रं प्रविष्टानां तन्नखकान्तिलेशकणिकानां परिणामतया संभाव्यमानेन 'समुद्रनवनीत' पदवाच्येन चन्द्रेण कार्येण तन्नखकान्त्युत्कर्षः प्रतीयते। यथा वा-

अस्याश्चेद्गतिसौकुमार्यमधुना हंसस्य गर्वैरलं
संलापो यदि धार्यतां परभृतैर्वाचंयमत्वव्रतम्।

अङ्गानामकठोरता यदि दृषत्प्रायैव सा मालती
कान्तिश्चेत्कमला किमत्र बहुना काषायमालम्बताम्॥

अत्र नायिकागत सौकुमार्यादिषु वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतेषु हंसादिगतगर्वशान्त्यादिरूपाण्यौचित्येन संभाव्यमानानि कार्याण्यभिहितानि। एतानि च पूर्वोदाहरणानि न वस्तु कार्याणि किन्तु तन्निरीक्षण कार्याणि।

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसः स्यादशंसयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः॥

इत्युदाहरणान्तरे तथैव स्पष्टम्।

कार्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण–

हे नाथ! तुम्हारे चरण नख को धोने वाले जल में लगे नखकान्ति की लेशकणिका जलधि में प्रविष्ट हो गई। वही मन्थन के कारण सघन होकर समुद्र का नवनीत (चाँद) बन गया।

यहाँ भगवान् के चरण नख क्षालन रूप दिव्यसरित में अलक्तक रस की तरह लगा हुआ तथा उसी (दिव्य सरित्) के साथ सागर में प्रविष्ट नख कान्तिलेश कणिका का परिणाम ही समुद्र नवनीत पद के द्वारा वाच्य चन्द्र रूप कार्य से नख कान्ति का उत्कर्ष प्रतीत होता है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

यदि इसकी गति की सुकुमारता है, तो हंस का गर्व व्यर्थ है। यदि इसका संलाप है, तो परभृतिका (कोयल) का वाचयम व्रत धारण कर लेना चाहिए। यदि अंगो की मृदुता है तो मालती पत्थरवत् ही है। यदि इसका सौन्दर्य है तो अधिक क्या ? लक्ष्मी को काषाय वस्त्र धारण कर लेना चाहिए।

यहाँ नायिका की गति सौकुमार्य आदि वर्णनीय प्रस्तुत में हंस की गर्वशान्ति आदि संभाव्यमान कार्य कहा गया है। पूर्व उदाहरण में चन्द्ररूप वस्तु कार्य नखकान्ति रूप कारण से है और यहाँ गति की सुकुमारता आदि दर्शन से हंस का गर्वखण्डन रूप कार्य पाया जाता

है। यहाँ वस्तु कार्य था, यहाँ निरीक्षण रूप कार्य है। ऐसा ही दूसरा उदाहरण–

यदि प्राणियों (पशु आदि) में लज्जा हो, तो निश्चित ही पर्वतराज पुत्री के केश पाश को देखकर अपनी केश प्रियता को चमड़ी शिथित लेकर दे।

इस उदाहरण में भी पूर्व उदाहरण की तरह निरीक्षण स्पष्ट है।

कार्य निबन्धना वहाँ होती है, जहाँ कार्य अप्रस्तुत होता है और कारण प्रस्तुत का ज्ञान करवाता है। पहले उदाहरण में नख की कान्ति के वहने से चन्द्रमा की उत्पत्ति अप्रस्तुत (कार्य) है। इससे भगवान् के चरण नख की उत्कृष्टता (का कारण) प्रस्तुत का ज्ञान होता है। यहाँ 'समुद्रनवनीत' वाच्य से चन्द्र की उत्प्रेक्षा की गई। यहाँ फलोत्प्रेक्षा है।

दूसरे उदाहरण में किसी नवयौवना का वर्णन है। यहाँ गति के दर्शन मात्र से हंस की गति से उत्पन्न गर्व का खण्डन रूप कार्य वर्णित है। पहले उदाहरण में चन्द्रमा रूप वस्तु (कार्य) अप्रस्तुत से नख की उत्कृष्टता (प्रस्तुत) का ज्ञान हुअ था। यहं हंस के गर्व खण्डन रुप कार्य (अप्रस्तुत) से गति की उत्कृष्टता (प्रस्तुत) का बोध होता है। यही दोनों उदाहरणों में अन्त है। पहले में चन्द्र रूप वस्तु कार्य था, यहाँ निरीक्षण रूप क्रिया के कार्य रूप में हंस का गर्व खण्डन आदि पाया जाता है। तीसरे उदाहरण में भी केशपाश दर्शन का कार्य चमड़ी की केशप्रियता का शिथिलत्व है। यहाँ चमड़ी का शिथिलत्व (अप्रस्तुत) है। इससे केशपास का सौन्दर्यातिशय (प्रस्तुत) अभीष्ट है।

'अङ्गानामकठोरता' इति तृतीयपादे तु वर्णनीयाङ्गसौकुमार्यातिशयनिरीक्षण कार्यत्वमपि नार्थाक्षेप्यमालतीकठोरत्वे विवक्षितं, प्रतियोगिविशेषापेक्षकठोरत्वस्य तदकार्यत्वात्किंतु तद्बुद्धेरेव। इदमपि त्वदङ्गमार्दवे दृष्टे इत्याद्युदाहरणान्तरे तथैव स्पष्टम्। अर्थस्य कार्यत्व इव बुद्धेः कार्यत्वेऽपि कार्यनिबन्धनत्वं न हीयते इति। एतादृशान्यपि कार्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसायामुदाहृतानि प्राचीनैः। वस्तुतस्तु–तदतिरेकेऽपि न दोषः। न ह्यप्रस्तुत प्रशंसायां प्रस्तुताप्रस्तुतयोः पञ्चविध एव सम्बन्ध इति नियन्तुं शंक्यते सम्बन्धान्तरेष्वपि तद्दर्शनात्।

पूर्व प्रयुक्त उदाहरण 'अस्याश्चेत्' के तीसरे चरण में (अंगानामकठोरता इत्यादि

में) अङ्ग की सुकुमारतातिशय के निरीक्षण का कर्त्तव्य भी अर्थाक्षिप्त मालती की कठोरता में विवक्षित नहीं है। प्रतियोगी विशेष की अपेक्षा से कठोरता तो अकार्य है किन्तु कठोरत्व की बुद्धि होना ही कार्य है। यह भी 'त्वदङ्गमार्दवे -------' आदि में स्पष्ट है। अर्थ की कार्यता की तरह बुद्धि की कार्यता में भी कार्यनिबन्धनत्व की हानि नहीं होती है। ऐसा कार्यनिबन्धन प्राचीनालङ्कारिकों ने अप्रस्तुत प्रशंसा में उदाहृत किए हैं। वास्तव में अप्रस्तुत प्रशंसा के कथित पाँच भेदों से अतिरेक होने पर भी कोई दोष नहीं है। अप्रस्तुत प्रशंसा में केवल प्रस्तुत अप्रस्तुत के पञ्चविध सम्बन्ध ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्य सम्बन्ध में भी यह अलङ्कार होता है।

इसमें अंग की कोमलता के निरीक्षण का कार्य मालती की कठोरता है। इसको ऐसे समझा जाये कि इस नायिका की कोमलता के सामने मालती भी कठोर है, यह कथन कवि का अभीष्ट है। यहाँ मालती की कठोरता (अप्रस्तुत) से अंग सौकुमार्यातिशय (प्रस्तुत) का बोधन है। तो अप्रस्तुत में कठोरता कार्य है जो प्रस्तुत सौकुमार्य निरीक्षण रूप कारण का है। यहाँ कवि का यह अभीष्ट नहीं है कि मालती कठोर होती है। अपितु इस अंगमार्दव को देखने के बाद मालती में भी कठोरता की बुद्धि का होना ही कार्य है। जैसे कठोरता रूप अर्थ के कार्य निबन्धन मानने में कोई हानि नहीं है। उसी तरह तद्रूप अर्थ की बुद्धि के भी कार्य निबन्धन मानने पर पूर्व कथित पाँच भेदों से इतने भेद भी हो सकते हैं। इस बात को स्वीकार करते हुए दीक्षित जी कहते हैं कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि अप्रस्तुत और प्रस्तुत का सम्बन्ध पूर्व कथित पाँच प्रकार से ही हो। अन्य सम्बन्ध में भी होता है। इसका उदाहरण आगे दिखाते हैं। यथा–

तापत्रयौपधवरस्य तव स्मितस्य
निःश्वास मन्द मरुता निवुसीकृतस्य।
एते कडङ्करचया इव विप्रकीर्णा
जैवातृकस्य किरणा जगति भ्रमन्ति॥

अत्र ह्यप्रस्तुतानां चन्द्रकिरणानां भगवन्मन्दस्मितरूपदिव्यौषधीधान्यविशेष

कडङ्करचयत्वोत्प्रेक्षणेन भगवन्मन्दस्मितस्य तत्सारतारूपः कोऽप्युत्कर्षः प्रतीयते। न च धान्यकडङ्करचययोः कार्य कारणभावादिसम्बन्धोऽस्ति। अतः सहोत्पत्यादिकमपि सम्बन्धान्तरमाश्रयणीयमेव। एवमुपमानोपमेयावाश्रित्य तत्र कविकल्पित कार्य कारणभावनिबन्धने अप्रस्तुतप्रशंसे दर्शिते। ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।

तापत्रय की शान्ति के लिए श्रेष्ठ औषधरूप तुम्हारी हँसी, जिससे निश्वास के द्वारा वुस (भुस्सा) हटा दिया गया है। कडङ्कर (भूसा) सहित चन्द्रिका के रूप में इधर उधर बिखरी हुई घूम रही है।

यहाँ अप्रस्तुत चन्द्रकिरणों की उत्प्रेक्षा इस रूप में की गई है कि भगवान् की हँसी तापत्रय के औषधरूप धान्य विशेष है और चन्द्रिका उसका वुस (भूसा) है। इस उत्प्रेक्षा से भगवान के मन्दस्मित के सार रूप किसी विशिष्ट उत्कर्ष की प्रतीति होती है। अब कडङ्कर (भूसा) और धान में तो कार्य कारण भाव हो नहीं सकता। यहाँ सहोत्पादकता रूप (सहोत्पत्ति) सम्बन्ध का आश्रय लेना ही होता है। इस तरह उपमानोपमेय की कल्पना से कविकल्पित कार्यकारणभाव सम्बन्ध निबन्धन में अप्रस्तुत प्रशंसा दिखाया गया है। ऐसा अन्यत्र भी देखा जाता है।

यहाँ भगवान् की हँसी को औषधरूप धान्य विशेष और चन्द्रिका को भूसा बताया गया है। इससे भगवान् की हँसी का उत्कर्ष प्राप्त होता है। जिस धान का भूसा चाँदनी है, उस चावल की उज्जवलता कैसी होगी यह सहृदय गम्य ही है। यहाँ धान और भूसे में कार्य कारण भाव है नहीं अपितु सहोत्पत्ति रूप सम्बन्ध है। यहाँ कवि ने अपनी कल्पना से उपमानोपमेय (भूसा-चान्दनी) (चावल-हँसी) कल्पित कर कार्य कारण भाव जोड़ लिया है। उस दिव्य वाचल सम हँसी का कारण प्राप्त प्रस्तुत चन्द्रिका है। अतः इस भाव में भी अप्रस्तुत प्रशंसा है। ऐसा अन्यत्र भी देखा जाता है।

यथा-

कालिन्दि! ब्रूहि कुम्भोद्भव! जलधिरहं, नाम गृह्णासि कस्मा-
च्छत्रोर्मे, नर्मदाऽहं, त्वमपि वदसि मे नाम कस्मात्सपत्न्याः।
मालिन्यं तर्हि कस्मादनुभवसि ? मिलत्कज्जलैर्मालवीनां
नेत्राम्भोभिः किमासां समजनि ? कुपितः कुन्तलक्षोणिपालः॥

अत्र किमासां समजनि ? इति मालवीनां तथा रोदनस्य निमित्ते पृष्टे तत्प्रियमरणरूपनिमित्तमनाख्याय 'कुपितः कुन्तलक्षोणिपालः' इति तत्कारणमभिहितमिति कारणनिबन्धना। मालवान्प्रति प्रस्थितेन कुन्तलेश्वरेण 'किं ते निर्जिताः' इति पृष्टे तद्वधानन्तरभावि जलधिनर्मदा प्रश्नोत्तररूपं कार्यमभिहितमित्यत्रैव कार्यबिन्धनापि। पूर्वस्यां प्रश्नः शाब्दः अस्यामार्थ इति भेदः ॥

जैसे-

कालिन्दि! बालो अगस्त्य! अरे मैं जलधि हूँ, मेरे शत्रु का नाम क्यों ले रही हो ? मैं भी नर्मदा हूँ मेरी सौत (कालिन्दी) का नाम क्यों ले रहे हो ? तुम मलिन कैसे हो गईं ? मालव देश की तरुणियों के कज्जल, आँसू के साथ बहकर मुझमें मिल गए हैं। उन्हें क्या हुआ ? कुन्तल के राजा क्रुद्ध हो गए।

यहाँ 'किमासां समजनि' ? इस तरह मालवियों के रोने के कारण पूछे जाने पर उसके प्रिय मरण रूप कारण को नहीं कहकर कुन्तलाधिप क्रुद्ध है, ऐसा कारण कहा गया इस तरह यह कारण निबन्धना है। मालवेश्वर के प्रति प्रस्थित कुन्तेश्वर के द्वारा क्या वे जीते गए ? ऐसा पूछे जाने पर मालवेश्वर के वध के बाद होने वाले सागर और नर्मदा के प्रश्नोत्तर रूप कार्य का निबन्धन होने से यहाँ निबन्धना भी है। पहले कारणनिबन्धना के प्रश्न शाब्द है और कार्यनिबन्धना के प्रश्न आर्थ है, यही दोनों में भेद है।

यहाँ सागर और नर्मदा का वार्तालाप है। नर्मदा को काला देखकर सागर ने उसे कालिन्दी (यमुना) समझकर कहा- ऐ कालिन्दि! नर्मदा ने समझा कि यह मेरी सौतिन का नाम लेकर मुझे चिढ़ा रहा है तो वह बोली अरे अगस्त्य! कहो क्या कहना है। सागर बोला- मैं सागर हूँ मेरे दुश्मन का नाम क्यों लेती है ? तो नर्मदा बोली मैं भी नर्मदा हूँ, मेरी सौतिन का नाम क्यों लेते हो ? सागर ने पूछा- तू काली क्यों हो गई ? नर्मदा बोली मालवियों के आँखों का काजल आँसू के साथ मुझमें मिल गया। सागर ने पूछा- उसे क्या हुआ ? वह बोली- कुन्तलेश्वर क्रुद्ध हो गए। यहाँ मालवियों के रोने का कारण पूछा गया है। जो शब्दतः प्राप्तः है। जवाब में पतिमरण रूप कारण न कहकर कुन्तलेश्वर का क्रुद्ध

होना बताया गया है। इससे कारणनिबन्धना है। यहाँ कार्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा भी है। जैसे यदि किसी ने पूछा कि क्या मालव को कुन्तलेश्वर ने जीत लिया तो कवि ने यह श्लोक सुनाया। इस तरह नर्मदा सागर के प्रश्नोत्तर रूप कार्य के निबन्धित होने से कार्य निबन्धना है। पर यह प्रश्न शाब्द नहीं आर्थ है।

इस तरह अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेदों का विवेचन करने के बाद यह कहा गया है कि इसके अतिरिक्त भी सम्बन्ध हो सकते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने भी अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद बताए हैं-

क्वचिद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः।

कार्यान्निमित्तं कार्य च हेतोरथ समात्समम्।

अप्रस्तुताप्रस्तुतं चेत् गम्यते पञ्चधा ततः॥

अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात्।

२८ - प्रस्तुताङ्कुरालङ्कारः

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः।

किं भृङ्ग! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया॥66॥

यत्र प्रस्तुतेन वर्ण्यमानेनाभिमतमन्यत्प्रस्तुतं द्योत्यते तत्र प्रस्तुताङ्कुरालङ्कारः। उत्तरार्द्धमुदाहरणम्। इह प्रियतमेन शाकमुद्याने विहरन्ती काचित् भृङ्ग प्रत्येवमाहेति वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वम्। न चानामन्त्रणीयामन्त्रणेन वाच्यासम्भवादप्रस्तुतमेव वाच्यमिह स्वरूप प्रस्तुतावगतये निर्दिष्टमिति वाच्यम्। मौग्ध्यादिना भृङ्गादावप्यामन्त्रणस्य लोके दर्शनात्।

प्रस्तुत वर्णन से यदि दूसरे प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, तो वहाँ प्रत्युताङ्कुर अलङ्कार होता है। जैसे- ऐ भ्रमर! मालती के रहते कांटेदार केतकी से क्या लेना ?

जहाँ प्रस्तुत वर्ण्यमान से अभिमत अन्य प्रस्तुत का द्योतन होता है। वहाँ प्रस्तुताङ्कुर अलङ्कार होता है। कारिका का उत्तरार्ध इसका उदाहरण है। यहाँ प्रियतम के साथ उद्यान में विहार करती हुई कोई लड़की भ्रमर के प्रति कहती है। इस तरह वाच्य यहाँ प्रस्तुत है।

अनामन्त्रणीय के आमन्त्रण से वाच्य संभव नहीं है, अपितु वाच्य अप्रस्तुत है और प्रस्तुत नायक वृत्तान्त की व्यञ्जना करता है ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मुग्धता के कारण भृंगादि को भी लोग सम्बोधन करते हैं, ऐसा लोक में देखा जाता है।

इस अलङ्कार में एक प्रस्तुत वाच्य होता है और दूसरे प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है। यहाँ उदाहरण में नायक के साथ घूमती नायिका भ्रमर को कहती है कि ऐ भ्रमर! मालती के रहते कांटेदार केतकी से क्या लेना ? तात्पर्य है कि मुझे जैसी सुन्दरी के रहते अन्य नायिकाओं से तुझे क्या मतलब ? यहाँ भृंग को सम्बोधन करना उचित नहीं है। अतः भृंग वृत्तान्त को अप्रस्तुत मानकर प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, ऐसा करना चाहिए। पर दीक्षित जी कहते हैं कि अनामंत्रणीय का आमंत्रण नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है। मुग्धता आदि के कारण लोग भौंरे आदि को सम्बोधन करते हैं ऐसा देखा जाता है। भौंरे से संबोधित होने पर वह प्रस्तुत हो गया है और दूसरे प्रस्तुत नायक वृत्तान्त की व्यञ्जना हो रही है। वास्तव में मूढ़ व्यक्ति यह नहीं जानता कि कौन सम्बोध्य है और कौन असम्बोध्य। कालिदास का यक्ष तो जड़ चेतन तक को भूल गया था। अचेतन के लिए सम्बोधन वाला श्लोक नीचे दिखा रहे हैं, जिसमें एक पथिक का एक वृक्ष के साथ वार्तालाप है।

यथा- (ध्वन्यालोके 3-41)-

कस्त्वं भोः ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि ? साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ?
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे॥

इत्यत्र चेतनाचेतन प्रश्नोत्तरवत्तिर्यगामन्त्रणस्यात्यन्तमसम्भावितत्वाभावात् एवं प्रस्तुतेन वाच्यार्थेन भृङ्गोपालम्भरूपेण वक्त्र्याः कुलवध्वाः सौन्दर्यभिमानशालिन्याः क्रूरजनपरिवृत्तिदुष्प्रधर्षायां परवनितायां विटसर्वस्वाप हरणसंकल्पदुरासदायां वेश्यायां वा कण्टकसंकुल केतकी कल्पायां प्रवर्तमानंप्रियतमं प्रत्युपालम्भो द्योत्यते।

तुम कौन हो ? कहता हूँ, तुझे भाग्य का मारा शाखोटक समझो। कुछ वैराग्य से

बोल रहे हो ? ठीक जाना। ऐसा क्यों कहते हो ? मेरे बाएँ भाग में वटवृक्ष है, जिसको पथिक लोग तन मन से सेवते हैं, लेकिन मार्ग में खड़ा मैं हूँ, मेरी छाया परोपकार नहीं करती है। (यही दु:ख है।)

यहाँ चेतन और अचेतन के मध्य वार्तालाप है। इससे यह सिद्ध होता है कि तिर्यक जाति वाले अचेतन वृक्ष के साथ असम्भावित नहीं हैं। इस तरह प्रस्तुत वाच्यार्थ जिसमें भ्रमर को उपालम्भन दिया गया है, के द्वारा अपने सौन्दर्य पर अभिमान करने वाली कुल वधू अपने प्रियतम को उलाहना दे रही है। जो प्रियतम क्रूरजन के साथ रहने के कारण दु:ख में वश में आने वाली पर वनिता में, कामुक के सर्वस्वहरण में दक्ष दुर्लभ वेश्या में, जो कांटे के समूह से युक्त केतकी के समान है, में अनुरक्त है।

यहाँ शाखोटक और पथिक के वृत्तान्त से यह दिखाया गया है कि अचेतन के साथ वार्ता सम्भव है। अत: कारिकागत उदाहरण में भृंग का सम्बोधन वाच्य है। इस वाच्य भृंग उपालम्भन से वाच्य (दूसरा) प्रियतम का उपालम्भन हो रहा है। यहाँ बोलने वाली नायिका मालती के समान है। अत: केतकी से निवारण से, वेश्या से निवारण तथा मालती में प्रीति से नायिका में प्रीति व्यञ्जित हो रहा है।

यथा वा- (विकटनितम्बा)

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग!
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥

अत्राप्युद्यानमध्ये चरन्तं भृङ्गं, प्रत्ययमुपालम्भ इति वाच्यार्थस्यापि प्रस्तुतत्वम्। इदं च प्रौढाङ्गनासु सतीषु बालिकां रतये क्लेशयति कामिनिशृण्वति कस्याश्चित्विदग्धाया वचनमिति तम्प्रत्युपालम्भो द्योत्यते।

यथा वा-

कोशद्वन्द्वमियं दधाति नलिनी कादम्बचञ्चुक्षतं
धत्ते चूतलता नवं किसलयं पुंस्कोकिलास्वादितम्।
इत्याकर्ण्य मिथः सखीजनवचः सा दीर्घिकायास्तटे
चेलान्तेन निरोदधे स्तनतटं बिम्बाधरं पाणिना॥

अत्र 'इयम्' इति नलिनीव्यक्तिविशेषनिर्देशेन 'दीर्घिकायास्तटे' इत्यनेन च वाच्यार्थमस्य प्रस्तुतत्वं स्पष्टम्। प्रस्तुतान्तरद्योतनं चोत्तरार्धे स्वयमेव कविनाऽऽविष्कृतम्।

ऐ भ्रमर! उपमर्दन को सहने में समर्थ किसी अन्य लताओं में अपने चञ्चल मन को बहलाओ। इस नवमल्लिका की नवीन कली को, जिसमें अभी तक पराग उत्पन्न नहीं हुआ है, व्यर्थ में क्यों सता रहे हो ?

यहाँ भी उद्यान में घूमते हुए किसी भ्रमर को उपालम्मन दिया गया है, इस तरह वाच्य भी प्रस्तुत है और तरुणी के रहते हुए किसी बालिका को रति के लिए पीड़ित करते हुए नायक के प्रति किसी चतुर नायिका की उक्ति (प्रस्तुत) व्यञ्जित होती है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

यह नलिनी हंस के चोंच से क्षत विक्षत दो कमलकोश को धारण करती है। पुस्कोकिल से आस्वादित नये किसलए को यह चूतलता धारण करती है। दीर्घिका के तट पर सखी जनों के ऐसे वचन को सुनकर उसने (नायिका ने) कपड़े से अपना स्तन ढक लिया और बिम्बाधर को हाथ से ढक लिया॥

यहाँ 'इयम्' शब्द नलिनी का व्यक्ति विशेष के निर्देश के और दीर्घिका के तट पर इस शब्द से नलिनी तथा चूतलता का प्रस्तुतव्य स्पष्ट है। अन्य प्रस्तुत का बोधन कवि ने स्वयं उत्तरार्द्ध में आविष्कृत किया है।

यहाँ प्रस्तुत पहले श्लोक 'अन्यासु' में कोई नायक प्रोढ़ा नायिका के रहते बालिका को रति के लिए प्रेरित कर रहा है, इस प्रस्तुत वृत्तान्त को भ्रमर के व्याज से (प्रस्तुत से) कह रही है कि भ्रमर! इस कलिका को छोड़, उस लता में मन बहलाओ, जो मर्दन सह

सके। तात्पर्य है कि ऐ नायक! ऐसी प्रोढ़ा में मन बहलाओ जो रति कालिका मर्दन सह सके यह तो अभी नवबाला है, यह रति मर्दन सहन नहीं कर पाएगी। इस तरह यहाँ दोनों प्रस्तुत हैं।

दूसरे श्लोक में नलिनी और चूतलता दोनों स्पष्ट प्रस्तुत हैं तथा अन्य प्रस्तुत नायिका वृत्तान्त कवि ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। नायिका ने अपना स्तन और अधर ढक लिया। इससे तात्पर्य है कि उस सखी के वचन से इसे अपना वृत्तान्त ही प्रतीत हुआ। हंस की चोंच से क्षत-विक्षत कमल युगल इस नायिका के परनायक मर्दित स्तनयुगल हैं और चूतलता का पल्लव, परनायक से पान किया हुआ इसका अधर है। इस तरह दोनों प्रस्तुत हैं। इस उदाहरण में दूसरे (नायिका वृत्तान्त) प्रस्तुत को कवि ने स्वयं स्पष्ट कर दिया। अतः यहाँ अलंकार है पर अन्य उदाहरणों में जहाँ दूसरा प्रस्तुत स्पष्ट नहीं है, वहाँ अलंकार न होकर ध्वनि मानना चाहिए। इस मत से दीक्षित जी सहमत नहीं है। अतः अपना मत रखते हैं-

अत्राद्योदाहरणयोरन्यापदेशध्वनिमाह लोचनकारः- अप्रस्तुत प्रशंसायां वाच्यार्थोऽप्रस्तुतत्वादवर्णनीयः इति। तत्राभिधायामपर्यवसितायां तेन प्रस्तुतार्थव्यक्तिरलङ्कारः। इह तु वाच्यस्य प्रस्तुतत्वेन तत्राभिधायां पर्यवसितायामर्थसौन्दर्यबलेनाभिमतार्थ व्यक्तिर्ध्वनिरेवेति। वस्तुतस्तु - अयमप्यलङ्कार एव न ध्वनिरिति व्यवस्थापितं चित्रमीमांसायाम्। तृतीयोदाहरणस्य त्वलङ्कारत्वे कस्यापि न विवादः। उक्तं हि ध्वनिकृता।

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः॥ इति॥

यहाँ प्रथम दो उदाहरणों में लोचनकार ने अन्यापदेशध्वनि माना है। अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होने से अवर्णनीय होता है। वहाँ वाच्य अभिधा में पर्यवसित नहीं होता, व्यंग्यार्थ (प्रस्तुत) का बोध कराता है। अतः वहाँ अलंकार है। यहाँ तो वाच्य प्रस्तुत है इससे अभिधामात्र में पर्यवसित हो जाने पर अर्थ सौन्दर्य बल से अभिमत अर्थ की

अभिव्यक्ति होती है, इसलिए यहाँ अलंकार नहीं ध्वनि होता है। वास्तव में यह भी अलङ्कार ही है ध्वनि नहीं यह चित्रमीमांसा में व्यवस्थापित किया गया है। तीसरे उदाहरण में तो अलंकारत्व में कोई विवाद ही नहीं है। ध्वनिकार ने कहा भी है–

शब्दार्थ शक्ति से आक्षिप्त होने पर भी यदि कवि पुनः अपनी उक्ति से व्यङ्गार्थ को अभिव्यक्त करता है, तो वहाँ ध्वनि से भिन्न अन्य ही अलङ्कार होता है।

लोचनकार अप्रस्तुत प्रशंसा को इसलिए अलंकार मानते हैं कि वहाँ वाच्य अप्रस्तुत होने से वर्णनीय नहीं होता है। वहाँ अभिधा अवर्णनीय में पर्यवसित नहीं होकर तत्सादृश्येन प्रस्तुतार्थ में पर्यवसित होता है। यह प्राप्त अप्रस्तुत (व्यग्यार्थ) अवर्णनीय अप्रस्तुत का पोषक होता है। अतः वहाँ ध्वनि नहीं अलङ्कार होता है। यहाँ प्रस्तुताङ्कुर में वाच्य एक प्रस्तुत में पर्यवसित हो जाता है। तब दूसरा प्रस्तुत व्यंग्य होता है। अतः यहाँ ध्वनि ही है अलंकार नहीं। परञ्च दीक्षित जी कहते हैं कि यह भी अलङ्कार होता है, यह मैने चित्रमीमांसा में स्पष्ट किया है। चित्रमीमांसा के प्राप्त संस्करण में यह अलंकार नहीं है। अतः उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। अब तक के उदाहरण सारूप्यनिबन्धन के हैं। जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा में अन्य सम्बन्ध होता है, उसी तरह यहाँ भी अन्य सम्बन्ध से अलंङ्कार हो सकता है। इस बात को आगे स्पष्ट करते हैं।

एतानि सारूप्य निबन्धनान्युदाहरणानि सम्बन्धान्तर निबन्धनान्यपि कथञ्चित्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रस्तुतत्वलम्भनेनोदाहरणीयानि। दिङ्मात्रमुदाह्रियते–

रात्रिः शिवा काचन संनिधत्ते विलोचने। जाग्रतमप्रमत्ते॥
समानधर्मा युवयोः सकाशे सखा भविष्यत्यचिरेण कश्चित्॥

अत्र शिवसारूप्यमिव तदेक देशतया तद्वाच्यं ललाटलोचनमपि शिवरात्रिमाहात्म्य प्रयुक्तत्वेन वर्णनीयमिति तन्मुखेन कृत्स्त्रं शिवसारूप्यं गम्यम्।

यथा वा–

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर
त्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्।

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्य लहरी
परीवाईस्त्रोतः सरणिरिव सीमन्तसरणिः॥

अत्र वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतायाः सीमन्तसरणेर्वदनसौन्दर्य लहरी परीवाहत्वोत्प्रेक्षणेन परिपूर्णतटाकवत्परीवाहकारणीभूता स्वस्थाने अमान्ती वदन सौन्दर्य समृद्धिः प्रतीयते। सापि वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतैव।

अब तक सारूप्यनिबन्धन उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अन्य सम्बन्ध निबन्धन भी वाच्य और व्यङ्ग्य में प्रस्तुत के बल पर पाया जाता है। दिङ्मात्र उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

हे मेरे चक्षु युगल! कोई कल्याणमयी रात्रि आयी है। अप्रमत्त भाव से जगे रहो। तुम दोनों के समान धर्म वाला कोई तुम्हारा मित्र अचिर काल में तुम्हारे साथ में होगा।

यहाँ शिवसारूप्य की तरह उसका एक देश होने से ललाट लोचन भी वाच्य है जो शिव रात्रि के माहात्म्य से प्रयुक्त होकर वर्णनीय ही है। इससे मुख का पूरा शिवस्वरूप होना व्यंग्य है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

प्रबल केशपाश रूप अंधकार की कान्ति के समूह से बन्दी बनाए गए नवीन सूर्य किरण की तरह सिन्दूर को धारण करती हुई तथा मुख सौन्दर्य के तरंगों के निर्गम मार्ग की तरह सीमन्त सरणि हम लोगों के कल्याण का विस्तार करे।

यहाँ वर्णनीय होने से प्रस्तुत सीमन्त सरणि का बदन सौन्दर्य तरंग के परीवाह के रूप में उत्प्रेक्षा होने से परिपूर्ण तड़ाग की तरह परीवाह की कारणभूत अपने स्थान में नहीं समाती हुई। वदन समृद्धि प्रतीत हो रही है। यह भी वर्णनीय होने से प्रस्तुत ही है।

यहाँ पहले श्लोक में शिव भक्त शिवरात्रि में अपनी आँखों को जगने के लिए कहता है। यहाँ पूर्ण शिवसारूप्य प्राप्त करने का वर्णन है। यहाँ नेत्र का मित्र (ललाटस्थ नेत्र) का होना भी शिवरात्रि के माहात्म्य से प्रस्तुत हो जाता है। इस तरह तीसरा नेत्र हो जाने से पूर्ण शिव सारूप्य व्यंग्य (प्रस्तुत) है। यहाँ शिव रात्रि वर्णन प्रस्तुत है। इसी प्रस्तुत के

एक अंश भूत वाच्य नेत्र का वर्णन हो जाता है। इस तरह यहाँ एक देश्य एक देश सम्बन्ध है।

दूसरे उदाहरण में पार्वती की सीमन्त सरणि का वर्णन है। इसकी उत्प्रेक्षा वदन सौन्दर्य लहरी के परीवाह रूप में हुआ है। यहाँ जिस तरह तड़ाग का जल जब अपने में नहीं समाता है, तब निर्गम मार्ग से निकलता है। उसी तरह मुख सौन्दर्य जब अपने में नहीं समा सका, तब निर्गम मार्ग की तरह सीमन्त सरिण से निकल रहा है। यह अभिमत है। इससे सौन्दर्यातिशय व्यंग्य है। यहाँ सीमन्त सरणि भी प्रस्तुत है और सौन्दर्यतिशय भी वर्णनीय होने से प्रस्तुत हो जाता है। यहाँ परीवाह रूप में उत्प्रेक्षित सीमन्त सरणि रूप कार्य से सौन्दर्यातिशय की व्यञ्जना (अपर प्रस्तुत) हुई है। अतः कार्य कारण भाव सम्बन्ध है।

यथा वा-

अङ्गासङ्गिमृणालकाण्डमयते भृङ्गावलीनां रुचं
नासा मौक्तिकमिन्द्रनीलसरणिं श्वासानिलाद्गाहते।
दत्तेयं हिम वालुकापि कुचयोर्धत्ते क्षणं दीपतां
तप्तायः पतिताम्बवत्करतले धाराम्बु-संलीयते॥

अत्र नायिकाया विरहासहत्वातिशय प्रकटनाय संतापवत्कार्याणि मृणालमालिन्यादीन्यपि वर्णनीयत्वेन विवक्षितानीति तन्मुखेन संतापोऽवगम्यः। यत्र कार्यमुखेन कारणस्यावगतिरपि श्लोके निबद्ध, न तत्रायमलङ्कारः किं त्वनुमानमेव।

यथा (रत्ना ०)

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः -
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेप वलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति नलिनी पत्रशयनम्॥

जैसे-

अंग की संगति से मृणाल काण्ड भौरे की कान्ति को प्राप्त करता है। नाक में लगा

मोती श्वास की हवा से इन्द्रनीलमणि की शोभा धारण करता है। स्तनयुगल पर रखा कर्पूर चूर्ण (हिमवालुका) क्षण में जल उठता है। करतल पर धारा रूप में गिरता जल तप्त लोहे पर गिरते जल के समान हो जाता है।

यहाँ नायिका के विरह असहत्वातिशय को प्रकट करने के लिए संताप की तरह कार्य मृणाल की मलिनता आदि वर्णनीय रूप में विवक्षित है। उसके मुख से संतापाधिक्य की व्यञ्जना होती है। जहाँ कार्यमुख से कारण की अनगति भी श्लोक में निबद्ध होती है, वहाँ यह अलङ्कार नहीं होता अपितु अनुमानालङ्कार ही होता है।

जैसे-

मोटे स्तन और जघन की संगति से दोनों ओर पूर्णतः म्लान तथा शरीर के मध्य भाग का (पतला होने से) मिलन नहीं होने से हरा, तथा शिथिल भुजाक्षेप से इसकी रचना अस्तव्यस्त हो गयी है। यह नलिनी पत्र का शयन कृशाङ्ग के संताप को कह रहा है।

यहाँ पहले श्लोक में नायिका के संतापासहत्व का वर्णन है। इसमें मृणाल का काला होना, मोती का नीला होना, कपूर का जलना, हाथ का तपे लोहे के समान होना आदि संतापातिशय को ही व्यक्त करता है। यहाँ संतापासह्यत्व वर्णन अभीष्ट है। यहाँ कार्य रूप कारण (प्रस्तुत) से कारण रूप व्यंग्य (प्रस्तुत) है। प्रस्तुताङ्कुर और अनुमान में इतना अन्तर है कि प्रस्तुतांङ्कुर में कार्य रूप वाच्य (प्रस्तुत) से कारण रूप व्यंग्य (अपर प्रस्तुत) का बोध होता है। यहाँ कारण प्रस्तुत को कवि स्वयं नहीं कहता है। जहाँ कार्य प्रस्तुत के साथ-साथ कारण प्रस्तुत को भी कवि स्वयं कह देता है, वहाँ अनुमानालङ्कार होता है। जैसे 'परिम्लानं' इस श्लोक में नलिनीपत्र शयन का मलिन होना रूप कार्य प्रस्तुत है। इससे विरहतापातिशय रूप कारण भी चौथे चरण में कवि ने स्वयं कह दिया है। अतः यहाँ अनुमान अलङ्कार है।

२९ - पर्यायोक्तालङ्कारः

पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्।
नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधू कुचौ॥ 67॥

यदेव गम्यं विवक्षितं तस्यैव भङ्ग्यन्तरेण विवक्षितरूपादापि चास्त्तरेण केनचिद्रूपान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्। उत्तरार्द्धमुदाहरणम्। अत्र भगवान् वासुदेवः स्वासाधारणरूपेण गम्यः राहुवधूकुचवैयर्थ्य कारकत्वेन रूपान्तरेण स एवाभिहितः।

यथा वा -

लोकं पश्यति यस्यांघ्रिः स यस्याघ्रिं न पश्यति।
ताभ्यामप्यपरिच्छेद्या विद्या विश्वगुरोस्तव॥

अत्र गौतमः पतञ्जलिश्च स्वासाधारणरूपाभ्यां गम्यौ रूपान्तराभ्यामभिहितौ।

पर्यायोक्ति अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ व्यंग्य को ही अभिधा के भिन्न प्रकार से कह दिया जाता है। जैसे - जिन्होंने राहु वधू के स्तन युगल को व्यर्थ बना दिया, उन्हें नमस्कार है।

जहाँ विवक्षित गम्य, प्रकारान्तर से विवक्षित रूप से भी सुन्दर ढंग से किसी अन्य अभिधान से कहा जाता है, वहाँ पर्यायोक्ति होता है। कारिका का उत्तरार्द्ध उदाहरण है। यहाँ भगवान् वासुदेव अपने असाधारण रूप में गम्य हैं। राहु वधू के स्तन युगल के वैयर्थ्य कारक के रूप में वही बात अभिधा से कह दिया गया है।

जैसे दूसरा उदाहरण -

जिसके पैर संसार को देखते हैं, तथा जिसके पैर को संसार नहीं देखता है, उन दोनों के द्वारा हे विश्व गुरु। आपकी विद्या अपरिच्छेद्य है।

यहाँ गौतम और पतञ्जलि अपने असाधारण रूप में गम्य हैं, वही प्रकारान्तर से अभिधा द्वारा कहा गया है।

यह अलंकार वहाँ होता है, जहाँ व्यंग्य को ही प्रकारान्तर से अभिधा द्वारा कहा जाता है। जैसे कारिकाद्र्ध वाले उदाहरण में भगवान् की असाधारणता वर्णन करना लक्ष्य है। उसी को राहु वधू कुच वैयर्थ्यकारक कहके कहा गया है। तात्पर्य है कि जिसने राहु के वधू के स्तनयुगल को व्यर्थ कर दिया। अर्थात राहु को मार दिया। पति के मरने पर पत्नी के स्तनयुगल की व्यर्थता अपने आप सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उसका श्रृंगारिक उपयोग करने

वाला ही नहीं रह जाता। इस तरह राहु के वध करने से भगवान् की असाधारणता सिद्ध हो जाती है। यह असाधारणता व्यंग्य से होना लक्ष्य है, पर प्रकारान्तर से अभिधा द्वारा ही कह दिया गया। इसी तरह दूसरे उदाहरण में गौतम और पतञ्जलि का असाधारणत्व वर्णन करना लक्ष्य है। इसको अभिधा से ही कहा गया है, कि जिसका पैर सबको देखता है अर्थात् अक्षपाद गौतम और जिसके पैर को कोई नहीं देखता अर्थात् गुप्तपाद शेषावतार पतञ्जलि। इस तरह पैर में भी आँख होने से गौतम की तथा पैर नहीं दीख पड़ने पर पतञ्जलि की असाधारणता वाच्य से ही प्रकारान्तर से कहा गया है।

यथा वा –

निवेद्यतांहन्त समापयन्तौ शिरीषकोशम्रदिमाभिमानम्
पादौ कियत्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते॥

अत्र कियद्दूरं जिगमिषा? इति गम्य एवार्थों रूपान्तरेणाभिहितः। यथा वा –

वन्दे देव जलधिशरधिं देवतासार्वभौमं
व्यासप्रष्ठा भुवनविदिता यस्य वाहाधिवाहाः।
भषापेटी भुवनमधरं पुष्करं पुष्पवाटी
शाटीपालाः शतमखमुखाश्चन्दनद्रुर्मनोभूः॥

अत्र यस्य वेदाः वाहाः। भुजङ्गमाः भूषणानि। इत्यादि तत्तद्वावक्यार्थ व्यवस्थितौ वेदत्वाद्याकारेणावगम्या एव वेदादयो व्यासप्रमुखक्नियत्वाद्याकारेणाभिहिताः परन्तु देवता सार्वभौमत्वस्फुटी करणाय विशेषणविशेष्यभाव व्यत्यासेन प्रतिपादिताः।

जैसे –

('नैषधीय चरितम्' महाकाव्य में दमयन्ती नल से पूछती है।) दूत! यह बताओ तुम्हारा कठोर मन शिरीष के कोष की कोमलता को समाप्त करने वाले इन चरणों को कितने दूर तक प्रयास में रखना चाहता है।

यहाँ कहाँ तक जाने की इच्छा है, यह गम्य अर्थ ही प्रकारान्तर से कहा गया है।

जैसे दूसरा उदाहरण –

मैं उन सार्वभौम देवता की वन्दना करता हूँ, जिनका तूणीर सागर है। भुवन विदित व्यासादि ऋषि वाहन के वाहन हैं। पाताल लोक आभूषण की पेटी है। आकाश फुलवाड़ी है। सौ यज्ञ करने वाले इन्द्रादि शाटी (धोती) के रखवाले हैं और कामदेव चन्दन का पेड़ है।

यहाँ जिसका वेद वाहन है, भुजङ्गम आभूषण है इत्यादि तत्तत् वाक्यार्थ की प्रतीति वेदादि शब्द प्रयोग से गम्य हैं, तथा वेदादि व्यासादिकों के भी प्रणम्य हैं यह इस वाक्य के द्वारा प्राप्त हो सकता है। परञ्च देवता के सार्वभौमत्व को स्फुट करने के लिए विशेष्य विशेषण भाव लगाकर कहा गया है।

पहले उदाहरण में दमयन्ती का यह पूछना अभीष्ट है कि तुम कहाँ तक जाने की इच्छा रखते हो। इसी बात को अभिधा के द्वारा प्रकारान्तर से कहा गया है कि तुम्हारा मन तुम्हारे पैर को कितनी दूरी पर रखना चाहता है। यह अभिधान्तर से व्यंग्य का ही बोध कराया गया है। दूसरे श्लोक में देवता का सार्वभौमाच सिद्ध करना अभीष्ट है। इसके लिए कवि ने वाच्य वाचक का प्रयोग न कर भङ्ग्यन्तर का प्रयोग किया है। वाच्य वाचक में कहा जाता है कि वेद जिसके वाहन हैं या व्यासादिकों का प्रणम्य वेद है। इस भाव को कवि ने इस तरह स्पष्ट किया है कि – व्यासादि जिसके वाहन के वाहन हैं। तात्पर्य है कि भगवान का वाहन वेद और वेदों की रक्षा करने वाले ये व्यासादि हैं। सागर तूणीर है। भगवान् विष्णु एक बार शंकर का तीर बने थे (त्रिपुर संहार में) अतः विष्णु का शयन स्थान सागर तूणीर हो गया। शंकर का आभूषण साँप है और सांप पाताल में रहता है इसलिए आभूषण पेरी पाताल है। मस्तकमाला चांद है, चाँद आकाश में रहता है, इसलिए आकाश फुलवारी है। शंकर दिगम्बर हैं, अतः दिशापति इन्द्रादि धोती रक्षक हैं। इस तरह शंकर का देवाधिदेवत्व सिद्ध होता है। कामदेव को जलाकर भस्म शरीर पर लगा लिया है अतः चन्दन का पेड़ कामदेव है। यहाँ कवि ने वाच्य वाचक का प्रयोग न करे विशेष्य विशेष का प्रयोग किया है। वाहन विशेष्य वेद विशेषण भूषण विशेष्य सर्प विशेषण आदि भङ्ग्यन्तर है। यद्यपि साधारणतया वेद को विशेष्य और वाहन को विशेषण बनाते तो भी देवाधिदेवत्व (शंकर का) सिद्ध होता। परञ्च कवि ने भङ्ग्यन्तर का प्रयोग किया है।

आगे प्राचीनालंकारिकों के लक्षण के विषय में अपना मत अभिव्यक्त करते हैं –

अत्रालङ्कारसर्वस्वकृतापि पर्यायोक्तस्य सम्प्रदायागतमिदमेव लक्षणभङ्गीकृतं 'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्' इति।

चक्राभिधात प्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥

इति प्राचीनोदाहरणं त्वन्यथा योजितं-राहुवधूगतेन विशिष्टेन रतोत्सवेन राहुशिरच्छेदः कारणरूपो गम्यत इति। एवञ्च गम्यस्यैवाभिधानम् इति लक्षणस्यानुपपत्तिमाशङ्क्याह-यद्गम्यं तस्यैवाभिधानायोगात् कार्यादिद्वारेणैवाभिधानं लक्षणे विवक्षितम् इति।

अलङ्कार सर्वस्वकार (रूरूयक) के द्वारा सम्प्रदाय प्राप्त लक्षण ही अंगीकार किया गया है कि – गम्य का भङ्ग्यन्तर से अभिधान पर्यायोक्ति है। ददाहरण जैसे –

चक्र को प्रहार करने के लिए दी गई आज्ञा से ही जिसने राहु के वधूजन के रतोत्सव को आलिंगन के द्वारा उद्दाम विलास से रहित चुम्बन मात्र शेष बना दिया।

यह प्राचीन उदाहरण अन्यथा योजित हुआ है–

राहु वधूगत विशिष्टरतोत्सव से राहु का शिच्छेद कारण रूप से गम्य होता है। इस तरह गम्य का ही अभिधान हुआ है, इस लक्षण की अनुपपत्ति की आशंका के निवारण में कहा कि जो गम्य है उसी का अभिधान नहीं होने से उसका कार्यादि के द्वारा अभिधान ही लक्षण में विवक्षित है।

यहाँ रूरूयक द्वारा किए गए लक्षण पर दीक्षित जी ने विचार किया है। रूरूयक का पर्यायोक्ति लक्षण है –

गम्यस्य भंग्यबरेणाभिधानं पर्यायोक्तम

दीक्षितजी के मत से लक्षण तो आलंकारिक सम्मत ही है, पर उसकी योजना कुछ अलग तरीके से की गयी है। प्रसिद्ध उदाहरण 'चक्रभिधात' में राहूवधूजन के रतोत्सव के चुम्बन मात्र शेष होने से रूप कार्य कारण राहु का शिरच्छेद माना है और इस अवस्था में

गम्य का अभिधान रूप लक्षण में, आपत्ति होने पर तर्क दिया गया है कि गम्य का अभिधान उसी रूप में नहीं होता है अपितु कार्यकारण भाव से अभिधान विवक्षित है। इसी तर्क को और बढ़ाते हुए लिखते हैं -

लक्षणमपि विलष्टगत्या योजितं लोचनकृता 'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते' इति। इदतेव लक्षणमङ्गीकृत्य तदुदाहरणे च कार्येण शब्दाभिहितेन कारणं व्यंग्यं प्रदर्श्य तत्र लक्षणं लक्ष्यनाम च विलष्टगत्या योजितम्। वाच्यादन्येन प्रकारेण व्यङ्गेनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तत् पर्यायेण प्रकारान्तरेण व्यङ्गेनोपलक्षितमुक्तमिति सर्वोऽप्ययं क्लेशः किमर्थ इति न विद्मः। प्रदार्शितानि हि गम्यस्यैव रूपान्तरेणाभिधाने बहून्युदाहरणानि। चक्राभिघात प्रसभाज्ञयैव इहति प्राचीनोदाहरणमपि स्वरूपेण गम्यस्य भगवतो रूपान्तरेणाभिधानसवात्सुयोजमेव। यत्तु तत्र राहुशिरश्छेदावगमनं तत्र प्रागुक्तरीत्या प्रस्तुतङ्कुर एव। प्रस्तुतेन च राहोः शिरोमात्रावशेषेणालिङ्गन बन्ध्यत्वाद्यापादनरूपे वाच्ये भगवतो रूपान्तरे उपपादिते, तेन भगवतः स्वरूपेणावगमनं पर्यायोक्तस्य विषयः॥ ६८॥

लोचनकार (अभिनवगुप्त) ने इसका लक्षण भी बड़ी विलष्टता से जोड़ा है। जहाँ अन्य प्रकार से वक्तव्य की प्रतीति हो वहाँ पर्यायोक्त होता है। इस लक्षण को अङ्गीकार कर उसके उदाहरण में कार्य के द्वारा वाच्य रूप से कारण रूप व्यंग्य को प्रदर्शित कर लक्ष्य तथा लक्षण को क्लिष्ट रूप से योजित किया है। वाच्य से भिन्न प्रकार से अर्थात् व्यंग्य से उपलक्षित जो कहा जाता है, वही पर्याय से प्रकारान्तर से व्यंग्य से उपलक्षित कहा है। यह सभी क्लेश क्यों किया हैं यह नहीं जानता। गम्य के ही रूपान्तर के अभिधान के बहुत उदाहरण दिए गए हैं। 'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव' यह प्राचीन उदाहरण भी स्वरूप से गम्य भगवान् का रूपान्तर से अभिधान होने से सुयोजित ही है। वहाँ राहु के शिरच्छेद का अवगमन पहली रीति से हो तो प्रस्तुताङ्कुर ही होगा। प्रस्तुत राहु के शिर मात्रावशेष से आलिंगनबन्ध्यत्व रूप उपादान में वाच्य में ही भगवान् के रूपान्तर की योजना की गई है। इससे भगवान् के स्वरूप का अवगमन पर्यायोक्ति का विषय है।

यहाँ दीक्षित जी ने लोचनकार के मत से अपनी असहमति जताई है। लोचनकार का लक्षण है -

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीनयते।
वाच्य वाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

इनके मत में वाच्य रूप में प्रयुक्त कार्य के द्वारा व्यंग्य रूप में कारण की प्रतीति पर्यायोक्त का विषय होता है। परद्धच दीक्षित जी ऐसा नहीं मानते। वो गम्य का ही भंग्यन्तर से कथन में पर्यायोक्ति मानते हैं। 'चक्राभिधात' में आंलिगनादि विहीन सुरत रूप कार्य (वाच्य) से राहुशिच्छेद रूप कारण (व्यंग्य) की प्रतीति रूरूयक मानते हैं, और दीक्षित ऐसे में प्रस्तुत आलिंगनबन्ध्यत्व रूप कार्य से प्रस्तुत कारण राहुशिरश्छेद की प्रतीति से प्रस्तुतांकुर मानते हैं। यही दोनों में अन्तर है। कारण है कि रूरूयक प्रस्तुतांकुर अलंकार नहीं मानते हैं। प्रस्तुतांकर दीक्षित जी का ही अलङ्कार है।

साहित्यदर्पणकारादि ने भी प्रस्तुतांकुर नहीं माना है। साहित्यदर्पणकार का पर्योयोक्ति लक्षण दीक्षित जी से मिलता जुलता है -

पर्यायोक्तं यदा भङ्गया गम्यमेवाभिधीयते।

परञ्च चन्द्रालोककार का लक्षण इससे पृथक् है -

उनका लक्षण है -

कार्याद्यैः प्रस्तुतैरूक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते।
तृणान्यङ्कुरयामास विपक्षनृपसद्मसु॥

अब पर्यायोक्ति का दूसरा प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम्
यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह॥ 68॥

अत्र नायिकां नायकेन सङ्गम्य चूतलतादर्शनव्याजेन निर्गच्छन्त्या संख्या तत्स्वाच्छन्द्यसम्पादनरूपेष्टसाधनं पर्यायोक्तम्। यथा वा -

देहि मत्कन्दुकं राधे! परिधाननिगूहितम्।
इति विस्त्रंसयत्रीवीं तस्याः कृष्णो मुदेऽस्तु नः॥

पूर्वत्र परेष्टसाधनम्, अत्र तु कन्दुकसद्भावशोधनार्थं नीविविस्रंसनव्याजेन स्वेष्ट साधनमिति भेदः ॥ ६९ ॥

उसे भी पर्यायोक्त ही कहते हैं, जहाँ व्याज (छल) से इष्ट साधन किया जाता है। जैसे कि चूतलता देखने जा रही हूँ, तुम दोनों यहाँ बैठो।

यहाँ नायक के साथ नायिका को मिलाकर चूतलता दर्शन के व्याज से निकलती सखी ने नायक और नायिका को स्वच्छन्द रूप से इष्ट (सुरत) साधन कर दिया। अतः पर्यायोक्त हुआ। जैसे दूसरा उदाहरण–

हे राधे! परिधान में छिपाया हुआ मेरी गेंद वापस दे दो, यह कहते हुए उसकी (राधा की) नीवी को खोलते हुए कृष्ण हम लोगों की प्रसन्नता करें।

पहले श्लोक में सखी दूसरे का इष्ट साधन करती है, और यहाँ कन्दुक खोजने के व्याज से नीवी ढीली करने के बहाने कृष्ण अपना इष्ट सिद्ध कर रहे हैं। यही दोनों में भेद है।

यहाँ किसी भी व्याज से इष्ट साधन करने पर पर्यायोक्ति माना है। पहले श्लोक में नायक नायिका को मिलाकर सखी चूतलता दर्शन के बहाने इसीलिए जाती है ताकि नायक और नायिका एकान्त में स्वच्छन्द व्यापार कर सकें। सबके सामने स्वच्छन्द व्यापार में बाधा आती है। इस तरह यहाँ सखी नायिका को इष्ट साधन करती है। तथा दूसरे में भगवान् श्री कृष्ण राधा की नीवी को ढीला कर अपना इष्ट सिद्ध कर रहे हैं। सीधा नीवी ढीला करने में कृष्ण की धृष्टता होती। तो यहाँ बहाना बनाया गया कि कपड़े में छिपा मेरा गेंद दे दो। यह कहते हुए कृष्ण नीवी खोलने लगे। यहाँ गेंद ढूँढने के बहाने सुरत प्राप्ति रूप इष्ट की सिद्धि हो रही है। इस तरह पर्यायोक्त का कोई भी लक्षण यदि घटित होता है, तो वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। ऐसा जानना चाहिए। यह पर्यायोक्त का अलग भेद है ऐसा नहीं समझना चाहिए।

30 – व्याजस्तुति – अलङ्कारः

उक्ति र्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।
कः स्वर्धुनि विवेकस्ते पापिनो नयसे दिवम्॥ 69॥
साधु इति! पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनास्ति दन्तैरपि नखैरपि॥ 70॥

निन्दया स्तुतेः स्तुत्या निन्दायाः वा अवगमनं व्याजस्तुतिः। 'क स्वर्धुनि' इत्युदाहरणे विवेको नास्ति इति निन्दा व्याजेन गङ्गा सुकृतिवदेव महापातकादिकृतवतोऽपि स्वर्गं नयनीति व्याजरूपया!निन्दया तत्प्रभावातिशयस्तुतिः। 'साधुइति' इत्युदाहरणे मदर्थे महान्तं क्लेशमनुभूतवत्यसि इति व्याजरूपयास्तुत्या मदर्थ न गंतासि, किन्तु रन्तुमेव गतासि धिक्त्वां दूतिका धर्म विरुद्ध कारिणीम् इति निन्दाऽवगम्यते।

जहाँ निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा की उक्ति होती है, वहाँ व्यास्तुति अलंङ्कार होता है। जैसे– अयि स्वर्धुनि (गंगे) तुम्हारा विवेक क्या है ? जो तुम पापियों को स्वर्ग ले जाती हो तथा ऐ इति! तुमने बहुत अच्छा किया। इससे बढ़कर तुम्हारा कर्तव्य भी क्या है। जो मेरे लिए तू दातों और नखों को काटी गई हो॥ ६१॥

निन्दा के द्वारा स्तुति और स्तुति के द्वारा निन्दा का अवगमन व्याजस्तुति कहलाता है। 'कः स्वर्धुनि' इस उदाहरण में 'विवेक नहीं है' इस निन्दा के व्याज से 'गंगा अच्छे कर्म करने वालों की तरह महापातकादि करने वालों को भ्री स्वर्ग ले जाती है' यह गंगा की प्रभावातिशय रूप स्तुति ही होती है तथा 'साधु इति' वाले उदाहरण में मेरे लिए तूने महान् कष्ट सहे इस व्याज रूप स्तुति से 'मेरे लिए नहीं गई थी' रमण करने के लिए गई थी, अतः दूतिका धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाली तुम्हें धिक्कार है, यह निन्द स्फुटित होता है।

इस अलंकार में प्रधानतया निन्दा (वाच्य) से स्तुति (व्यञ्जना) होती है और स्तुति (वाच्य) से निन्दा (व्यञ्जना) होती है। यद्यपि इसके और भी भेद हो सकते हैं। लेकिन यहाँ दो भेदों का ही उदाहरण प्रस्तुत हुआ है। पहले में गंगा को वाच्य में विवेकहीन बताया

गया है, इससे निन्दा मालूम होती है। पर बाद में गंगा पापियों को भी स्वर्ग पहुँचाती है। यह ज्ञान, गंगा की स्तुति मालुम होती है कि गंगा धार्मिक और पापियों में भेद किए बिना उसको स्वर्ग पहुँचा देती है। दूसरे उदाहरण में दूती को धन्यवाद दिया गया है, जिससे उसकी स्तुति हुई है, पर जब व्यञ्जना मालूम होती है कि यह दूती नायक को बुलाने नहीं अपितु उसके साथ संभोग करने गई थी, तब वही दन्तक्षत और नखक्षत उसकी निन्दा करता है कि तू अधम है, जो दूती धर्म के विरुद्ध काम किया। नायक को बुलाने के बदले तू खुद सम्भोग करके आ गई। इस तरह व्याजस्तुति यहाँ दिखाया गया है। अब दूसरा उदाहरण दिखाते हैं-

यथा वा-

कस्ते शैर्यमदो योद्धुं त्वय्येकं सप्तिमास्थिते।
सप्तसप्तिसमारूढ़ा भवन्ति परिपन्थिनः॥
अर्धं दानववैरिणा निरिजयाऽप्यर्धं शिस्याहृतं
देवेत्थं जगतीतले स्मरहराभावे समुन्मीलति।
गङ्गा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्तवां, मां च भिक्षाटनम्॥

अत्राद्योदाहरणे सप्तसप्ति पदगत श्लेषमूलनिन्दा व्याजेन स्तुतिर्व्यज्यते। द्वितीयोदाहरणे सर्वज्ञः सर्वेश्वरोऽसि इति राज्ञः स्तुत्या मदीय वैदुष्यादि दारिद्रयादि सर्वं जानन्नपि बहुप्रदानेन रक्षितुं सक्तोऽपि मह्यं किमपि न ददासि 'इति निन्दा व्यज्यते।' सवैमिदं निन्दास्तुत्योरेक विषयत्वे उदाहरणम्।

जैसे-

युद्ध करने में तुम्हारा दर्प क्यों है। (व्यर्थ है) तुम्हारे एक घोड़े पर सवार होने पर तुम्हारे विपक्षी लोग सप्तसप्ति (सात घोड़े या सूर्य) पर सवार हो जाते हैं।

हे देव! शिव का आधा भाग दानव वैरी (विष्णु) ने तथा आधा भाग गिरिजा (पार्वती) ने ले लिया। इस तरह संसार में शंकर के अभाव हो जाने पर गङ्गा सागर में चली गई, शशिकला आकाश में गई, नागाधिप पाताल चले गए, सर्वज्ञत्व और अधीश्वरत्व तुममें आ गया और भिक्षाटन मेरे पास आ गया।

यहाँ पहले उदाहरण में सप्तसप्ति पद में श्लेष होने से निन्दा के व्याज से स्तुति की व्यञ्जना होती है। दूसरे उदाहरण में सर्वज्ञ सर्वेश्वर हो, इस तरह राजा की स्तुति से मेरी विद्वता और दरिद्रता सब कुछ जानते हुए भी मुझे दान देकर रक्षा करने में समर्थ होते हुए भी कुछ नहीं देते हो, यह निन्दा व्यञ्जित हो रही है। ये सभी उदाहरण निन्दा स्तुति के एक विषयालम्बन पर ही हैं।

यहाँ पहले श्लोक में राजा की निन्दा से स्तुति हो रही है। कवि कहता है कि तुम एक घोड़े पर चढ़ते हो, तो विपक्षी सात घोंडों पर चढ़ता है। इस तरह तुम्हारा विपक्षी तुमसे अधिक वीर है और तुम्हारा दर्प व्यर्थ है। यह निन्दा वाच्य है। व्यंग्य यह होता है कि तुम जब घोड़े पर सवार होते तो सारे विपक्षी रण में मरकर सूर्य पर जा पहुँचते हैं। अतः तुम्हारी वीरता धन्य है। यह स्तुति है। रण में मरने पर सूर्य पर चढ़ना शास्त्र सम्मत है- द्वावेतौ पुरुषव्याघ्रौ सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राट् योगयुक्तश्चरणे चाभिमुखो हतः।

दूसरे श्लोक में भिखारी राजा की स्तुति कर रहा है। यहाँ तुम सर्वज्ञ हो, सर्वेश्वर हो, इस तरह वाच्य में राजा की स्तुति है। पर सब कुछ जानते हुए भी मेरी दरिद्रता हरण करने में समर्थ होते हुए मुझे दान नहीं देते हो अर्थात तुम कंजूस हो, यह निन्दा अभिव्यञ्जित हो रही है। अब तक जो उदाहरण दिये गए हैं, उसमें जिसकी निन्दा होती है, उसकी ही स्तुति हुई है या जिसकी स्तुति हुई है उसकी की निन्दा हुई है। अब ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका विषय भिन्न है। अर्थात् स्तुति किसी और की होती है, निन्दा किसी ओर की व्यञ्जित होती है या निन्दा किसी की होती है स्तुति किसी और की व्यञ्जित होती है।

भिन्न विषयत्वे निन्दया स्तुत्यभिव्यक्तिर्यथा-

कस्त्वं वानर! रामराजभवने लेखार्थसंवाहको
यात्रः कुत्र पुरागतः। स हनुमान्निर्दग्धलङ्कापुरः।
बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः
स व्रीडात्तपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते॥

अत्र हनुमन्निन्दया इतरवानरस्तुत्यभिव्यक्तिः।

स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिर्यथा-

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न, धनिनां ब्रूषे न चाटून्मृषा
नैषां गर्ववचः श‍ृणोषि न च तान्प्रत्याशया धावसि।
काले बालतृणानि खादसि, परं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः॥

अत्र हरिणस्तुत्या राजसेवा निर्विण्णस्यात्मनो निन्दाभिव्यज्यते। अयम प्रस्तुत प्रशंसा विशेष इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः। तेन हि सारूप्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणान्तरं वैधर्म्येणापि दृश्यते।

भिन्न विषयक निन्दा से भिन्न विषयक स्तुति। जैसे-

(लंका में अंगद राक्षस सम्वाद) वानर! तुम कौन हो ? मैं राजा राम के महल में लेखादि संदेशवाहक हूँ। वह अनुमान कहाँ गया, जिसने पहले यहाँ आकर लङ्का जलायी थी ? वानरों ने उसे पीटा और भर्त्सित किया, क्योंकि राक्षस के बेटे ने उसे बाँधा था। उस लज्जा के कारण वह कहाँ गया, ज्ञान नहीं है।

यहाँ हनुमान की निन्दा से अन्य बन्दरों की स्तुति अभिव्यक्त हो रही है। आगे स्तुति से निन्दा की अभिव्यक्ति है। जैसे-

हे हरिण! मुझे बताओ कि तुमने कहाँ, कौन-सी तपस्या की है। जो धनियों का मुँह नहीं देखते रहते हो, इसके लिए चाटुकारी नहीं करते हो, इनकी गर्वोक्तियाँ नहीं सुनते हो, उनके प्रति आशान्वित होकर पीछे-पीछे दौड़ते नहीं हो। समय पर हरी-हरी घास खाते हो, नींद आने पर (चैन से) सोते हो।

यहाँ हरिण की स्तुति से राजसेवा से खिन्न अपनी आत्मा की निन्दा की अभिव्यक्ति हो रही है। अलङ्कार सर्वस्वकार ने यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा का विशेष प्रकार माना है। उनके अनुसार सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य से भी होता है।

यहाँ पहले श्लोक में अंगद हनुमान की निन्दा करता है, लेकिन उस निन्दा से अन्य

वानरों की स्तुति होती है। जो हनुमान् सम्पूर्ण लंका को अकेला जलाकर चला आया उसे बन्दरों ने इसलिए पीटा कि वह राक्षस पुत्र के हाथों बाँधा गया। तात्पर्य यह कि हनुमान तो बाँधा भी गया, लेकिन अन्य वानर इतने स्वाभिमानी हैं कि उसे इतना अपमान सहन नहीं हो सकता। हनुमान जैसे बली की भर्त्सना करने वालों की शक्ति का अनुमान तो सहज लगाया जा सकता है। यहाँ निन्दा हनुमान की है और स्तुति अन्य वानरों की हो रही है। आगे दूसरे श्लोक में धनी व्यक्तियों की चाटूक्ति से सेवा करने से खिन्न कोई (कवि) हरिण से कहता है कि तू धन्य है, जो न चाटूक्ति करता है, न किसी के आश पर जीता है आदि-आदि। तात्पर्य यह है कि तू धन्य और और मैं अधन्य हूँ जो धनवानों की सेवा में रत रहता हूँ। इसी की आशा पर जीता हूँ। न समय पर खाना खा पाता हूँ और न समय पर सो पाता हूँ। इस तरह हरिण की स्तुति से स्वात्मनिन्दा की अभिव्यक्ति हो रही है।

रुय्यक यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा मानते हैं। वो सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा वैधर्म्य से भी मानते हैं। आगे रुय्यक और दण्डी के मत को दिखाकर अपनी असहमति दिखायी है। पहले साधर्म्य से हटकर वैधर्म्य से उदाहरण प्रस्तुत किया है।

यथा-

धन्याः खलु वने वाताः कल्हाराः सुखशीतलाः।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः॥ इति॥

अत्र वाता धन्याः इत्यप्रस्तुतार्थात् अहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयत इति व्युत्पादितम्। इयमेवाप्रस्तुत प्रशंसा न कार्यकारणनिबन्धनेति दण्डी। यदाह काव्यदर्शे-

अप्रस्तुत प्रशंसा स्याप्रकाण्डे तु या स्तुतिः।
सुखं जीवन्ति हरिणाः वनेष्वपरसेविनः॥
अन्नैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुरादिभिः।
सेयप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते॥
राजानुवर्तन क्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना॥

वस्तुतस्तु अत्र व्याजस्तुतिरित्येव युक्तम्, स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिरित्यप्रस्तुत प्रशंसातो वैचित्र्यविशेषसद्भावात्। अन्यथा प्रसिद्धव्यास्त्युत्युदाहरणेष्वप्यप्रस्तुताभ्यां निन्दा-स्तुतिभ्यां प्रस्तुते स्तुति निन्दे गम्येते इत्येतावता व्याजस्तुतिमात्रमप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्। एवं चानया प्रक्रियया यत्रान्यगतस्तुतिविवक्षयाऽन्यस्तुतिः क्रियते, तत्रापि व्याजस्तुतिरेव, अन्यस्तुतिव्याजेन तदन्यस्तुतिरित्यर्थानुगमसद्भावात्।

जंगल की हवा कल्हार के स्पर्श से जो शीतल है, वह धन्य है, जो बिना किसी बाधा के इन्दीवर के समान श्यामल राम का स्पर्श करते हैं।

यहाँ 'हवा धन्य है' इस अप्रस्तुत से हम अधन्य है, इस वैधर्म्य (विपरीत धर्म) से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति होती है। यह अप्रस्तुत प्रशंसा कार्य कारण निबन्धना नही होती है, ऐसा दण्डी कहते हैं। जैसे काव्यादर्श में कहा है-

जहाँ किसी भूमिका के बिना किसी की स्तुति की जाती है, वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा होती है। जैसे दूसरे की सेवा नहीं करने वाला हरिण सुख से जीता है। अत्यन्त सुलभ तृण दर्भाङ्कुर आदि से जीवित रहता है। अप्रस्तुत मृगवृत्ति यहाँ राजा के अनुवर्त से खिन्न मन वाले मनस्वी के द्वारा कही गयी है।

वस्तुतः यहाँ व्याजस्तुति ही है। स्तुति से निन्दा की अभिव्यक्ति होना ही अप्रस्तुत प्रशंसा से इसमें वैचित्र्य (चमत्कार) है। अन्यथा प्रसिद्ध व्याजस्तुति के उदाहरणों में भी जहाँ अप्रस्तुत निन्दा स्तुति से प्रस्तुत स्तुति निन्दा व्यञ्जित होता है में अप्रस्तुत प्रशंसा ही हो जाएगी। इस प्रक्रिया से अन्य की स्तुति की विवक्षा से अन्य की स्तुति होती है, वहाँ भी व्याजस्तुति ही होती है। अन्य की स्तुति के व्याज में किसी अन्य की स्तुति व्यञ्जित होती है।

यहां 'धन्याः' इस श्लोक में हवा अप्रस्तुत है। वह धन्य है तथा दशरथ की अपनी अधन्यता प्रस्तुत है जो व्यञ्जित होता है। यहाँ हवा का धन्य होना दशरथ के अधन्य होने को व्यञ्जित करता है इसलिए वैधर्म्य है। दण्डी ने भी यही माना है। उनका कहना है कि राजसेवा से खिन्न कोई मन वी जब हरिण को धन्य बता रहा है, तो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा

ही है, क्योंकि अप्रस्तुत हरिण वृत्तान्त में प्रस्तुत मनस्वी का वृत्तान्त कहा जा रहा है। यह बात दीक्षित जी नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना का चमत्कार होता है, जबकि व्याजस्तुति में अप्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की स्तुति में केवल निन्दा से स्तुति का होना चमत्कार है। यदि ऐसे स्थलों पर अप्रस्तुत प्रशंसा माना जाये, तो व्याजस्तुति का उच्छेद ही हो जाएगा। अतः व्याजस्तुति मानना उपयुक्त है। इतना ही नहीं ऐसे स्थलों पर भी जहाँ अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति होती है। इसके लिए आगे उदाहरण देते हैं-

यथा-

शिखरिणि क्वनुनाम कियच्चिरं
किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि! येन तवाधर पाटलं
दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥

अत्र शुक शावक स्तुत्या नायिकाधर सौभाग्यातिशय स्तुतिर्व्यज्यते॥

हे तरुणि! इस ताते ने किस शिखर पर कितने समय तक कौन सी तपस्या की है, जिसके फलस्वरूप तुम्हारे अधर के समान लाल बिम्बफल को काट रहा है।

यहाँ शुकशावक की स्तुति में नायिका के अधर के सौभाग्यातिशय का वर्णन होने से स्तुति है।

यहाँ कवि का कहना है कि शुकशावक की स्तुति (वाच्य) से अधर की स्तुति हो रही है। यह अधर इतना सौभाग्यशाली है कि पाने के लिए किसी शिखर मर चिरकाल तक तपस्या करनी पड़ती है।

इस तरह व्याजस्तुति अलंकार के पाँच प्रकार हुए। (1) स्तुति से निन्दा व्यञ्जित होना (2) निन्दा से स्तुति व्यञ्जित होना (3) किसी की निन्दा से किसी दूसरे की स्तुति (4) किसी की स्तुति से किसी दूसरे की निन्दा (5) स्तुति से स्तुति का व्यञ्जित होना।

इसमें तीसरे और चौथे को पं. राज जगन्नाथ ने नहीं माना है। पर वहीं टीकाकार

नागेश ने दीक्षित के मत को सही ठहराया है। विशेषज्ञानार्थ तत्ततग्रस्थ अवलोकनीय है।

जैसे एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति होना व्याजस्तुति का पाँचवाँ भेद है, क्योंकि व्याजस्तुति नाम तभी सार्थक है, जबकि किसी की स्तुति के व्याज से किसी की स्तुति हो। परञ्च जैसे ऊपर के भेद में स्तुति से निन्दा की व्यञ्जना होने पर व्याजस्तुति है। उसी तरह निन्दा से निन्दा होने पर भी छठा भेद होना चाहिए। पर इसके लिए एक 'व्याजनिन्दा' अलङ्कार ही माना गया है, जिसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

31 – व्याजनिन्दालङ्कारः

निन्दायाः निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।
विधे! स निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिरः॥ 71॥

अत्र हरनिन्दया विषय विपाकं संसार प्रवर्तयतो विधेरभिव्यङ्ग्या निन्दा व्याजनिन्दा।

यथा वा-

विधिरेव विशेषविगर्हणीयः करट! त्वं रट, कस्तवापराधः।
सहकार तरौ चकार यस्ते सहवासं सरलेन कोकिलेन॥

अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुत्यभिव्यक्तिरिति पञ्चम प्रकार व्याजस्तुति प्रतिबन्दीभूतेयं व्याजनिन्दा। ननु यत्रान्यस्तुत्याऽन्यस्तुतेरन्यनिन्दयाऽन्यनिन्दायाश्च प्रतीतिस्तत्र व्याजस्तुति व्याजनिन्दालङ्कारयोरभ्युपगमे स्तुतिनिन्दारूपाप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणेष्वप्रस्तुतप्रशंसा न वक्तव्या। तेषामपि व्याजस्तुतिव्याजनिन्दाभ्यां क्रोडीकारसंभवादिति चेत् उच्यते यत्राप्रस्तुत वृत्तान्तात् स्तुति निन्दारूपात्तत्सरूपः प्रस्तुत वृत्तान्त प्रतीयते, 'अन्तश्छिद्राणिभूयांसि' इत्यादौ तत्र लब्धावकाशा सारूप्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसा, अत्रापि वर्तमाना निवारयितुं शक्या। अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुतिरन्यनिन्दयाऽन्यनिन्देत्येवं व्याजस्तुतिव्याजनिन्दे अपि संभवतश्चेत् कामं ते अपि संभवेताम् न त्वस्याः परित्यागः। यद्यपि विधिरेव विगर्हणीयः इति श्लोके विधिनिन्दया तन्मूलकाकनिन्दया चाविशेषज्ञस्य प्रभोस्तेन च विद्वत्समतया स्थापितस्य मूर्खस्य च निन्दा प्रतियत इति

तत्र सारूप्यनिन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसाप्यस्ति तथापि सैव व्याजनिन्दा मूलेति प्रथमोपस्थिता सापि तत्र दुर्वरा, एवञ्च व्याजनिन्दामूलक व्याजनिन्दारूपेयमप्रस्तुतप्रशंसेति चमत्कारातिशयः एवमेव व्याजस्तुतिमूलक व्याजस्तुतिरूपाऽप्यप्रस्तुत प्रशंसा दृश्यते।

जहाँ निन्दा से निन्दा की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ व्याजनिन्दा होती है। जैसे हे विधे! वह निन्दनीय है, जिससे पहले आपका एक शिर काट लिया था॥

यहाँ हर (शिव) निन्दा के द्वारा दारुण परिणाम वाले संसार का निर्माण करने वाले विधि (ब्रह्मा) की निन्दा होने से व्याज निन्दा है। जैसे दूसरा उदाहरण-

ऐ करट (कौआ)। तू व्यर्थ मत चिल्लाया कर, तुम्हारा अपराध क्या है ? विशेष रूप से निन्दनीय तो ब्रह्मा है, जिसने आम वृक्ष पर सरल कोकिल के साथ तुम्हारा निवास बनाया।

अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति होने पर पञ्चम प्रकार के व्याजस्तुति का ठीक उलटा यह व्याजनिन्दा अलंकार है। जहाँ अन्य स्तुति से अन्य की स्तुति ओर अन्य की निन्दा से अन्य की निन्दा होती है, वहाँ व्याजस्तुति और व्याजनिन्दा नामक अलंकार होने पर स्तुति निन्दा रूप अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण में भी अप्रस्तुत प्रशंसा नहीं कहनी चाहिए। वहाँ भी व्याजस्तुति निन्दा रूप वृत्तान्त से तत्सदृश प्रस्तु वृत्तान्त (स्तुति निन्दारूप) प्रतीत होता है जैसे 'अन्तश्छिद्राणि भयांसि' इत्यादि में सारूप्य निबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसा होगी। साथ ही यहाँ (व्याज स्तुति के पंचम प्रकार और व्याज निन्दा) भी उसे हटाया नहीं जा सकता। अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति और अन्य की निन्दा से अन्य की निन्दा इस तरह व्यास्तुति और व्याज निंदा भी होगा तो कहते हैं कि वह भी होगा उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। यद्यपि 'विधिरेव विशेष ----' इस श्लोक में विधि की निन्दा से तन्मूल काक निन्दा के द्वारा अविशेषज्ञ राजा तथा तथ्स्थापित मूर्ख विद्वान् की निन्दा होती है, वहाँ सारूप्य निबन्धनाऽप्रस्तुत प्रशंसा भी है तथापि वह व्याज निन्दा पहले उपस्थित होती है, इसलिए उसे भी हटाया नहीं जा सकता। इस तरह व्याज निन्दा मूलक व्याज निन्दा रूप अप्रस्तुत प्रशंसा भी देखा जाता है।

इस विवेचन का सार यह है कि जहाँ स्तुतिनिन्दा रूप अप्रस्तुत प्रशंसा है, वहाँ व्याजस्तुति और व्याजनिन्दा की सत्ता हो जाएगी तो अप्रस्तुत प्रशंसा का क्या होगा ? वास्तविकता यह है कि वहाँ भी अप्रस्तुतप्रशंसा के साथ-साथ व्याज स्तुति और व्याज निन्दा की स्थिति होगी। केवल इतना होगा कि व्याज स्तुति की प्रथम उपस्थिति होने से व्याजस्तुतिमूल प्रशंसा और व्याजनिन्दा की प्रथम उपस्थिति होने पर व्याज निन्दामूल अप्रस्तुतप्रशंसा होगी। यही दोनों अलंकारों में थोड़ा सा अन्तर दीख पड़ता है।

यथा वा-

लावण्य द्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महानर्जितः
स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वगुणानुरूपरणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्वीमिमां तन्वता॥

अत्राप्रस्तुतास्तरूण्याः सृष्टिनिन्दा व्याजेन तन्निन्दा व्याजेन च तत्सौन्दर्यप्रशंसा प्रशंसनीयत्वेन कविविवक्षितायाः स्वकवितायाः कविनिन्दाव्याजेन तन्निन्दाव्याजेन च शब्दार्थ चमत्कारातिशयप्रशंसायां पर्यवस्यति। अस्य श्लोकस्य वाच्यार्थ विषये यद्यपि नात्यन्तसामञ्जस्यं, न हीमे विकल्पाः वीतरागस्येति कल्पयितुं शक्यम्ः, रसानुगुणत्वात् वीतरागहृदयस्थाप्येवंविधविषयेष्वप्रवृत्तेश्च। नापि रागिण इति युज्यते। तदीयविकल्पेषु वराकीति कृपणतालिंगितस्य हतेत्यमङ्गलोपहितस्य च वचसोऽनुचित्वात्तुल्य रमणाभावादित्यस्यात्यन्मनुचितत्वाच्च स्वात्मनि तदनुरूपा संभावनायामपि रागित्वे हि पशु प्रायता स्यात्ः, तथापि विवक्षितप्रस्तुतार्थायां न किञ्चिदसामञ्जस्यम्। अत एवास्य श्लोकस्याप्रस्तुतप्रशंसापरत्वमुक्तं प्राचीनैः 'वाच्यासंभवेऽप्यप्रस्तुत प्रशंसोपपत्तेः' इति॥ 72॥

जैसे- विधाता ने इस तन्वी के शरीर को बनाते हुए कौनसा लाभ अपने हृदय में सोच रखा था पता नहीं, कि वालण्यरूपी धन के खर्च को नहीं गिना, अटूट खर्च किया। स्वयं ने कठिन क्लेश प्राप्त किया। स्वच्छन्द विचरण करते लोगों के हृदय में चिन्ता ज्वर

का निर्माण कर दिया और यह बराकी भी अपने तुल्य पति के अभाव में मारी गयी।

यहाँ अप्रस्तुत तरुणी की सृष्टि की निन्दा के व्याज से तथा सुन्दरी की निन्दा के व्याज से, उसके सौन्दर्य की प्रशंसा व्यञ्जित होती है। इस श्लोक के वाच्यार्थ विषय में यद्यपि सामञ्जस्य नहीं है। यह उक्ति किसी वीतराग (योगी) की है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ शृंगार रस की युक्ति उचित नहीं है। वीतराग हृदय में भी ऐसे विषय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह किसी रागी का है, यह भी उचित नहीं लगता है। रागी के विकल्प को स्वीकार करने पर 'वराकी' यह तुच्छता का प्रयोग तथा 'हता' यह अमंङ्गल प्रयोग रागी के लायक नहीं है। तुल्य रमण के अभाव में यह कहना अत्यन्त अनुचित है। इससे स्पष्ट होगा कि रागी अपने को उस नायिका के अनुकूल नहीं मानता, ऐसा मानने पर भी नायिका से प्रेम करने पर तो पशुता ही सिद्ध होती है। इस तरह विवक्षित प्रस्तुतार्थ में सामञ्जस्य नहीं है। अतः इस श्लोक की अप्रस्तुत प्रशंसा परता प्राचीनों ने कही है– वाच्य के असंभव होने पर भी अप्रस्तुत प्रशंसा होती है॥ 72॥

इस श्लोक में प्राचीनों ने अप्रस्तुत प्रशंसा माना है। इस श्लोक में सुन्दरी की सृष्टि करने वाले विधाता को निन्दा के मूल में सुन्दरी की निन्दा हुई है। पर यहाँ आलोचना करने पर वाच्यार्थ उचित नहीं दिखता है, क्योंकि कोई योगी यदि सुन्दरी की निन्दा करता है तो उचित–सा जान पड़ता है पर योगी के हृदय में ऐसे भावों का उदय होना ही अनुचित होगा। यदि रागी (प्रेमी) ऐसी बातें करता है तो भी उचित नहीं, क्योंकि प्रेमी के द्वारा नायिका की तुच्छता (वराकी) अमंगलसूचक 'हता' (मारी गयी) इत्यादि प्रयोग उचित नहीं है तथा तुल्य पति का अभाव है यह कहने का मतलब है कि कहने वाला भी अपने को उसके लायक नहीं मानता। यदि वह अपने को प्रेमी के लायक नहीं मानता, तब प्रेमी बताना पशुता ही होगी। इस तरह वाच्यार्थ का सामञ्जस्य नहीं मिलता। तब व्यङ्गार्थ सुन्दरी के सौन्दर्यातिशय की प्रशंसा उचित होती है। यह ऐसा सान्दर्य है, जिसमें विधाता का अटूट धन खर्च हुआ, स्वयं विधाता को काफी कष्ट उठाना पड़ा। इस सौन्दर्य के समान दूसरा कोई नहीं मिला। वाच्य का असामञ्जस्य होने पर व्यंग्य को ढूंढकर मानते हैं। ऐसी

परिस्थिति में प्राचीनों ने अप्रस्तुतप्रशंसा माना है। अतः व्याजनिन्दा या व्याजस्तुतिमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा होती है। यह पहले की मीमांसा का सार है।

32 – आक्षेपालङ्कारः

आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र! संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम्॥ 73॥

अत्र प्रार्थितस्य चन्द्रदर्शनस्य प्रियामुखसत्वेनानर्थक्यं विचार्याथवेत्यादिसूचितः प्रतिषेध आक्षेपः। यथा वा–

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यत्तस्य देत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थ चौराः प्रगुणी भवन्ति॥
गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं नास्ति क्षतिः क्वापित कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः॥

अत्र प्रथम श्लोकेन प्रार्थितस्य काव्यार्थचौरेभ्यो रक्षणस्य स्वोल्लिखितवैचित्र्याणां समुद्रगत रत्नजातवदक्षयत्वं विचिन्त्य प्रतिषेधः आक्षेपः॥ 73॥

स्वयं कहे गये वाक्य का ही पुनः विचार करके निषेध कर देने पर आक्षेपालंकार होता है। जैसे हे चन्द्र! अपना रूप दिखाओ, अथवा प्रिया मुख तो है ही।

यहाँ चन्द्र दर्शन की प्रार्थना की गई है। पुनः प्रिया मुख की स्थिति पर चन्द्रमा दर्शन को व्यर्थ समझकर अथवा पद से प्रतिषेध होने से आक्षेप है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

हे कवीन्द्र लोग! साहित्य सागर के मन्थन से उत्पन्ना कर्णामृत की रक्षा करो, क्योंकि राक्षसों की तरह उसे चुराने के लिए काव्यार्थ चोर बलवान् होते जा रहे हैं। (पुनः विचार कर कहता है) सारे चोर चथेच्छ चोरी करते रहें, फिर भी कवीश्वरों को कुछ भी हानि नहीं है, क्योंकि देवताओं के द्वारा ढेर सारे रत्न लूटे जाने पर भी आज सागर ही रत्नाकर कहलाता है।

यहाँ पहले श्लोक में काव्यार्थ चोर से रक्षा की प्रार्थना की गई है, फिर अपने

लिखित वैचित्र्य का समुद्र में स्थित रत्न की तरह अक्षय जानकर पुनः रक्षण का प्रतिषेध कर दिया गया है।

यहाँ आक्षेपालंकार में स्वयमेव कथित वाच्य का पुनः किसी विचार से स्वयमेव निषेध का विधान किया गया है। जैसे पहले उदाहरण में चन्द्रमा के दर्शन की प्रार्थना की गई, फिर सोचा कि अरे जब प्रेयसी का मुख है ही तो चन्द्रमा के दर्शन से क्या लाभ होगा अर्थात चन्द्रमा से अच्छा तो प्रेयसी का मुख है। यह सोचकर चन्द्र दर्शन का निषेध कर दिया गया। उसी तरह अगले श्लोक में कर्णामृत रक्षण के लिए कहा गया, पुनः उस कर्णामृत को सागर के रत्नों की तरह समझकर रक्षण का निषेध कर दिया गया है।

आक्षेप का यह लक्षण चन्द्रालोक में मिलता जुलता है। वहाँ लक्षण इस प्रकार है–

आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम्॥

पर आक्षेप वहाँ होना चाहिए, जहाँ अपने विशिष्टार्थ की प्रतिपत्ति के लिए अपने कथन को आधा कहकर रोक दिया जाये, ताकि आधे अर्थ की व्यञ्जना आक्षेप से हो। आचार्य विश्वनाथ ने ऐसा ही लक्षण किया है–

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगोद्विधा॥

अब आक्षेप के द्वितीय प्रकार का निरूपण करते हुए लिखते हैं–

निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते।
नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः॥ 74॥

कचिदलङ्कारसर्वस्वकारादयः इत्थमाहुः – न निषेधमात्रमाक्षेपः किन्तु यो निषेधो बाधितः सन्नर्थान्तर पर्यवसितः कंचिद्विशेषमाक्षिपति स आक्षेपः। यथा दूत्या उक्तौ 'नाहं दूती' इति निषेधो बाधितत्वादाभासरूपः संघटन कालोचित कैतववचनपरिहारेण यथार्थवादित्वे पर्यवस्यन्दिदानीमेवगत्य नायिकोज्जीवनीयेति विशेषमाक्षिपति।

यथा वा–

नरेन्द्रमौले! न वँयं राजसंदेशहारिणः।
जगत्कुटुम्बिनस्तेऽद्य न शत्रुः कश्चिदीक्ष्यते॥

अत्र संदेशहारिणामुक्तौ 'न वयं संदेश हारिणः' इति निषेधोऽनुपपन्नः। संधिकालोचितकैतव वचन परिहारेण यथार्थवादित्वे पर्यवस्यन् सर्वजगति पालकस्य तव न कश्चिदपि शत्रुभावेनावलोकनीयः किन्तु सर्वेऽपि राजानो भृत्यभावेन संरक्षणीयाः इति विशेषमाक्षिपति॥ 74॥

कुछ विद्वान् निषेधाभास को आक्षेप मानते हैं। जैसे मैं दूती नहीं हूँ। उसके शरीर का ताप कालानल के समान है।

अलङ्कार सर्वस्वकार (रूय्यक) आदि ऐसा कहते हैं- निषेध मात्र आक्षेप नहीं है अपितु बाधित होता हुआ किसी अर्थान्तर में जाता हुआ विशेष अर्थ का आक्षेप करता है वह आक्षेप है। जैसे- दूती की उक्ति में 'मैं दूती नहीं हूँ' यह निषेध बाधित होने से निषेधाभास रूप है। मिलन के समय उचित झूठ बोलने का परिहार कर यथार्थवादिता में पर्यवसित होता है, कि तुम अभी आकर नायिका को जिला सकते हो। यह विशेषार्थ आक्षिप्त होता है। जैसे दूसरे उदाहरण में-

हे नरेन्द्र शिरोमणे! हम लोग संदेशवाहक नहीं है। आपके सभी राजा अपने परिवार के समान हैं। कोई भी राजा आप के शत्रतु के समान देखने के लायक नहीं है।

यहाँ संदेशवाहक की उक्ति में 'हम संदेशवाहक नहीं हैं' यह निषेध अनुपपन्न है। संधि काल के लिए झूठ बोलने का परिहार करते हुए यथार्थवादिता में परिणमित होता हुआ, सर्व जगतपालक! तुम्हारे द्वारा कोई शत्रु की तरह देखने के लायक नहीं है, किन्तु सभी राजा नौकरी की तरह संरक्षणीय है, यह आक्षेप होता है।

यह रुय्यक का मत है कि जहाँ निषेध निषेध नहीं होता अपितु निषेधवत् होता है और विशेषार्थ का आक्षेप करता है। जैसे दूती कहती है कि मैं दूती नहीं हूँ। वास्तव में वह दूती ही है। इसलिए निषेध वास्तविक नहीं है। अपितु मैं तुम (नायक) को नायिका से मिलाने के लिए दूती बनकर नहीं आयी हूँ। बल्कि मैं सच कह रही हूँ कि वह (नायिका)

तुम्हारे अभाव में मर जाएगी, अत: जल्दी जाकर उसे बचा लो, यह विशेषार्थ आक्षिप्त होता है। वैसे ही दूसरे उदाहरण में 'हम संदेशवाहक नहीं हैं' यह वास्तविक निषेध नहीं है, क्योंकि वह संदेशवाहक ही है। अपितु हम दूसरे राजा का संदेश लेकर आपके पास आए हैं, ऐसी बात नहीं है। अपितु कोई राजा आप के विरोधी हो ही नहीं सकते आप सम्पूर्ण संसार के पालक हैं। अपने भृत्यों की तरह सभी राजा आप से संरक्षणीय हैं, यह विशेषार्थ आक्षिप्त होता है।

अब आक्षेप के तीसरे प्रकार का निरूपण करते हैं-

आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते।
गच्छ गच्छसि चेत्कान्त! तत्रैव स्याज्जनिर्मम॥ 75॥

अत्र गच्छेति विधिर्व्यक्तः। मा गा इति निषेधस्तिरोहितः। कान्तोद्देश्य देशे निज जन्म पार्थनयाऽत्ममरण संसूचनेन गर्भीकृतः।

यथा वा-

न चिरं मम तापाय तव यात्रा भविष्यति।
यदि यास्यसि यातव्यमलमाशङ्कयापि ते॥

अत्रापि न चिरं मम तापाय इति स्वमरण संसूचनेन गमन निषेधो गर्भकृतः॥

एक अन्य तरह का आक्षेप वहाँ होता है, जहाँ विधि वाच्य होता है और निषेध को छिपा लिया जाता है। जैसे ऐ प्रिय! जाते हो जाओ पर मेरा जन्म वहीं हो, जहाँ तुम जा रहे हो।

जहाँ 'जाओ' यह विधिवाच्य है। 'नहीं जाओ' यह निषेध छिपा लिया गया है। कान्त के रहने के स्थान पर अपने जन्म की प्रार्थना से अपना मरण संसूचन इस निषेध में छिपा हुआ है। जैसे दूसरा उदाहरण-

तुम्हारी यात्रा चिरकाल तक मुझे ताप के लिए नहीं होगी। यदि तुम अपने गन्तव्य पर जाओगे तो मेरे विषय में तुम्हें शंका नहीं करनी चाहिए।

जहाँ भी मेरे लिए ताप बहुत काल तक नहीं होगा, इससे मैं मर जाऊँगी, इस सूचना के आक्षेप से गमन का निषेध किया गया है।

इस तीसरे प्रकार में इष्ट होता है निषेध करना, पर उस निषेध को छिपा लिया जाता है। यह निषेध आक्षेप से ज्ञात होता है। इसी बात की प्रथम लक्ष्य की व्याख्या में मैंने कही है। जैसे विदेश जाते हुए पति को कोई पत्नी कहती है। जाते हो तो जाओ पर मेरा जन्म वहीं हो जहाँ तुम रहोगे। तात्पर्य है कि तुम्हारे अभाव में मैं जी नहीं पाऊँगी, यह तो निश्चित है पर भगवान् से प्रार्थना है कि मेरा जन्म वहीं हो, जहाँ तुम रहो। इस तरह तुम्हारे जाने के बाद मेरा मरना निश्चित है, इसलिए मत जाओ। यह निषेध पुनर्जन्म के कथन से छिपा लिया गया है। इसी तरह दूसरे उदाहरण में भी तुम्हारे वियोग का ताप बहुत काल तक मुझे नहीं सताएगा, क्योंकि वियोग को नहीं सहन करने वाली में कुछ ही क्षण मैं मर जाऊँगी। तुम्हें शंका नहीं करनी है कि मैं कैसे रहूँगी ? क्योंकि मैं तो रहूँगी ही नहीं। यहाँ मैं तुम्हारे वियोग मे मर जाऊँगी। अतः नहीं जाओ यह निषेध छिपा लिया गया है। यहाँ आक्षेप का चमत्कार स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जितना चमत्कार यहाँ स्पष्ट है, उतना पहले भेद में नहीं दीख पड़ता है।

33- विरोधाभासलङ्कारः

आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।
विनापि तन्वि! हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ॥ 76॥

अत्र हाररहितावपि हारिणौ हृद्यौ इति श्लेषमूलको विरोधाभासः।

यथा वा-

प्रतीपभूपैरपिकिं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेतृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चार दृगप्यवर्तत॥

अत्र विरोधसमाधानोत्प्रेक्षाशिरस्को विरोधाभास इति पूर्वस्माद्भेदः॥

जहाँ विरोध का आभास मात्र होता है वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है। जैसे- हे तन्वि तुम्हारे वक्षोज बिना हार (गहना) के भी मनोहारी हैं।

यहाँ हार रहित भी हारी (हार सहित) हृद्य हैं, यह श्लेषमूलक विरोधाभास है। जैसे दूसरा उदाहरण-

प्रतिपक्षी राजाओं की तरह डर से विरुद्ध धर्मों ने भी विरोध भाव छोड़ दिया। वह (राजा नल) अमित्रजित् (मित्र को नहीं जीतने वाला) भी था और मित्रजित् (मित्र को जीतने वाला) भी था। विचारदृक् (चारदृक से विहीन) और चारदृक भी था।

यहाँ विरोधाभास का समाधान उत्प्रेक्षा से हुआ है। यही पहले उदाहरण में यहाँ भेद है।

इस अलङ्कार में केवल देखने में विरोध-सा लगता है। परञ्च समाधान प्रस्तुत करने पर वह विरोध नहीं होता। जैसे पहले उदाहरण में बिना हार का भी हारी (हारयुक्त) होना विरोध लगता है। पर तात्पर्य यह है कि बिना हार (गहना) के भी तुम्हारे स्तनयुगल हारी (मनोहारी) लगते हैं। यहाँ एक हारी मनोहर अर्थ में है। जबकि श्लेष से हारयुक्त इस अर्थ में प्रतीत होता है। दूसरे उदाहरण में भी विचारदृक- चार दृक् से विहीन और चारदृक से युक्त तथा अमित्रजित् तथा मित्रजित् दोनों में परस्पर विरोध दिखता है कि जो विचार दृक् है वह चार दृक कैसे है तथा जो अमित्रजित् है वह मित्रजित् कैसे है ? समाधान यह है कि विचार दृक् 'विचार रूप आँख वाला' (विचार कर काम करने वाला) तथा चारदृक् - दूत रूप आँख वाला है। मित्रजित् - तेज से सूर्य को जीतने वाला तथा अमित्रजित् - बल से दुश्मन को जीतने वाला है। वह दूत रूप आँख वाला राजा विचारपूर्वक काम करता है, तथा तेज से सूर्य को भी जीतने वाला दुश्मनों को परास्त करता है। दोनों उदाहरणों में इतना अन्तर है कि पहले का समाधान सामान्य है और दूसरे का समाधान उत्प्रेक्षा आधारित है।

चन्द्रालोककार का लक्षण इस लक्षण से मिलता-जुलता है-

श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद्विरोधाभासता मता।
अप्यन्धकारिणानेन जगदेतत्प्रकाश्यते॥

साहित्य दर्पणकार इसे विरोध कहते हैं तथा रुय्यक के अनुसार ही दश प्रकार का मानते हैं। यथा-

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।

क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।
विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः॥

34- विभावनालङ्कारः

विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्।
अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्॥ 77॥

अत्र लाक्षारसासेकरूप कारणाभावेऽपि रक्तिमा कथितः। स्वाभाविकत्वेन विरोधपरिहारः। यथा वा-

अपीतक्षीव कादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम्।
अप्रसादित सूक्ष्माम्बु जगदासीन्मनोहरम्।

अत्र पानादि प्रसिद्ध हेत्वभावेऽपि क्षीवत्वादि निबद्धम्। विभाव्यमान शरत्समय हेतुकत्वेन विरोधपरिहारः। यथा वा-

वरतनुकवरी विधायिना सुरभिनखेन नरेन्द्रपाणिना
अवचित कुसुमापि वल्लरी समजनि वृन्तनिलीन षट्पदा॥

अत्र वल्लर्यां पुष्पाभावेऽपि भृङ्गालिङ्गनं निबद्धम्। अत्र वरतनु कवरी संक्रान्त सौरभ नरपति नखसंसर्गरूपं हेत्वन्तरं विशेषमुखेन दर्शितमिति विरोध परिहारः॥

यदि बिना कारण के भी कार्य का होना वर्णित होता है, तो वहाँ विभावना अलंङ्कार होता है । जैसे- लाक्षारस से सिक्त नहीं होने पर उसके चरण युगल लाल हैं।

यहाँ लाक्षा रस के सेक रूप कारण के अभाव में भी लालिमा कही गयी है। स्वाभाविक (लालिमा) होने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे दूसरा उदाहरण-

बिना (शराब)पीए ही मदमत्त हंस वाला, बिना साफ किए निर्मल अम्बर वाला बिना साफ किए स्वच्छ जल वाला, जगत् अत्यधिक मनोहर है।

यहाँ मद्यपानादि प्रसिद्ध कारण के बिना भी मदमत्तत्ता आदि कार्य कहा गया है। शरत् समय में ये सभी स्वाभाविक रूप से होते हैं। अत: इसका परिहार हो जाता है। जैसे- तीसरा उदाहरण।

सुन्दरी के केशपाश को बनाने वाले, सुरभित नख वाले, राजा के हाथ से चुने गए फूलों वाली डाली (लता) भौंरे से भरी हो गई है।

यहाँ वल्लरी में फूल के अभाव में भौंरे का आलिंगन कहा गया है। यहाँ सुन्दरी के केशपाश की सुगन्धि नरपति के नख में संक्रान्त हुई, और उस नख के संसर्ग से लताएँ सुगन्धित हो गई, यह विशेष कारण कवि ने स्वयं दिखाकर विरोध परिहार कर दिया है।

यह अलङ्कार भी विरोधमूलक है पर कार्य कारणमूलक है। विरोधाभास की तरह विरोधमूलक नहीं। यहाँ कारणाभाव में कार्य हो जाता है। जबकि लोक में कारणाभाव में कार्य नहीं होता, अतः परिहार भी आवश्यक होता है। परिहार के बाद अर्थ की संगति ठीक बैठती है। जैसे पहले उदाहरण में लाक्षारस के बिना चरण की लाली वर्णित है। लाक्षारस के रंगने पर पैर लाल होता है। यहाँ लाल होने का कारण लाक्षारस का सेक नहीं है, अतः कारण के बिना भी कार्य है। यह विरोध सा लगता है, पर पैर की स्वाभाविक लालिमा से परिहार हो जाता है। सुकुमार चरण बिना लाक्षा रस के भी लाल होता है। कोमल और दीप्त अधर बिना रञ्जन के भी लाल देखा जाता है। दूसरे उदाहरण में बिना शराब पिए हंस मदमत्त है। बिना साफ किए आकाश निर्मल है। सफाई के बिना भी जल स्वच्छ है। यहाँ भी तत्तत् कारण के बिना कार्य है। बिना शराब पिए कोई मत्त नहीं होता बिना सफाई किए कुछ साफ नहीं होता। अतः विरोध लगता है, पर शरत् समय का वर्णन होने से सबका परिहार हो जाता है, क्योंकि शरत् समय में ये सभी चीज स्वभावतः हो जाते हैं। तीसरे उदाहरण में बिना फूल की लता भी भौंरे से भरी है, जबकि बिना फूल के भौंरें का होना असंगत सा लगता है। पर कवि ने वहाँ दूसरा कारण (परिहारार्थ) दिखा दिया है। नायिका के सुगन्धित केश को बांधने से नख सुगन्धित हो गया और नख से फूल तोड़ने पर लता का वृन्त भी सुगन्धित हो गया। अब फूल के अभाव में भी वहाँ सुगन्धि है। भौंरे सुगन्ध पर ही जाते हैं। अतः फूल के अभाव में भौंरें का वहाँ रहना संगत हो गया।

अब विभावना के दूसरे प्रकार का निरूपण करते हैं–

हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता।
अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनै र्जगज्जयति मन्मथः॥ 78॥

अत्र जगज्जये साध्ये हेतूनामस्त्राणामसमग्रत्वं तीक्ष्णत्वादिगुण वैकल्यम्। यथा वा-

उद्यानमारुतोद्धूताश्चूतचम्पकरेणवः।
उदस्त्रयन्ति पान्थानामस्पृशन्तो विलोचने॥

अत्र वाष्पोद्गमन्हेतूनामसमग्रत्वं स्पर्शनक्रिया वैकल्यम्। इमां विशेषोक्तिरिति दण्डी व्याजहार। यतस्तत्र प्रथमो ाहरणे मन्मथस्य महिमातिशयरूपो द्वितीयोदाहरणे चम्पकरेणनामुद्दीपकतातिशयरूपश्च विशेषः ख्याप्यत इति। अस्माभिस्तु तीक्ष्णत्वादि वैकल्यमपि कारण विशेषाभावरूपमिति विभावना प्रदर्शिता॥

कारण की समग्रता के अभाव में कार्योत्पत्ति का होना विभावना का दूसरा भेद कहलता है। जैसे-अतीक्ष्ण (कुण्ठित) और अकठिन (कोमल) अस्त्र से मन्मथ जगत् को जीतता है।

यहाँ जगत् को जीतने रूप साध्य में कारणभूत अस्त्रों में कठिनता और तीक्ष्णता का अभाव समग्रता का द्योतक है। जैसे दूसरा उदाहरण-

उद्यान की हवा से उड़ायी गयी चूत, चम्पक की धूलि, पथिकों की आँखों का स्पर्श किए बिना ही आँसू ला देती है।

यहां आँसू के उद्गम के लिए स्पर्शन क्रिया की विकलता कारणों की समग्रता को सूचित करती है। दण्डी इसे विशेषोक्ति मानते हैं। पहले उदाहरण में कामदेव की महिमा का आतिशयत्व और दूसरे उदाहरण में चम्पक धूलि की उद्दीपकतातिशयता रूप विशेषार्थ स्थापित होता है। हम लोग (दीक्षित आदि) तीक्ष्णत्वादि की विकलता को कारण विशेष का अभाव मानते हैं, इसलिए विभावना प्रदर्शित करते हैं।

विभावना के इस भेद में कारण तो होता है, पर कारण की समग्रता का अभाव होता है। जैसे पहले उदाहरण में कामदेव को जगत जीतने के लिए कारणभूत अस्त्र तो हैं, पर

अस्त्र में कठोरता और तीक्ष्णता नहीं है, जबकि शत्रु को जीतने के लिए अस्त्र का कठोर और तीक्ष्ण होना आवश्यक है। इसी तरह दूसरे उदारहण में आँसू का कारण आम और चम्पक की धूली तो है, पर आँख के स्पर्श का अभाव है। जबकि पराग के आँख में स्पर्श होने के बाद ही अश्रुपात होता है। दण्डी यहाँ इसलिए विशेषोक्ति मानते हैं कि उनके मत में गुणजाति क्रियादि की विकलता विशेषता को बताता है और वहाँ विशेषोक्ति होता है-

गुणजाति क्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेष्यदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते॥ (काव्यादर्श)

अत: यहाँ बाण की कठोरता और तीक्ष्णता का अभाव कामदेव का प्रभावातिशय बताता है और रेणु का चक्षुस्पर्शाभाव उद्दीपकता की विशेषता बतलाता है। परञ्च दीक्षित जी के मत में विकलता (क्रिया करणादि की) करण की समग्रताका अभाव (एक ढंग से कारण की पर्याप्तता के अभाव में कारणाभाव) मानते हैं। अत: विभावना मानते हैं।

अब विभावना के तीसरे प्रकार का निरूपण करते हैं-

कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् अपि प्रतिबन्धके।
नरेन्द्रानेव ते राजन्! दशत्यसि भुजङ्गम॥ 79॥

अत्र नरेन्द्राः विषवैद्याः सर्पदंश (विष ?) प्रतिवन्धकमन्त्रोषधिशालिनः श्लेषेण गृहीता इति प्रतिबन्धके कार्योत्पत्तिः। यथा वा-

चित्रं तपति राजेन्द्र! प्रतापतपनस्तव।
अनातपत्रमुत्सृज्य सातपत्रं द्विषतगणम्॥

जहाँ कार्योत्पत्ति में बाधा होते हुए भी कार्योत्पत्ति होती है, वहाँ विभावना का तीसरा भेद होता है। जैसे हे राजन्! तुम्हारा असि (तलवार) भुजङ्ग (सर्प) नरेन्द्र (विषवैद्य) को ही काटता है।

यहाँ नरेन्द्र विषवैद्य सर्पदंश का प्रतिबन्धक है, क्योंकि वह मन्त्रौषध जानता है। तथापि सर्पदंश होता है। अत: कार्य प्रतिबन्धक के रहने पर भी कार्योत्पत्ति हो रही है। यह नरेन्द्र (राजा और विषवैद्य) में श्लिष्ट है। जैसे दूसरा उदाहरण-

हे राजेन्द्र! यह आश्चर्य है कि आपका प्रताप तपन आत पत्र से रहित व्यक्ति को छोड़कर आतपत्र से युक्त शत्रुओं को तपाता है।

विभावना के इस भेद में कार्योत्पत्ति के बाधक तत्त्व के रहते हुए कार्योत्पत्ति होती है। जैसे पहले उदाहरण में नरेन्द्र पद श्लिष्ट है, जिससे राजा और विषवैद्य का अर्थ होता है। विषवैद्य सर्पदंश विरोधी दवा रखता है। तब उसे सर्पदंश नहीं होना चाहिए पर यहाँ हो रहा है, अतः विभावना है। यहीं यदि नरेन्द्र का अर्थ राजा लिया जाये तब यह विभावना नहीं होगी। दूसरे उदाहरण में तपन (सूर्य) बिना छत्र वाले को तपाता है छत्र वाले को नहीं, यह प्रसिद्ध है पर यहां बिन छत्र वाले को नहीं तपाता छत्र वाले को ही तपाता है। विरोध परिहार इस तरह होता है कि छत्र रहित जनता को नहीं सताता अपितु छत्र (राजछत्र) युक्त राजा (प्रतिपक्षी) को मारता है। यहाँ छाता सूर्य ताप का बाधक है, फिर भी तपने से तृतीय विभावना है।

अब विभावना के चौथे प्रकार का निरूपण करते हैं-

अकारणात कार्यजन्म चतुर्थी स्यात् विभावना।
शङ्खद्वीणानिनादोऽयमुदेति महढद्भुतम्॥ ४०॥

अत्र 'शङ्ख' शब्देन कमनीयः कामिनीकण्ठस्तन्त्री निनादत्वेन तढगीतं चाध्यवसीयत इत्यकारणात् कार्यजन्म।

यथा वा-

तिलपुष्पात्समायाति वायुश्चन्दन साभ्रभः।
इन्दीवर युगाच्चित्रं निस्सरति शिलीमुखाः॥

जहाँ प्रसिद्ध कारण से पृथक किसी कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, वहाँ विभावना का चौथा प्रकार होता है। जैसे- शङ्ख से वीणा की आवाज आ रही है, यह महाआश्चर्य है।

यहाँ शङ्ख शब्द से कमनीय कामिनी का कण्ठ और तन्त्री निनाद से उसके गीत का बोध होता है। यहाँ अकारण से कार्य की उत्पत्ति हो रही है। जैसे दूसरा उदाहरण-

तिलपुष्प से चन्दन की सुगन्ध वाला वायु निकल रहा है। और इन्दीवर युगल से शिलीमुख (बाण) निकल रहे हैं।

इस भेद में जिस कारण में जिस कार्य की क्षमता नहीं है, उसी कारण से उस कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे पहले उदाहरण में शङ्ख से वीणा की आवाज आती है। यह संभव नहीं है। तब शंख रूप कामिनी कण्ठ से तन्त्रीनाद मधुर गीत आ रहा है यह तात्पर्य है। दूसरे उदाहरण में तिलपुष्प से चन्दन सुगन्ध युक्त हवा का आना तथा इन्दीवर (कमल) युगल से वाण का छूटना संभव नहीं है। तात्पर्य यह है कि तिलपुष्प रूपी नाक से सुगन्धित श्वास निकल रहा है तथा नेत्र युगल से कटाक्ष गिर रहे हैं। इस तरह वाच्य में अकारण से कार्योत्पत्ति होने से विभावना है। दोनों उदाहरणों में क्रमशः कण्ठ-गीत, नाक, नेत्रयुगल कटाक्ष को शङ्ख वीणानाद, तिल-पुष्प, इन्दीवर, शिलीमुख से अध्यवसित कर दिया है। अतः यहाँ अंश में अतिशयोक्ति है।

अब विभावना का पाँचवाँ प्रकार कहते हैं-

विरुद्धात् कार्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचित् विभावना
सितांशुकिरणास्तन्वीं हन्त संतापयन्ति ताम्॥ 81॥

अत्र ताप निवर्तकतया तापविरुद्धैरिन्दुकिरणैस्तापजनिरुक्ता। यथा वा-

उदिते कुमार सूर्ये कुवलयमुल्लसति भातिनक्षत्रम्।
मुकुलीभवन्ति चित्रं परराजकुमारपाणिपद्मानि॥

यथा वा-

अविवेकी कुचद्वन्द्वं हन्तु नाम जगत्त्रयम्।
श्रुतप्रणियोनोरक्ष्णोरयुक्तं जनमारणम्।

पूर्वोदाहरणयोः कारणस्य कार्यविरोधित्वं स्वाभाविकम्। इह तु श्रुतप्रणयित्वस्यागन्तुकगुणप्रयुक्तमिति भेदः॥

जहाँ परस्पर विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति होती है, वहाँ पञ्चम प्रकार की विभावना होती है। जैसे- दुःख है कि उस तन्वी को चन्द्रमा की किरणें सन्तापित कर रही हैं।

यहाँ ताप का निवर्तक होने से ताप विरुद्ध चन्द्रकिरणों से ताप की उत्पत्ति हुई है। जैसे दूसरा उदाहरण-

कुमार सूर्य के उदित होने पर कुवलय (पृथ्वीमण्डल) उल्लासित होती है। नक्षत्र भासित होते हैं। लेकिन आश्चर्य है, पर राजकुमार के कर कमल बन्द हो जाते हैं। (यहाँ भी परस्पर विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति हो रहा है)।

जैसे तीसरा उदाहरण-

विवेकहीन स्तनयुगल यदि तीनों लोकों को मारे तो मारे, पर श्रुत प्रणयी आँख का लोगों को मारना उपयुक्त नहीं है।

पहले के दो उदाहरणों में कारण कार्य का विरोध स्वाभाविक है, यहाँ (तीसरे में) श्रुत प्रणयी होने से आगन्तुक के गुण का प्रयोग हुआ है। यही भेद है।

जो कारण जिस कार्य का विरोधी है, उसी कारण से उस कार्य के होने पर यह पंचम प्रकारक विभावना होती है। पहले उदाहरण में चन्द्रिका से ताप होता है। चन्द्रिका शीतल होती है, जो स्वभावात: ताप का विरोधी है, पर विरोधी होने पर भी ताप की उत्पत्ति कर रहा है। दूसरे उदाहरण में सूर्य के उदय होने पर कुमुदिनी का खिलना, नक्षत्र का होना, तथा कमल का बंद होना परस्पर विरोधी होने पर भी हो रहा है। परिहार यह है कि वियोग में चन्द्रिकाएँ स्वभावत: हृत्ताप किया करती हैं। कुमार रूप सूर्य के उगने पर कुवलय (पूरी पृथ्वी, कुमुदिनी नहीं) खिलता है। नक्षत्र (नक्षत्र और क्षत्र 'राजा' नहीं) उगता है। पर राजकर पद्य- विपक्षी राजकुमार का हाथ, 'कमल नहीं', बन्द हो जाता है। इन दोनों उदाहरणों में परस्पर कारण और कार्य विरोधी हैं। और तीसरे उदाहरण में कुचद्वय (मूर्ख) यदि जगत् को मारता है, तो कोई बात नहीं पर श्रुत प्रणयी (वेद से प्रेम करने वाला, कान तक पहुंचा हुआ लम्बा) आंख यदि लोगों को मारता है तो आश्चर्य है, यह कहा गया है। यहाँ आँख स्वयं लोगों को नहीं मार सकता यह बात नहीं है। अपितु श्रुत प्रणयी होने से ऐसा होता है। जो वेद से प्रेम करता है वह अहिंसा प्रेमी होता है। अत: वह लोगों को नहीं मार सकता। यहाँ आँख के कान तक विस्तृत होने से श्रुतप्रणयी शब्द सही होता है। यहाँ श्रुत (वेद) का गुण आ जाने से आँख में अहिंसा का गुण आया है, जो हिंसा का विरोधी है। अत: परस्पर विरोधी कारण से कार्य की उत्पत्ति होने पर विभावना का पञ्चम भेद हुआ है।

अब विभावना के छठे प्रकार का विवेचन किया जाता है–

कार्यात् कारण जन्मादि दृष्टा काचित् विभावना।
यशः पयोराशिरभूत् करकल्पतरोस्तव॥ 82॥

यथा वा–

जाता लता हि शैलु जातु लतायां न जायते शैलः।
सम्पति तद्विपरीतं कनकलतायां गिरिद्वयं जातम्॥

कार्य से कारण की उत्पत्ति होने पर छठी विभावना होती है। जैसे– तुम्हारे कर रूप कल्पतरु का यश सागर हो गया।

जैसे दूसरा उदाहरण–

शैल पर लता उगती है। लता में कभी पर्वत उत्पन्न नहीं होता। सम्प्रति इसके विपरीत हुआ कि कनक लता में दो पर्वत उग आए हैं।

कारण से कार्य की उत्पत्ति यह लोक व्यवहार है। पर कार्य के कारण की उत्पत्ति होने पर यह विभावना होती है। जैसे पहले उदाहरण में कल्पतरु रूप कार्य से सागर रूप कारण की उत्पत्ति हुई है। वास्तव में सागर से कल्पतरु की उत्पत्ति हुई है। यहाँ कारण कार्य को उलटा कर रख दिया गया है। दूसरे उदाहरण में शैल कारण है, लता उत्पत्ति कार्य। पर अन्तिम चरण में कनकलता (कामिनी के शरीर) में दो पर्वत (दो स्तन) को दिखाया गया है। अतः यहाँ विभावना का छठा प्रकार है। वास्तव में यह अतिशयोक्ति मूल ही है। पं. राज ने छः भेद न मानकर एक (प्रथम) भेद ही माना है। आचार्य विश्वनाथ ने भी उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता दो विभावना माना है। यथा–

विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता॥

चन्द्रालोक का लक्षण दीक्षित जी के लक्षण के समान ही है।

35 – विशेषोक्त्यलङ्कारः

कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कल कारणे।
हृदि स्नेहक्षयो नाभूत् स्मरदीपे ज्वलत्यपि॥ 83॥

यथा वा (ध्वन्यालोक)

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

जहाँ पर्याप्त कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति नहीं होती है, वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। स्मर दीप के जलते रहने पर भी हृदय से स्नेह (तेल) खत्म नहीं हुआ।

जैसे दूसरा उदाहरण–

सन्ध्या अनुरागवती है, दिवस भी पुरोवर्ती है। बड़ी विचित्र दैवगति है कि फिर भी दोनों का समागम नहीं होता है।

यह अलङ्कार विभावना का उलटा प्रायः होता है। विभावना में कारण नही रहते भी कार्य हो जाता है और विशेषोक्ति में कारण रहने पर भी कार्य नहीं होता। दीप जलते रहने पर तेल खत्म होना स्वाभाविक है। पर प्रथम उदाहरण में दीप जलने पर भी तेल खत्म नहीं होता। तेल खत्म होने का कारण रहते हुए भी तेल समाप्ति रूप कार्य नहीं होता। दूसरा उदाहरण– जब नायिका प्रेमवती हो और नायक भी नायिका का वशवर्ती हो तब तो समागम होना ही है। पर यहाँ संध्या (नायिका) रागवती (लालिमा से युक्त तथा प्रेम से युक्त) है। दिवस (नायक) पुरस्सर (आगे में, वशवर्ती) है तथापि समागम नहीं होता। यहाँ समागम रूप कार्य के कारण है, पर समागम रूप कार्य के कारण है, पर समागम रूप कार्य नहीं होता है। अतः यहाँ विभावना है। वास्तव में यहाँ सन्ध्या दिवस और नायक नायिका का वर्णन साथ–साथ होने से समासोक्ति भी है। अनुरागवती और पुरस्सर दोनों पद श्लिष्ट हैं।

३६ – असम्भवालङ्कारः

असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति॥ 84॥

यथा वा (भल्लट शतके)

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रियोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः॥

जहाँ किसी कार्य विशेष की उत्पत्ति में असम्भाव्यत्व का वर्णन होता है, वहाँ असम्भव नामक अलङ्कार होता है। ऐसे कौन जानता था कि ग्वाले का बच्चा शैल को उखाड़ देगा। जैसे दूसरा उदाहरण–

यह जल का एक मात्र स्थान है, यह रत्नाकर है, यही सोचकर तृष्णा से व्याकुल मन वाले हम लोगों ने समुद्र का आश्रय लिया। पर कौन यह जानता था कि अपने हाथ के पुट रूप कोटर में रखकर क्षण में ही यह मुनि (अगस्त्य) तिमि मकर से आकुल इस सागर को पी जाएगा।

इस अलंकार में केवल कार्य के असंभाव्यत्व का वर्णन होता है। पहले उदाहरण में शैल का उखाड़ना असंभव-सा है और दूसरे में सागर का पीना। फिर भी दोनों कार्य हो ही गया है।

सहित्यदर्पणकारादि ने इस अलङ्कार को नहीं गिना है। चन्द्रालोककार ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ से मिलता लक्षण ही दिया है। यथा–

असंभवोऽर्थनिष्पत्तावसंभाव्यत्ववर्णनम्।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति॥

दोनों ग्रन्थ का लक्षण समान ही है।

36 – असङ्गत्यलङ्कारः

विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः।
विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः॥ 85॥

ययोः कार्यहेत्वोर्भिन्नदेशत्वं विरुद्धं तयोस्तन्निवध्यमानमसङ्गत्यलङ्कारः। यथात्र विषपान मूर्च्छयोर्भिन्नदेशत्वम्। यथा वा–

अहो खलभुजङ्गस्य विचित्रोऽयं वधक्रमः।
अन्यस्य दशति श्रोत्रमन्यः प्राणैर्वियुज्यते॥

क्वचिदसाङ्गत्यसमाधान निबन्धनेन चारूतातिशयः।

जहाँ कारण और कार्य का विरुद्ध भिन्नदेशत्व वर्णन होता है, वहाँ असङ्गति अलङ्कार होता है। जैसे- विष जलधर (मेघ) ने पिया और पथिकों की वनिताएँ मूर्च्छित हो गयीं।

जिस कारण और कार्य का भिन्न देश विरुद्ध है, उन दोनों स्थानों में कारण कार्य का निबन्धन होने से असङ्गति अलंकार होता है। जैसे यहाँ विषपान और मूर्च्छा का अलग-अलग स्थान पर वर्णन हुआ है। जैसे दूसरा उदाहरण-

खल सर्प का वध क्रम विचित्र है। यह किसी अन्य के कान में काटता है और कोई अन्य प्राण से वियुक्त होता है। कहीं कहीं असंगति के समाधान का निबन्धन होने पर चारुतातिशय का बोध होता है।

सामान्यतया यह देखा जाता है कि जहाँ कारण होता है कार्य भी वहीं होता है। पर कारण कहीं और कार्य के कहीं होने पर यह असंगति अलङ्कार होता है। जो पीता है, मूर्च्छा (बेहोशी) भी उसे ही होती है। पर यहाँ विष मेघ पीता है और मूर्च्छापथिक वनिताओं को होती है। यह संगति ठीक नहीं बैठती है। यहाँ विष (पानी-विष) श्लिष्ट है। मेघ पानी पीकर वृद्धि करता है। वर्षा काल में वियोगिनी पथिक वनिताओं को मूर्च्छा होती है। इस तरह अर्थ संगति होती है। इसी तरह दुष्ट किसी का कान भरता है और कान भरने के फलस्वरूप किसी और की मौत होती है। वास्तव में साँप जिसके कान में काटता है, मौत भी उसी की होती है। पर यहाँ कारण कहीं और कार्य कहीं होने से असंगति अलङ्कार है। यहाँ असंगति का समाधान कवि ने नहीं किया है। पर कहीं-कहीं असंगति का समाधान होने पर चारुतातिशय की वृद्धि से यह अलङ्कार होता है। इसको स्पष्ट करने के लिए आगे उदाहरण देते हैं-

यथा वा - (नैषध)

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान्स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य॥

विरुद्धमिति विशेषणाद्यत्र कार्य हेत्वोर्भिन्न देशत्वं न विरुद्धं तत्र नासङ्गतिः। यथा-

भ्रूचापवल्लीं सुमुखी यावन्नयति वक्रताम्।
तावत्कटाक्ष विशिखैर्भिद्यते हृदयं मम॥

जैसे दूसरा उदाहरण-

तुम उसके (नल के) मनोरथ की सीढ़ियों पर लगातार चढ़ती हो और तुम्हारे ध्यान करने से तुम्हारा स्वरूप प्राप्त कर अधिक श्वासें वह (नल) छोड़ता है।

लक्षण में जो विरुद्ध विशेषण है, उसका तात्पर्य है कि जहाँ कार्यकारण का भिन्न देश होने से विरोध होता है, वहीं असङ्गति अलङ्कार होता है। जहाँ भिन्न देश होना विरोध नहीं, स्वाभाविकता को प्रकट करता है, वहाँ यह अलङ्कार नहीं होता। जैसे-

जब तक वह सुमुखी अपनी भौंहरूप चापलता को टेढ़ा करती है, तब तक कटाक्ष बाण से मेरा हृदय भग्न हो जाता है।

यहाँ ''नैषधीय चरितम्'' महाकाव्य में हंस दमयन्ती से कहता है, कि नल के मनोरथ रूप सीढ़ी पर तुम चढ़ती हो और लम्बी श्वासें नल छोड़ता है। जो सीढ़ी पर चढ़ता है उसी की लम्बी श्वासें छूटती हैं। यहाँ सीढ़ी चढ़ना (कारण) दमयन्ती में और लम्बी श्वास छूटना (कार्य) नल में होने से पृथक्-पृथक् देश वर्णित है। इसका समाधान भी कवि ने दिखाया है कि नल दमयन्ती की परेशानी नल को होती है और श्वास छूटना रूप कार्य होता है। यहाँ समाधान में चारुता है। जहाँ कार्य कारण के भिन्न देश में होने पर कोई विरोध नहीं होता वहाँ अलंकार भी नहीं होता। जैसे धनुष टेढ़ा करना नायिका में और हृदय भंग होना (कार्य) कामी में है। यहाँ भी कारण और कार्य पृथक्-पृथक् देश में तो है पर विरोध नहीं है। जैसे जो सीढ़ी पर चढ़ता है उसी की श्वासें लम्बी होती है वैसा नियम यहाँ नहीं है। यहाँ बाण छूटना (कारण) और घायल होना (कार्य) पृथक्-पृथक् होना स्वाभाविक

है। जो बाण छोड़ता है घायल वह नहीं कोई अन्य ही होता है। अतः यहाँ देश पृथक-पृथक होने पर विरोध नहीं होने से असङ्गति अलङ्कार नहीं है।

अब असङ्गति के दूसरे और तीसरे प्रकार का निरूपण करते हैं।

अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्ध कृतिस्तथा॥ 86॥
अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन् द्यां तथाऽकृथाः
गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरोः॥

अत्र कृष्णं प्रति शक्रस्य सोपालम्भवचने भुवि चिकीर्षिततया तत्र करणीयमपरिजातत्वं दिवि कृतमित्येकाऽसङ्गतिः। पुरा गोत्रायाः उद्धारे प्रवृत्तेन वराहरूपिणा तद्विरुद्धं गोत्राणां दलनं खुरकुट्टनैः कृतमिति द्विविधापि श्लेषोत्थापिता। यथा वा-

त्वत्खड्ग खण्डितसपत्नविलासिनीनां
भूषा भवन्त्यभिनवा भुवनैकवीर!।
नेत्रेषु कङ्कणमथोरुषु पत्रवल्ली
चोलेन्द्र सिंह! तिलक करपल्लवेषु॥

मोहं जगत्रयभुवामपने तुमेतदादाय रूपमलिखलेश्वर! देह भाजाम्।
निस्सीमकान्ति रसनीर धुनामुनैव मोहं प्रवर्धयसि मुग्धविलासिनीनाम्॥

अत्राद्योदाहरणे कङ्कणादीनामन्यत्र कर्तव्यत्वं प्रसिद्धमिति नोपन्यस्तम्। भवन्तिना भाना रूप अन्यत्र कृतिराक्षिपयत इति लक्षणानुगतिः॥

जो काम जिस स्थान विशेष पर करना चाहिए था, वह वहाँ न करके यदि किसी अन्य स्थान पर किया जाता है तो असङ्गति का दूसरा प्रकार होता है और जहाँ विशिष्ट कार्य में प्रयुक्त कोई उस कार्य के विरुद्ध कार्य करता है, वहाँ तीसरा प्रकार होता है। जैसे- वसुधा को अपारिजात करने की इच्छा वाले कृष्ण ने स्वर्ग को अपारिजात कर दिया तथा गोत्रोद्धार करने के लिए प्रवृत्त (वराह भगवान् ने) गोत्र का भेदन कर दिया।

यहाँ कृष्ण के प्रति इन्द्र के उपालम्भ वचन में पृथ्वी को अपारिजात (शत्रु विहीन) करने की इच्छा से स्वर्ग को अपारिजात (पारिजात नामक वृक्ष से विहीन) कर दिया। यह एक असङ्गति हुई। पहले गोत्रा (पृथ्वी) का उद्धार करने के लिए प्रवृत्त वराह ने उस कार्य के विरुद्ध गोत्र (पहाड़) का अपने खुर कुट्टन से दलन कर दिया। यह दोनों असंगति श्लेष से उठाई गई है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

हे चोलेन्द्रसिंह ! तुम्हारे खड्ग से खण्डित वैरियों की विलासिनियों का आभूषण अभिनव हो गया है। हे भुवनैकवीर! वो (विलासिनियाँ) नेत्रों में कङ्कण (पानी की बूँदे) जाँघों में पत्रवल्ली (पत्ते से युक्त लता) कर पल्लव में तिलक (तिलाञ्जलि का जल) धारण करती है। तथा-

तीनों लोकों में उत्पन्न लोगों के मोह का हरण करने के लिए, इस असीम कान्ति से सागर शरीर से, हे अखिलेश्वर! तुम मुग्ध विलासिनियों के मोह को बढ़ा रहे हो।

यहाँ पहले उदाहरण में कङ्कण आदि का अन्यत्र बाँधना प्रसिद्ध है, पर अन्यत्र बताया गया है। पर 'भवन्ति' पद से भावना रूप से अन्यत्र दिखाया गया है, यह आक्षेप होने से लक्षण की संगति होती है।

यहाँ पहले उदाहरण में इन्द्र का कहना है कि कृष्ण को पृथ्वी को अपारिजात करना था, पर स्वर्ग को अपारिजात कर दिया। इस तरह अन्यत्र होने वाला कार्य अन्यत्र हो गया। यहाँ अपारिजात श्लिष्ट है। पृथ्वी पक्ष में शत्रु विहीन और स्वर्ग पक्ष में पारिजात वृक्ष विहीन करने पर अर्थ सही लगता है। यहाँ श्लेष को हटा देने पर असंगति का चमत्कार नहीं रह जाएगा। दूसरे में गौत्रा (पृथ्वी) का उद्धार करने को प्रवृत्त हुए पर गोत्र (पर्वत) का भेदन कर दिया। यहाँ विरुद्ध कार्य होने से असंगति हुआ। तीसरा उदाहरण पहले भेद का है। यहाँ कङ्कण नेत्र में पत्रावल्ली जघन में और तिलक कर पल्लव में कार्य कर रहा है। यह 'कङ्कण ----' पानी की बूँद पत्रवल्ली, जंगल में भागते रहने से पैर में लिपटी लता, तिलक-तिलाञ्जलि वाला जल अर्थ करने पर संगति है। यहाँ कहीं कार्य होने को

कहीं अन्यत्र करने से असगति है। चौथे उदाहरण में- भगवान् ने शरीर धारण किया है मोह का अपहरण करने के लिए, पर उसी रूप से मुग्धांगनाओं को मोहित कर रहे हैं। यहाँ जिस कार्य के लिए शरीर धारण किया, उसके विरुद्ध करने से यहाँ असङ्गति है।

पं. राज ने इन लक्षणों तथा उदाहरणों का खण्डन अपने तर्क के आधार पर किया है। पर जैसा लक्षण है उस लक्षण के अनुकूल चमत्कार इन उदाहरणों में है। विशेष ज्ञानार्थ रसगंगाधर तथा कुवलयानन्द की चन्द्रिका टीका द्रष्टव्य है।

३८ - विषमालङ्कारः

विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः।
क्वे शिरीषमृद्वङ्गी क्व तावन्मदनज्वरः॥ 88॥

अत्रातिमृदुत्वेनातिदुः सहत्वेन चाननुरूपयोरङ्गनामदनज्वरयोर्घटना। यथा वा-

अभिलषसि यदिन्दो! वक्रलक्ष्मीं मृगाक्ष्याः
पुनरपि सकृदब्धौ मज्ज सङ्क्षालयाङ्कम्।
सुविमलमथ बिम्बं परिजातप्रसूनैः
सुरभय, वद नोचेत्त्वं क्व तस्याः मुखं क्व॥

पूर्वत्र वस्तु सतो घटना। अत्र चन्द्र वदन लक्ष्म्योस्तर्किता घटनेति भेदः॥

जहाँ दो घटनाओं का एक साथ वर्णन हुआ हो, जो दोनों एक साथ अनुभव से परे हो, वहाँ विषम अलङ्कार होता है। जैसे- कहाँ वह शिरीष के सम कोमल अङ्गवाली, और कहाँ वं मदन ज्वर।

यहाँ अतिमृदुता से अत्यन्त दुःखसहिष्णुता का एक जगह वर्णन, कामिनी और मदन ज्वर की घटना अननुभूत है। जैसे दूसरा उदाहरण-

ऐ चाँद! यदि मृगाक्षी की मुख कान्ति पाना चाहते हो, तो एक बार फिर सागर में डूबकर अपना कलङ्क धो डालो। अपने विमलबिम्ब को पारिजात फूलों से सुगन्धित करो, अन्यथा तुम्हीं बताओ कहाँ तुम और कहाँ वह मुख।

पहले उदाहरण में कामिनी और मदन ज्वर वास्तविक है और यहाँ चाँद तथा मुख

का वर्णन कवितर्कित है। यही दोनों में भेद है।

इस अलङ्कार में ऐसी दो घटना का वर्णन एक साथ होता है, जो दोनों घटना एक साथ अनुभूत नहीं लगता। जैसे कामिनी का कोमल शरीर और मदन ज्वर की कठोरता। कोमलता और कठोरता एक साथ एक स्थान पर होना नहीं देखा जाता पर कवि वर्णन करते हैं। पहले लोक की कोमलता और कठोरता स्वाभाविक है कि वियोगावस्था में कामिनी को यहाँ ताप सहना ही पड़ता है। पर दूसरे में मुख और चाँद की घटना कवि ने अपने तर्क से जोड़ा है नहीं तो कामिनी मुख की शोभा पाने के लिए चाँद मुँह धोने नहीं जाता।

अब विषम के दूसरे प्रकार का निरूपण किया जाता है-

विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्।
कीर्तिं प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका॥ 89॥

अत्र कारक गुण प्रक्रमेण विरुद्धाछ्यामादधवलोत्पत्तिः। कार्य कारणयोर्निवर्त्य निवर्तकत्वे पञ्चमी विभवना। विलक्षण गुणशालित्वे त्वयं विषम इति भेद।

दूसरा विषम वहाँ होता है, जहाँ किसी विषम कारक से विषय कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे- तुम्हारी काली कृपाणिका धवल कीर्ति को उत्पन्न करती है।

यहाँ कारक गुण के विरुद्ध श्यामता से धवलता की उत्पत्ति होती है। कार्य कारण में निवर्त्य निवर्तक भाव होने पर पाँचवीं विभावना होती है। विलक्षण गुणशालित्व होने पर विषमालङ्कार होता है।

यहाँ कारक से तद्विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है। पाँचवीं विभावना में भी प्रायः ऐसा ही होता है। पर थोड़ा सा अन्तर है। वहाँ (विभावना) कारण निवर्तक होता है और कार्य निवर्त्य। जैसे चाँद से ताप होता है। चाँद शीतल होने के कारण ताप विरुद्ध है, पर वियोगिनी के लिए ताप करता है। इस तरह विरुद्ध कारण विरुद्ध कार्य करता है। पर यहां (विषय में) कारक के गुण की परिपाटी से विरोध पाया जाता है। नियम है कि- **कारक गुणाः कार्यगुणानारभन्ते।** पर यहाँ कृपाण का गुण काला है और कार्ययश का गुण उजला। यही विरोध है। काला से उजले की उत्पत्ति में विरोध है। कार्य और कारण में

नहीं, क्योंकि तलवार से विपक्षी को मारने पर राजा का यश फैलता है। यहाँ दोनों (कारण और कार्य) के गुण का विरोध होता है।

अब विषम के तीसरे प्रकार का निरूपण किया जाता है।

अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्।
भक्ष्याशयाहिमञ्जूषां दृष्ट्वाखुस्तेन भक्षितः॥ ९०॥

इष्टार्थमुद्दिश्य किञ्चित्कर्मारब्धवतो न केवलमिष्टस्यानवाप्तिः किन्तु ततोऽनिष्टस्यापि प्रतिलम्भश्चेत्तदपि विष्मम्। यथा भक्ष्य प्रेप्सया सर्पपेटिकां दृष्ट्वा प्रविष्टस्य मूषकस्य न केवलं भक्ष्यालाभः किन्तु स्वरूपहानिरपीति।

यथा वा-

गोपाल इति कृष्ण! त्वं प्रचुरक्षीरवाञ्छया।
श्रियो मातृस्तनक्षीरमप्यलभ्यं त्वया कृतम्॥

इदमर्था वाप्ति रूपेष्टार्थ समुद्यमादिष्टानवाप्तावनिष्टप्रतिलम्भे चोदाहरणम्। अनर्थपरिहारार्थरूपेष्टार्थसमुद्यमात्।

जहाँ इष्ट की प्राप्ति के लिए किए परिश्रम से अनिष्ट की प्राप्ति होती है, वहाँ विषम का तीसरा प्रकार होता है। जैसे- भोजन की आशा से चूहा साँप की पेटी में चला गया, वहाँ वह चूहा साँप के द्वारा खा लिया गया।

इष्ट प्राप्ति के लिए काम आरम्भ करने वाला केवल इष्ट की प्राप्ति से वञ्चित नहीं रहता अपितु अनिष्ट भी प्राप्त करता है। वहाँ तीसरा विषम होता है। जैसे- भोजन प्राप्ति की इच्छा से साँप की पेटी को देखकर उसमें प्रविष्ट चूहा न केवल भोजन प्राप्ति से वञ्चित रहता है अपितु अपने स्वरूप को भी खो देता है। जैसे- दूसरा उदाहरण-

हे कृष्ण! तुम गोपाल हो इसलिए मैं प्रचुर दूध प्राप्ति की इच्छा से तुम्हारे पास गया, पर तुमने मुझे माता स्तन का दूध भी अलभ्य कर दिया।

इष्ट की प्राप्ति के लिए किए गए काम से इष्ट की प्राप्ति नहीं होने से और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर यह उदाहरण है। जहाँ अनिष्ट का परिहार और इष्ट की प्राप्ति रूप समुद्यम होता है, वहाँ भी विषम होता है।

इस भेद में परिश्रम से तदर्थ इष्ट की प्राप्ति तो नहीं ही होती साथ-साथ अनिष्ट की प्राप्ति हो जाती है। जैसे चूहा गया भोजन खोजने पर भोजन तो नहीं ही मिला, साथ-साथ स्वयं भी मारा गया। भक्त ने कृष्ण की सेवा इसलिए की, कि वह गोपाल (गाय को पालने वाला) है, अतः खूब दूध मिलेगा। पर भगवान् ने मोक्ष प्रदान कर दिया और भक्त की अपनी माँ का दूध मिलना भी बन्द हो गया। यहाँ परिश्रम हुआ खूब दूध पाने के लिए, पर दूध खूब तो नहीं ही मिला, साथ-साथ माँ का दूध जो स्वयं प्राप्त था वह भी बन्द हो गया।

अब ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है, जिसमें अनिष्ट निवारण तथा इष्ट प्राप्ति के लिए साथ-साथ श्रम है।

तदुभयं यथा-

दिविश्रितवतश्चन्द्रं सैहिंकेयभयाद्भुवि।
शशस्य पश्य तन्वङ्गि! साश्रयस्य ततोभयम्।

अत्र न केवलं शशस्य स्वानर्थ परिहारानवाप्तिः किन्तु साश्रयस्याप्यनर्थावाप्तिरिति दर्शिताम्। परानिष्टप्रापणरूपेष्टार्थ समुद्यमात्।

तदुभयं यथा-

दिधक्षन् मारुतेर्बालं तदादीप्यद्दशाननः।
आत्मीयस्य पुरुस्यैवं सद्यो दहनमन्वभूत्॥

पुरस्यैव इत्येवकारेण परानिष्टप्रापणाभावो दर्शितः। अनिष्टस्याप्यसाप्तिश्च इतिश्लोकेऽनिष्टावाप्तेः अति शब्दसंगृहीताया इष्टानवाप्तेश्च प्रत्येकमपि विषमपदेनान्वयः। ततश्च केवलानिष्ट प्रतिलम्भः केवलेष्टानवाप्तिश्चेत्यन्यदपि विषमद्वयं लक्षितं भवति। - दोनों का उदाहरण - जैसे -

हे तन्वङ्गि! देखो शेर के डर से शशक (खरहा) ने आकाश में चाँद का आश्रय लिया, पर न केवल शश अपितु आश्रयभूत चाँद का भी सैंहिकेय (राहु) से भय हो गया।

यहाँ न केवल शश के अनर्थ निवारण की प्राप्ति नहीं होती है, अपितु आश्रय की भी अनर्थ प्राप्ति होती है। दूसरे के अनिष्ट से अपना इष्ट प्राप्ति रूप उद्यम में भी विषम होता है। जैसे-

मारुति (हनुमान) की पूंछ को जलाने की इच्छा दशानन ने आग लगाई, पर तुरन्त अपने ही नगर दहन का उसने अनुभव किया।

'पुर का ही' इस 'ही' पद से दूसरे की अनिष्ट प्राप्ति का अभाव दिखाया गया। 'अनिष्ट की प्राप्ति' इस श्लोक में अनिष्ट की प्राप्ति का 'अपि' शब्द के संग्रह से इष्ट की अनवाप्ति, विषम पद से अन्वित है।

यहाँ पहले उदाहरण में अनर्थ के निवारण तथा इष्ट प्राप्ति के लिए प्रयास किया गया, पर न अनर्थ का निवारण हुआ न इष्ट की प्राप्ति। खरहा शेर के डर से भूमि छोड़ आकाश चला गया ताकि वहाँ शेर न पहुँच पाए तथा शशि का आश्रय ले लिया ताकि शेर से मुझे बचा सके पर वहाँ भी खरहा शेर से न बच पाया अपितु चाँद भी सैंहिकेय (शेर-राहु) से ग्रस्त होने लगा। यहाँ सैंहिकेय राहु तथा शेर में श्लिष्ट है। दूसरे उदाहरण में हनुमान् का अनिष्ट करने के लिए रावण ने प्रयास किया पर हनुमान का अनिष्ट नहीं हुआ अपितु रावण का ही इष्ट विनाश हुआ। 'पुर का 'ही' दहन अनुभव किया' यहाँ ही पद से स्पष्ट है कि हनुमान् को कुछ नहीं हुआ, केवल नगर जला। तथा लक्षण में अनिष्ट की 'भी' प्राप्ति में 'भी' शब्द नगर दहन रूप अनिष्ट में अन्वित है। इस तरह हनुमान के अनिष्ट से अपना इष्ट चाहने वाले रावण को हनुमान के अनिष्ट की प्राप्ति भी नहीं हुई और अपने इष्ट की भी प्राप्ति नही हुई।

कहीं केवल अनिष्ट प्राप्ति तथा केवल इष्ट अप्राप्ति रूप दो तरह का विषम होता है। क्रमाश: दोनों का उदाहरण दिया जा रहा है-

तत्र केवलानिष्ट प्रतिलम्भो यथा-

पद्मातपत्ररसिके सरसीरुहस्य
किं बीजमर्पयितुमिच्छसि वापिकायाम्।
कालः कलिर्जगदिदं न कृतज्ञमज्ञे!
स्थित्वा हरिष्यति मुखस्य तवैव लक्ष्मीम्॥

अत्र पद्मातपत्रलिप्सया पद्मबीजावापं कृतवत्यास्तल्लाभोऽस्त्येव, किन्तु मुखशोभाहरण रूपोत्कटानिष्टप्रतिलम्भः।

केवलेष्टानवाप्तिर्यथा-

खिन्नोऽसि मुञ्च शैलं विभ्रमो वयमिति वदत्सु शिथिल भुजः।
भरभुग्नवितत बाहुषु गोपेषु हसन् हरिर्जयति॥

अत्र यद्यपि शैलस्योपरिपतनरूपानिष्टावाप्तिः प्रसक्ता तथापि भगवत्कराम्बुज संसर्ग महिम्ना सा न जातेति शैलधारणरूपेष्टानवाप्तिमात्रम्।

केवल अनिष्ट प्राप्ति का उदाहरण-

ऐ मूर्ख! कमल के छत्र की इच्छा से वापिका में कमल के बीज क्यों बो रही हो। यह कलियुग है, यहाँ कोई कृतज्ञ नहीं होता। वह कमल तुम्हारे मुख की शोभा का ही हरण करेगा।

यहाँ कमल छत्र की चाह से कमलबीज का वपन करने से कमल का लाभ रूप इष्ट तो है ही, लेकिन मुख की शोभा का हरण रूप अनिष्ट की प्राप्ति भी हो रही है।

कवेल इष्ट की इच्छा प्राप्ति नहीं होने का उदाहरण-

आप खिन्न हो गए हैं, इसलिए आप छोड़ दीजिए, हम लोग शैल को उठाते हैं। (गोपों के ऐसा कहने पर) अपने हाथ को ढीला कर भार के कारण गोपों के हाथ टेढ़ा हो जाने से हँसते हुए श्रीकृष्ण की जय हो।

यहाँ यद्यपि शैल के ऊपर से गिरते रूप अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती है तथापि भगवान् के कर कमल के संसर्ग से अनिष्ट न होकर केवल शैल उठाने रूप इष्ट की प्राप्ति नही होती है।

यहाँ पहले उदाहरण में कमल छत्र की कामना से कामिनी कमलबीज होती है। उसका इष्ट है, कमल प्राप्त करना। वह तो इष्ट तो प्राप्त होता है, पर वही कमल इसके मुख की शोभा का अपहरण करता है। इस तरह इष्ट की प्राप्ति के साथ अनिष्ट की प्राप्ति होती है तथा दूसरे उदाहरण में गोप बालक शैल उठाना चाहता है। यद्यपि वह पर्वत गिर

भी सकता था, पर कृष्ण की सहायता से गिरता तो नहीं, इस तरह अनिष्ट की प्राप्ति तो नहीं होती है, पर शैल उठाने की इच्छा रूप इष्ट की पूर्ति हो पाती है।

इसी तरह के और उदाहरण दिए जा रहे हैं।

यथा वा-

लोके कलङ्कमपहातुमयं मृगाङ्को
जातं मुखं तव पुनस्तिलकच्छलेन।
तत्रापि कल्पयसि तन्वि! कलङ्करेखां
नार्यः समाश्रितजनं हि कलङ्कयन्ति॥

अत्रानिष्टं परिहार रूपेष्टानवाप्तिः।

यथा वा-

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्ममशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पापितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलुक्षितिमिन्धनेद्धो
बीज प्ररोहजननीं दहनः करोति।

अत्र परानिष्ट प्रापणरूपेष्टानवाप्तिः। स्वतोऽनिष्टस्यापि मुनिशापस्य महापुरुषार्थ पुत्र लाभावश्यंभावगर्भतया दशरथेनेष्टत्वेन समर्थितत्वात्। यत्र केनचित् स्वेष्टसिद्ध्यर्थं नियुक्तेनान्येन नियोक्तुरिष्टमुपेक्ष्य स्वस्यैवेष्टं तत्रापिष्टानवाप्ति रूपमेव विषमम्।

यथा -

यं प्रति प्रेषिता दूती तस्मिन्नेव लयं गता।
सख्यः! पश्यत मौढयं मे विपाकं वा विधेरमुम्॥

'तस्मिन्नेव लयं गता' इति नायके दूत्याः स्वाच्छन्द्यं दर्शितम्।

यथा वा-

नपुंसकमितिज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तत्तु तत्रेव रमते हताः पाणिनिना वयम्॥

एतानि सर्वथैवेष्टानवाप्तेरुदाहरणानि।

जैसे–

मृगांक (चाँद) अपने कलङ्क को हटाने के लिए संसार में तुम्हारी मुख बन गया। लेकिन हें तन्वि! तुम पुनः तिलक के छल से उसमें कलङ्क रेखा बना रही हो। नारी अपने आश्रितजनों को कलङ्कित कर ही देती है।

यहाँ अनिष्ट परिहार रूप इष्ट की प्राप्ति नहीं होती है।

जैसे–

आपके द्वारा जो शाप दिया गया है, वह पुत्र के मुख कमल की शोभा न देखने वाले मुझ पर अनुग्रह किया है। कृषि योग्य भूमि को जलाते हुए इन्धनयुक्त आग बीज के अङ्कुर के उत्पादन के योग्य बनाता ही है।

यहाँ दूसरे की अनिष्ट प्राप्ति रूप इष्ट की प्राप्ति नहीं है। जो मुनि का शाप स्वतः अनिष्ट है, उसे दशरथ इष्ट की तरह समर्थित कर रहा है, क्योंकि महापुरुषार्थी पुत्र का लाभ अवश्य होगा, यह लाभ इस शाप में गर्भित है। जहाँ किसी के द्वारा अपने इष्ट के लिए नियुक्त व्यक्ति नियोक्ता के इष्ट की उपेक्षा कर अपना इष्ट सिद्ध करता है, वहाँ भी इष्ट की अनवाप्ति रूप विषमालङ्कार होता है। जैसे–

जिसके प्रति मैंने दूती को भेजा वह उसी (नायक) में लीन हो गई। ऐ सखियो! देखो ये मेरी मूर्खता है या विधाता का ही दुर्विपाक है।

'उसी में लीन हो गई' इससे नायक में दूती की स्वच्छन्दता दिखायी गई है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

नपुंसक समझकर मैंने मन को अपनी प्रिया के पास भेजा पर वह (मन) वहीं रंमण करने लगा। दुःख की बात है कि पाणिनी से हम लोग मारे गए।

ये सभी उदाहरण इष्ट की प्राप्ति नहीं होने के हैं।

पहले उदाहरण में चाँद अपना कलंक मिटाने के लिए नायिका का मुख बनाता है, लकिन वहाँ भी तिलक रूप कलङ्क मिल ही जाता है। अतः कलङ्क हरण रूप इष्ट की

प्राप्ति नहीं हो पाती है। दूसरे उदाहरण में मुनि ने दशरथ को शाप दिया। इससे दशरथ की हानि करना मुनि का इष्ट है। पर दशरथ उसे अपना लाभ मानता है, क्योंकि पुत्र का मुख तो देखने को जरूर मिलेगा। इस दशरथ के लिए यह शाप वरदान हो गया। यहां मुनि के लिए दशरथ की अनिष्ट प्राप्ति रूप इष्ट की प्राप्ति नहीं होती। तीसरे उदाहरण में दूती नायक को बुलाने जाती है, पर वहाँ अपने नायक की इष्ट प्राप्ति (नायक प्रेषण) को भूलकर स्वयं रमण करके अपना इष्ट सिद्ध करती है। अतः यहाँ भी विषम है। चौथे उदाहरण में नायक मन को नपुंसक समझकर प्रिया के पास भेजता है, लेकिन मन स्वयं नायिका में रम जाता है। इस तरह मन अपने नियोक्ता की उपेक्षा कर अपना इष्ट सिद्ध करता है, अतः यहाँ भी विषम है।

कदाचिदिष्टावाप्तिपूर्वकतदनवाप्तिर्यथा मदीये वरदराजस्तवे-

भानुर्निशासुभवदङ्घ्रिमयूख शोभा-
लोभात् प्रताप्य किरणोत्करमाप्रभातम्।
तत्रोद्धृते हुतवहात् क्षणलुप्तरागे
तापं भजत्यनुदिनं स हि मन्द तापः।

यथा वा-

त्वद्वक्त्र साम्यमयमम्बुजकोशमुद्रा
भङ्गात्ततत्सुषममित्र करोपक्लृप्त्या।
लब्ध्वापि पर्वणि विधुः क्रमहीयमानः
शंसत्यनीत्युपचितां श्रियमाशुनाशम्॥

अत्र ह्याद्य श्लोके सूर्य किरणानां रात्रिष्वग्निप्रवेशनमागमसिद्धम्। सूर्यस्त निजकिरणेषु भगवच्चरणकिरण सदृशारुणिमप्रेप्सया तत्कृतं तेषामग्नौ प्रतापनं परिकल्प्य तेषामुदय काल दृश्यमरुणिमानं च तप्तोद्धृतनाराचानामिवाग्निसंतापन प्रयुक्तारुणिमानवृत्तिं परिकल्प्य सूर्यस्य महतापि प्रयत्नेन तात्कालिकेष्टावाप्तिरेव जायते, न सार्वकालिकेष्टा वाप्तिरिति दर्शितम्। द्वितीयश्लोके चन्द्रस्य भगवन्मुखलक्ष्मीं

लिप्समानस्य सुहृद्भावेन 'मित्र' शब्दश्लेषवशात् सूर्यं परिकल्प्य तत्किरणस्य कमलकुलविकासनं चन्द्रानुपवेशनं च सुहृत्यापाणेर्भगवन्मुख लक्ष्मीनिधानकोशगृहमुद्रामोचनपूर्वकं ततो गृहीतभगवन्मुख लक्ष्मीकस्य तथा भगवन्मुखलक्ष्म्या चन्द्रप्रसाधनार्थं चन्द्रस्पर्शरूपं च परिकल्प्यैतावतापि प्रयत्नेन पौर्णमास्यामेव भगवन्मुखसाम्यरूपेष्ट प्राप्तिर्जायते। न सार्वकालिकीति दर्शितम्।

कहीं इष्ट की प्राप्ति पूर्व की इष्ट की अनवाप्ति होती है। जैसे मेरे (दीक्षित जी के) वरदराजस्तव में-

आपके चरण नख की शोभा प्राप्ति के लिए सूर्य रात भर अपनी किरणों को आग में तपाकर प्रातः काल में जब आग से निकालता है तो आग की लालिमा से युक्त (पुनः) क्षण भर में लालिमा खोकर मन्दाप हुआ सा प्रतिदिन ताप को प्राप्त करता है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

तुम्हारे मुख की शोभा के समान कमल की कोश मुद्रा को अपने मित्र के किरण समूह से भङ्ग कर मुख समानता को पाकर भी पूर्णिमा के दिन, क्रमशः घटता हुआ वह चाँद अनीति से प्राप्त धन समृद्धि की शीघ्र विनाश प्रक्रिया को सूचित करता है।

यहाँ पहले श्लोक में सूर्य की किरणों का रात्रि में अग्नि प्रवेश वेदादि सिद्ध है। सूर्य की अपनी किरणों में भगवच्चरण किरण सदृश लालिमा पाने की इच्छा से किरणों के आग में तपाने की परिकल्पना है तथा उदय कालिक लालिमा में तपे तीर के समान अग्नि ताप प्रयुक्त लालिमा की कल्पना है। इस तरह कल्पना द्वय से सूर्य के महान प्रयत्न से भी तात्कालिक (प्रातः कालिक मात्र) इष्ट प्राप्ति होती है। सार्वकालिक इष्ट की प्राप्ति नहीं होती है। दूसरे श्लोक में चन्द्रमा भगवान् के मुख की कान्ति को पाने की इच्छा रखता है। सुहृत् होने से मित्र (सूर्य) शब्द में श्लेष की कल्पना कर सूर्य की किरणों का कमल का विकासन तथा चन्द्रमा के लिए उस कमल की शोभा का प्रदान, भगवान् की मुखलक्ष्मी का निधान कोश कमलगृह का मोचनपूर्वक, तथा भगवान की मुख लक्ष्मी को ग्रहण कर चन्द्रमा के प्रसाधन के लिए कल्पित है। इतना होने के बावजूद भी केवल पूर्णिमा के दिन

ही भगवान् के मुख की शोभा प्राप्ति रूप इष्ट की प्राप्ति होती है। यह इष्ट प्राप्ति सार्वकालिकी नहीं होती है।

यहाँ पहले श्लोक में सूर्य भगवान के चरण नख की लालिमा चाहता है। इसके लिए रात भर अपनी किरणों को आग में तपाता है। (**"तस्माद्दिवाग्निरादित्यं प्रविशति रात्रावादित्यस्तम्"**) प्रातः काल जब किरणों को आग में निकालता है, तो तप्त तीर के समान वह लाल होता है। इस तरह भगवच्चरण नख की कान्ति प्राप्त करता है। लेकिन जैसे आग में तप्ततीर थोड़े समय में ठंडा हो जाता है उसी तरह सूर्य भी थोड़े समय में मन्द ताप वाला हो जाता है। फिर भगवच्चरण नख की लालिमा से वियुक्त हो जाता है। इस तरह इतना मेहनत कर नखकान्ति प्राप्ति रूप इष्ट को क्षण भर पाता है, फिर उसे इष्ट की अनवाप्ति (अप्राप्ति) ही होती है। उसी तरह दूसरे श्लोक में चाँद भगवान के मुख की शोभा चाहता है। इसलिए उसका मित्र (सूर्य) अपनी किरणों से कमल के कोश को खोलता है और उस शोभा से चन्द्रमा को अलंकृत करता है। इस तरह प्रयास के बाद भी केवल पूर्णिमा के दिन वह चाँद भगवन्मुख की कान्ति प्राप्ति रूप इष्ट को पाता है। फिर क्रमशः घटने लगता है, पुनः उसे इष्ट की अप्राप्ति ही होती है। इस तरह इन दो उदाहरणों में इष्ट की प्राप्ति के बाद इष्ट की अप्राप्ति रूप विषम दिखाया गया है।

क्वचिदिष्टानवाप्तावपि तदवाप्तिभ्रमनिबन्धनाद्विच्छित्ति विशेषः। यथा वा-

वल्लाल क्षोणिपाल! त्वदहितनगरे सञ्चरन्ती किराती
रत्नान्यादाय कीर्णान्युरुतरखदिराङ्गारशङ्काकुलाङ्गी।
क्षिप्त्वा श्रीखण्डखण्डं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमन्ती
श्वासामोदप्रसक्तैर्मधुकरपटलैर्धूमशङ्कां करोति॥

अत्र प्रभूताग्निसंतापनोद्योगात्तत्संपादनालाभेऽपि तल्लाभभ्रमो धूमभ्रमोषन्यामुखेन निबद्धः॥

कहीं इष्ट की प्राप्ति नहीं होने पर भी उसकी प्राप्ति के भ्रम का निबन्धन होने से चमत्कार विशेष होता है। जैसे-

हे वल्लात पृथ्वीपति। तुम्हारे दुश्मन के नगर में घूमती हुई किराती बिखरे हुए रत्नों को लेकर खैर की लकड़ी की आग की शंका से उस पर श्रीखण्ड का टुकड़ा डालकर, आँखें बन्द कर फूँक मारती हुई श्वास की सुगन्धि से प्राप्त भ्रमर समूहों में धुएँ की शङ्का करती है।

यहाँ प्रभूत अग्नि प्राप्ति के उद्योग से अग्नि के लाभ नहीं होने पर भी अग्नि लाभ की शंङ्का, धुएँ के भ्रम के उपन्यास से किया गया है।

यहाँ शत्रु के भाग जाने से बिखरे रत्नों को किराती खैर की लकड़ी की आग समझती है। उसे और बढ़ाने के लिए श्रीखण्ड की लकड़ी डालकर फूँकती है। आग तो नहीं होती पर श्वास सुगन्ध से आए भौंरे को वह धुँआ समझती है। यहाँ आग की प्राप्ति नहीं होने पर भी धुँए के भ्रम से आग की प्राप्ति ईष्ट का निबन्धन किया गया है। अतः यहाँ भी एक विषम का ही प्रकार है।

३९ – समालङ्कारः

समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः।
स्वानपुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम्॥ 91॥

प्रथम विषय प्रति द्वन्द्वी दं समम्। यथा वा-

कोमुदीव तुहिनांशुमण्डलं जाह्नवीव शशिखण्डमण्डनम्।
पश्य कीर्तिरनुरूपमाश्रिता त्वां विभाति नरसिंह भूपते॥

चित्रं चित्रं वत वत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो दैवादुचित घटनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकला कोविदः काकलोकः॥

पूर्व स्तुति पर्यवसायि इदं तु निन्दा पर्यवसायीति भेदः।

जहाँ दो अनुरूप तथ्यों का वर्णन साथ में होता है, वहाँ 'सम' अलङ्कार होता है। जैसे- हार के अपने अनुरूप कुचमण्डल को घर बनाया गया है। जैसे – दूसरा उदाहरण-

हे नरसिंह भूपते! तुम जैसे अनुरूप का आश्रय पाकर कीर्ति चन्द्रमण्डल में चन्द्रिका की तहर, शंकर के साथ गंगा की तरह शोभा पाती है, देखो।

आश्चर्य है, आश्चर्य है। बहुत बड़ा आश्चर्य है कि संयोगवश विधाता उचित के साथ उचित को जोड़ने वाले हैं। पके नीम का फल आस्वादनीय है और खाने की कला में पारङ्गत काकलोक इससे जुड़ने वाला है।

पहला श्लोक स्तुतिपरक है और दूसरा निन्दापरक है। यह सम अलङ्कार विषम (प्रथम) का प्रतिद्वन्द्वी है।

जहाँ विषम के प्रथम भेद में दो अनुरूप तथ्यों का वर्णन होता है, उसी समय अलङ्कार में दो अनुरूप तथ्यों का वर्णन होता है। पहले उदाहरण में हार का घर स्तन पर है। यह व्यवहार सम्मत ही है। हार का स्थान स्तनयुगल पर ही होता है। दूसरे उदाहरण में राजा के साथ में कीर्ति वैसे ही शोभित है जैसे चांद के साथ चाँदनी और शंकर के साथ गंगा। ये सभी तथ्य अनुरूप ही हैं। तीसरे में नीम के फल के साथ कौए का जोड़ भी उचित ही है। दूसरे उदाहरण में राजा की स्तुति है तथा तीसरे उदाहरण में नीम तथा कौए की निन्दा॥

सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः।
नीचप्रवणता लक्ष्मि! जलजायास्तवोचिता॥ 92॥

इदं द्वितीयं विषय प्रतिद्वन्द्वी समम्।

यथ वा-

दवदहनादुत्पन्नो धूमो घनतामवाप्य वर्षैस्तम्।
यच्छमयति तद्युक्तं सोऽपि हि दवमेव निर्दहति॥

यथा वा-

आदौ हालाहलहुतभुजा दत्तहस्तावलम्बो
वाल्ये शम्भोर्निटिलमहसा बद्धमैत्रीनिरूढः।
प्रौढो रोहोरपि मुखविशेषणान्तरङ्गीकृतो यः
सोऽयं चन्द्रस्तपति किरणैर्मामिति प्राप्तमेतत्॥

पूर्वत्र कारण स्वभावानुरूप्यं कार्यस्यात्रागन्तुक तदीय दुष्टसंसर्गानुरूप्यमिति भेदः ॥

कारण और कार्य में अनुरूपता होने पर सम का दूसरा भेद होता है। जैसे- ऐ लक्ष्मि! तुम जल में उत्पन्न हुई हो, अतः नीच लोगों की सङ्गति उचित ही है।

यह अलङ्कार द्वितीय विषम का प्रतिद्वन्द्वी है। जैसे-

दावाग्नि से उत्पन्न धुँआ मेघ बनकर पुनः उसे ही शान्त करता है। यह उचित ही है, क्योंकि वह (दवाग्नि) भी दव (वन) को ही जलाती है।

जैसे-

पहले हालाहल की अग्नि से हाथ का सहारा प्राप्त किया है, बच्चे में शङ्कर के भाल नेत्र की आग से दृढ़मैत्री करके रहा। प्रौढ़ होने पर राहु के मुख की अग्नि से जो अङ्गीकार किया गया, वह चाँद अपनी किरणों से मुझे तपाता है। यह उचित ही है।

पहले श्लोक में कारण कार्य स्वाभाविक है, पर दूसरे उदाहरण में चन्द्र आगन्तुक दुष्ट के संसर्ग से दुष्ट हुआ है। यही भेद है।

कारिका गत उदाहरण इसलिए उचित है कि लक्ष्मी जल (जड़ या नीच) से उत्पन्न हुई है जो नीच से उत्पन्न हुई वह नीच की संगति करेगी ही। अतः लक्ष्मी का नीच के साथ संगति उचित है। कारण नीच से उत्पत्ति और कार्य नीच की सङ्गति अनुरूप है। श्लोक वाले पहले उदाहरण में दवाग्नि में उठा धुँआ मेघ बनकर दावाग्नि को ही शान्त करता है। यह उचित है, क्योंकि दवाग्नि भी वन से उत्पन्न होता है और वन को जलाता है। अतः कारण दाव से उत्पन्न होना कार्य दाव को बुझाना उचित ही है। क्योंकि **कारकगुणाः कायगुणानारभन्ते**। जो गुण दावाग्नि में है वही गुण धुँए में भी आया। तीसरे उदाहरण में चन्द्रमा सदा आग के साथ रहा है इसलिए आग बरसाना (तपाना) उचित ही है। कारण- आगे के साथ रहना, कार्य- तपना या तपाना उचित ही है। पहले में दवाग्नि और धुएँ का कार्य वास्तविक था। पर दूसरे श्लोक चाँद अपने गुण से नहीं तपता अपितु जिसके साथ में रहा उसका गुण आ जाने से वह तपता है। अतः यह भेद विषम के द्वितीय भेद का प्रतिद्वन्द्वी है।

अव समालङ्कार के तीसरे प्रवार का निरूपण करते हैं-

विनाऽनिष्टञ्च तत्सिद्धिर्यमर्थं कुर्तमुद्यतः।
युक्तो वारणालाभोऽयं स्यात्र ते वारणार्थिनः॥93॥

इष्टं सममनिष्टस्याप्यवाप्तिश्येत्यपि संगृहीतस्य त्रिविधस्यापि विषमस्य प्रतिद्वन्द्वि, इष्टावाप्तेरनिष्टस्याप्रसङ्गाच्च। अथ गजार्थितया राजानमुपसर्पन्तं तद्दौवारिकैर्वार्यमाणं प्रतिनर्म वचनमुदाहरणम्। न चात्र निवारणमनिष्टमापन्नमित्यनुदाहरणत्वं शङ्कनीयम्। राजद्वारिक्षणनिवारणं संभावितमिति तदङ्गीकृत्य प्रवृत्तस्य विषमालङ्कारोदहरणेष्विवातर्कितोत्कटानिष्टापत्त्यभावात्। किञ्च यत्रातर्कितोत्कटानिष्ट सत्वेऽपि श्लेषमहिम्रेष्टार्थत्व प्रतीतिस्तत्रापि समालङ्कारोऽप्रतिहत एव।

जिस कार्य को सिद्ध करने के लिए कोई प्रयुक्त होता है। वह कार्य यदि बिना अनिष्ट (बाधा) के सिद्ध हो जाता है तो तीसरा सम होता है जैसे- वारण (हाथी) की याचना वाले तुम्हारे लिए यह वारण (निवारण) का लाभ उचित ही है।

इष्ट के साथ अनिष्ट की प्राप्ति भी जहाँ होती है वैसे विषम के तीसरे (अन्तरंग समेत) भेद का यह प्रतिद्वन्द्वी है, क्योंकि यहाँ इष्ट की प्राप्ति भी होती है और अनिष्ट की कहीं शंका भी नहीं होती है। हाथी की याचना से राजा के पास जाते हुए द्वारपाल से निवारण अनिष्ट हुआ इसलिए सम का उदाहरण नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि राजा के दरवाजे पर क्षण भर का निवारण संभावित है, इसको स्वीकार करके ही कोई व्यक्ति उसमें प्रवृत्त हुआ। विषमालङ्कार की तरह असंभावित उत्कट अनिष्ट का यहाँ अभाव है।

किञ्च जहाँ अतर्कित उत्कट अनिष्ट होते हुए भी श्लेष के बल से इष्ट की प्राप्ति होती है, वहाँ भी सम अलङ्कार होता ही है।

यह भेद विषम के तीसरे भेद का प्रतिद्वन्द्वी है। विषम (तीसरे) में इष्ट का लाभ तो नहीं ही होता है, साथ-साथ उत्कट अनिष्ट भी होता है। पर यहाँ अनिष्ट के बिना इष्ट की

प्राप्ति होती है। इस (कारिकागत) उदाहरण में राजा के पास जाते हुए दौवारिक का वारण रूप अनिष्ट दीख पड़ता है पर यह अतर्कित नहीं है। राज दरबार में जाने वाला दौवारिक के वारण को सोचकर ही चलता है। पर विषम में असंभावित अनिष्ट होता है। जैसे चूहा जाता है, भोजन खोजने, पर साँप उसे ही खा जाता है। (विषम तृतीय का उदाहरण) यहाँ एक तथ्य और है कि यदि इष्ट प्राप्ति अनिष्ट आने के बावजूद भी श्लेष की महिमा से हो जाए तो भी सम अलङ्कार में कोई बाधा नहीं होती। वहाँ भी सम अलङ्कार होता है। आगे उदाहरण दिखाते हैं।

यथा वा-

उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव-
त्वामाश्रयन्निह चिरादुषितोऽस्मि राजन्!
उच्चाटनं त्वमपि लम्भयसे तदेव
मामद्य नैव विफला महतां हि सेवा॥

अत्र यद्यपि व्याजस्तुतौ स्तुत्यास निन्दाभिव्यक्तिविवक्षायां विषमालंकारस्तथापि प्राथमिकस्तुतिरूपवाच्यविवक्षायां समालंकारो न निवार्यते। एवं यत्रेष्टार्थावाप्तिसत्वेऽपि श्लेषवशादसतोऽनिष्टार्थस्य प्रतीतिस्तत्रापि समालंकारस्य न क्षतिः। यथा-

शस्त्रं न खलुकर्तव्यमिति पित्रा नियोजितः।
तदेव शस्त्रं कृतवान् पितुराज्ञा न लङ्घिता॥

अत्र पितुराज्ञा न लङ्घिता इत्यनेन विरोधालङ्काराभिव्यक्त्यर्थं न खलु इत्यत्र पदद्वयविभागात्मक रूपान्तरस्यापि विवक्षायाः सत्वेऽपि नखं लुनातीति न खलु इत्येकपदत्वेन वस्तुसदर्थान्तर पररूपान्तरमादाय समालङ्कारोऽप्यस्त्येव श्लेष लब्धाऽसदिष्टा वाप्तिप्रतीतिमात्रेणापि गतमुदाहरणम्।

यथा-

सत्यं तपः सुगत्यै यत्तप्त्वाम्बुषु रवि प्रतीक्षं सत्।
अनुभवति सुगतिमब्ज त्वत्पद जन्मनि समस्तकमनीयम्॥

हे राजन्! ऊँचे हाथी पर चढ़कर घूमने की इच्छा से ही आपके आश्रय में मैं बहुत दिनों से रह रहा हूँ। आप भी मुझे उच्चाटन (देश निकाला) दे रहे हैं। महान् की सेवा विफल नहीं होती।

यहाँ यद्यपि व्याज स्तुति में स्तुति के द्वारा निन्दा की अभिव्यक्ति की विवक्षा में विषमालङ्कार है तथापि प्राथमिक स्तुति रूप वाच्य की विवक्षा में समालङ्कार का निवारण नहीं हो सकता एवं जहाँ इष्टार्थ की प्राप्ति होते हुए भी श्लेषवश अनिष्ट की प्राप्ति होती है वहाँ समालङ्कार की क्षति नहीं होती है। जैसे-

शस्त्र कभी ग्रहण नहीं करना इस तरह पिता के द्वारा नियोजित उसने उसको (नख को) ही अस्त्र बनाया है और पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।

यहाँ पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं किया। इस तरह विरोधालङ्कार की अभिव्यक्ति होती है पर 'न खलु' इस दो पद के विभागात्मक अन्त की विवक्षा के रहते नखं लुनातीति न खलु, नख को काटने का औजार इस एक पद से विरोध के दूसरे रूपान्तर को लेकर सम अलंकार भी है ही। यह श्लेष के द्वारा प्रतीत असत् अर्थ की इष्टावाप्ति की प्रतीति मात्र का उदाहरण भी हो सकता है। जैसे-

तप सुगति के लिए होता है, यह सत्य है। रवि की ओर देखते हुए पानी में तपता कमल तुम्हारे पैर रूप जन्म को पाकर सभी कमलों से कमनीय हो जाता है।

यहाँ पहले उदाहरण में याचक अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त नहीं करता है साथ साथ अनिष्ट (देश निकाला) भी पाता है इसलिए विषम अलंकार-सा दीखता है। पर यहाँ वाच्य में राजा की स्तुति विवक्षित है और यहां समालंकार है ही। उच्चाटन पद को यदि देश निकाला अर्थ में लें तो विषम दीखता है पर यदि इसी उच्चारण को ऊँचा घूमना (ऊँचे महलों पर घूमना या ऊँची सवारी पर घूमना) अर्थ लें तब तो सामान्यतया समालंकार होता ही है। दूसरे उदाहरण में श्लेष अनिष्टार्थ की प्रतीति होने पर भी समालंकार है। यहाँ नखलु

शब्द में श्लेष है। नख काटने वाला औजार (नखलु) और नहीं (न खलु)। इस तरह श्लेष से पहले अर्थ में अनिष्ट होता है पर दूसरे अर्थ में आज्ञा नहीं उल्लंघन रूप इष्ट की प्राप्ति है। अन्तिम उदाहरण में 'सुगति' (उत्तम लोक की प्राप्ति, उत्तम गति) इस श्लेष के द्वारा कमल को तपस्या का फल सुगति (चरण रूप में सुन्दर गमन) मिलता है, मोक्ष नहीं। इस तरह श्लेष की महिमा से इष्ट प्राप्ति की प्रतीति होती है।

इस तरह विषम की तरह सम के तीन प्रकार हुए।

(1) दो अनुरूप का साथ साथ वर्णन।

(2) कारण और कार्य का अनुरूप वर्णन।

(3) अनिष्ट के बिना इष्ट की प्राप्ति।

साहित्य दर्पणकार ने सम की परिभाषा इस तरह की है-

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः।

४० - विचित्रालङ्कारः

विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया।
नमन्ति सन्तस्त्रैलोक्यादपि लब्धुं समुन्नतिम्॥ 94॥

यथा वा-

मलिनयितुं खलवदनं विमलयति जगन्ति देव! कीर्तिस्ते।
मित्राह्लादं कर्तुं मित्राय द्रह्यति प्रतापोऽपि॥

जहाँ फल की इच्छा से तद्विपरीत प्रयत्न देखा जाता है, वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है। जैसे- त्रैलोक्य से भी ऊँचा उठने के लिए सज्जन लोग झुकते हैं। जैसे- दूसरा उदाहरण-

खल वदन को मलिन करने के लिए हे देव! आपकी कीर्ति संसार को ध्वलित करती है। मित्रों के आह्लाद के लिए मित्र (सूर्य) से आपका प्रताप भी द्रोह करता है।

यहाँ सन्त लोगों को ऊँचा उठने के लिए वैसा ही प्रयास करना चाहिए, पर वो झुकते हैं। झुकना ऊँचा उठने का ठीक विपरीत है। जैसा फल चाहता है, उसके विपरीत

आचरण से विचित्रालङ्कार है। दूसरे उदाहरण में दुष्टवदन को मलिन करने के लिए जगत् को उजला करता है। मलिन करने के ठीक उलटा है। अतः विचित्रालंकार है। पर प्रताप सूर्य से होड़ लगाता है। यह अर्थ ठीक है। इस अलङ्कार का लक्षण विश्वनाथ ने भी ऐसा ही किया है- **विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।**

४१ - अधिकालङ्कारः

अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्य वर्णनम्।
ब्रह्माण्डानि जले यत्र तत्र मान्ति न ते गुणाः ॥ 95 ॥

अत्र 'यत्र महाजलौघेऽनन्तानि ब्रह्माण्डानि वुद्वुद्कल्पानि इत्याधारस्याति विशालत्वं प्रदर्श्य तत्र 'नम मान्ति' इत्याधेयानां गुणानामाधिक्यं वर्णितम्। यथा वा (माघे -)'

युगान्तकाल प्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति जस्यां सविकाशमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विष -
स्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥

आधार की विशालता होने पर भी आधेय के आधिक्य का वर्णन होने से अधिकालङ्कार होता है। जैसे- जिस जल में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समा जाता है, उसमें तुम्हारे गुण नहीं समा जाते हैं।

यहाँ जहाँ महान जल राशि में अनन्त ब्रह्माण्ड वुद्वुद् कल्प हैं, इस तरह आधार भूत जल की विशालता दिखाकर 'नहीं समाते हैं' इस तरह आधेय का आधिक्य बताया गया है। जैसे दूसरे उदाहरण में-

युगान्तकाल में अपने आप में संहृत, जिसमें सम्पूर्ण जगत अपनी विशालता के साथ समा जाता है। उस कैटभरिपु के शरीर में तापेधन के आने से उत्पन्न आनन्द नहीं समा पाया।

यहाँ आधार की विशालता होने पर भी आधेय नहीं समा पाता है। जैसे जल समूह

में ब्रह्माण्ड के समाने से जल की विशालता तो स्पष्ट है। परञ्च गुण उस विशाल जलराशि में भी नहीं समाता। अतः गुण का और आधिक्य है। यहाँ जल-आधार है और गुण-आधेय।

दूसरे उदाहरण में श्रीकृष्ण का वर्णन है, जो नारद के आगमन पर अत्यधिक खुश हुए। जिस शरीर में प्रलय काल से सम्पूर्ण जगत् समा जाता है उस शरीर की विशालता स्वतः स्पष्ट है। पर नारद के आगमन से उत्पन्न खुशी नहीं समा सकती। यहाँ शरीर आधार है और खुशी आधेय।

आचार्य विश्वनाथ ने केवल आश्रय या आश्रयी के अधिक होने पर अधिकालङ्कार माना है। यथा-

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते।

अब अधिकालङ्कार के दूसरे प्रकार का निरूपण करते हैं-

पृथ्वाधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम्।
कियद्वाग्ब्रह्म यत्रैते विश्राम्यन्ति गुणास्तव॥ 96॥

अत्र 'एते' इति प्रत्यक्षदृष्ट महावैभवत्वेनोक्तानां गुणानां 'विश्रात्यन्ति' इत्यसम्बाधावस्थानोक्त्या आधारस्य वाग्ब्राह्मण अधिक्यं वर्णितम्। यथा वा-

अहो विशालं भूपाल! भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते॥

अत्र यद्यप्युदाहरणद्वयेऽपि 'कियद्वाग्ब्रह्म' इति 'अहोविशालम्' इति चाधारयोः प्रशंसा क्रियते तथापि तनुत्वेन सिद्धवत्कृतयोः शब्द ब्रह्म भुवनोदरयोर्गुण यशोराश्यधिकरणत्वेनाधिकत्वं प्रकल्प्यैव प्रशंसा क्रियत इति तत्प्रशंसा प्रस्तुत गुण यशोराशि प्रशंसा यामेव पर्यवस्यति॥

विशाल आधेय से जब आधर का अधिक्य वर्णन होता है, तब अधिक का दूसरा प्रकार होता है। जैसे- वाक्ब्रह्म कितना विशाल है जिसमें तुम्हारे इतने गुण समा जाते हैं।

यहाँ 'एते' पद द्वारा गुणों का प्रत्यक्ष दृष्ट वैभव वर्णित है, तथा 'विश्राम्यन्ति' इस

पद से बिना बाधा के गुण के अवस्थान की उक्ति के आधार भूत वाक्ब्रह्म का आधिक्य वर्णन है। जैसे दूसरा उदाहरण-

हे भूपाल! त्रिभुवन का उदर बड़ा विशाल है, जिसमें कष्ट से समाने के लायक तुम्हारी यशो राशि समा जाती है।

यद्यपि यहाँ दोनों उदाहरणों में 'कियद्वाक्ब्रह्म' तथा 'अहोविशालम्' इस तरह आधार की ही प्रशंसा हुई है। तथापि छोटे हुए शब्द ब्रह्म और भुवनोदर की यशोराशि तथा गुण के अधिकरण से आधिक्य की कल्पना करके ही प्रशंसा हुई है। इसलिए प्रस्तुत गुण और यशोराशि की प्रशंसा में ही उसकी प्रशंसा भी पर्यवसित होती है।

यहाँ गुण आधेय और शब्द ब्रह्म आधार है। तथा यशोराशि आधेय है तथा भुवनोदर आधार है। गुण समाने से शब्द ब्रह्म की अधिकता है और यशोराशि समाने से भुवनोदर की। यहाँ शब्द ब्रह्म और भुवनोदर की प्रशंसा 'कियत् वाक् ब्रह्म' और अहोविशालम् से होने से आधार की प्रशंसा है परञ्च गुण और यशोराशि की अधिकता इसमें समा जाने से उसकी प्रशंसा से ही इसकी (आधार) प्रशंसा होती है। अत: यहाँ अधिकालङ्कार है।

४२ - अल्पालङ्कारः

अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते॥ 97॥

अत्र मणिमालामय्यूर्मिका तावदङ्गुलिमात्र परिमितत्वात्सूक्ष्मा सापि विरहिण्याः करे कङ्कणवत्प्रवेशिता। तस्मिन् जपमालावलम्बत इत्युक्त्या ततोऽपि करस्य विरह कार्श्यादतिसूक्ष्मता दर्शिता।

यथा वा-

यन्मध्य देशादपि ते सूक्ष्मं लोलाक्षि! दृश्यते।
मृणालसूत्रमपि ते न सम्माति स्तनान्तरे॥

सूक्ष्म आधेय से भी आधार को सूक्ष्म बना देने पर अल्पालङ्कार होता है। मणिमाला रूप अंगूठी तुम्हारे हाथ में जपमाला-सी हो रही है।

यहाँ मणिमाला रूप अँगूठी अँगुलि मात्र परिमित होने से स्वयं सूक्ष्म है। वह भी विरहिणी के हाथ में कङ्कण की तरह प्रविष्ट होकर जपमाला की तरह लटक गई, इस उक्ति से अँगूठी से भी हाथ की कृशता अतिसूक्ष्मता को दिखा रही है। जैसे दूसरा उदाहरण-

अयि लालाक्षि! तुम्हारे मध्यभाग (कटि) से भी सूक्ष्म मृणाल सूत्र तुम्हारे स्तन युगल के बीच में नहीं समा रहा है।

यह अलङ्कार अधिकालङ्कार का विपरीत है। यहाँ आधेय की सूक्ष्मता होती है। उस आधेय पर आधार की सूक्ष्मतातिशयता बतायी जाती है। कारिकार्द्ध वाले उदाहरण में अंगूठी स्वयं सूक्ष्म है। वह कंगण बन गया इसका तात्पर्य है कि विरह में वह (नायिका) कृशा हो गयी। वो भी इतनी, कि अँगूठी कंकण हो गयी। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे वह इतनी कृशा हो गयी कि वह अँगूठी अब जपमाला की तरह लटक गयी। यहाँ अँगूठी रूप आधेय की सूक्ष्मता से, आधार अंगुली को कृशतम बना दिया गया है। दूसरे उदाहरण में मृणाल सूत्र मध्यदेश से सूक्ष्म है। तात्पर्य है कि कटिभाग स्वयं सूक्ष्म है। उससे भी सूक्ष्म होने से मृणाल सूत्र की सूक्ष्मता का आधिक्य हुआ। वह भी स्तन युगल के मध्य नहीं आ सकता है। तात्पर्य है कि मृणाल सूत्र का आधार स्तन युगल मध्यभाग इतना सूक्ष्म है कि मृणाल सूत्र का उसमें समा पाना असंभव है। यहाँ आधेय मृणाल सूत्र की सूक्ष्मता कटि से भी सूक्ष्म होने से प्रतीत होता है, तथा मृणाल सूत्र के भी नहीं समा पाने से स्तन युगल के मध्य भाग की और सूक्ष्मता द्योतित हो रही है। यहाँ सूक्ष्म आधेय से ही आधार की सूक्ष्मता दिखाने से अल्पालङ्कार है।

इस अलंकार को अन्य आलङ्कारिक नहीं मानते हैं।

४३ - अन्योन्यालङ्कारः

अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया ॥ ९४ ॥

यथा वा-

यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः।
तथा प्रपायालिकापि धारां वितनुते तनुम् ॥

अत्र प्रपालिकायाः पथिकेन स्वासक्त्या पानीयदानव्याजेन बहुकालं स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्या विरलाङ्गुलिकरणतश्चिरं पानीय दानानुवृत्ति सम्पादनेनोपकारः कृतः। तथा प्रपालिकयापि पानीयपानव्याजेन चिरं स्वमुखावलोकनमभिलषतः पथिकस्य धारतनूकरणतश्चिरं पानीवपानानुवृत्ति सम्पादनेनोपकारः कृतः। अत्रोभयोर्व्यापाराभ्यां स्वस्वोपकारसद्भावेऽपि परस्परोपकारो न निवार्यते॥

जहाँ दो वर्णनीय, परस्पर एक दूसरे का उपकार करता है, वहाँ अन्योन्य नामक अलङ्कार होता है। जैसे- रात्रि चांद में शोभा पाती है, और चाँद रात्रि से शोभा पाता है। जैसे दूसरा उदाहरण-

कोई पथिक अपनी आँख को ऊपर उठाकर हाथ की अंगूलियों को पृथक्-पृथक् करके पानी पीता है। प्याऊ पर पानी पिलाने वाली भी जलधारा को मन्द कर देती है।

यहाँ पथिक अपनी आसक्ति से जलदान के व्याज से अपने मुख को दिखाने की इच्छा रखने वाली प्रपालिका (पानी पिलाने वाली) का अंगूली खोलकर चिरकाल तक पानी दान की अनुवृत्ति के सम्पादन से उपकार करता है तथा प्रपालिका भी पीने वाले के द्वारा पानी पीने के बहाने मुख देखने की इच्छा वाले पथिक का धारामन्दीकरण से चिरकाल तक पानी पीने का अवसर देकर उपकार करती है। यहाँ दोनों के व्यापार से अपने-अपने उपकार का सम्पादन करने से भी एक दूसरे का उपकार कर ही रहा है।

यहाँ कारिकागत उदाहरण तो स्पष्ट है कि रात्रि से चाँद का उपकार और चाँद से रात्रि का उपकार होता है। बिना चाँद के रात्रि अच्छी नहीं लगती और बिना रात्रि के चाँद का कोई सौन्दर्य नहीं। अतः परस्पर उपकार करने से अन्योन्य अलंकार है। दूसरे उदाहरणों को इस तरह समझा जाये। किसी प्याऊ (जल पिलाने वाले स्थान) पर कोई पथिक आता है। वह पानी पीने के लिए अपना हाथ जोड़ता है। वहाँ पानी पिलाने वाली एक सुन्दरी है।

पथिक उस सुन्दरी का मुँह देर तक देखना चाहता है, इसलिए आँख ऊपर किए अपनी अंगुली को अलग-अलग कर देता है ताकि पानी नीचे गिरता रहे और मैं इसी बहाने मुख देखता रहूँ। इस बात को वह सुन्दरी भी समझ जाती है। वह भी चाहती है कि यह पथिक यूँ ही पानी पीता रहे और मैं पिलाती रहूँ, तो वह भी जलधारा को और मन्द कर देती है ताकि चिरकाल तक ऐसी ही अवस्था बनी रहे।

यहाँ नायिका भी अपना मुँह दिखाना चाहती है। पथिक ने अंगूली छितराकर नायिका का उपकार किया। यदि वह अंगूली नहीं छितराता तो जल्दी पानी पी जाता तो नायिका की मुँह देखने की इच्छा पूरी नहीं होती। उधर नायक को नायिका का मुँह देखने की इच्छा है। नायिका पानी की धारा इसलिए मन्द कर देती है ताकि मन्द धारा होने से पानी कम गिरेगा और इसकी प्यास चिरकाल तक नहीं बुझेगी और यह अपनी इच्छा पूर्ति करता रहेगा। इस तरह नायिका पथिक का उपकार करती है। परस्पर उपकार करने से अन्योन्य अलंकार है।

पं. राज यहाँ परस्पर उपकार नहीं मानते। अपितु पथिक और पानी पिलाने वाली अपनी स्वार्थसिद्धि में हैं, यही उनका सार है। यह तथ्य सही भी है। तथापि ऊपर की व्याख्या के अनुसार परस्पर उपकार होता ही है। पं. राज के मत में "नायिका अपना मुँह दिखाना चाहती है तथा पथिक मेरा मुंह देखना चाहता है यह बात पानी पिलाने वाली जानती है" नहीं माना जाएगा। यदि ऐसा माना जाएगा, तब तो परस्पर उपकार होगा ही और यह अलङ्कार होगा ही।

४४ - विशेषालङ्कारः

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेय वर्णनम्।
गतेऽपि सूर्ये दीपस्थास्तमश्छिन्दन्ति तत्कराः॥ 99॥

यथा वा-

कमलमनम्भसि कमले कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमार सुभगेत्युत्पात परम्परा केयम्॥

अत्राद्ये सूर्यस्य प्रसिद्धाधारस्याभावेऽपि तत्कराणामन्यत्रावस्थितिरुक्ता। द्वितीये त्वमीसः प्रसिद्धाधारस्याभावेऽपि कमल कुवलययोरन्यत्रावस्थितिरुक्ता। क्वचित्प्रसिद्धाधार रहितानामाधारान्तर निर्देशं विनैवाप्रलयमवस्थितेवर्णनं दृश्यते। यथा वा- (रूद्रय.)

दिवमप्युपयाता नामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः॥

अत्र कवीनामभावेऽपि तद्गिरामाधारान्तरनिर्देशं विनैवाप्रलयमवस्थितिर्वर्णिता॥

प्रसिद्ध आधार के बिना भी आधेय का वर्णन होने से विशेषालङ्कार होता है। जैसे- सूर्य के अस्त हो जाने पर भी उसकी किरणें दीप में स्थित होकर अंधकार को दूर किया करती हैं।

जैसे दूसरा उदाहरण-

बिना जल के कमल है, कमल में दो कुवलय हैं, ये तीनों सोने की लतिका में हैं। वह (कनक लतिका) भी सुकुमार और सुन्दर है। पता नहीं यह कैसी उत्पात परम्परा है।

यहाँ पहले उदाहरण में सूर्य रूप प्रसिद्ध आधार के अभाव में भी उनकी किरणों की स्थिति अन्यत्र बतायी गयी है। दूसरे उदाहरण में जल रूप प्रसिद्ध आधार के अभाव में भी कमल और कुवलय की अन्यत्र स्थिति बतायी गई है। कहीं-कहीं प्रसिद्ध आधार रहित आधेय का अन्य आधार के निर्देश के बिना ही आप्रलय स्थिति का वर्णन हो जाता है। जैसे-

जो स्वर्ग को चले गए हैं और प्रलयपर्यन्त जिनका गुण वर्तमान है तथा जिनकी वाणी सम्पूर्ण जगंत को आह्लादित किया करती है; क्या वे कवि लोग वन्दनीय नहीं है ? अर्थात निश्चित वे वन्दनीय हैं।

यहाँ कारिकागत उदाहरण में किरण को सूरज के अभाव में भी बताया गया है। सूर्य आधार है और किरण आधेय। आधार के बिना आधेय नहीं टिकता। पर यहाँ है, अतः विशेषालंकार है। दूसरे उदाहरण में बिना जल के कमल और कुवलय का वर्णन है। जल

आधार है और कमल कुवलय आधेय। इस श्लोक में नायिका का वर्णन होने से तथा क्रमशः कमल, कुवलय, कनकलतिका से मुख नेत्र- देहयष्टि के अध्यवसित हो जाने से अतिशयोक्ति अलंकार भी है। नायिका का शरीर कोमल सुन्दर कनकलतिका है। कमल मुख है और कुवलय युगल नेत्र हैं। इन दोनों उदाहरणों में प्रसिद्ध आधार के अभाव में किसी अन्य को आधार बना दिया गया है। पर ऐसा भी होता है कि किसी नए आधार की कल्पना भी नहीं होती। जैसे तीसरे उदारहण में कवि आधार है और वाणी आधेय। पर कवि रूप आधार के खत्म हो जाने पर बिना किसी को आधार बनाए वाणी रूप आधेय की स्थिति आप्रलय है। जबकि उपर वाले दोनों उदाहरणों में क्रमशः दीप और कनकलतिका को आधार बना दिया गया है।

अब विशेष अलङ्कार के दूसरे प्रकार का निरूपण आगे किया जाता है।

विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते।
अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव में॥ 100॥

यथा वा-

हृदयान्नापयातोऽसि दिक्षुसर्वासु दृश्यसे।
वत्स राम! गतोऽसीति सन्तापेनानुमीयसे॥

यदि एक वस्तु का ही अनेक स्थानों पर वर्णन होता है तो विशेष प्रकार का एक प्रकार होता है। जैसे- बाहर, भीतर, आगे, पीछे, सभी दिशाओं में वही है।

जैसे - दूसरा उदाहरण-

हे वत्स राम! तुम मेरे हृदय से नहीं हटते हो, सभी दिशाओं में तुम्हीं दीख पड़ते हो, संताप से ही यह अनुमान होता है कि तुम चले गए हो।

यहाँ दशरथ की उक्ति राम के प्रति है। राम हृदय में तथा सभी दिशाओं में, दीख पड़ने से एक राम का अनेक स्थान पर वर्णन होने से विशेष अलङ्कार है। कारिकार्द्धगत उदाहरण में भी यही बात है। अब इस विशेष के तीसरे प्रकार का निरूपण किया जाता है।

किञ्चिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तर कृतिश्च सः।
त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्ष निरीक्षणम्॥ 101॥

यथा वा-

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजतानवद्यविद्यम्।
विधिना ससृजे नवोमनोभूर्भुवि सत्यं सविता वृहस्पति॥

अत्राद्ये राजदर्शनारम्भेण कल्पवृक्षदर्शनरूपाशक्यवस्त्वन्तरकृतिः। द्वितीये राजसृष्ट्यारम्भेण मनोभ्वादिसृष्टिरूपाऽशक्यवस्तवन्तरकृतिः॥

जहाँ किसी वस्तु के आरम्भ से अशक्य वस्त्वन्तर का वर्णन किया जाता है, वहाँ विशेष का तीसरा प्रकार होता है। जैसे- तुमको देखते हुए मैंने कल्पवृक्ष का दर्शन कर लिया।

जैसे - दूसरा उदाहरण -

सुन्दर रूप, ज़लता प्रताप तथा अनवद्यविद्या से युक्त तुम्हें बनाते हुए विधाता ने नए कामदेव, सूर्य और बृहस्पति की रचना की।

यहाँ पहले उदाहरण में राजदर्शन के आरम्भ से कल्पवृक्ष दर्शन रूप अशक्य वस्त्वन्तर की रचना है। दूसरे उदाहरण में राजा की सृष्टि के आरम्भ में मनोभव, सूर्य तथा बृहस्पति की रचना रूप अशक्य वस्त्वन्तर की रचना की गयी है।

यहाँ एक वस्तु का वर्णन होता है। परञ्च उसी वर्णन से एक ऐसे अन्य वस्तु की रचना होती है, जो असंभव होता है। जैसे राजा को देखने से कल्पवृक्ष देखने का वर्णन। यहाँ राजा वर्णनीय है। इससे कल्पवृक्ष देखने का वर्णन हो गया है, जो असंभव है। कल्पवृक्ष का दर्शन ऐसे नहीं हो सकता। राजा 'कल्पवृक्षवत् है, यह भाव है। उसी तरह दूसरे उदाहरण में भी राजा की सुन्दरता, प्रताप और विद्या से असंभव कृति कामदेव, सूर्य और बृहस्पति की रचना की गयी है। इस तरह संभव वस्तु के वर्णन क्रम से असंभव वस्तु की रचना होने से विशेष का यह तीसरा भेद होता है।'

आचार्य विश्वनाथ ने भी तीन प्रकार माना है-

यदाधेयमनाधारमेकं चानेक गोचरम्।

किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा।
कार्यस्य कारणं दैवात् विशेषस्त्रिविधस्ततः॥

पं. राज के तीसरे प्रकार में थोड़ा तोड़-मरोड़ किया है।

४५ - व्याघातालङ्कारः

स्याद्व्याघातोऽन्यथाकारि तथाऽकारि क्रियेत् चेत्।
यैर्जगत्प्रीयते, हन्ति तैरेव कुसुमायुधः॥ 102॥

यद् यत् साधनत्वेन लोकोऽवगतं तत् केनचित्तद्विरुद्ध साधनं क्रियेत् चेत्स व्याघातः। यद्वा-यत्, साधनतया केनचिदुपात्तं तदन्येन तत्प्रतिद्वन्द्विना तद्विरुद्धसाधनं क्रियेत् चेत्सोऽपि व्याघातः। तत्राद्य उदाहृतः।

द्वितीयो यथा- (विद्ध. भ.)

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः॥

जहाँ कोई कारण किसी कार्य विशेष के लिए होने पर भी तद्विरुद्ध कार्य को सम्पन्न करता है, तो वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है। जैसे- जिससे (फूल से) संसार प्रसन्न होता है, उसी से कामदेव मारता है।

जो कारण जिस कार्य के लिए लोक में ज्ञात है वह कारण यदि तद्विरुद्ध कार्य को करता है, तो व्याघात होता है तथा जहाँ किसी कार्य के लिए कोई साधन अभीष्ट है। उसी कारण से या उसकी प्रतिद्वन्द्वी से तद्विरुद्ध साधन किया जाता है तो वहाँ भी व्याघात होता है। पहले का उदाहरण कारिकार्द्ध में दिया गया है। दूसरे का उदाहरण-

आँख से जलाए गए कामदेव को जो आँख से ही जिलाती है। शंकर को जीतने वाली ऐसी वामलोचनाओं को नमन करता हूँ। स्तुति करता हूँ।

यहाँ पहले उदाहरण में यह दिखाया गया है कि जो फूल संसार की प्रसन्नता का कारण है, वही कामदेव के लिए अस्त्र बन जाता है। अर्थात् हर्ष के कारण से संताप

(विरुद्ध) कार्य की सिद्धि होती है। दूसरे उदाहरण में शंकर की आँखें कामदेव को जलाने का कारण है उस आँख की प्रतिद्वन्द्वी सुन्दरी की आँखें उसी कामदेव को जिलाने का कारण बन गई है। अत: यहाँ व्याघात है। दोनों में इतना अन्तर है कि पहले में फूल स्वयं हर्ष कारण है और तद्विरूद्ध संताप में सिद्ध होता है। दूसरे में शंकर के आँख को जलाने का कारण बनाया गया है, और सुन्दरी की आँखों को जिलाने का कारण।

सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी।
दया चेद् वाल इति मय्यपरित्याज्य एव ते॥ 103॥

कार्यविशेष निष्पादकतया केनचित् सम्भाव्यमनार्थादन्ते कार्यविरोधिक्रिया सौकर्येण समर्थ्यते चेत् सोऽपि व्याघातः। कार्यविरुद्ध क्रियायां सौकर्यं कारणस्य सुतरां तदानुगुण्यम्। यथा जैत्रयात्रोन्मुखेन राजा युवराजस्य राज्य एव स्थापने यत्कारणत्वेन सम्भावितं वाल्यं तत्प्रत्युत तद्विरुद्धस्य सहनयनस्यैव कारणतया युवराजेन परित्यागस्यायुक्तत्वं दर्शयता समर्थ्यते। यथा वा-

लुब्धो न विसृजत्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया।
दातापि विसृजत्यर्थं तयैव ननु शङ्कया॥

अत्र पूर्वोत्तरार्द्धे पक्षप्रतिपक्षरूपे कयोश्चिद् चने इति लक्षणानुगतिः॥

जहाँ कोई क्रिया कार्यानुकूल होने पर भी इस तरह निबद्ध किया जाये ताकि वह उसी कार्य को विरोध हो जाये तो वहाँ भी व्याघात होता है। जैसे- मुझ पर यदि 'वच्चा' कहकर दया करते हैं, तो निश्चित ही मैं अपरित्याज्य हूँ।

कार्यविशेष की निष्पादकता के कारण किसी के द्वारा सम्भाव्यमान अर्थ किसी अन्य के द्वारा तत्कार्य विरोध में उस क्रिया के अनुकूल होने का समर्थन करता है, तो वहाँ व्याघात होता है। कार्य विरूद्ध क्रिया में सौन्दर्य का तात्पर्य है कि कारण उस क्रिया के अनुकूल हो जाये। जैसे विजय यात्रा में उन्मुख राजा के द्वारा युवराज का राज्य में रखने का कारण वाल्यकाल बताया गया है, वही (वाल्यकाल) तद्विरुद्ध सह गमन का कारण बन जाता है, जो युवराज के त्याग के अनुपयुक्त हो जाता है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

लोभी आदमी दरिद्र होने की आशङ्का से धन को नही छोड़ता और दाता भी उसी शङ्का से धन को छोड़ता है।

यहाँ उदाहरण विश्लेषणीय है। एक कारण को जब एक वक्ता किसी कार्य के अनुकूल बताता है तो उस कारण से अनुकूल कार्य सिद्ध करना चाहता है। वहीं दूसरा वक्ता पूर्व समर्थित कारण को ही पूर्व समर्थित कार्य के विरुद्ध बना देता है तब व्याघात होता है जैसे- विजय यात्रा में प्रस्थित राजा युवराज को राज्य में छोड़ना चाहता है क्योंकि वह बच्चा है। पर वह बच्चा लड़ाई में जाना चाहता है। तो यहाँ राजा कहता है कि तुम बच्चा हो अतः नहीं जाओ। बच्चे का युद्ध में जाना उचित नहीं है। यहाँ 'बच्चा होना' साथ नही जाने का कारण है। पर युवराज कहता है कि यदि मैं बच्चा हूँ तब तो आप को मुझे अकेला यहाँ (राज्य में) नहीं छोड़ना चाहिए। अब वही बच्चापन साथ जाने का कारण बन गया। अतः व्याघात हुआ तथा दूसरे उदाहरण में लोभी धन को इसलिए नहीं छोड़ता कि धन छोड़ने से वह गरीब हो जाएगा। अतः धन छोड़ना गरीब होने का कारण है। तथा दाता इसलिए धन छोड़ता है (दान देता है) ताकि वह (दानभोक्ता) गरीब न हो। यहाँ धन छोड़ना गरीब न होने का कारण हो गया।

पं. राज जगन्नाथ ने इसका खण्डन किया है। वे कहते हैं कि दाता अगले जन्म में अपनी गरीबी मिटाने के लिए दान करता है। अतः लोभी का धन न छोड़ना अपनी गरीबी हटाने का कारण है और दाता का धन छोड़ना अपनी गरीबी मिटाने का कारण है। अतः दोनों कारण विरोधी कार्य का नहीं है, अतः व्याघात नहीं। परञ्च उपर की व्याख्या से स्पष्ट है कि दोनों कार्य (विरोधी कार्य) को एक ही कारण पृथक्-पृथक् आदमी के द्वारा सम्पादित किया जाता है। अतः व्याघात है।

४६ - कारणमालालङ्कारः

गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः।
नयने श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः ॥ 104 ॥

उत्तरोत्तर कारणभूतपूर्वपूर्वैः पूर्वपूर्व करण भूतोत्तरोत्तरैर्वा वस्तुभिः कृतो गुम्फः कारणमाला। तत्राद्योदाहृता।

द्वितीया यथा-

भवन्ति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्यसम्भवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन तस्मात् दानपरोभवेत्॥ 104॥

जहाँ पूर्व-पूर्व पद उत्तरोत्तर पद के कारण रूप में गुम्फित होता है। वहाँ कारणमाला होती है। जैसे- नीति से लक्ष्मी, लक्ष्मी से त्याग और त्याग से विपुल यश होता है।

पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तर कारणभूत या उत्तरोत्तर का पूर्व-पूर्व कारणभूत पदों का गुम्फन होता है, वहाँ कारणमाला होती है। एक (पूर्व-पूर्व पद उत्तरोत्तर का कारण) का उदाहरण दिया गया। दूसरे उदाहरण जैसे-

नरक पाप से होता है, पाप दरिद्रता से होता है, दरिद्रता दान न देने से होती है इसलिए दान देना चाहिए।

यहाँ कारण और कार्य का उत्तरोत्तर गुम्फन होता है। (1) पूर्व-पूर्व पद का उत्तरोत्तर कारण (2) उत्तरोत्तर कार्य का पूर्व-पूर्व कारण।

पहले उदाहरण में नीति से लक्ष्मी, लक्ष्मी से त्याग, त्याग से विपुल यश में पूर्व-पूर्व पद उत्तरोत्तर का कारण है। नीति लक्ष्मी का, लक्ष्मी त्याग का, त्याग यश का कारण है। दूसरे उदाहरण में उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व का कारण है। नरक का पाप, पाप का दारिद्रय, दारिद्रय का अदान कारण है।

आचार्य विश्वनाथ ने एक भेद को ही माना है। यथा परं परं प्रति यदा पूर्व पूर्वस्य हेतुता। तदा कारणमाला स्यात्।

47. एकावल्यलङ्कारः

गृहीतमुक्तरीत्यार्थ श्रेणिरेकावलिर्मत।
नेत्रे कर्णान्त विश्रान्ते कर्णौ दोः स्तम्भदोलितौ॥ १०५॥
दोः स्तम्भौ जानुपर्यन्तप्रलम्बनमनोहरौ।
जानुनो रत्नमुकुराकारे तस्य हि भूभुजः॥ १०६॥

उत्तरोत्तरस्य पूर्व पूर्वविशेषाणभावः पूर्व पूर्वस्योत्तरोत्तर-विशेषणभावों वा गृहीतमुक्तरीतिः। तत्राद्यः प्रकारः उदाहृतः।

दिक्कालात्मसमैव यस्यविभुता यस्तत्रविद्योतते
यत्रामुष्य सुधी भवन्ति किरणा राशेः स यासामभूत्।
यस्तत्पित्तमुषःसु योऽस्य हविषे यस्तस्य जीवातवे
वोढा यद्गुणमेष मन्मथरिपोस्ताः पान्तु वो मूर्तयः॥ १०५-१०६॥

जहाँ मुक्त रीति से अर्थ श्रेणी का ग्रहण होता है। वहाँ एकावली अलंकार होता है। जैसे- इस राजा की दोनों आँखें कान तक लम्बी हैं, दोनों कान बाहुद्वय के स्तम्भ से दोलित है, दो बाहू जानुपर्यन्त लम्बे तथा सुन्दर हैं और जानु रत्न के दर्पण के सदृश हैं।

उत्तरोत्तर के पूर्व-पूर्व के विशेषण भाव होने पर या पूर्व-पूर्व के उत्तरोत्तर के विशेषण भाव होने पर मुक्त रीति कहलाता है। पहला प्रकार उदहृत हुआ। दूसरा प्रकार जैसे- मन्मथरिपु (शङ्कर) की वे मूर्तियाँ आपकी रक्षा करें। जिसकी दिशा तथा काल के समान विभुता है (आकाश) जो उसमें (आकाश में) चमकता है (सूर्य) जिसमें इसकी (सूर्य की) किरणें शीतल हो जाती हैं (चाँद) जिस राशि में इसका (चाँद) जन्म हुआ (जल) जो इसका (जल का) पित्त है (आग) प्रातः काल में जो इसे (आग का) हविष देता है (यजमान) जो उसके (यजमान के) जीवन के लिए है (वायु) और जिसके गुण को यह (वायु) बहाकर ले जाती है (पृथ्वी)।

जहाँ पूर्व-पूर्व पर उत्तरोत्तर का विशेषण होता है या उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व का विशेषण होता है, वहाँ एकावली अलङ्कार होता है। कारण माला में पूर्व-पूर्व या उत्तरोत्तर कारणता होती है और एकावली में पूर्व-पूर्व या उत्तरोत्तर विशेषता होती है। पहले उदाहरण में- आंख कान तक लम्बा, कान हाथ से आन्दोलित, हाथ घुटने तक लम्बा, घुटना रत्न दर्पण सम सुन्दर। इसमें पूर्व-पूर्व पद उत्तरोत्तर को विशेषण बन जाता है। दूसरे में उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व का विशेषण है।

विश्वनाथ के एकावली के लक्षण में कहा गया है कि पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर विशेषण स्थापित किया जाये या हटाया जाये तो एकावली होती है। यथा-

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेतस्यात्तदैकावली द्विधा॥

४८. मालादीपकालङ्कारः

दीपकैकावली योगान्मालादीपकमिष्यते।
स्मरेण हृदये तस्यास्तने त्वयि कृता स्थितिः॥ १०७॥

अत्र स्थितिरितिपदमेकं, स्मरेण तस्याः हृदये स्थितिः कृता, तेन तस्य हृदयेन त्वयि स्थितिः कृतेत्येवं वाक्यद्वयान्वयि। अतो दीपकम्, गृहीत मुक्तरीति सद्भावादेकावली चेति दीपकैकावलीयोगः।

यथा वा-

सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः, शरैररिशिरस्तेनापि भूमंडलं,
तेन त्वं, भवता च कीर्तिरतुला, कीर्त्या च लोकत्रयम्॥

अत्र येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् 'इति संक्षेप वाक्यस्थितिमेकं' 'समासादितम्' इति पदं 'कोदण्डेन शराः' इत्यादिषु षट्स्वापि विवरणवाक्येषु तत्तदुचितलिङ्गवचन विपरिणामेनान्वेतीति दीपकम्। शरादीनामुत्तरोत्तर विशेषणभावादेकावली चेति दीपकैकावलीयोगः।

दीपक और एकावली अलङ्कार का योग होने पर माला दीपक कहलाता है। जैसे- स्मर (कामदेव) ने उसके (नायिका के) हृदय में, और उसने तुम्हारे हृदय में स्थान बनाया।

यहाँ 'स्थिति' एक पद है। कामदेव ने उसके हृदय में स्थान बनाया, इसके द्वारा उसके हृदय में तुझमें स्थिति बनाई। इस तरह 'स्थिति' पद दो वाक्यों में अन्वित होता है, अत: दीपक है तथा मुक्त रीति से ग्रहण होने से एकावली होने से दीपक और एकावली का योग है। जैसे दूसरा उदाहरण-

संग्राम रूप आँगन में जब आपने धनुष पर तीर चढ़ा लिया तो हे देव! जिस जिसके द्वारा जो-जो प्राप्त किया गया वह सुनें। धनुष ने बाण को, बाण ने दुश्मन के शिर को, शिर ने धरती को, धरती ने आपको, आपने कीर्ति को, कीर्ति ने तीनों लोकों को प्राप्त किया।

यहाँ 'जिस-जिस ने जो-जो प्राप्त किया' इस संक्षेप वाक्य में स्थिति एक ''समासादितम्'' यह पद 'कादण्डेन शराः' इत्यादि में छह विवरण वाक्यों में तदर्थ उचित लिंग वचन और विपरिणाम से अन्वित होता है, अतः दीपक है। बाण आदि का उत्तरोत्तर विशेषणभाव होने से एकावली है। अतः दोनों के योग से मालादीपक है।

यहाँ दो अलंकारों (दीपक और एकावली) का योग है। परञ्च चमत्कार वैशिष्ट्य के कारण ही तीसरा अलंकार माना गया है। रसिकरञ्जनीकार ने यह बात स्पष्ट की है। पहले उदाहरण में 'स्थिति' पद नायक और नायिका के हृदय में क्रमशः अन्वित होने से दीपक है। कामदेव पहले नायिका के हृदय में अपनी स्थिति बनाता है, फिर नायिका के नायक के हृदय में आने पर कामदेव नायक के हृदय में स्थिति बना लेता है तथा एक स्थान का परित्याग दूसरे का ग्रहण रूप मुक्तरीति से एकावली है। इसी तरह दूसरे उदाहरण में 'समासादितम्' पद वार शरादि के साथ अन्वित होता है। अर्थात, बाण को धनुष न पाया, बाण ने रिपु के शरि को पाया आदि......। तथा धनुष बाण रिपुशिर धरती आप कीर्ति समूह त्रिलोक, परस्पर उत्तरोत्तर का विशेषण होने से एकावली है।

पं. राज जगन्नाथ इसे एकावली में ही गतार्थ मानते हैं। यहाँ 'समासादितम्' पद हरेक जगह इसी रूप में नहीं अपितु लिंग वचन के भेद से अन्वित होता है, अतः दीपक नहीं है। लिंग वचन के भेद से अन्वित होता है, यह तो दीक्षित जी ने कह ही दिया है। लेकिन भाव सबका ग्रहण करना ही है। यह तो दीक्षित जी ने कह ही दिया है। लेकिन भाव सबका ग्रहण करना ही है। अतः दीक्षित जी दीपक मानकर मालादीपक मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी यह श्लोक मालादीपक के उदाहरण में उदाहृत किया है। लेकिन लक्षण में थोड़ा बदलाव किया है यथा- मालादीपकं पुनः।

धर्मिणामेधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम्॥

४९. सारालङ्कारः

उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।
मधु मधुरं तस्माच्च सुधा तस्याः कवेर्वचः॥ १०८॥

यथा वा-

अन्तर्विष्णोस्त्रिलोकी निवसति फणिनामीश्वरे सोऽपिशेते,
सिन्धोः सोऽप्येकदेशे, तमपि चुलुकयां कुम्भयोनिश्चकार।
धत्ते खद्योतलीलामयमपि नभसि, श्री नृसिंह क्षितीन्द्र!
त्वत्कीर्तेः कर्णनीलोत्पलमिदमपि च प्रेक्षणीयं विभाति॥

यं श्लाघ्यगुणोत्कर्षः।

अश्लाघ्यगुणोत्कर्षो यथा-

तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि स याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति॥

उभयरूपो यथा-

गिरिर्महान्गिरेरब्धिर्महानब्धेर्नभो महत्।
नभसोऽपि महद्ब्रह्म ततोऽप्याशा गरीयसी॥

अत्र ब्रह पर्यन्तेषु महत्त्वं श्लाघ्यगुणः। प्रकृतार्थाशायामश्लाघ्यगुणः॥

अनेक पदार्थों में जब उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया जाता है तब सार अलंकार होता है। जैसे- मधु (शहद)मीठा होता है। शहद से मीठा सुधा (अमृत) है और अमृत से मीठा कविवचन है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

भगवान् विष्णु के अन्तः (उदर) में यह तीनों लोक वास करते हैं, वह भगवान् विष्णु फणीश्वर (शेषनाग) पर सोते हैं। वह शेषनाग सागर के एक भाग में रहता है। उस सागर को भी अगस्त्य ने चुलुक में ले लिया। वो अगस्त्य भी आकश में जुगनू की तरह टिमटिमाता है। हे नृसिंहक्षितीन्द्र! वह आकाश आपकी कीर्ति के कान के उत्पल-सा प्रतीत होता है।

यह श्लाघ्य गुणों का उत्कर्ष है। अश्लाघ्य गुणों का उत्कर्ष। जैसे- ऋण से लघु रुई है, रुई से भी लघु (हल्का) याचक है। वायु इसे (याचक को) इसलिए नहीं उड़ाता कि कहीं इमसें कुछ मांगने न लगे।

उभयरूप का उदाहरण जैसे-

पर्वत महान् है, पर्वत से सागर, सागर से आकाश, आकाश से भी ब्रह्म और ब्रह्म से भी आशा बड़ी है।

यहाँ ब्रह्म पर्यन्त श्लाघ्यगुण का उत्कर्ष है। किन्तु प्रकृत धनाशा (धन लोलुपता) की महत्ता को सर्वश्रेष्ठ बताना अश्लाघ्य है। अतः यहाँ श्लाघ्य तथा अश्लाघ्य दोनों का समागम है।

इस तरह का सारालंकार तीन तरह का हुआ। (1) श्लाघ्य गुणों का उत्कर्ष (2) अश्लाघ्य गुणों का उत्कर्ष (3) श्लाघ्य या अश्लाघ्य उभयविध उत्कर्ष। तीनों का उदाहरण स्पष्ट ही है। 'अन्तस्त्रिलोकी' वाले उदाहरण में त्रिलोक के पेट में समा जाने से विष्णु त्रिलोक से बड़े हैं। इसी तरह देखते जाएँ तो अन्त में राजा की कीर्ति सबसे बड़ी हो जाती है। राजा की कीर्ति के उत्कर्ष से राजा का उत्कर्ष व्यञ्जित हो रहा है।

५०. यथासंख्यालङ्कारः

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।
शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय॥ १०९॥

यथा वा-

शरणं किं प्रपन्नानि विषवन्मारयन्ति वा ?
न त्यज्यन्ते न भुज्यन्ते कृपणेन धनानि यत्॥

अमुं क्रमालङ्कार इति केचित्व्याजह्रुः॥ १०९॥

जहाँ क्रमिक प्रयुक्त कारकों का क्रमिक प्रयुक्त क्रियाओं के साथ क्रमशः अन्वय होता है, वहाँ यथासंख्य अलंङ्कार होता है। जैसे- शत्रु, मित्र और विपत्ति को जीतो, प्रसन्न करो और भङ्ग करो।

जैसे दूसरा उदाहरण–

क्या शरण में आ गए हैं या विष की तरह मार देते हैं, जो कंजूस लोग धन को न छोड़ते हैं, न उपभोग करते हैं।

इस क्रम को कुछ आलङ्कारिक क्रमालङ्कार भी कहते हैं।

इस अलङ्कार में क्रमशः प्रयुक्त कारक या क्रिया को क्रमशः प्रयुक्त कारक या क्रिया के साथ क्रमशः अन्वय हो जाता है। जैसे पहले उदाहरण में कारक– शत्रु, मित्र, विपत्ति क्रमशः है तथा क्रिया, जय, रञ्जय, भञ्जय है। इनको क्रमशः अन्वय करने पर अर्थ आता है। शत्रु को जीतो, मित्र को प्रसन्न करो, शत्रु को तोड़ो। उसी तरह दूसरे उदाहरण में कञ्जूस धन को न भोगता है न छोड़ता है, इस दोनों क्रियाओं का अन्वय विषवत् मारता है और शरणागत है इन दोनों के साथ होता है। शरणागत को कोई हटाता नही हैं और जो विष की तरह मूर्च्छित कर देगा तो फिर उसका उपभोग कैसे करेगा।

५१. पर्यायालङ्कारः

पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः।
पद्मंमुक्त्वा गता चन्द्रं कामिनी वदनोपमा॥ ११०॥

अत्रैकस्य कामिनीवदनसादृश्यस्य क्रमेण पद्मचन्द्र रूपानेकाधारसंश्रयणं पर्यायः। यद्यपि पद्मसंश्रयणं कण्ठतो नोक्तं तथापि पद्म मुक्त्वा इति तत्परित्यागोक्त्या प्राक्तत्संश्रयाक्षेपेण पर्याय निर्वाहः। अत एव (बालभारते)।

श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम्।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं तु वक्त्रं
तद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन॥

इत्यत्र पर्यायं काव्यप्रकाशकृदुदाजहार।

क्रमशः यदि एक पदार्थ का अनेक पदार्थों के साथ सम्बन्ध वर्णित किया जाता है, तब पर्यायालङ्कार होता है। जैसे कामिनी के वदन की उपमा कमल को छोड़कर चन्द्रमा में चली गई।

यहाँ एक कामिनी वदन की सदृशता का क्रमाशः कमल तथा चन्द्र रूप भिन्नाधार में संश्रयण होने से पर्याय है। यद्यपि पद्म में आश्रय था यह शब्द से नहीं कहा गया है तथापि पद्म को छोड़कर इस परित्याग की उक्ति से पहले संश्रय का आक्षेप होने से पर्याय है। इसलिए आगे का श्लोक मम्मट ने पर्याय में उदाहरण के रूप में रखा है।

श्रोणीवन्ध (जघनस्थल) अपनी तनुता (पतलापन) छोड़ रहा है, तथा मध्य भाग तनुता का सेवन कर रहा है। चञ्चल गति पैर से छूटकर आँखों में आश्रय ग्रहण कर चुकी है। वक्षस्थल कुच का मन्त्रित्व धारण कर रहा है। मुख अद्वितीयता को धारण कर रहा है। इसके (नायिका के) शरीर के गुण का विनिमय (हेराफेरी) यौवन ने कर दिया है।

यहाँ कारिका वाले उदाहरण में वदन की उपमा पहले कमल में थी अब चाँद में चली गई। इस तरह उपमा का कमल और चन्द्र दोनों के साथ सम्बन्ध है। परञ्च जब वह कमल को छोड़ रहा है तो इसका तात्पर्य है कि पहले वहाँ था। यदि था नहीं तो छोड़ कैसे रहा है ? दूसरे श्लोक में नायिका बदन बचपन से जवानी में आ गया है। अतः तनुता ने जाँघ को छोड़ कमर को पकड़ लिया, यानि पहले जाँघ पतला था अब कमल पतली है और जांघ भारी हो गयी। चंचल गति ने पैर छोड़ आँख का आश्रय लिया। बचपन में चाल में चंचलता थी अब आँख में चंचलता (शृगारार्थ) आ गई है। पहले वक्षस्थल अद्वितीय (अकेला) था, जब अद्वितीयता (अकेलापन) मुख में (अलौकिक सौन्दर्य) आ गया। अकेलेपन ने वक्षस्थल को छोड़ दिया, क्योंकि अब वहाँ स्तनद्वय आ गया। इस तरह क्रमशः पतलापन, चञ्चलता, अद्वितीयता का सम्बन्ध का जाँघ और कमर पैर तथा आँख, वक्ष तथा मुख से है। अतः एक का अनेक से संबंध होने से पर्यायालंङ्कार है। यहाँ भी दोनों स्थानों पर सम्बन्ध शब्दतः नहीं का गया। शब्दतः इस जगह सम्बन्ध है दूसरी जगह व्यञ्जित हो रहा है।

अब ऐसा उदाहरण देते हैं, जहाँ दोनों तरफ सम्बन्ध शब्दतः वाच्य हो।

सर्वत्र शाब्दः पर्यायो यथा-

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट!
केनोत्तरोत्तर विशिष्टपदोपदिष्टा ?
प्रागर्णवस्य हृदये, वृषलक्ष्मणोऽथ,
कण्ठेधुनावससि, वाचि पुनः खलानाम्॥

सर्वोऽप्ययं शुद्ध पर्यायः।

सभी जगह शाब्द पर्याय का उदाहरण–

हे कालकूट! किसने तुम्हारे उत्तरोत्तर विशिष्ट पद पर आश्रयस्थिति का उपदेश किया ? पहले सागर के हृदय में, फिर शङ्कर के कण्ठ में फिर दुष्टों की जिह्वा में कर रहे हो। ये सभी शुद्ध पर्याय हैं।

यहाँ कालकूट की स्थिति सागर, शंकर का कंठ तथा दुष्ट की जिह्वा, तीनों में वाच्य हैं। हृदय के ऊपर कण्ठ और कण्ठ के ऊपर जिह्वा है। अतः उत्तरोत्तर वृद्धि का वर्णन है।

अब पर्याय के दो प्रकार संकोच और विकास का उदाहरण आगे देते हैं:–

संकोच पर्यायो यथा–

प्रायश्चरित्वा वसुधामशेषां
छायासु विश्रम्य ततस्तरूणाम्।
प्रौढिं गते सम्प्रति तीग्मभानौ
शैत्यं शनेरन्तरमापयासीत्॥

अत्र शैत्यस्योत्तरोत्तमाधार संकोचात् संकोच पर्यायः।

विकास पर्यायो यथा–

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि! दृश्यते॥

अत्र रागस्य पूर्वाधारपरित्यागेनाधारान्तरसंक्रमणमिति विकास पर्यायः॥ ११०॥

प्रायः सम्पूर्ण पृथ्वी पर विचरण करके फिर वृक्षों की छाया में विश्राम करके, अभी सूर्य के प्रखर हो जाने पर धीरे–धीरे पानी में शीतलता चली गई।

यहां शीतलता का उत्तरोत्तर आधार संकुचन हो रहा है। इससे संकोच पर्याय हुआ।

विकास पर्याय। जैसे- हे तन्वि पहले तो यह राग तुम्हारे बिम्बोष्ठ में ही था, पर अयि मृगशावाक्षि! अब यह हृदय में दीख रहा है। यहाँ राग का पहला आधार को छोड़कर दूसरे आधार में संक्रमित होने से विकास पर्याय है।

यहाँ संकोच पर्याय में विस्तार क्षेत्र का संकुचन हुआ है। शीतलता पहले (शीतऋतु में) सम्पूर्ण पृथ्वी पर थी। थोड़ी गर्मी होने पर वृक्ष की छाया में आ गई और प्रचण्ड गर्मी होने पर वह केवल पानी के अन्दर समा गई। इस तरह क्रमशः छाया के स्थान का संकुचन ही हुआ है। विकास पर्याय में राग पहले अधर में था, अब हृदय में भी आ गया। यानी क्षेत्र विस्तार हुआ है। यहाँ अधर छोड़कर हृदय में आ गया ऐसी व्याख्या उचित नहीं है, जो श्लोक के नीचे वृत्ति में दीख रही है। यह वृत्ति या तो गलत है या कुछ बदल दिया गया है। यहाँ 'पूर्वाधारा परित्यागेन' होना चाहिए। यदि नहीं तो श्लोक का अपि पद व्यर्थ हो जाएगा और अधर को छोड़कर राग के हृदय में आने पर स्थान परिवर्तन होगा विकास नहीं। इसी आधार पर पं. राज ने इस उदाहरण का खण्डन भी किया है। उनके मत में पर्याय वहाँ होता है, जहाँ एक आश्रय से संबंध हटाकर दूसरे में स्थापित किया जाता है। यहाँ राग का सम्बन्ध अधर से छूटता नहीं है, अतः पर्याय नहीं है। इसका कारण है कि पं. राज विकास पर्याय तथा संकोच पर्याय नही मानते हैं। वस्तुतः इस उदाहरण में राग का सम्बन्ध ओठ में भी है और हृदय में भी है। तभी तो 'हृदय में भी' ऐसा प्रयोग हुआ है।

अब पर्याय के दूसरे प्रकार का निरूपण करते हैं-

एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः।
अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराऽजनि॥ १११॥

यथा वा-

पुराऽभूदस्माकं प्रथममविभिन्ना तनुरियं,
ततो नु त्वं प्रेयान् वयमपि हताशाः प्रियतमाः।
इदानीं नाथस्त्वं, वयमपि कलत्रं किमपरं,
हतानां प्राणानां कुलिश कठिनानां फलमिदम्॥

अत्र दम्पत्योः प्रथममभेदः, ततः प्रेयसीप्रियतम भावः, ततो भार्यापति-भाव इत्याधेयपर्यायः ॥ १११ ॥

यदि एक पदार्थ में अनेक पदार्थों का संश्रयण दिखाया जाता है, तो वह पर्याय का दूसरा प्रकार होता है। जैसे जहाँ पहले सोता (जलधारा) थी, वहाँ अब तीर (किनारा) हो गया है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

पहले हम लोगों का यह शरीर अभिन्न था। उसके बाद आप प्रियतम हो गए और मैं प्रियतमा हो गई। इस समय तुम नाथ (मालिक) हो और हम कलत्र (पत्नी, खरीदी दासी) हूँ। यह तो कुलिश कठोर प्राण का फल है।

यहाँ दम्पती में पहले अभेद, फिर प्रेयसी प्रियतम भाव, फिर भार्यापतिभाव होने से आधेय पर्याय है।

यहाँ एक में अनेक का आश्रय होता है। जबकि पहले प्रकार में एक का अनेक में आश्रय होता है। वहाँ आधार बहुल होता है, यहाँ आधेय बहुल होता है। जैसे कारिकागत उदाहरण में एक ही स्थान में पहले धारा फिर किनारे का आश्रय है। दूसरे उदाहरण में पति-पत्नी का शरीर एक ही है पर पहले 'हम तुम एक हैं' यह भाव है, फिर प्रियप्रियतम का भाव आता है, फिर पति-पत्नी का भाव आता है। यहाँ आधार शरीर एक तथा आधेय अभिन्नभाव, प्रियप्रियतम का भाव, तथा पति-पत्नी का भाव है। अतः यहाँ पर्याय का दूसरा प्रकार है।

आचार्य विश्वनाथ ने दोनों प्रकार का मिला हुआ लक्षण किया है- यथा-

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥

इस तरह पर्याय के मूल दो प्रकार हैं। (1) अनेक में एक(2) एक में अनेक का वर्णन। प्रथम के अवान्तर भेद हैं (1) शुद्ध (2) संकोच (3) विकास। शुद्ध के शाब्द पर्याय अशाब्द पर्याय दो प्रकार हुए हैं।

(1) शुद्ध (शाब्द+अशाब्द) संकोच-विकास

(2) एक में अनेक का वर्णन।

५२. परिवृत्यलङ्कारः

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः।
जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षात्स रिपुश्रियम्॥ ११२॥

यथा वा-

तस्य च प्रवयसो जटायुषुः
स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ?
येन जर्जर कलेवर व्ययात्
क्रीतमिन्दुकिरणोज्जवलं यशः॥

न्यून या अधिक का जहाँ परस्पर आदान-प्रदान (क्रय-विक्रय) होता है, वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है। जैसे- एक बाण को छोड़कर कटाक्ष से रिपुलक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

स्वर्ग गए उस बूढ़े जटायु के बारे में क्या सोचना है ? जिसने जर्जर शरीर के व्यय से चन्द्र किरण के समान उज्जवल यश खरीद लिया है।

यहाँ पहले उदाहरण में शर के बदले कटाक्षयुक्त लक्ष्मी का ग्रहण तथा दूसरे में जर्जर शरीर के बदले उज्जवल यश का खरीदना वर्णित है। यहाँ एक के बदले, एक का ग्रहण होता है। चाहे न्यून से अधिक हो। अधिक से न्यून हो। पं. राज जगन्नाथ ने इसके चार प्रकार किए हैं।

(1) न्यून से न्यून + अधिक से अधिक (सम परिवृत्ति 2)

(2) न्यून से अधिक + अधिक से न्यून (असम परिवृत्ति 2)

साहित्यदर्पणकार ने मिला हुआ लक्षण ही किया है। यथा-

परिवृत्तिर्विनिर्मयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्॥

५३. परिसङ्ख्यालङ्कारः

परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयंत्रणम्।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु न स्वान्तेषु नतभ्रुवाम्॥ ११३॥

यथा वा-

विलङ्घयन्ति श्रुतिवर्त्म यस्यां
लीलावतीनां नयनोत्पलानि।
विभर्ति यस्यामपि वक्रिमाण-
-मेको महाकालजटार्धचन्द्रः॥

अत्राद्योदाहरणे निषेधः शाब्दः द्वितीये त्वार्थः॥ ११३॥

जहाँ एक वस्तु को एक स्थान पर निषेध कर दूसरे स्थान पर नियंत्रित किया जाये वहाँ परिसङ्ख्या अलङ्कार होता है। जैसे- दीपों से स्नेह (तेल) खत्म हो गया, नतभ्रू वनिताओं के अन्तःकरण में स्नेह खत्म नहीं हुआ है।

जैसे दूसरा उदाहरण- जिस नगरी में लीलावतियों के नेत्रकमल ही श्रुतिवर्त्य (कान के मार्ग) का उल्लङ्घन करते हैं तथा जिसमें केवल महाकाल के जटा का अर्द्धचन्द्र ही वक्रिमा को धारण करता है। पहले उदाहरण में निषेध शाब्द है और दूसरे उदाहरण में निषेध आर्थ है।

यहाँ किसी पदार्थ का एक स्थान पर अभाव तथा दूसरे स्थान पर स्थिति बताया जाता है। पहले उदाहरण में स्नेह दीपक से खत्म होता है, पर वनिताओं के अन्तःकरण से नहीं। स्नेह शब्द श्लिष्ट है। दीप अर्थ में तेल और स्वान्त पक्ष में स्नेह होता है। दूसरे उदाहरण में श्रुति-वर्त्य कान का मार्ग तथा वेद पद्धति दोनों अर्थ में है। आँख कान के मार्ग का उल्लंघन करता है और कोई वेद पद्धति का उल्लंघन नहीं करता। यह भाव है। शंकर के मस्तक का चाँद ही टेढ़ा (द्वितीया चन्द्र) है और कोई व्यक्ति हृदय से कुटिल नहीं है। यहाँ श्रुतिवर्त्य का अन्यत्र उल्लंघन तथा टेढ़ापन का अन्यत्र अभाव आर्थ (अर्थात आक्षिप्त) है, तथा पहले में निषेध एक स्थान पर नहीं होना शब्दतः ज्ञात है।

आचार्य रुय्यक ने प्रश्नपूर्विका तथा शुद्ध ये दो भेद पुनः शाब्दी आर्थी के भेद के परिसंख्या के चार भेद माना है। आचार्य विश्वनाथ ने भी प्रश्नपूर्विका तथा अप्रश्नपूर्विका (शुद्धा) ये दो भेद माने हैं। यथा-

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनोभवेत्।
तादृगन्य व्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा। परिसंख्या।

इस तरह यहाँ भी चार भेद हुए। चन्द्रालोककार का और दीक्षित जी का लक्षण एक ही है।

५४. विकल्पालङ्कारः

विरोधे तुल्यवलयोर्विकल्पालंकृतिर्मता।
सद्यः शिरांसि चापान्वा नमयन्तु महीभुजः॥ ११४॥

अत्र संधिविग्रह प्रमाण प्राप्तयोः शिरश्चावनमनयोर्युगपदुपस्थितयोर्युगपत्कर्तुमशक्ययोर्विकल्पः। यथा वा-

पतत्यविरतं वारि नृत्यन्ति च कलापिनः।
अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति॥

प्रिय समागमश्चेन्न मरणमाशंसनीयं, मरणे तु न प्रिय समागम संभव इति तयोराशंसायां विकल्पः॥ ११४॥

जहाँ दो समान बल वाले विकल्प का साथ-साथ वर्णन किया जाता है, वहाँ विकल्प अलङ्कार होता है। यह समान बल आपस में विरोधी होते हैं। जैसे- राजा लोग तुरन्त अपने शिर झुकाएँ या धनुष को झुकाएँ।

जहाँ संधि और विग्रह के प्रमाणस्वरूप शिर और चाप का नमन साथ-साथ उपस्थित हुआ है। यह दोनों साथ-साथ नहीं हो सकता। अतः दोनों में विकल्प है। (यह हो या वह)। जैसे दूसरा उदाहरण-

लगातार पानी बरस रहा है, मोर नाच रहे हैं। आज कान्त (पति) या कृतान्त (यमराज) दुःख का अन्त करेगा।

प्रिय का समागम यदि नहीं होगा, तो मरण निश्चित है। मरण होने पर प्रिय का समागम असंभव है। अतः दोनों की आशंसा में विकल्प किया गया है।

इस अलंकार में दो ऐसे विरोधी पदार्थ का साथ-साथ वर्णन होता है, जो साथ-साथ हो ही नहीं सकता। अतः विकल्प से प्रयोग होता है कि या यह हो या वह। जैसे- पहले उदाहरण में संधि का काम है, शीश झुकाना और विग्रह का काम धनुष झुकाना। ये दोनों शीश झुकाना और धनुष झुकाना साथ-साथ नहीं हो सकता। दोनों काम समान विरोधी है। अतः विकल्प किया गया कि या तो शीश झुकाएँ या धनुष झुकाएँ। वैसे ही दूसरे उदाहरण में दुःख हरने वाला पति या यमराज है। दोनों साथ-साथ नहीं हो सकता। यमराज (मौत) के आ जाने पर पति का आना किसी काम का नहीं होगा। या पति आ जाएगा तो दुःख का अन्त हो जाएगा, तो फिर यमराज क्यों आएगा। अतः समान विरोधी होने से विकल्प किया गया कि या तो पति आए या यमराज।

काव्यप्रकाशकार ने यह अलंकार नहीं माना है। जबकि रुय्यक विश्वनाथ आदि ने माना है।

तुल्यबलविरोधे विकल्पः - रुय्यक

विकल्पस्तुल्यवलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः - विश्वनाथ

५५. समुच्चयालङ्कारः

बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः।
नश्यन्ति पश्चात् पश्यन्ति त्रस्यन्ति च भवद्विषः॥ ११५॥

अविरोधेन संभावितयौगपद्यानां नाशादीनां गुम्फनं समुच्चयः।

यथा वा-

विभ्राणा हृदये त्वया विनिहितं प्रेमाभिधाना नवं
शल्यं यद्विदधाति सा विधुरिता साधो! तदाकर्ण्यताम्।
शेते शुष्यति ताम्यति प्रलपति प्रम्लायति प्रेङ्खति
भ्राम्यत्युल्लुठति प्रणश्यति गलत्युन्मूर्च्छति त्रुट्यति॥

अत्र कासांचित् क्रियाणां किञ्चित्काल भेद संभवेऽपि शतपत्रपत्रशतभेदन्यायेन यौगापद्यं विरहातिशयद्योतनाय विविक्षितमिति लक्षणानुगतिः ॥ ११५ ॥

एक से सम्बद्ध अनेक पदार्थों का एक साथ गुम्फन होने पर समुच्चय अलंकार होता है। जैसे आपके दुश्मन नष्ट होते हैं, पीछे देखते हैं और डरते हैं।

यहाँ बिना विरोध के संभावित पदार्थों का नाश, पीछे देखना, डरना का साथ-साथ गुम्फन होने से समुच्चय है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

तुम्हारे द्वारा छोड़े गए प्रेम नामक नए बाण को हृदय में धारण करती हुई वह (नायिका) जो विकलता धारण करती है, वह सुनो। सोती है, सूखती है, जलती है, रोती है, म्लान होती है, काँपती है, घूमती है, लौटती है, नष्ट होती है, गलती है, मूर्च्छित होती है तथा टूटती है।

यहाँ बहुत सारी क्रियाओं में कुछ न कुछ काल भेद अवश्य होता है। परञ्च कमल के सौ पत्ते को भेदने की तरह एक साथ वर्णन में भेद मालूम नहीं होता। ये सारी क्रियाएँ विरहातिशय का बोधन करने के लिए साथ-साथ कही गयी हैं। अतः लक्षण की संगति है।

विकल्पालंकार में दो विरोध पदार्थों का साथ-साथ वर्णन विकल्प से होता है और यहाँ समुच्चय में अनेक पदार्थों का एक साथ एक आधार में वर्णन होता है। ये सभी परस्पर विरोधी हों ऐसी बात आवश्यक नहीं है। जैसे पहले उदाहरण में दुश्मन रूप आधार में एक साथ नष्ट होना पीछे देखना तथा डरना तीनों का गुम्फन है तथा विरहिणी नायिका में एक साथ सोना, सूखना, जलना, म्लान होना, काँपना, घूमना, लौटना, नष्ट होना, गलना, टूटना सब का वर्णन है। यद्यपि एक साथ सभी क्रियाएँ नहीं होती हैं। सब में काल भेद (समय का अन्तर) तो होता ही है, क्योंकि एक क्रिया के बाद ही दूसरी क्रिया होती है, पर कमल के सौ पत्तों का भेदन किया जाये तो सुई तो चुभेगी क्रमशः ही, पर यह मालूम नहीं होता कि सभी में क्रमशः छेद हो रहा है। उसी तरह इन सभी क्रियाओं के एक साथ वर्णन से

विरहातिशय का वर्णन होता है जो कवि का इष्ट है। अतः पं. राज जगन्नाथ ने कहा है-

तेन किञ्चित्कालभेदेऽपि न समुच्चयभङ्गः।

अब समुच्चय के दूसरे प्रकार का निरूपण करते हैं:-

अहं प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः।
कुलं रूपं वयो विद्या धनं च मदयन्त्यमुम्॥ ११६॥

यत्रैकः कार्यसिद्धिहेतुत्वेन प्रकान्तस्तत्रान्येऽपि यद्यहमहमिकया-खले कपोतन्यायेन तत्सिद्धिं कुर्वन्ति सोऽपि समुच्चयः। यथा मदे आभिजात्यमेकं समग्रं कारणं तादृगेव रूपादिकमपि तत्साधनत्वेनावतरतीति। यथा वा-

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधि
र्निरुत्सेको लक्ष्म्यामनभिभवगन्धाः परकथाः।
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः
श्रुतेऽत्यन्तासक्तिः पुरुषमभिजातं प्रथयति॥ ११६॥

जहाँ एक कार्य की सिद्धि में अनेक पदार्थ सहायक हो सकते हैं, उन सभी पदार्थों का अहमहमिका (पहले हम तो पहले हम) भाव से कार्य सिद्धि में वर्णन किया जाता है, तो समुच्चयालङ्कार का दूसरा प्रकार होता है। जैसे- कुल, रूप, जवानी, विद्या, धन ये लोगों को मदमत्त करते हैं।

जहाँ एक कार्य की सिद्धि के कारण रूप में अनेक पदार्थ अहमहमिका भाव से खलेकपोतन्याय से उस कार्य की सिद्ध करते हैं, वहाँ भी समुच्च होता है। जैसे मद में अभिजात (कुल) ही समग्रकारण है। रूपादि भी उसी मद के कारण रूप में अवतरित हैं।

जैसे दूसरा उदाहरण-

गुप्त दान देना, घर आए अतिथि की सेवा, धन होने पर भी घमंड न होना, दूसरे की बात में निन्दा का भाव नहीं रखना, उपकार करके भी मौन रहना, दूसरे द्वारा किए गए उपकार को सभा में स्वीकार करना, श्रुति (शास्त्र-वेद) में अत्यधिक आसक्ति रखना, पुरुष की कुलीनता को अभिव्यक्त करता है।

यहाँ यह दिखाया जाता है कि एक कार्य की सिद्धि के बहुत से कारण हैं। वह कार्य एक भी कारण से सिद्ध है तथापि सभी कारणों को दिखाया जाता है। उन सभी कारणों में इसी से (किसी विशेष) से यह कार्य सिद्ध हुआ, यह सभी कारणों में देखा जाता है। जैसे घमण्ड का होना, कुल, रूप, जवानी, विद्या, धन इनमें से किसी से भी हो सकता है। ''एकैकमप्यनर्थाय। पर यहाँ सभी कारण दिए गए हैं। अतः यहाँ समुच्चय है। दूसरे उदाहरण में कुलीनता का परिचय, गुप्त दान देना आदि एक कारण से भी हो सकता है तथापि ढेर सारे कारण दिखाए गए हैं।''

यह समुच्चयालंकार गुण क्रिया अथवा गुण क्रिया दोनों से (साथ-साथ होने पर) होता है। यह विश्वनाथ का अभिमत है।

यथा- समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके।

खले कपोति का न्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत्।

गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये। (साहित्यदर्पण)

५६. कारकदीपकालङ्कारः

क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम्।

गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति पृच्छति॥ ११७॥

यथा वा-

निद्राति स्नाति भुङ्क्ते चलति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते

दीव्यत्यक्षैर्न चायं गदितुमवसरो भूय आयाहि याहि।

इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिकृतैर्वारितान् द्वारि दीना-

नस्मान् पश्याब्धिकन्ये! सरसिरुहरुचामन्तरङ्गैरपाङ्गैः॥

आद्योदाहरणे श्रुतस्य पान्थस्य कर्तृकारकस्यैकस्य गमनादिष्वन्वयः, द्वितीये त्वध्याहृतस्य प्रभुकर्तृकारकस्य निद्रादिष्वन्वय इत्येकस्यानेकवाक्यार्थान्वयेन दीपकच्छायापत्या कारकदीपंक प्रथम समुच्चय प्रतिद्वन्द्वीदम्॥ ११७॥

जहाँ क्रमिक क्रियाओं का एक कारक में गुम्फन किया जाता है, वहाँ कारकदीपक

अलङ्कार होता है। जेसे- पथिक जाता है, आता है, देखता है, पुनः पूछता है। जैसे दूसरा उदाहरण- हे अब्धिकन्ये (लक्ष्मि) ! कमल के समान कान्ति वाले अपाङ्ग से हम लोगों को देखो, जो हम लोग दीन हैं और राजा के दरबार से राजा के उद्दण्ड दरबारियों में यह कहकर हटाए गए हैं कि राजा अभी सो रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, खाना खा रहे हैं, बाहर जा रहे हैं, केश सुखा रहे हैं, जुआ खेल रहे हैं, यह निवेदन का अवसर नहीं है, पुनः लौटकर आओ, अभी जाओ।

यहाँ प्रथम उदाहरण में पथिक रूपकर्ता का गमन आदि में अन्वय है। दूसरे में प्रभुकर्त्तृक कारक (जो अध्याहृत है) का निद्रादि से अन्वय होता है। इस तरह एक कारक का अनेक वाक्यों के साथ अन्वय होने से दीपक अलंकार की छाया की आपत्ति से यह कारक दीपक हैं। यह प्रथम समुच्चय का प्रतिद्वन्द्वी है।

यहाँ सभी क्रियाओं का क्रमिक होना निश्चित है। अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का अन्वय मात्र है। समुच्चय के प्रथम प्रकार में क्रियाओं का क्रम पृथक् न दीखकर एक साथ ही दीखता है। यही दोनों में अन्तर है। यहाँ पथिक की क्रियाएँ आना-जाना, देखना-पूछना क्रमशः हो रहा है। उसी तरह प्रभु पद से अध्याहृत राजा रूपकर्ता का सोना, खाना, जुआ खेलना आदि एक साथ नहीं हो रहा, अपितु जब-जब याचक पहुँचता है तब-तब काई न कोई कार्य बता दिया जाता है। अतः क्रियाएँ तो क्रमशः हो ही रही हैं। केवल एक ही कारक से सभी क्रियाएँ अन्वित हैं।

५७-समाध्यलङ्कारः

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंविधेः।
उत्कण्ठिता च तरुणी जगामास्तं च भानुमान्॥ ११८॥

यथा वा-

मानमस्याः निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं धनगर्जितम्॥

केचिदारिप्सितस्य कार्यस्य कारणान्तरसन्निधानाद्यात्सौकर्यं तत्सम्यगाधानात्

समाधिः। द्वितीय समुच्चय प्रतिद्वन्द्वी अयं समाधिः। तत्र हि बहूनां प्रत्येकं समर्थना खलेकपोतन्यायेन युगपत्कार्यसाधनत्वेनावतारः। अत्र तवेकेन कार्ये समाधिप्सितेऽन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतितस्य तत्सौकर्याधायकत्वमात्रम्। अत्रोदाहरणम्- उत्कठितेति। उत्कण्ठैव प्रियाभिसरणे पुष्कलं कारणं नान्धकारागमनमपेक्षते। अत्यारूढ़ो हि नारीणाम् कालज्ञोमनोभवः' इति न्यायात्। दैवादापतता त्वन्धकारेण तत्सौकर्यमात्रं कृतमिति। एवं द्वितीयोदाहरणेऽपि योज्यम्॥ ११८॥

कार्य को अधिक सुगम बनाने के लिए यदि कारणान्तर का समागम हो जाये, तो समाधि अलङ्कार होता है। जैसे- वह तरुणी (अभिसरण के लिए) उत्कण्ठिता थी, तभी सूर्य भी अस्त हो गया।

जैसे दूसरा उदाहरण-

इस (नायिका) के मान को हटाने के लिए जब तक मैं पैर पर गिरने वाला था तभी संयोग से मेरा उपकार करने के लिए, मेघ का गर्जन भी सुनाई देने लगा।

किसी के द्वारा आरम्भ किए गए कार्य में कारणान्तर के संयोग से और सुगमता आ जाये, वहाँ समाधि अलंकार होता है। यह अलङ्कार द्वितीय समुच्चय का प्रतिद्वन्द्वी है। वहाँ समाधि अलंकार होता है। यह अलङ्कार द्वितीय समुच्चय का प्रतिद्वन्द्वी है। वहाँ (समुच्चय में) बहुत कारणों का (जो सभी पृथक्-पृथक् भी कार्य सम्पादन में पर्याप्त है) खलेकपोत-न्याय के साथ-साथ ही कारण रूप में अवतरण होता है। यहाँ (समाधि में) कार्य के आरम्भ हो जाने पर अन्य कारण से काकतालीय न्याय से सुगमता मात्र आ जाती है। 'उत्कण्ठितेति' इसका उदाहरण है। उत्कण्ठा ही प्रिय के पास अभिसरण करने के लिए पर्याप्त कारण है। वहाँ अभिसरण कार्य के लिए अन्धकार की अपेक्षा नहीं की जाती। नारी में जब काम (वासना) आरूढ़ होता है, तब वह समय का विचार नहीं करता 'यह न्यायसंगत' है। यहाँ संयोगवश प्राप्त अन्धकार में और सुगमता आ जाती है। इसी तरह दूसरे उदाहरण में भी जोड़ना चाहिए।

इस अलङ्कार में और समुच्चय के दूसरे प्रकार में केवल इतना फर्क है कि वहाँ

सभी कारण एकाएक उपस्थित हो जाते हैं और यहाँ समाधि में कार्यारम्भ एक कारण से ही होता है पर उसे और सुगम बनाने के लिए संयाग से (काकतालीय न्याय से) और कारण आपतित होता है। जैसे उत्कण्ठा से नारी अभिसरण के लिए प्रवृत्त हुई। अंधकार हो या न हो वह अभिसरण तो करेगी ही, क्योंकि नारी वासनाभिभूता होने पर समय की अपेक्षा नहीं करती। दैव संयोग से अंधकार (सूर्यास्त) भी हो गया। अब अभिसरण रूप कार्य और आसान हो गया। उसी तरह दूसरे उदाहरण में मानभंग के लिए पहला कारण (पाद पतन) में तो नायक प्रवृत्त हो चुका था, उसे मेघगर्जन की अपेक्षा नहीं थी। संयोगवश मेघगर्जन भी हुआ, जिससे वह और डरकर तथा कामाभिभूता होकर जल्दी ही मान छोड़, गले से आ लिपटी। यहाँ दूसरा कारण काकतालीय न्याय से आता है। जैसे- ताल तोड़ने का कोई उद्यम करे और संयोग से कौआ आकर ताल पर बैठ जाये और ताल टूटकर गिर जाये। यहाँ कौए का आना अपेक्षित नहीं अपितु दैव संयोग से अनपेक्षित ही कार्यसिद्ध्यर्थ समागम है।

५८ प्रत्यनीकालङ्कारः

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।
जैत्रनेत्रानुगौ कर्णावुत्पलाभ्यामधः कृतौ॥ ११९॥

यथा वा-

ममरुपकीर्तिमहरद्भुवि यस्तदनु प्रविष्टहृदयेयमिति।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयः सुतरांक्षिणोति खलु तां मदनः॥

एवं बलबति प्रतिपक्षे प्रतिकर्तुमशक्तस्य तदीयबाधनं प्रत्यनीकमिति स्थिति साक्षात् प्रतिपक्षे पराक्रमः प्रत्यनीकमिति कैमुतिकन्यायेन फलति। यथा वा-

मधुव्रतौघः कुपितः स्वकीयमधुप्रपापद्मनिमीलनेन।
बिम्बं समाक्रप्य बलात्सुधांशोः कलङ्कमङ्के ध्रुवमातनोति॥ ११९॥

जहाँ शत्रु को बलवान् देखकर तत्पक्ष (शत्रुपक्ष) के किसी पक्षधर को आघातित किया जाये तो प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। जैसे- अपने स्वरूप को जीतने वाला नेत्र के अनुग कान को कमल ने दबा दिया। (यहाँ मूल शत्रु आँख है तथा कान नेत्र के साथ रहने

संसार में जिसने मेरे रूप की कीर्ति का हरण कर लिया उसके (नायक के) हृदय में यह (नायिका प्रविष्ट) है। इसी मत्सर से दयाहीन कामदेव नायिका को सता रहा है।

इस तरह बलवान् शत्रु के रहने पर उसका प्रतीकार करने में असमर्थ लोग उसके पक्ष पर आघात करते हैं तो प्रत्यनीक होता ही है। साक्षात् विपक्ष (प्रबल विपक्ष) पर भी पराक्रम दिखाने पर कैमुकि न्याय से प्रत्यनीक होता है। जैसे-

मधुपानस्थल कमल के बंद कर देने से क्रुद्ध भौरे सुधांशु बिम्ब पर बलात् आक्रमण कर उसके (चाँद के) मध्य में कलङ्क तो निश्चित ही फैलाते हैं।

यहाँ प्रतिपक्ष पर प्रहार करने में असमर्थ होने पर उस पक्ष पर हमला किया जाता है। जैसे अनीक (सेना) अपने प्रतिरक्षी को जब अपने से बलवान् पाता है, तो सीधा हमला न करके विपक्ष के किसी सगे सम्बन्धी को ही अपने आक्रमण का शिकार बनाता है। पहले उदाहरण में नायिका के कान में कमल का फूल है। यह कमल अपनी शोभा को जीतने से प्रबल शत्रु आँख पर तो हमला कर नहीं सकता तब आँख का अनुचर कान हैं, क्योंकि आँख आयत होने के क़ारण कान तक पहुँचता है। अतः कमल कान को ही दबा रहा है। दूसरे उदाहरण में कामदेव नायिका को सता रहा है। नायिका जिस नायक पर आसक्त है, उस नायक ने स्वरूप में कामदेव को जीत लिया है। यहाँ कामदेव का प्रबल शत्रु नायक है परञ्च वह उसे लड़ नहीं सकता। अतः नायक के हृदय में बैठी नायिका पर ही प्रहार कर रहा है। प्रबल प्रतिरक्षी के पक्ष पर आक्रमण करने से प्रत्यनीक तो होता ही है, साथ ही साथ जहाँ सीधा प्रतिपक्षी पर प्रहार किया जाये भले वह जीत नहीं पाए। तो भी प्रत्यनीक अलंकार होता है। जैसे तीसरे उदाहरण में भौरा सीधा चाँद पर प्रहार करता है। भौंरें के रस पीने का जगह कमल है और चाँद कमल को बंद कर देता है। अतः भौरा और चाँद में शत्रुता है। किसी प्रबल शत्रु के पक्ष पर प्रहार करने से बेहतर है, थोड़ा ही सही पर सीधा शत्रु पर प्रहार किया जाये। अतः चाँद पर प्रहार करता है, भले वह जीत नहीं पाता, पर कलंक तो बना ही देता है।

कुछ आलंकारिकों ने इसे अलंकार नहीं माना है। पर मम्मट विश्वनाथ आदि ने माना है। विश्वनाथ ने लक्षण किया है-

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः॥

पं. राज जगन्नाथ इसे अलंकार तो मानते हैं पर कुछ व्याख्यान देकर। हेतूत्प्रेक्षा के दो अंश हैं हेत्वंश और उत्प्रेक्षांश। जहाँ हेत्वांश शब्द हो और उत्प्रेक्षांश आर्थ हों वहाँ प्रत्यनीक होता है। (र. ग.)

५८. अर्थापत्यलङ्कारः

कैमुत्येनार्थ संसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते।
स जितस्त्वन्मुखेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम्॥ १२०॥

अत्र स इत्यनेन पद्मनि येन जितानि इति विवक्षिताम् तथा च सोऽपि येन जितस्तेन पद्मानि जितानीति किमु वघ्क्तव्यमिति दण्डापूपिकान्यायेन पद्ममयरूपस्यार्थस्य संसिद्धिः काव्यार्थापत्तिः। तन्त्रिकाभिमतार्थापत्तिव्यावर्तनाय काव्येति विशेषणम्। यथा वा-

अधरोऽमयधीराक्ष्या बन्धुीवप्रभाहरः।
अन्य जीव प्रभां हन्त हरीतीति किमद्भुतम्॥
स्वकीयं हृदयंभित्त्वा निर्गतौ यौ पयोधरौ।
हृदयस्यान्यदीयस्य भेदने का कृपा तयोः॥ १२०॥

जहाँ कैमुत्य न्याय से अर्थसिद्धि होती है, उसे काव्यार्थापत्ति कहते हैं। जैसे वह चाँद तुम्हारे द्वारा जीत लिया गया, तो फिर कमल की बात ही क्या है ?

यहाँ 'स' इस पद से जिसने कमल को जीत लिया। यह अर्थ विवक्षित है तथा उसको (चाँद को) भी जिसने जीत लिया, उसने कमल को जीत लिया इसमें कहना ही क्या है ? दण्डापूपिका न्याय से पद्ममय रूप अर्थ की संसिद्धि होने से काव्यार्थापत्ति होती है। यहाँ अर्थापत्ति के साथ काव्य विशेषण इसलिए दिया गया है ताकि तंत्रिकाभिमत (मीमांसागत) अर्थापत्ति प्रमाण का व्यावर्तन हो सके। जैसे- दूसरा उदाहरण-

चञ्चल नेत्रों वाली के अधर, जो बन्धुजीव की प्रभा का हरण करता है, वो यदि

अन्य जीव की प्रभा का हरण करता है, तो आश्चर्य क्या है ? अपने हृदय को फाड़कर जो पयोधर युगल बाहर आ जाते हैं। वो (पयोधर युगल) यदि दूसरे के हृदय का भेदन में कृपा नहीं करते तो क्या ?

यह अलंकार कैमुतिक न्याय पर आधारित है। जहाँ किम् उत् पद में अर्थग्रहण होता हो वहाँ यह न्याय होता है। जैसे मुख ने चन्द्रमा (कमल को जीतने वाला) को जीत लिया तो कमल की बात ही क्या ? यह 'क्या' पद प्रश्नवाचक होकर इस अर्थ का आक्षेप करता है कि जब कमल को जीतने वाले चाँद को ही जीत लिया हो तो कमल पर विजय तो अपने आप सिद्ध हो गया। उसी तरह जो बन्धुजीवहर (अपने बन्धु के प्राण को हरने वाला या बन्धुजीव नामक फूल का रंग चुराने वाला) है। वह यदि दूसरे का प्राण हरता है तो क्या ? अर्थात् जो निर्दय अपने भाई-बन्धु को मार सकता है वह दूसरे का मारेगा ही, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है तथा जो स्तन युगल अपने वक्षस्थल को फाड़ सकता है। वह और के हृदय को फाड़ने में भला दया कैसे दिखाएगा। यहाँ सभी अर्थ 'किं' 'का' इत्यादि पद के उत्तर से ही प्राप्त होता है। अतः यहाँ कैमुतिक न्याय की प्रधानता है।

आचार्य विश्वनाथ ने दण्डापूपिका न्याय में अर्थापत्ति माना है। यथा- **दण्डापूपिकान्यायार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते। पं. राज जगन्नाथ ने तुल्यन्याय से अर्थापत्तिमाना है। 'केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः।'**

६०. काव्यलिङ्गालङ्कारः

समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्ग समर्थनम्।
जितोऽसि मन्द! कन्दर्प! मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः॥१२१॥

अत्र कन्दर्पजयोपन्यासो दुष्करविषत्वात्समर्थन साक्षेपः तस्य 'मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः' इति स्वान्तःकरणे शिवसन्निधान प्रदर्शनेन समर्थनं काव्यलिङ्गम्। व्याप्ति धर्मतादि साक्षेपनैयायिकाभितलिङ्गव्यावर्तनाय काव्य विशेषणम्। इदं वाक्यार्थ हेतुकं काव्यलिङ्गम्।

जहाँ समर्थनीय अर्थ का समर्थन किया जाता है, वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। जैसे- हे मूर्ख कामदेव! मैंने तुम्हे जीत लिया है, क्योंकि मेरे चित्त में त्रिलोचन (शिव) हैं।

यहाँ कन्दर्प को जीतना कठिन काम है, अतः उस कार्यसिद्धि में समर्थन की अपेक्षा है। मेरे चित्त में शंकर हैं। इस पद से अन्तः करण में शिवसान्निध्य प्रदर्शन से 'कामदेव जय' का समर्थन होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। व्याप्तिधर्मतादि सापेक्ष जो नैयायिकों का अभिमत लिङ्ग है, उससे व्यावर्तन के लिए काव्य विशेषण दिया गया है। यह वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग का उदाहरण है।

यह अकाव्यलिङ्ग अलङ्कार निष्पादक समर्थन से होता है। हेतु जब निष्पादक होता है तब यह अलंकार हाता है। जैसे- कामदेव को जीतना आसान काम नहीं है इसके लिए किसी ऐसे आदमी के समर्थन की आवश्यकता है जो कामदेव को जीत सके। कामदेव को केवल शंकर ही जीत सकते हैं इसलिए चित्त में शंकर का निवास बताया गया है। शंकर की स्थिति के बिना कामदेव विजय संभव नहीं है। इस अलंकार में काव्य पद विशेषण देने का कारण बताते हैं। नैयायिकों के लिंग से अलग करना। नैयायिकों का लिङ्ग, साध्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध रखता है, तथा पक्ष में उसकी सत्ता आवश्यक है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान धूमात्' में पर्वत पक्ष है, वह्नि साध्य है, और धूम लिङ्ग (हेतु) है। यहाँ धम और वह्नि में व्याप्ति सम्बन्ध है। ऐसा नहीं होने पर अनुमान नहीं होगा। अतः जहाँ-जहाँ धुंआ है वहाँ-वहाँ आग है, यह व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है। तथा धुएँ का पक्ष में होना भी आवश्यक है, अन्यथा अनुमान का विषय ही नहीं होगा। पर अलंकार में लिंङ्ग (हेतु) साध्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध तथा पक्ष में - सम्बन्ध रखता ही हो पर आवश्यक नहीं है। अतः इसे अलग नाम देकर काव्यलिङ्ग कहते हैं।

अब पदार्थहेतुक का उदाहरण दिया जाता है- पदार्थहेतुकं यथा-

भस्मोद्धूलन! भद्रमस्तु भवते, रुद्राक्षमाले! शुभं
हा सोपानपरस्परे! गिरिसुताकान्तालयालङ्कृते!
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखात्
लोकेच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निलीयामहे॥

अत्र मोक्षस्य महामोहत्वमसिद्धमिति तत्समर्थने सुखालोकोच्छेदिनीति पदार्थो

हेतुः। क्वचित् पदार्थवाक्यार्थौ परस्पर सापेक्षौ हेतुभावं भजतः।

यथा वा-

चिकुर प्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि यान्विभर्ति सा।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छति चामरेण कः॥

अत्र चामरस्य दमयन्ती कुन्तभारसाम्याभावेऽपि विदुषी मूर्धनि यान्विभर्ति सा इति वाच्यार्थः, पशुनाप्यपुरस्कृतेन इति पदार्थश्चेत्युभयमिलितं हेतुः क्वचित्समर्थनीयार्थ समर्थनार्थे वाक्यार्थे पदार्थो हेतुः।

हे भस्मोद्धूलन! तुम्हारा कल्याण हो, रुद्राक्षमाले! तुम्हारा शुभ हो, पर्वतसुता के आलय (मंदिर) को अलंङ्कृत करने वाली सोपान परम्परे! हाय (अब मैं तुमसे अलग हो रहा हूं)। आज पूजा से सन्तुष्ट भगवान् शिव के द्वारा आपकी सपर्या के सुख से (हटकर) लोकसुखोच्छेद करने वाले मोक्षनामक महामोह में डुबाये जा रहे हैं।

जहाँ मोक्ष का महामोह रूप होना असिद्ध है। उसके समर्थन में 'सुखालोकोच्छिदिनि' रूप पदार्थ कारण है। कहीं पदार्थ और वाक्यार्थ हेतु साथ-साथ सापेक्ष रूप में देखा जाता है। जैसे वो केश जाल सर्वोत्कृष्ट है जिसको विदुषी (दमयन्ती) अपने शिर पर धारण करती है। इस केश की तुलना पशु से भी अपुस्कृत चमरी गाय के केश से कौन करना चाहता है ?

यहाँ चमरी के केश का दमयन्ती के केशभार की समता के अभाव में भी 'विदुषी जिसको शिर पर धारण करती है' यह वाक्यार्थ, तथा पशु के द्वारा भी अपुस्कृत यह पदार्थ हेतु, दोनों मिला हुआ है। कहीं समर्थनीय अर्थ के समर्थन के लिए वाक्यार्थ में पदार्थ हेतु होता है।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में एक में पदार्थ हेतु और दूसरे में वाक्यार्थ तथा पदार्थ दोनों हेतु हैं। पहले उदाहरण में मोक्ष को महामोह बताया गया है, जो दर्शनानुकूल उचित नहीं है। इसके समर्थन के लिए सपर्यासुख का विरह बताया गया है। जो पूजा सुख से वञ्चित कर देता हो, अतः वह मोह है। यहाँ मोह (मोक्ष को) सिद्ध करने के लिए पूजा

सुख छुड़ाने वाला यह पदार्थ कारण है। दूसरे उदाहरण में दमयन्ती का केशभार अद्वितीय है, इस बात का समर्थन 'जिसे दमयन्ती शिर पर धारण करती है।' इस वाक्यार्थ से होता है तथा चमरी से तुलना करने वाला मूर्ख होगा इस बात का समर्थन पशु से भी अपुरस्कृत रूप में पदार्थ से होता है। दोनों वाक्यार्थ और पदार्थ इसी बात का हेतु है कि दमयन्ती का केशभार सर्वश्रेष्ठ (सर्वोत्कृष्ट) है।

अब समर्थनीय के लिए समर्थन हेतु वाक्यार्थ के पदार्थ हेतु का उदाहरण–

यथा वा–

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनिपुरा
पुरारे! न क्वापि क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिमा
नितीश! क्षन्तव्यं तदिदमपराद्धद्वयमपि॥

अत्र तावदपराद्धद्वयं समर्थनीयम्, अस्पष्टार्थत्वात्! तत्समर्थनञ्च पूर्वापरजन्मनोरनमनाभ्यां वाक्यार्थभूताभ्यां क्रियेते। अत्र द्वितीय वाक्यार्थेऽतनुत्वमेकपदार्थो हेतुः। अत्रापि सम्प्रति 'नमन्मुक्तः' इति वाक्यार्थोऽनेक पदार्थो वा हेतुः। क्वचित्परस्पर विरुद्धयोः समर्थनीययोरुभयोः क्रमादुभौ हेतुभावंभजतः॥ यथा–

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्मेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः।
प्रमोदं वो दिश्यात् कपटवटुवेषापनयने
त्वरा शैभिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः॥

अत्र शिवस्य युगपत् कृत्रिमब्रह्मचर्यवेषापनयनत्वरादनुवर्तनेच्छयोर्विरुद्धयोः क्रमात् गिरिजा तीव्रतपसोऽसहिष्णुत्वं तत्संलाप कौतुकं चेत्युभावर्थौ हेतुत्वेन निबद्धौ।

हे पुरारे, शरीर के प्रादुर्भव से मैंने यह अनुमान किया कि मैंने पहले जन्म में कभी आपको प्रणाम नहीं किया था। इस समय में आपको प्रणाम करके मुक्त हो रहा हूँ (मोक्ष

पा रहा हूँ) अतः आगे (अगले जन्म में) में शरीर के बिना होने से प्रणाम नहीं करूँगा। अतः हे ईश! मेरे ये दोनों अपराध क्षमा करें।

यहाँ अपराधद्वय समर्थनीय है। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होने से समर्थन सापेक्ष है। उसका समर्थन पहले और आने वाले जन्म के अनमन रूप वाक्यार्थ से किया गया है। यहाँ द्वितीय वाक्य में 'अतनुत्व' एक पदार्थ हेतु है। यहाँ भी सम्प्रति 'नमन करने से मुक्त' यह वाक्यार्थ या अनेक पदार्थ हेतु है।

कहीं परस्पर विरुद्ध समर्थनीय दो का समर्थन दो कारण से होता है। जैसे-

उस काल में असहनीय तपस्या के उत्थान से, तथा पर्वत पुत्री की कथा में रसिक होने से, अपने कपट ब्रह्मचारी वेष को छोड़ने में त्वरा और शिथिलता के साथ-साथ युक्त भगवान् शंकर आप लोगों को मोद प्रदान करें।

यहाँ शिव के साथ-साथ ब्रह्मचारी वेष हटाने के लिए शीघ्रता और उसे हटाने में शिथिलता रूप विरुद्ध इच्छाओं के समर्थन से क्रमशः गिरिजा की तीव्रतपस्या की असहिष्णुता तथा संलाप कौतुक ये दोनों अर्थ कारण रूप से निबद्ध है।

पहले उदाहरण में 'दो अपराध' समर्थनीय है। इसका समर्थन इससे होता है कि न मैंने पहले जन्म में प्रणाम किया था न अगले जन्म में करूंगा। अतः दो जन्म का अपराध होने से दो अपराध हो गया। अब समर्थनार्थवाक्य अगले जन्मे भी प्रणाम नहीं करूँगा। इसका समर्थन इस वाक्य से है कि मैं वर्तमान में आपको प्रणाम कर रहा हूँ। इसी प्रणाम से मेरा मुक्त होना निश्चित है और मुक्त होने के बाद मुझे शरीर ही नहीं रहेगा तो प्रणाम कैसे करूँगा। यह पदार्थ है। इसमें 'नमन्मुक्तः' और 'अतनु' दोनों अनेक पदार्थ हो जाते हैं या वाक्यार्थ हो जाते हैं। यहाँ एक समर्थनीय के लिए वाक्यार्थ हेतु है और पुनः उस वाक्यार्थ हो जाते हैं। यहाँ एक समर्थनीय के लिए वाक्यार्थ हेतु है और पुनः उस वाक्यार्थ के समर्थन के लिए वाक्यार्थ या अनेक पदार्थ हेतु है।

दूसरे उदाहरण में दो विरोधी पदार्थ समर्थनीय हैं और दोनों के समर्थन में क्रमशः हेतु दिए गए हैं। भगवान् शंकर पार्वती की परीक्षा लेने ब्रह्मचारी बनकर आए हैं, तब वह

तीक्ष्ण तपस्या कर रही है। उसकी तपस्या की तीक्ष्णता को देखकर शंकर चाहते हैं कि शीघ्र इस ब्रह्मचारी वेष को छोड़कर अपना रूप दिखा दूँ ताकि इसे और कष्ट न हो। इससे ब्रह्मचारी वेष को छोड़ने के लिए शीघ्रता चाहते हैं और एकान्त आश्रम में गिरिजा से बातचीत करने में उन्हें रस (आनन्द) मिल रहा है। अतः वो चाहते हैं कि ब्रह्मचारी वेष में ही रहूँ ताकि इसे और कष्ट न हो। इससे ब्रह्मचारी वेष को छोड़ने के लिए शीघ्रता चाहते हैं और एकान्त आश्रम में गिरिजा से बातचीत करने में उन्हें रस (आनन्द) मिल रहा है। अतः वो चाहते हैं कि ब्रह्मचारी वेष में ही रहूँ ताकि इसे बातचीत का आनन्द मिल सके। यह ब्रह्मचारी वेश को छोड़ने में शिथिलता करने का कारण है। इस तरह शीघ्रता और शिथिलता इस परस्पर विरोधी बातों के समर्थन के लिए अलग-अलग दो वाक्य दिए गए हैं।

क्वचित्परस्पर विरुद्धयोरुभयोः समर्थनीययोरेक एवं हेतुः। यथा-

जीयादम्बुधितनयाधररसमास्वादयन्मुरारिरयम्।
अम्बुधिमथनक्लेशं कलयन् विफलं च सफलं च॥

अत्र विफलत्व सफलत्व कलनयोरुभयोर्विरुद्धयोरेक एवाम्बुधिततनयाधररसास्वादो हेतुः।

कहीं परस्पर विरुद्धद्वय के समर्थन में एक ही हेतु दिया जाता है। जैसे- सागर तनया के अधर रस पान करने वाले मुरारी (विष्णु) की जय हो, जो समुद्र मन्थन के क्लेश को सफल और विफल दोनों मानते हैं।

यहाँ विफलता और सफलता दोनों समर्थनीय के समर्थन में लक्ष्मी के 'अधर का आस्वाद' एक ही हेतु है।

"लक्ष्मी अधर का आस्वाद बहुत आनन्द प्रद है; इसलिए सागर मन्थन सफल हुआ, क्योंकि यदि मन्थन न होता तो न लक्ष्मी निकलती और न रसास्वाद मिलता। परञ्च अमृत से भी अधिक आस्वाद वाले अधर की प्राप्ति के बाद पुनः अमृत के लिए मन्थन किया गया, यह उचित नहीं हुआ। अतः एक परिश्रम विफल हुआ। यहाँ सफलता और

विफलता दोनों विरुद्ध हैं। लेकिन दोनों का समर्थन एक ही 'अधर का आस्वाद' कर रहा है।''

इदं काव्यलिङ्ग इति, हेत्वलङ्कार इतिकेचित्व्याजह्रुः॥

हे गोदावरि! देवि! तावकतटोद्देशे कलिङ्गः कविः-
र्वाग्देवीं बहुदेशदर्शनसखीं त्यक्त्वा विरक्तिं गतः।
एनामर्णवमध्यसुप्तमुरभिन्नाभी सरोजासनं।
ब्रह्माणं गमय क्षितौ कथमसावेकाकिनी स्थास्यति॥

इत्यत्र 'ब्रह्मणः प्रापणं कथं गोदावर्या कर्तव्यम्? इत्यसम्भावनीयार्थोपपादकस्य 'अर्णव मध्य-' इत्यादितद्विशेषणस्य न्यसनं श्लेषाख्यो गुण इति, 'श्लेषोऽविघटमानार्थघटकार्थस्य वर्णनम्' इति श्लेषलक्षणमिति जयदेवेनोक्तम्। वस्तु तस्तु अत्रापि पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गस्य किं भेदकम्? उच्यते परिकरे पदार्थ वाक्यार्थवलात् प्रतीयमानार्थौ वाच्योपस्कारकतां भजतः काव्यलिङ्गे तु पदार्थ वाक्यार्थवेव हेतु भावं भजतः। ननु यद्यपि सुखालोकोच्छेदिनि इत्यादि पर्वत हेतुककाव्यलिङ्गोदाहरणे 'अग्रेऽप्यनतिमान्' इत्यादि वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्गोदाहरणे च पदार्थ वाक्यार्थावेव हेतुभावं भजतस्तथापि 'पशुनाप्यपुरस्कृतेन' इति पदार्थ हेतुकोदाहरणे मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः 'इति वाक्यार्थ हेतुकोदाहरणे च प्रतीयमानार्थस्यापि हेतुकोट्यनुप्रवेशो दृश्यते। पशुनेति ह्यविवेकित्वाभिप्रायगर्भम्ः विदुषीत्यस्य प्रतिनिर्देश्यत्वात्। त्रिलोचन इति च कन्दर्पदाहक तृतीय लोचनत्वाभिप्रायगर्भम्। कन्दर्पजयोपयोगित्वात्तस्य। सत्यम्, तथापि च तयोः परिकर एव किन्तु तदुत्थापितं काव्यलिङ्गमपि॥''

यह काव्यलिंङ्ग है, इसी को हेत्वलङ्कार भी कहते हैं। हे गोदावरि! देवि! तुम्हारे तट पर बहुत देश घूमने में सखीरूपा सरस्वती को छोड़कर कोई कलिङ्ग कवि विरक्ति को प्राप्त हो गया (मर गया)। इस (सरस्वती)को सागर मध्य में सोए मुरारि की नाभि से उत्पन्न कमल पर बैठे ब्रह्मा के पास पहुँचा दो, क्योंकि, पृथ्वी पर यह सरस्वती अकेली कैसे रहेगी?

यहाँ ''ब्रह्मा के पास सरस्वती को पहुँचाना गोदावरी का कर्तव्य कैसे हो सकता है? इस असंभावनीय अर्थ का उपपादक सागर मध्य 'में' इत्यादि विशेषण रखा गया है जो श्लेष नामक गुण है, ऐसा जयदेव ने कहा है। अघटमान अर्थ के घटक अर्थ का वर्णन श्लेष कहलाता है। वास्तव में यहाँ भी पदार्थ हेतुक काव्यलिंग ही है, क्योंकि काव्यलिंङ्ग का भेदक तत्व कुछ भी नहीं है। साभिप्राय पदार्थ वाक्यार्थ रूप परिकर अलङ्कार से काव्यलिङ्ग का क्या भेद है ? यहाँ कहा जाता है कि परिकर में पदार्थ और वाक्यार्थ के बल से प्रतीयमान अर्थ वाच्य का उपस्कारक बन जाता है। काव्यलिङ्ग में पदार्थ काव्यार्थ ही करणता को प्राप्त करता है। यद्यपि 'सुखालोकोच्छेदिनि' इत्यादि पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग के उदाहरण में, 'अग्रेऽप्यनतिमान्' इत्यादि वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंङ्ग के उदाहरण में पदार्थ वाक्यार्थ ही हेतुभाव को प्राप्त करता है, तथापि 'पशुनाप्यपुरस्कृतेन' इस पदार्थ हेतु वाले उदाहरण में, तथा 'मच्चिन्तेऽस्तित्रिलोचनः' इस वाक्यार्थ हेतु- वाले उदाहरण में प्रतीयमान अर्थ भी हेतु की कोटि में आ जाता है। 'पशुना' यह पद अविवेकी रूप से अभिप्रायः युक्त है तथा 'विदुषी' इसके प्रति उसका निर्देश होता है। 'त्रिलोचन' यह पद कामदेव को जलाने वाले तृतीय लोचनत्व रूप अभिप्रायः से युक्त है, क्योंकि तीसरी आँख ही कन्दर्प विजय में उपयोगी होती है। यह उचित है तथापि इन दोनों का परिकर ही है ऐसा नहीं अपितु उससे उत्थित काव्यलिङ्ग भी है।

अघटमान अर्थ के घटक अर्थ का वर्णन होने पर श्लेष गुण होता है। यह जयदेव का कथन है परञ्च 'गोदावरि!' वाले उदाहरण में काव्यलिङ्ग इसलिए मानते हैं कि श्लेषगुण और काव्यलिङ्ग का कोई भेदक तत्त्व दृष्ट नहीं है तथा परिकर अलंकार में पदार्थ वाक्यार्थ में उत्थित अविवेकी तथा तृतीय लोचनत्व रूप प्रतीयमान (व्यंग्य) हेतु-सा दिखता है तथापि केवल वह साभिप्राय ही नहीं है अपितु काव्यलिंग भी है।

प्रतीयमानविवेकित्वविशिष्टेन पशुनाप्यपुरस्कृतत्वस्यानेक पदार्थस्य, प्रतीयमान कन्दर्पदाहकभावतृतीयलोचनविशिष्टस्य शिवस्य चित्ते संनिधानस्य च वाक्यार्थस्य वाच्यस्यैव हेतुत्वात्। नहि तयोर्वाच्ययोर्हेतुभावेताभ्यां प्रतीयमानं मध्ये

किञ्चिदद्वारमस्ति। यथा 'स्वांशुचिनिधानस्य' इत्यादि पदार्थ परिकरोदाहरणे सर्वाशुचिनिधानेत्यादिनाऽनेकपदार्थेन प्रतीयमानं शरीरस्यासंरक्षणीयत्वम्। तथा च वाक्यार्थ परिकरोदाहरणेऽपि पर्यायोक्ताधियातत्तद्वाक्यार्थेन प्रतीयमानं 'नाहं व्यासः' इत्यादिः। तस्मात् पुशना इत्यत्र त्रिलोचनः इत्यत्र च प्रतीयमानं वाच्यस्यैव पदार्थस्य वाक्यार्थस्य च हेतुभावोपपादकतया काव्यलिङ्गस्याङ्गमेव। यथा 'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवर' इत्यनेक वाक्यार्थी हेतुक काव्यलिङ्गोदाहणे 'त्वन्नेत्र समानकान्ति' इत्यादिकानि इन्दीवर शशि हंस विशेषणानि तेषां वाक्यार्थानां हेतुभावोपपादकानीति। तत्र वाक्यार्थ हेतुककाव्यलिङ्गे पदार्थ हेतुककाव्यलिङ्गमिति न तयोः काव्यलिङ्गोदाहरणत्वे काचिदनुपपत्तिः॥ १२१॥

प्रतीयमान अविवेकित्व विशिष्ट पशु के द्वारा अपुरस्कृतत्व रूप अनेक पदार्थ का तथा प्रतीयमान कन्दर्पदाहक भाव त्रिलोचनत्वविशिष्ट शिव के चित्त में सन्निधान रूप वाक्यार्थ का, वाच्य का ही हेतु होने से यहाँ काव्यलिंग है। इन दोनों वाच्य के हेतु भाव में उस प्रतीयमान के लिए कुछ अवकाश है। जैसे- **'सर्वांशुचिनिधानस्य'** इत्यादि पदार्थ परिकर के उदाहरण में, सर्वाशचि निधान आदि अनेक पदार्थ से प्रतीयमान शरीर की असंरक्षणीयता तथा वाक्यार्थ परिकर के उदाहरण में भी पर्यायोक्ति की बुद्धि से तत्तत् वाक्यार्थ से प्रतीयमान 'नाहं व्यासः' इत्यादि है। इससे 'पशुना' इस पद में तथा त्रिलोचनः इस पद में जो प्रतीयमान है वह वाच्य रूप पदार्थ और वाक्यार्थ का ही हेतुभाव से उपपादक होने से काव्यलिङ्ग का ही अङ्ग है। जैसे **'यत्त्वन्नेत्र समानकान्तिसलिले'** इत्यादि अनेक वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग के उदाहरण में **'त्वन्नेत्र समान कान्ति'** इत्यादि इन्दीवर, शशि, हंस इत्यादि के विशेषण हैं वो वाक्यार्थ के हेतु भाव के ही उपपादक हैं। यहाँ वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग में पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अंग बन गया है। अतः काव्यलिङ्ग के उदाहरण में कोई आपत्ति नहीं है।

परिकर अलंकार से काव्यलिंग अलंकार को पृथक् सिद्ध करने के लिए ही यह व्याख्या उपस्थापित की गई है। दोनों में साधारण तौर पर यह पार्थक्य समझना चाहिए।

(क) परिकर अलंकार में विशिष्ट साभिप्राय होता है। जैसे '**सर्वाशुचि निधानस्य**' वाले उदाहरण में शरीर की असंरक्षणीयता ही सिद्ध होती है। जो वाच्यार्थ का ही उपकार करता है। भाव यही है कि इस तरह असंरक्षणीय शरीर के लिए मूर्ख पाप किया करता है। अब पदार्थ की व्यञ्जना से जितनी असंरक्षणीयता सिद्ध होगी वाच्यार्थ का उतना ही उपकार होगा।

(ख) पर काव्यलिंग में पदार्थ या वाक्यार्थ समर्थनीय का समर्थन करता है। जैसे '**जितोऽसि मन्द!** कन्दर्प! में शंकर का चित्त में होना ही काम देव के जय रूप असंभव कार्य में समर्थन करता है। यहाँ तृतीय लोचन की विशिष्टता रूप प्रतीयमान जो है वह शंकर की विशेषता ज़रूर बताता है। परञ्च वह सीधा साच्य का उपस्कारक नहीं होता है, जैसे कि परिकर में होता है। यह प्रतीयमान शंकर की विशेषता को सिद्ध कर कामदेव विजय रूप कार्य, जिसको तत्साधनक्षम समर्थन की आवश्यकता है, में सहायक होता है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि कार्य का कारण सीधा वाच्य प्रयुक्त पद का वाक्य ही है। कामदेव जय रूप कार्य है और शिवं का निवास कारण है।

इस अलंङ्कार की परिभाषा आचार्य विश्वनाथ ने इस तरह की है– **हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्।**

दीक्षित जी ने छह उदाहरण में छह प्रकार का काव्य लिंग दिखाया है।

(1) पदार्थ हेतुक (2) वाक्यार्थ हेतुक (3) जहाँ पदार्थ वाक्यार्थ साथ-साथ होता है (4) एक समर्थनीय के लिए समर्थक वाक्य या पद के समर्थन में पुनः वाक्य या पदार्थ का हेतु होने पर (5) परस्पर विरुद्ध समर्थनीय के लिए अलग-अलग समर्थक होने पर (6) परस्पर विरुद्ध समर्थनीय के लिए एक ही समर्थन होने पर।

काव्यलिङ्ग में भी कारण कार्य भाव देखा जाता है। यहाँ भी समर्थनीय का समर्थन होता है और अर्थान्तरन्यास में भी। इतना ही साधारण तौर पर जान लेना चाहिए कि– हेतु तीन प्रकार का होता है। ज्ञापक निष्पादक और समर्थक। ज्ञापक अनुमानालंकार का विषय है। निष्पादक काव्यलिङ्ग में कार्य कारण भाव और अर्थान्तरन्यास में समर्थनीय समर्थक भाव जाना जाता है।

६१. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः

उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्य विशेषयोः।
हनुमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम्॥ 122॥
गुणवद्वस्तु संसर्गाद्याति स्वल्पोऽपि गौरवम्।
पुष्पमालानुषङ्गेण सूत्रं शिरसि धार्यते॥ 123॥

सामान्य विशेषयोर्द्वयोरप्युक्तिरर्थान्तरन्यासस्तयोश्चैकं प्रस्तुतम् अन्यद प्रस्तुतं भवति। ततश्च विशेषे प्रस्तुते तेन सहाप्रस्तुत सामान्य रुपस्य सामान्ये प्रस्तुते तेन सहाप्रस्तुतविशेषरुपस्य वाऽर्थान्तरस्यन्यसनमर्थान्तरन्यास इत्युक्तं भवति। तत्राद्यस्य द्वितीयार्धमुदाहरणं द्वितीयस्य द्वितीय श्लोकः।

सामान्य विशेष की उक्ति (साथ-साथ) को अर्थान्तरन्यास कहते हैं। हनूमान सागर को लांघ गए, महान आत्माओं के लिए दुष्कर क्या है ? गुणवान वस्तु के संसर्ग से अल्प भी गौरव को प्राप्त हो जाता है। फूल माला की सङ्गति से धागा (सूत्र) भी शिर पर धारण किया जाता है।

सामान्य और विशेष दोनों की उक्ति अर्थान्तरन्यास होती है। इसमें एक प्रस्तुत होता है एक अप्रस्तुत। जब विशेष प्रस्तुत होता है तो अप्रस्तुत सामान्य होता है और जब सामान्य प्रस्तुत होता है तो विशेष अप्रस्तुत होता है। प्रस्तुत सामान्य का अप्रस्तुत विशेष तथा प्रस्तुत विशेष का अप्रस्तुत सामान्य अर्थ से समर्थन होने से इसे अर्थान्तर न्यास कहते हैं। पहले का उदाहरण कारिका प्रथम का आधा भाग है, तथा दूसरे का उदाहरण दूसरी कारिका (श्लोक) है।

इस अलङ्कार में दो उक्ति होती है। एक सामान्य दूसरा विशेष। सामान्य उसे कहते हैं जो सर्वसाधारण वाक्य (सूक्ति रूप) हो। और विशेष वो है जो वर्णनानुकूल विषयभूत है। इसमें एक अर्थ (सामान्य या विशेष) के लिए दूसरे अर्थ (विशेष या सामान्य) का उपन्यास (रखना) किया जाता है। अतः अर्थान्तर (दूसरे अर्थ) का न्यास होने से इसे अर्थान्तर न्यास कहते हैं। इसमें एक (सामान्य या विशेष) प्रस्तुत होता है तो दूसरा (विशेष

या सामान्य) अप्रस्तुत होता है। जैसे पहले उदाहरण में- हनुमान समुद्र लांघ गया, यह विशेष वाक्य है क्योंकि यह वर्ण्य विषय है तथा समुद्र लांघना सामान्य बात नहीं है, फिर हनुमान कैसे लांघ गए ? इसके लिए समर्थन वाक्य देते हैं कि- महात्माओं के लिए क्या दुष्कर है ? अर्थात महात्मा कुछ भी कर सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि हनुमान महात्मा है इसलिए उसने यदि सागर को लांघ लिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दूसरे उदाहरण में- "गुणवानों के संसर्ग से स्वल्प भी गौरव को प्राप्त होता है यह सामान्य वाक्य है, इसके समर्थन में विशेष वाक्य है कि-फूल के संसर्ग से माला का धागा भी शिर पर चढ़ जाता है। तात्पर्य हुआ कि गुणवानों का संसर्ग क्षुद्र को महान बना देता है। यहां पहले में विशेष का समर्थन सामान्य से और दूसरे में सामान्य का समर्थन विशेष से हुआ है।"

यहां कुछ लोग इस अर्थान्तरन्यास को काव्यलिङ्ग अलङ्कार से पृथक नहीं मानते हैं। इसमें काव्यलिंग मानने वालों के तर्क का उत्थान कर दीक्षित जी ने खण्डन किया है। पहले पूर्वपक्षी के मतों का उत्थान करते हैं-

नन्वयं काव्यलिङ्गान्नातिरिच्यते। तथाहि- उदाहरणद्वयेऽप्यप्रस्तुतयो सामान्य विशेषयोरुक्तिः प्रस्तुतयोर्विशेषणसामान्ययोः कथमुपकरोतीति विवेक्तव्यम्। न हि सर्वथैव प्रस्तुतानन्वय्यप्रस्तुताभिधानं युज्यते। न तावदप्रस्तुतप्रशंसायामिव प्रस्तुतव्यञ्जकतया प्रस्तुतयोरपि विशेष सामान्ययोः स्वशब्दोपात्तत्वात्। नाप्यनुमानालंकार इव प्रस्तुत प्रतीतिजनकतया तद्वदिह व्याप्ति पद धर्मताद्यभावात्। नापि दृष्टान्तालङ्कार इव उपमानतया-

विस्त्रब्धघातदोषः स्ववधाय खलस्य वीरकोपकरः।
वनतरुभङ्गध्वनिरिव हरिनिद्रातस्करः करिणः॥

इत्यादिषु सामान्ये विशेषस्योयपमानत्वदर्शनेऽपि विशेषे सामान्यस्य क्वचिदपि तददर्शनात्, उपमानतया तदन्वये सामाञ्जस्या प्रतीतेश्च। तस्मात् प्रस्तुत समर्थकतयैवा प्रस्तुतस्योपयोग इहापि वक्तव्यः। ततश्च वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमेवात्रापि स्यान्नत्वलङ्कारान्तरस्यावकाश इति चेत् अत्र केचित् समर्थन साक्षेपस्यार्थस्य समर्थने

काव्यलिङ्ग निरपेक्षस्यापि प्रतीतिवैभवात्समर्थनेऽर्थान्तरन्या सः। न हि 'यत्वन्नेत्र समान कान्ति' इत्यादि काव्यलिङ्गोदाहरणेष्विव-

'अथोपगूढ़े शरदा शशाङ्के प्रावृड्ययौ शान्ततड़ित्कटाक्षा।
कासांन सौभाग्यगुणोऽङ्गनानां नष्टः परिभ्रष्टपयोधराणाम्॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव॥ (कुमार संभवम्)'

इत्याद्यर्थान्तर न्यासोदाहरणेषु प्रस्तुतस्य समर्थनापेक्ष त्वमस्तीति।

यह (अर्थान्तरन्यास) अलङ्कार काव्यलिङ्ग से अतिरिक्त नहीं है। इसके लिए ऊपर प्रस्तुत दोनों उदाहरणों में अप्रस्तुत सामान्य और विशेष की उक्ति प्रस्तुत विशेष और सामान्य का उपकार कैसे करता है, यह विवेचनीय है। प्रस्तुत से संबंध नहीं रखने वाले अप्रस्तुत का प्रयोग सर्वथा उपयोग नहीं किया जाता है। तथा अप्रस्तुत प्रशंसा की तरह प्रस्तुत की व्यञ्जकता नहीं होती, क्योंकि यहां विशेष और सामान्य दोनों स्वशब्द से उपात्त होने से वाच्य होता है। अनुमान अलंकार भी नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान में अप्रस्तुत का प्रयोग प्रस्तुत की अनुमिति के लिए होता है यहाँ (अर्थान्तर न्यास में) ऐसा नहीं होता, और अनुमान की तरह यहाँ व्याप्ति पक्षधर्मता आदि का भी अभाव होता है। दृष्टान्तालंकार की तरह भी यहां अप्रस्तुत प्रस्तुत के उपमान रूप में प्रयोग नहीं होता है। जैसे-

दुष्टों के द्वारा किया गया विश्वासघात दोष वीरों के क्रोध को उत्पन्न करने वाला और उसका (दुष्टों का) ही विनाश करने वाला होता है। जैसे सिंह की नींद को चुराने वाला हाथियों के द्वारा गिराए गए पेड़ों की आवाज हाथियों के विनाश के लिए ही होता है।

इत्यादि में सामान्य में विशेष का उपमानत्व दीखने पर भी विशेष में सामान्य का कहीं-कहीं अभाव पाया जाता है। उपमान रूप में उसके अन्वय में सामञ्जस्य की प्रतीति भी नहीं होती। इसलिए प्रस्तुत का समर्थन करने के लिए ही अप्रस्तुत का उपयोग होता है। ऐसा कहना चाहिए। इससे वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग ही यहां होगा, अलङ्कारान्तर की कोई आवश्यकता नहीं है। यहां कोई कहते हैं कि समर्थन सापेक्ष के समर्थन से काव्यलिङ्ग

होता है और निरपेक्ष के समर्थन की प्रतीति होने पर अर्थान्तरन्यास होता है। 'यत्वन्नेत्र समानकान्ति' इत्यादि काव्यलिङ्ग के उदाहरण में समर्थन सापेक्ष का समर्थन है। परञ्च अर्थान्तरन्यास में जैसे- शरत् (नायिका) के द्वारा चन्द्रमा का आलिङ्गन किए जाने पर वर्षा ऋतु चली गई, जिसका बिजली रूप कटाक्ष शान्त हो गया था। परिभ्रष्ट पयोधर वाली किस अङ्गना का सौभाग्य नष्ट नहीं होता ?

जो सूर्य से डरे हुए की तरह अन्धकार की 'अपनी गुफ. में आए हुए की रक्षा करता है। जब छोटा भी ऊँचे की शरण में आता है, तो ऊँचे लोगों की ममता उसके (छोटे के) प्रति अधिक हो जाती है।'

इत्यादि में प्रस्तुत के समर्थन की अपेक्षा है, ऐसी बात नहीं है।

यहां काव्यलिंग अलङ्कार के पक्षधर. का मत उठाया गया है। उसे सामान्यतया इस प्रकार समझा जा सकता है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत काव्यलिङ्ग में भी होता है और अर्थान्तरन्यास में भी। प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का सम्बन्ध नहीं हो तो ऐसा प्रयोग प्रायः नहीं देखा जाता। अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य सम्बन्ध जरूर होता है। अब यह देखना है कि सम्बन्ध होता कैसे है ?

(क) अप्रस्तुत प्रशंसा में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों होता है पर अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, पर यहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वाच्य होता है। अतः अप्रस्तुत प्रशंसा नहीं है।

(ख) अनुमान अलङ्कार में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की अनुमिति होती है तथा व्याप्ति पक्षधर्मता आदि होती है। जैसे पर्वत पर धुएं को देखकर आग की अनुमिति होती है। पर वहां धुंआ और आग में व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है तथा पक्ष (पर्वत) में धुएं का होना आवश्यक है। पर काव्यलिङ्ग या अर्थान्तर न्यास में व्याप्तिधर्मता आदि की आवश्यकता हो ही ऐसी बात नहीं है। अतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत रहने पर भी अनुमान अलङ्कार नहीं है।

(ग) दृष्टान्त में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों होता है। पर वहां दोनों में बिम्ब

प्रतिबिम्ब भाव देखा जाता है। एक में दूसरा अर्थ परिछाई की तरह दीखता है। जैसे ''विस्रब्धघात'' उदाहरण में खल का विश्वासघात खल के विनाश के लिए होता है जैसे हाथी का वृक्ष गिराना हाथी के विनाश के लिए होता है। दुष्टों के विश्वासघात से कुद्ध वीर उसका विनाश करता है, और वृक्ष की आवाज से जगने पर सिंह हाथी का विनाश करता है। यहां दोनों विशेष ही हैं। अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत के उपमान रूप में दीखता है।

इस तरह यहां (अर्थान्तरन्यास) दृष्टान्त भी नहीं है तथा यहां इव आदि पद का भी अभाव ही होता है जो उपमानादि कल्पना में सहायक होता है। अतः इवादि के अभाव में दोनों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) का अन्वय प्रतीत नहीं हो पाता। अतः प्रस्तुत का समर्थन करने के लिए अर्थात् प्रस्तुत वाक्य को और दृढ़ करने के लिए अप्रस्तुत वाक्य दिया जाता है। इस तरह प्रस्तुत का समर्थन करने के लिए अप्रस्तुत का प्रयोग होने से यह काव्यलिङ्ग अलंकार ही है, दूसरा कोई अलंङ्कार नही हैं।

काव्यलिङ्ग मानने वाले का उत्तर कुछ विद्वान इस तरह देते हैं कि जहां समर्थन की अपेक्षा रहने पर समर्थन होता है वहां काव्यलिङ्ग होता है और जहां अपेक्षा नहीं रहने पर भी समर्थन वाक्य दिया जाता है वहां अर्थान्तरन्यास होता है। जैसे- काव्यलिंग के उदाहरण ''जितोऽसि मन्द कन्दर्प'' में कन्दर्प को जीतना सामान्य बात नहीं है। तथा उसे जीतने के लिए शंकर का समर्थन मिलना जरूरी है। बिना शंङ्कर के समर्थन से कामदेव जय रूप कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः यहां कामदेव जय रूप कार्य को समर्थन की अपेक्षा के अनुकूल समर्थन मिल रहा है। यह समर्थन एक तरह से कार्य निष्पादक कारण है। इस समर्थन रूप कारण के बिना समर्थनीय कार्य का निष्पादन नहीं हो सकता। परञ्च अर्थान्तरन्यास में ऐसी बात नहीं होती है। जैसे प्रस्तुत में- अथोपगूढे......। उदाहरण में पूर्वार्द्ध वाक्य 'शरद् ऋतु ने जब चांद का आलिंगन किया तो शान्त विद्युत कटाक्ष वाली वर्षा चली गई। इसकी उत्तरार्द्ध वाक्य की आवश्यकता उतनी नहीं है, जितनी कामदेव विजय के लिए शंकर की।' यहां पूर्वार्द्ध वाक्य की पूर्ति हो गयी है। उत्तरार्द्ध वाक्य केवल इस बात का समर्थन कर रहा है कि वर्षा क्यों चली गई। जब नायक किसी नई नायिका (यौवना) में रस

लेने लगता है तो प्राचीन (वृद्धा) नायिका ईर्ष्यावश भाग जाती है क्योंकि उसके शरीर में नायक को लुभाने वाला आकर्षण नहीं रह जाता। कटाक्ष और पयोधर (स्तन) नायिका के प्रमुख अस्त्र हैं नायक को लुभाने के लिए। ये दोनों शान्त हो जाए (स्तन गल जाये) तो नायिका का व्यर्थत्व हो जाता है। अतः वर्षा जिसका कटाक्ष (बिजली) और पयोधर (मेघ) शान्त हो गया है। यहां केवल पूर्वार्द्ध वाक्य को उचित बताने के लिए उत्तरार्द्ध का समर्थन है। यह उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध का निष्पादक नहीं अपितु केवल समर्थक है। अतः काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास में अन्तर स्पष्ट है।

यद्यपि यह उत्तर सटीक है। अन्य आचार्यों से समर्थित भी है। तथापि दीक्षित जी को यह अभिमत नहीं है। वे अपना मत इस तरह अभिव्यक्त करते हैं।

वस्तुतस्तु प्रायो वादोऽयम्। अर्थान्तरन्यासेऽपि हि विशेषस्य सामान्येन समर्थनानपेक्षत्वेऽपि सामान्ये विशेषेण समर्थनमपेक्षत एव 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इति न्यायेन 'बहूनामप्यसाराणां संयोगः कार्यसाधकः' इत्यादि सामान्यस्य 'तृणैरारभ्यते रज्जुस्तया नागोऽपि वध्यते' इत्यादि सम्प्रतिपन्नविशेषावतरणं बिना बुद्धौ प्रतिष्ठितत्वा सम्भवात्॥

वास्तव में प्रायः यह वाद मात्र है। अर्थान्तरन्यास में भी प्रस्तुत विशेष को सामान्य से समर्थन की अपेक्षा नहीं रहने पर भी प्रस्तुत सामान्य अप्रस्तुत विशेष की अपेक्षा रखता ही है। क्योंकि बिना विशेष के सामान्य का वर्णन नहीं होना चाहिए यह नियम है। इसी नियम से अनेक असारों (निर्बलों) का संगठन भी कार्यसाधक होता है इत्यादि सामान्य का "तृण से रस्सी बनती है और उस रस्सी से हाथी बांधा जाता है" इस विशेष के अवतरण के बिना बुद्धि में प्रतिष्ठा सम्भव नहीं हो पाती है।

दीक्षित जी के कहने का तात्पर्य है कि अर्थान्तरन्यास में अनपेक्षित का समर्थन होता है ऐसी बात नहीं है। क्योंकि जहां सामान्य प्रस्तुत का समर्थन विशेष अप्रस्तुत से होता है वहां समर्थन की अपेक्षा रहती ही है। बिना विशेष के सामान्य का वर्णन नहीं किया जाना चाहिए यह नियम है। जैसे सामान्य है कि निर्बलों का संगठन भी बड़े कार्य का साधक

होता है। यह कथन तब तक सटीक नहीं बैठता जब तक इसके समर्थन में यह नहीं कहा जाये कि 'तृणों से रस्सी बनती है और उस रस्सी से हाथी बांधा जाता है।' यह विशेष उस सामान्य की प्रतिष्ठा की पूर्ति करता है। तात्पर्य है कि पूर्वार्द्ध वाक्य पूर्ण है फिर भी साकांक्ष है ही, उसकी पूर्ति समर्थन वाक्य (विशेष) से ही होता है। अतः यहां भी समर्थन सापेक्ष होता है।

अपने इसी मत को दृढ़तर करने के लिए और व्याख्या करते हैं-

न च तत्र 'कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानाम्' इत्यादि विशेषसमर्थनार्थं सामान्यस्येव लोकसम्प्रतिपन्नतया विशेषावतरणं विनैव बुद्धौ प्रतिष्ठित्वं सम्भवतीति श्लोके तन्नयसनं नापेक्षितमस्तीति वाच्यम्; सामान्यस्य सर्वत्र लोकसम्प्रतिपन्नत्वनियमाभावात्। न हि यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् इति व्याप्तिरूप सामान्यस्य लोक सम्प्रतिपन्नतया 'यथा महानसः' इति तद्विशेषरूप दृष्टान्तानुपादान सम्भवमात्रेणाप्रसिद्धव्याप्तिरूप सामान्योपन्यासेऽपि तद्विशेषरूप दृष्टान्तोपन्यास नैरपेक्ष्यं सम्भवति। न चैवं सामान्येन विशेषसमर्थनस्थलेऽपि क्वचित्तस्य सामान्यस्य लोकप्रसिद्धत्वाभावेन तस्य बुद्धावारोहाय पुनर्विशेषान्तरस्य न्यायप्रसङ्ग इति वाच्यम्; इष्टापत्तेः। अत्रैव विषये विकस्वरालङ्कारस्यानुपदमेव दर्शयिष्यमानत्वात्। किञ्च काव्यलिङ्गेऽपि न सर्वत्र समर्थन सापेक्षत्व नियमः। चिकुरप्रकराः जयन्ति ते इत्यत्र तदभावादुपमानवस्तुषु वर्णनीय साम्याभावेन निन्दायाः कविकुलक्षुण्णत्वेनात्र समर्थनापेक्षा विरहात्। न हि तदास्य दास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विक शर्वरी श्वरः इत्यादिषु समर्थनं दृश्यते॥

न विषेण न शस्त्रेण नाग्निना न च मृत्युना।
अप्रतीकारपारुष्याः स्त्रीभिरेव स्त्रियः कृताः॥

इत्यादि काव्यलिङ्ग विषयेषु समर्थनापेक्षाविरहेऽप्यप्रतीकारपारुष्या इत्यादिना समर्थनदर्शनाच्च। नहि तत्र स्त्रीणां विषादिनिर्मितत्वा भावप्रतिपादनं समर्थन सापेक्षं प्रसिद्धत्वात्। तस्मादुभयतो व्यभिचारात् समर्थनापेक्षसमर्थने, काव्यलिङ्ग

तन्निरपेक्षसमर्थनेऽर्थान्तरन्यास इति न विभागः, किन्तु सामर्थ्य समर्थकयोः सामान्यविशेष सम्बन्धेऽर्थान्तरन्यासः। तदितर सम्बन्धे काव्यलिङ्गमित्येव व्यवस्थाऽवधारणीया। प्रपञ्चश्चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यः।

और 'कांसां न सौभाग्य-' इत्यादि श्लोक में सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है। सामान्य लोक प्रसिद्ध वाक्य होता है। अतः विशेष के समर्थन के बिना भी बुद्धि में प्रतिष्ठित हो सकता है। अतः सामान्य के लिए विशेष का समर्थन अपेक्षित नहीं है। यह नहीं कहना चाहिए। सामान्य सर्वत्र लोक प्रसिद्ध ही हो यह आवश्यक नहीं है। जो-जो धुँआ वाला है वह आग वाला है। इस व्याप्ति रूप सामान्य के लोकप्रसिद्ध होने पर भी जैसे रसोईघर (महानस) इत्यादि विशेष दृष्टान्त के उपन्यास के बिना प्रतीती नहीं होती, उसी तरह अप्रसिद्ध व्याप्ति रूप सामान्य के उपन्यास होने पर भी उसके लिए विशेष दृष्टान्त के उपन्यास की अपेक्षा रहती है। यह सामान्य निरपेक्ष होता है ऐसी बात नहीं है। तब सामान्य से विशेष के समर्थन वाले स्थल में सामान्य के लोकप्रसिद्धत्व के अभाव में बुद्धि में प्रतिष्ठित करने के लिए पुनः किसी विशेष का उपन्यास करना होगा, यह ठीक नहीं है क्योंकि इससे इष्टापत्ति होगी। यह विषय आगे आने वाले विकस्वर अलङ्कार के प्रसङ्ग में दिखाया जाएगा। किञ्च काव्यलिंग में सभी स्थान पर समर्थन की अपेक्षा है ही ऐसी बात नहीं है। "चिकुर प्रकराः जयन्ति ते" इस उदाहरण में उपमान वस्तु में उपमेय के साम्य का अभाव होने से निन्दा हो जाती है और यह उपमानोपमेय कवि कुल प्रसिद्ध होने से समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता है। इसी तरह 'तदास्य दास्येऽपि' इस उदाहरण में भी समर्थन नहीं दीखता है।

जिसकी कठोरता का कोई इलाज नहीं, ऐसी स्त्रियों को न विष से न शस्त्र से न अग्नि से और न मृत्यु से बनाया अपितु स्त्री से ही इसे बनाया।

इत्यादि काव्यलिङ्ग के विषय में समर्थन की अपेक्षा नहीं होने पर भी अप्रतीकार पारूष्य आदि समर्थन दिखाया गया है। वहां स्त्रियों के विषादि से निर्मितत्व का अभाव प्रतिपादन समर्थन सापेक्ष नहीं है, प्रसिद्धि ही कारण है। इसलिए दोनों ओर व्यभिचार होने

से समर्थन की अपेक्षा वाले स्थान में काव्यलिङ्ग है तथा समर्थन निरपेक्ष में समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है यह विभाग उपयुक्त नहीं है, किन्तु समर्थनीय और समर्थन वाक्य में सामान्य विशेष सम्बन्ध होने पर अर्थान्तरन्यास होता है। इससे अलग सम्बन्ध होने पर काव्यलिंग है, यही व्यवस्था ग्रहण करनी चाहिए। विशेष मीमांसा चित्रमीमांसा में अवलोकनीय है।

सामान्य को विशेष के समर्थन की अपेक्षा नहीं होती है, इस बात को दीक्षित जी नहीं मानते यह ऊपर सिद्ध हो चुका है। सामान्य सर्वदा लोकप्रसिद्ध ही होता है, यह भी दीक्षित जी मानने को तैयार नहीं। जैसे न्यायशास्त्र में जहां-जहां धुँआ है वहाँ-वहाँ आग है। यह सामान्य व्याप्ति लोक प्रसिद्ध है, फिर भी जैसे रसाईघर आदि विशेष की अपेक्षा रखता ही है। इस विशेष दृष्टान्त के बिना सामान्य की प्रतीति अधूरी लगती है। इसलिए सामान्य को भी विशेष के समर्थन की अपेक्षा रहती ही है। तब एक समस्या यह हो सकती है कि जब सामान्य को विशेष के समर्थन की अपेक्षा होती है तब तो जहां विशेष के समर्थन के लिए सामान्य का प्रयोग होता है, वहाँ पुनः सामान्य के समर्थन के लिए विशेष की अपेक्षा होगी। परञ्च दीक्षित जी कहते हैं कि ऐसा होने पर अर्थान्तर न्यास का ही उच्छेद हो जाएगा। यह क्यूं होगा इसका विवेचन विकस्वर अलंकार विवेचन से स्पष्ट होगा। जैसे 'चिकुरप्रकराः' इस उदाहरण में दमयन्ती के केश की उपमा कवरी के भार से है। पर उपमान में उपमेय के साम्य का अभाव होने से उपमा की निन्दा स्वयं हो जाती है। यह उपमान उपमेय (केश-कवरी) भी कविकुल प्रसिद्ध होने से समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता, तथापि 'पुशनाप्यपुरस्कृतेन' आदि से निन्दा का समर्थन हुआ है। तथा च 'न विशेष' आदि उदाहरण में भी समर्थन की अपेक्षा नहीं होने पर भी अप्रतीकारपारूष्या आदि समर्थन है। इस तरह यह देखा जाता है कि काव्यलिङ्ग में सर्वत्र समर्थन की अपेक्षा है यह भी नहीं हैं और अर्थान्तर न्यास में सभी जगह समर्थन की अपेक्षा नहीं ही है, यह भी नहीं है। तब समर्थनापेक्षा में काव्यलिङ्ग और समर्थनापेक्षाभाव में अर्थान्तरन्यास है, यह विभाग उचित नहीं है, अपितु विभाग यह होना चाहिए कि जहां समर्थनीय वाक्य और समर्थन वाक्य में

सामान्य विशेष का सम्बन्ध है, वहां अर्थान्तरन्यास और दूसरा कोई सम्बन्ध होने पर काव्यलिङ्ग होता है।

एवमप्रकृतेन प्रकृतसमर्थनमुदाहृतम्। प्रकृतेना प्रकृतसमर्थनं यथा- (कुमार सं. -५/३६)-

यदुच्यते पार्वति! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने! तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥

यथा वा-

दानं ददत्यपि जलैः सहसाधिरूढे
को विद्यमानगतिरासितुमुत्सहेत ?
यद्दन्तिनः कटकटाहतटान्मिमङ्क्षो-
र्मङक्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम्॥१२२-१२३॥

ऊपर में जो उदाहरण दिए गए हैं, उनमें अप्रकृत से प्रकृत का समर्थन हुआ है। अब ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसमें प्रकृत से अप्रकृत का समर्थन होता है। जैसे-

ऐ पार्वति! सौन्दर्य पापाचरण के लिए नहीं होता, यह वचन सर्वथा सत्य है। हे उदार दर्शन वाली पार्वति! तुम्हारा आचरण तपस्वियों के लिए भी उपदेशार्थ हो गया॥

यथा दूसरा उदाहरण-

दान देते हुए जन के भी जल (जड़) से अधिरूढ़ हो जाने पर (घिर जाने पर) कौन ऐसा है, जो वर्तमान गति में रहने को तैयार होगा ? जो हाथियों को कपोलस्थलरूपकटाह से अलियों का समूह शीघ्र ही उड़ गया। (जो हाथी जल में स्नानार्थ डूब रहा था)।

यहां पहला श्लोक कुमार संभव महाकाव्य से उद्धृत है। यहां प्रथम वाक्य 'सौन्दर्य पापचरण के लिए नहीं होता' अप्रकृत तथा सामान्य है। इसके समर्थन में उत्तर वाक्य ''तुम्हारा आचरण मुनियों के लिए भी आदर्श हो गया'' यह प्रकृत और विशेष है। इसी तरह दूसरे श्लोक में प्रथम वाक्य 'दानी के भी मूर्खों से घिर जाने पर कौन वहां टिकना चाहता है' यह वाक्य सामान्यतया अप्रकृत है। तथा दूसरे वाक्य समर्थन के लिए ''जल में

डूबते हाथी के कपोलस्थल से भौरें उड़ गए'' यह प्रकृत तथा विशेष है। यह श्लोक शिशुपालवध महाकाव्य (५-३७) से उद्‌धृत है। इस तरह यहां अर्थान्तरन्यास का प्रकार हुआ-

(i) अप्रकृत सामान्य से प्रकृत विशेष का समर्थन।

(ii) अप्रकृत विशेष से प्रकृत सामान्य का समर्थन।

(iii) प्रकृत विशेष से अप्रकृत सामान्य का समर्थन।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास आठ प्रकार का होता है। यथा-

सामान्यं वा विशेषेणे विशेषस्तने वा यदि।

कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।

साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥ (सा. द.)

६२. विकस्वरालङ्कारः

यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः।

स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः सागराः इव॥ १२४॥

यत्र कस्यचिद्विशेषस्य समर्थनार्थं सामान्यं विन्यस्य तत्प्रसिद्धावप्यपरितुष्यता कविना तत्समर्थनाय पुनर्विशेषान्तरमुपमानरीत्यार्थान्तर न्यासविधया वा विन्यस्यते तत्र विकस्वरालङ्कारः। उत्तरार्द्ध यथाकथञ्चिदुदाहरणम्।

इदं तु व्यक्तमुदाहरणम् (कुमार संभवम्)

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य
हिमं न सौभाग्य विलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुण सन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

इदमुपमानरीत्या विशेषान्तरस्य न्यसने उदाहरणम्।

अर्थान्तरन्यासविधया यथा-

कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणितं गाहस्व काक! स्वयं
माकन्दं मकरन्दशालिनमिह त्वां मन्महे कोकिलम्।
धन्यानि स्थल वैभवेन कतिचिद् वस्तूनि कस्तूरिकां
नेपालक्षितिपालभालपतिते पङ्के न शङ्केत कः ?॥

यथा वा-

मालिन्यमब्ज शशिनोर्मधुलिट् कलङ्कौ
धत्तो मुखे तु तव दृक्तिलकाञ्जनाभाम्।
दोषावितः क्वचन मेलनतो गुणत्वं
वक्तुर्गुणे हि वचसि भ्रमविप्रलम्भौ॥ १२४॥

जहां विशेष के समर्थन के लिए सामान्य का प्रयोग होता है और पुनः सामान्य के समर्थन के लिए विशेष का प्रयोग होता है, वहां विकस्वर नामक अलंकार होता है। जैसे- वह जीता नहीं जा सकता, महान लोग दुर्घर्ष होते हैं जैसे सागर है।

जहां किसी विशेष के समर्थन के लिए सामान्य का प्रयोग करके पुनः उसकी प्रसिद्धि से सन्तुष्ट नहीं होकर उस सामान्य के समर्थन के लिए पुनः विशेष का उपादान उपमान की रीति से या अर्थान्तर की रीति से किया जाता है, तो विकस्वर नामक अलङ्कार होता है। कारिका का आधा भाग उदाहरण है-

पूर्ण व्यक्त उदाहरण निम्न है-

अनन्त रत्न का जो उत्पत्ति स्थान है, उसके सौभाग्य का लोप करने वाला हिम भी नहीं हुआ। गुण के सन्निपात में एक दोष उसी तरह डूब जाता है जैसे चन्द्रमा में कलङ्क।

यह उपमान की रीति से विशेषान्तर के उपन्यास का उदाहरण है।

अर्थान्तरन्यास विधि का उदाहरण है। जैसे-

ऐ काक! कान को कर्कश लगने वाली आवाज को छोड़कर मकरन्द से युक्त आम के पेड़ का सेवन करो तो हम लोग तुम्हें कोयल समझेंगे। स्थान विशेष से कुछ वस्तु धन्य हो जाती है। नेपाल के राजा के मस्तक पर लगे कीचड़ को भी कस्तूरी की शंका से कौन नहीं जानता है ?

जैसे दूसरा उदाहरण–

कमल और चन्द्रमा की मलिनता क्रमशः भ्रमर और कलङ्क है, जो (दोनों) तुम्हारे मुख पर आंख और तिलक की शोभा के रूप में है। कहीं दो दोष मिलकर गुण बन जाते हैं। वक्ता के वचन में भ्रम और विप्रलम्भ मिलकर गुण बन जाता है।

यहां विशेष के समर्थन से सामान्य पुनः सामान्य के समर्थन में विशेष उक्ति होती है। अर्थान्तरन्यास के प्रसङ्ग में एक प्रश्न आया था कि जब- सामान्य को विशेष के समर्थन की अपेक्षा होती है, तब तो अर्थान्तरन्यास में जहां विशेष का समर्थन सामान्य से होता है, वहां पुनः सामान्य के समर्थन के लिए विशेष की आवश्यकता होगी। तो वहां दीक्षित जी ने लिखा है कि ऐसा प्रकरण विकस्वर अलङ्कार में होता है। वही विवेचन यहां स्पष्ट है। कारिका वाले उदाहरण में देखें। पहली उक्ति राजा अजेय है (विशेष) महान लोग दुर्धर्ष होते हैं। (दूसरी उक्ति सामान्य) तथा तीसरी उक्ति जैसे सागर होता है, विशेष है। यहां पहले का समर्थन दूसरे से पुनः दूसरे का समर्थन तीसरे से है। अतः विशेष का समर्थन सामान्य से पुनः सामान्य के समर्थन के लिए विशेष का उपन्यास होने से यह विकस्वर है। इसमें दो प्रकार होते हैं। एक उपमा आश्रित दूसरा अर्थान्तरन्यास आश्रित। तात्पर्य है कि विशेष के समर्थन के लिए सामान्य दिया गया। अब पुनः सामान्य के लिए जो विशेष दिया जाता है वह उपमा की तरह जैसे- सागरा इव, तथा अर्थान्तरन्यास की तरह जैसे- 'कर्णारुन्तुद' वाले उदाहरण में।

'अनन्तरत्न' वाले उदाहरण में पहला वाक्य रत्नों की खान हिमालय के सौभाग्य को बर्फ नहीं मिटा पाया यह विशेष है। दूसरा वाक्य गुण के समूह में एक दोष छिप जाता है। यह सामान्य है जो प्रथम वाक्य का समर्थन करता है। अब पुनः दूसरे वाक्य पर कवि को पूरा विश्वास न हुआ तो उसके समर्थन में तीसरा वाक्य- जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क (छिप जाता है) रखा गया है।

यहां 'चन्द्रमा में कलंक की तरह' यह तीसरा वाक्य उपमा आश्रित है। कारिका वाला उदाहरण भी ऐसा ही है।

अर्थान्तरन्यास के उदाहरण 'कर्णारुन्तुद' में पहला वाक्य- 'कौए यदि आम के पेड़ पर चले जाएँ तो लोग उसे कोयल समझेंगे' यह विशेष है। इसके समर्थन में दूसरा वाक्य स्थान विशेष से वस्तु धन्य हो जाता है, सामान्य है, तथा इस सामान्य का समर्थन करने के लिए तीसरा वाक्य – नेपाल राजा के भाल के कीचड़ को भी लोग कस्तूरी समझते हैं। यह विशेष है। यहां 'सागरा इव' की तरह उपमा आश्रित तीसरा वाक्य नहीं है, परञ्च मध्य वाक्य के समर्थन में तीसरा वाक्य आया है। अतः यह अर्थान्तरन्यास आश्रित है। 'मालिण्यमब्ज' वाले उदाहरण में चन्द्रमा और कमल में दो दोष हैं, पर तुम्हारे मुख पर दोनों मिलकर गुण हो गया है। यह प्रथम वाक्य विशेष है। इसके समर्थन में दूसरा वाक्य- दो दोष मिलकर कहीं–कहीं गुण हो जाता है यह सामान्य है। पुनः इस सामान्य के समर्थन के लिए पुनः वक्ता की वाक्शक्ति में भ्रम और विप्रलम्भ गुण हो जाता है। वैसे भ्रम और विप्रलम्भ दोनों पृथक–पृथक गुण नहीं कहा जाता है पर नैयायिक लोग प्रतिवादी को परास्त करने के लिए वागाडम्बर में भ्रम और प्रताड़ना का प्रयोग करते हैं। ऐसे में भ्रम और विप्रलम्भ (प्रताड़ना) दोनों मिलकर गुण हो जाता है।

इस अलङ्कार का लक्षणादि विश्वनाथ ने नहीं किया है। प्रायः पंडितराज का ही साथ वो भी देते हैं। पं. राज इस अलङ्कार को नहीं मानते। चन्द्रालोक में इस अलङ्कार का लक्षण है। प्रायः चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की लक्षणोदाहरण रूप कारिका में थोड़ा सा अन्तर है।

यथा- यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः क्ष्माधरा इव॥ (च.)

६३. प्रौढ़ोक्त्यलङ्कारः

प्रोढ़ोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम्।
कचाः कलिन्दजातीरतमालस्तोममेचकाः॥ १२५॥

कार्यातिशयाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनं प्रौढ़ोक्तिः। यथा तमालगतनैल्यातिशयाहेतौ यमुनातटरोहणे तद्धेतुत्वप्रकल्पनम्।

यथा वा-

कल्पतरुकामदोग्ध्रीचिन्तामणि धनदशङ्खानाम्।
रचितो रजोभरपयस्तेजः श्वासान्तराम्बरैरेषः॥

अत्र कल्पवृक्षाद्येकैकवितरणातिशायिवर्णनीय राजवितरणातिशयाहेतौ कल्पवृक्षपरागादिरूपपञ्चभूतनिर्मितत्वेन तद्धेतुत्वप्रकल्पनं प्रौढ़ोक्तिः॥ १२५॥

जो किसी कार्य के उत्कर्ष का हेतु नहीं है, उसमें उत्कर्षातिशय की योग्यता दिखाने पर प्रौढ़ोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- (नायिका के) केश कालिन्दी के तीर पर उत्पन्न तमाल के समूह के समान नीला है।

कार्य के अतिशय के हेतु नहीं होने पर भी हेतुत्व की कल्पना प्रौढ़ोक्ति है। जैसे यमुना के तट पर उगना तमाल की नीलता के अतिशय का कारण नहीं है, फिर भी ऐसा बताया गया है। जैसे- कल्पतरु-कामधेनु-चिन्तामणि कुबेर तथा शंखों से क्रमशः पराग, दूध, तेज श्वास तथा आभ्यन्तर आकाश को लेकर यह राजा बनाया गया है।

यहां कल्पवृक्ष आदि एक-एक दानशील के अतिशय से वर्णनीय राजा की दानशीलता के अतिशय का हेतु नहीं होने पर भी कल्पवृक्ष के परागादि पाँचों को मिलकर राजा की रचना की उक्ति प्रौढ़ोक्ति है।

यहां अतिशय के अहेतु में हेतुत्व दिखाया जाता है। जैसे-- केश तमाल के सदृश नीला है यह ठीक है। परञ्च तमाल में नीलता का आधिक्य इसलिए नहीं होता कि वह तमाल यमुना के किनारे उगता है। यमुना के किनारे उगना और तमाल की घननीलता में कार्य कारण भाव नहीं है, तथापि कवि ने कल्पना की है। अतः यहां प्रौढ़ोक्ति है तथा दूसरे उदाहरण में कल्पवृक्ष आदि से राजा की दानशीलता का आधिक्य वर्णन अपेक्षित है। यहां राजा इसलिए अधिक दानशील है कि कल्पवृक्ष-कामधेनु, चिन्तामणि, कुबेर, शङ्ख इन सबका मिला रूप राजा है। पृथक्-पृथक् सभी दानी हैं, परञ्च राजा पांचों का समूह है इसलिए सबसे अधिक दानशील है। यहां राजा की दानशीलता के अतिशय में ये सभी कारण नहीं होते हुए भी कारण रूप में निबद्ध होने से यहां प्रौढ़ोक्ति है।

चन्द्रालोककार ने इसका लक्षण उदाहरण इस तरह किया है-

प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम्।
कलिन्दजातीररुहाः श्यामलाः सरलद्रुभाः॥

साहित्य दर्पणकार ने इस अलङ्कार का विवेचन नहीं किया है। अलवत्ता पं. राज जगन्नाथ ने इसे अलङ्कार माना है।

६४. सम्भावनालङ्कारः

सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।
यदि शेषो भवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव॥१२६॥

यथा वा-

कस्तूरिका मृगाणामण्डाद्गन्ध गुणमखिलमादाय।
यदि पुनरहं विधिः स्यां खलजिह्वायां निवेशयिष्यामि॥

'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' अतिशयोक्ति भेद इति काव्यप्रकाशकारः।

यदि किसी कार्य की सिद्धि के लिए 'यदि ऐसा हो तो यह हो सकता है' इस तरह की सम्भावना की जाये तो सम्भावना अलङ्कार होता है। यदि स्वयं शेषनाग वक्ता हो तो आपके गुण का वर्णन हो सकता है। जैसे दूसरा उदाहरण-

यदि मैं ब्रह्मा बनूं तो कस्तूरी मृगों के अण्डे से समग्र सुगन्ध को लेकर दुष्ट की जिह्वा पर रख दूं॥

'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इस तरह अतिशयोक्ति का भेद ही इसे काव्यप्रकाशकार (मम्मट) मानते है।

यहां प्रथम उदाहरण में गुण वर्णन रूप कार्य की सिद्धि तभी हो सकती है, जब कि स्वयं शेषनाग वक्ता बने। अन्यथा गुणाधिक्य का वर्णन हो ही नहीं सकता। इस तरह राजा के गुणाधिक्य होना अपेक्षित है। दूसरे उदाहरण में भी यदि मैं ब्रह्मा बनूं तो दुष्टों की जिह्वा पर कस्तूरी का सुगन्ध रख दूं, अन्यथा दुष्टों की जिह्वा सुगन्धित नहीं हो सकती। यहां कार्य विशेष की सिद्धि के लिए 'यदि ऐसा हो तो सिद्धि हो सकती है' इस तरह की कल्पना होने से संभावना है। मम्मट आदि इस अलङ्कार को अतिशयोक्ति का भेद मानते हैं। यह तो स्पष्ट ही है।

६५. मिथ्याध्यवसित्यलङ्कारः

किञ्चिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।
मिथ्याध्यवसितिर्वेश्यां वशयेत् स्वस्त्रजं वहन्॥ १२६॥

अत्र वेश्यावशीकरणस्यात्यन्तासम्भावितत्वसिद्धये गगन कुसुममालिका धारणरूपार्थान्तरकल्पनं मिथ्याध्यवसितिः।

अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणवधिरश्राव्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि॥

अत्राद्योदाहरणं निदर्शनागर्भम्, द्वितीयं तु शुद्धम्। असम्बन्धे सम्बन्धरुपातिशयोक्तितो मिथ्याध्यवसितेः किञ्चिन्मिथ्यात्वसिदध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनात्मना विच्छित्तिविशेषण भेदः॥ १२६॥

जहां मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए अन्य मिथ्या अर्थ की कल्पना की जाती है वहां मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार होता है। जैसे- आकाश पुष्प की माला पहनने वाला वेश्या को वश में कर सकता है।

यह वेश्या के वशीकरण को अत्यन्त असम्भावित सिद्ध करने के लिए गगनकुसुम माला धारण रूप मिथ्यार्थान्तर की कल्पना होने से मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार है। जैसे दूसरा उदाहरण-

इस राजा की अकीर्ति की संख्या परार्ध संख्या से भी अधिक है। यह अकीर्ति प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) को देखने योग्य तथा वधिरों के सुनने योग्य है। वन्ध्या के उदर से उत्पन्न गूंगे इस अकीर्ति का गायन अष्टम स्वर में करते हैं तथा कूर्म-रमणी के दूध से बने सागर के तट पर (वे गीत गाते हैं)।

यहां पहला उदाहरण निदर्शना गर्भित है तथा दूसरा उदाहरण शुद्ध मिथ्याध्यवसिति है। असम्बन्ध में सम्बन्ध रुप अतिशयोक्ति से मिथ्याध्यवसिति में इतना अन्तर है कि एक

मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए अन्य मिथ्यात्व की कल्पना होती है। इसलिए इसमें चमत्कार विशेष होता है।

इस अलंकार की कल्पना भी केवल दीक्षित जी को ही दीखती है। यहां एक मिथ्या की सिद्धि के लिए अन्यमिथ्या की कल्पना होती है। वेश्या को वश में करना असम्भव है। कवि कहते हैं कि वेश्या को वश में लाना सम्भव है। (यह एक मिथ्या है) बशर्ते कि वश में करने वाला स्वर्ग कुसुम की माला को पहनने वाला हो। यह दूसरी मिथ्या है। न कोई स्वर्ग पुष्प की माला पहनेगा न वेश्या वश में होगी। उसी तरह दूसरे उदाहरण में राजा की अकीर्ति संभव नहीं है, यह कवि को अपेक्षित है। तो वह कहता है कि यह अकीर्ति है (मिथ्या)। पर इसे अन्धा देखता है, बहरा सुनता है, कूर्म वनिता के दूध के सागर किनारे बन्ध्या का गूंगा बेटा अष्टम स्वर में इस अकीर्ति को गाता है। अन्धे का देखना, बहरे का सुनना, कूर्मवनिता का दूध होना, वन्ध्या का बेटा होना, गूंगे का गाना, अष्टम स्वर का होना सभी मिथ्या (झूठ) हैं। यहां अकीर्ति रूप मिथ्या को सिद्ध करने के लिए इतने मिथ्यात्व की कल्पना हुई है। पहले उदाहरण में निदर्शना दीख पड़ती हैं क्योंकि वेश्यावशीकरण और गगन कुसुममालाधारण में असम्भत्व रूप सम्बन्ध है। परञ्च दूसरा उदाहरण शुद्ध है। इसे असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति में नहीं माना जा सकता, क्योंकि अतिशयोक्ति में केवल असम्बन्ध में सम्बन्ध होता है, पर वहां दोनों मिथ्या हो यह जरूरी नहीं। जैसे महल चांद को छूता है। यहां चांद से स्पर्श रूप सम्बन्ध नहीं होने पर भी सम्बन्ध बताया गया है। पर महल की ऊँचाई सत्य है। पर मिथ्याध्यवसिति में वेश्या को वश में करना ही झूँठ है। अत: यहां दोनों मिथ्या होने से अतिशयोक्ति से पृथक् चमत्कार है और यह पृथक अलङ्कार है। पं. राज इसे प्रौढ़ोक्ति का भेद मानते हैं।

६६. ललितालङ्कारः

वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्।
ललितं निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति॥ १२८॥

प्रस्तुते धर्मिणि यो वर्णनीयो वृत्तान्तस्तमवर्णयित्वा तत्रैव तत्प्रतिबिम्बरूपस्य

कस्यचिदप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वर्णनं ललितम्। यथा कथंचिद् दाक्षिण्य समागत तत्कालोपेक्षित प्रतिनिवृत्त-नायिकान्तरासक्तनायकानयनार्थं सखीं प्रेषयितु कामां नायिकामुद्दिश्य सख्यावचनेन तद्व्यापार प्रतिबिम्बभूत गत जलसेतु बन्धवर्णनम्। नेयमप्रस्तुतप्रशंसा प्रस्तुतधर्मिकत्वान्। नापि समासोक्तिः प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमानेविशेषसाधारण्येन सारूप्येण वाऽप्रस्तुतवृत्तान्त स्फूर्त्यभावात् अप्रस्तुतवृत्तान्तादेवसरूपादिह प्रस्तुतवृत्तान्तस्य गम्यत्वात्। नापि निदर्शना; प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयो शब्दोपात्तयोरैक्य समारोप एव तस्याः समुन्मेषात्। यदि विषयविषयिणोः शब्दोपात्तयोः प्रवर्तमान एवालङ्कारो विषयिमात्रोपादानेऽपि स्यात्तदा रूपकमेव भेदेऽप्यभेदरूपाया अतिशयोक्तेरपि विषयमाक्रमेत।

जहां वर्ण्य विषय के उपस्थित रहने पर उस प्रस्तुत (वर्ण्य) के प्रतिबिम्ब का वर्णन होता है, वहां ललित अलङ्कार होता है। जैसे- यह (नायिका) जल के निकल जाने पर बांध बांधना चाहती है।

प्रस्तुत धर्मी (विषय) के रहने पर जो वर्णनीय वृत्तान्त है, उसका वर्णन न करके वहीं उस प्रस्तुत के प्रतिबिम्बरूप किसी अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन करना ललित अलङ्कार होता है। कारिकार्द्ध में जो वर्णन है उसमें नायिका को मनाने के लिए आया नायक नायिका से उपेक्षित होकर लौट जाता है। पुनः परनायिका में आसक्त उस नायक को लौटाने के लिए सखी को भेजने वाली किसी नायिका को उद्देश्य कर सखी के वचन से उस व्यापार के प्रतिबिम्बरूप में जल निकल जाने पर बांध बांधने का वर्णन है। धर्मी के प्रस्तुत होने से यहां अप्रस्तुत प्रशंसा नहीं है। यहां समासोक्ति भी नहीं है, क्योंकि वर्ण्यमान प्रस्तुत वृत्तान्त में साधारण विशेषण से या सारूप्य से अप्रस्तुत की व्यञ्जना नहीं होती है। यहां अप्रस्तुत वृत्तान्त के सारूप्य से प्रस्तुत वृत्तान्त की व्यञ्जना हो रही है। यहां निदर्शना भी नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वृत्तान्त के शब्दतः उपात्त होने पर दोनों में ऐक्य आरोप होने से निदर्शना होती है। यदि विषयी और विषय के पृथक शब्द से उपात्त होने पर होने

वाला अलङ्कार केवल विषयी मात्र के उपादान होने पर भी होने लगे, तब तो भेद में अभेद रूप अतिशयोक्ति के रूपक का अतिक्रमण हो जाएगा।

इस अलंकार में विषय प्रस्तुत होता है। प्रस्तुत के व्यवहार को देखकर उस व्यवहार के समान किसी अप्रस्तुत व्यवहार का वर्णन होता है, जिससे प्रस्तुत व्यवहार की व्यञ्जना होती है। इसका उदाहरण कारिका का आधा भाग है। इसको इस तरह समझा जाए। एक नायक अपनी नायिक को मनाने के लिए उसके नजदीक आता है। नायिका नहीं मानती है, अपितु उस नायक की उपेक्षा कर देती है। नायिका से उपेक्षित होकर वह नायक चला जाता है। नायक के जाने के बाद यह नायिका मन में विचार करती है, कि कहीं यह परनायिका में आसक्ति के कारण मुझे छोड़ ही न दे। अतः पुनः अपनी सखी को नायक को बुलाने भेजती है। नायिका के इस व्यवहार को देखकर कवि कहता है, कि यह नायिका पानी निकल जाने के बाद बांध, बांध रही है। अर्थात जब वह नायक आया तब तो मानी नहीं, अब जब वह अपमानित सा होकर लौट गया है, तब मनाना चाहती है। जैसे बांध की आवश्यकता तब होती हैं, जब पानी तालाब से बाहर नहीं हुआ है। जब पानी बह गया तब बांध बांधने क्या होगा, वह पानी अब लौटकर पुनः तालाब में तो आएगा नहीं। यदि तालाब में पानी रहते ही निर्गम मार्ग पर बांध बना दिया जाता तो, पानी नहीं निकल पाता। अर्थात् जब नायक आया था, तभी यह मान गयी होती तो ठीक था, अब अपमानित करने के बाद मनाने के प्रयत्न से क्या लाभ होगा ? यहां नायिक प्रस्तुत है। उसके प्रस्तुत व्यवहार की व्यञ्जना के लिए केवल अप्रस्तुत व्यवहार का वर्णन हुआ है। यहां अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा निदर्शना नहीं है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए इन सभी अलङ्कारों से पार्थक्य दिखाया जा रहा है–

अप्रस्तुत प्रशंसा और ललित– अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध कराया जाता है। वहां धर्मी तथा व्यवहार दोनों अप्रस्तुत होता है। जैसे चातक धन्य है जो इन्द्र की अतिरिक्त किसी से नहीं मांगता। यहां चातक तथा उसकी याचना दोनों अप्रस्तुत हैं। इससे स्वाभिमानी याचक की क्षुद्र से नहीं, याचना की व्यञ्जना होती है। परञ्च यहां

ललित में केवल व्यवहार अप्रस्तुत होता है, व्यवहार करने वाला नहीं। जैसे यहाँ 'निर्गते तीरे' वाले उदाहरण में 'एषा (नायिका) प्रस्तुत है और यही वर्णनीय है। केवल इसके नायकानयनरूप व्यवहार के लिए बांध बांधने रूप अप्रस्तुत व्यवहार का वर्णन हुआ है। अतः यह (ललित) अप्रस्तुत प्रशंसा से पृथक है।'

ललित तथा समासोक्ति- समासोक्ति में प्रस्तुत का वर्णन होता है। समान विशेषण से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है। जैसे यह लाल चन्द्रमा पूर्व दिशा का चुम्बन करता है। इस रात्रि वर्णन के क्रम में चन्द्र वर्णन से 'राग तथा चुम्बति' रूप समान पद से नायक के परनायिका मुख चुम्बन रूप अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है। पर ललित में धर्मी तो प्रस्तुत है, पर व्यवहार अप्रस्तुत है। अतः यह समासोक्ति से पृथक् है।

निदर्शना तथा ललित- निदर्शना अलङ्कार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वर्णित होता है। दोनों में पृथक होने पर भी ऐक्य का आरोप होता है। (द्रष्टव्य निदर्शना विवेचन)। पर ललित में दोनों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) पूर्णतया वर्णित नहीं होता। यहां व्यवहार अप्रस्तुत होता है और धर्मी प्रस्तुत। अतः यह निदर्शना से पृथक है। विषयी (अप्रस्तुत) और विषय (प्रस्तुत) के वर्णन होने पर जो निदर्शना होती है, उसे केवल एक (विषय) के वर्णन होने पर नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा होगा तब भेद में अभेद रूप अतिशयोक्ति में रूपक हो जाएगा। क्योंकि रूपक में मुख और कमल दोनों होता है, जबकि भेद में अभेद वाले अतिशयोक्ति में केवल कमल ही कहा होता है।

अब आगे अतिशयोक्ति विषयक और शंका दिखाकर समाधान करते हैं-

ननु तर्ह्यत्र प्रस्तुतनायकादिनिगरणेन तत्रशब्दोपात्ताप्रस्तुतनीराद्यभेदाध्यवसाय इति भेदे अभेदरूपातिशयोक्तिरस्तु। एवं तर्हि सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा विषयेऽपि सैवातिशयोक्तिः स्यात्। अप्रस्तुतधर्मिकत्वान्न भवतीति चेत् तत्राप्यप्रस्तुतधर्मिवाचकपदस्यापि प्रसिद्धातिशयोक्त्युदाहरणेष्विव प्रस्तुतधर्मिलक्षकत्वसंभवात्॥ नन्वप्रस्तुतप्रशंसायां सरूपादप्रस्तुत वाक्यार्थात् प्रस्तुतवाक्यार्थोऽवगम्यते, न त्वतिशयोक्ताविवविषयिवाचकैस्तत्पदै र्विषयाः लक्ष्यन्त

इति भेद इति चेत्तर्हि प्रस्तुतगतादप्रस्तुत वृत्तान्तरूपाद्वाक्यार्थात्तद्गत प्रस्तुत वृत्तान्तरूपो वाक्यार्थोऽवगम्यत इत्येवातिशयोक्तितो भेदोऽस्तु।

तो यहां शब्दोपात्त नीरनिर्गमन सेतु बन्धन आदि से प्रस्तुत नायकगमन तथा पुनरागमन तथा पुनरानयन चेष्टा का निगरण कर लिये जाने से अभेदाध्यवसाय से भेद में अभेद रूपातिशयोक्ति मान लिया जाये। यदि ऐसा होगा तो सारूप्य निबन्धन अप्रस्तुत प्रशंसा में भी वही अतिशयोक्ति हो जाएगी। अप्रस्तुत धर्मी के होने से अप्रस्तुत प्रशंसा में अतिशयोक्ति हो जाएगी। अप्रस्तुतधर्मी के होने से अप्रस्तुत प्रशंसा में अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि ऐसा है– तो अप्रस्तुत प्रशंसा में भी अप्रस्तुतधर्मिवाचक पद प्रसिद्ध अतिशयोक्ति के उदाहरण की तरह प्रस्तुतधर्मी का लक्षक हो सकता है। अप्रस्तुत प्रशंसा में सरूप वाक्य (अप्रस्तुत) से प्रस्तुत वाक्यार्थ की व्यञ्जना होती है न कि अतिशयोक्ति की तरह विषयी वाचक पद से विषय की लक्षणा होती है। यह (अप्रस्तुत प्रशंसा तथा अतिशयोक्ति) में भेद है। तो यहां (ललित में) भी प्रस्तुत प्रसंङ्ग में वर्णित अप्रस्तुत वृत्तान्त रूप वाक्यार्थ से प्रस्तुत वृत्तान्तरूप वाक्यार्थ की व्यञ्जना होती है। अतः अतिशयोक्ति से इसका भेद है।

इस व्याख्यांश में जो दिखाया गया है, वह सामान्यतया इस तरह समझा जा सकता है। यहां पूर्वपक्षी अतिशयोक्ति पक्ष में मत रखते हैं और सिद्धान्तपक्ष खण्डन करता है। यथा–

पूर्वपक्षी– यहां निदर्शना समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा भले न हो पर अतिशयोक्ति मानने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि यहां नायकगमन और पुनः नायकागमन की चेष्टा वर्णनीय है। नीर निर्गमन तथा सेतुबन्धन से (वाच्य) द्वारा उस नायक गमन तथा पुनरानयन का निगरण हो गया है। अतः भेद में अभेद रूप अतिशयोक्ति माना जा सकता है।

सिद्धान्त पक्ष– यदि ऐसा होगा तो सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा में भी अतिशयोक्ति ही होगी। क्योंकि वहां अप्रस्तुत (वाच्य) से प्रस्तुत का निगरण हो ही जाता है।

पूर्व पक्षी– अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत वर्ण्य होता है, जबकि अतिशयोक्ति में

अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का निगरण होता है। अतः अप्रस्तुत प्रशंसा में अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सिद्धान्त पक्ष – ऐसी बात नहीं है। जैसे अतिशयोक्ति में प्रयुक्त अप्रस्तुत साध्यवसाना द्वारा प्रस्तुत का लक्षक होता है, उसी तरह कभी-कभी अप्रस्तुत प्रशंसा में भी अप्रस्तुत प्रस्तुत का लक्षक हो सकता है।

पूर्व पक्षी – अप्रस्तुत प्रशंसा में तुल्य अप्रस्तुत वाक्यार्थ से प्रस्तुतवाक्यार्थ की व्यञ्जना होती है। अतिशयोक्ति में अप्रस्तुत वाचक पदों से प्रस्तुत वाचक विषय की लक्षणा होती है। क्योंकि अतिशयोक्ति में प्रस्तुत वर्ण्य होता है और अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत वर्ण्य होता है। नायिक के मुख को देखकर चांद कहा जाता है (अतिशयोक्ति में) परञ्च अप्रस्तुत प्रशंसा में कहीं भी प्रस्तुत उपस्थित नहीं होता, यही दोनों में अन्तर है।

सिद्धान्त पक्षी – तब तो ललित भी अतिशयोक्ति से पृथक है ही। क्योंकि यहां प्रस्तुत वर्णन के क्रम में अप्रस्तुत वृत्तान्त से प्रस्तुत वृत्तान्त रूप वाक्यार्थ की व्यञ्जना होती है, जबकि अतिशयोक्ति में प्रस्तुत की लक्षणा होती है।

इस तरह सिद्धान्त पक्ष ने यह सिद्ध किया कि ललित अलङ्कार अतिशयोक्ति से पृथक् है। अब अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण को लेकर पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हैं कि अप्रस्तुत प्रशंसा में कैसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है।

वस्तुतस्तु –

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधितत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक्किं भूयसोक्तेन वा?।
पूर्वं निश्चित वानसि भ्रमर! हे यद्वारणोऽद्याप्यसा –
वन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः?॥

(भल्ल. २१.१८)

इत्याद्यप्रस्तुत प्रशंसोदाहरणे प्रथमप्रतीतादप्रस्तुतवाक्यार्थात् प्रस्तुतवाक्यार्थोऽवगम्यत इत्येतन्नघटते, अप्रस्तुते वारणस्य भ्रमरासेव्यत्वे

कर्णचापलमात्रस्य भ्रमरनिरासकरणस्य हेतुत्वसम्भवेऽपि रसनाविपर्ययान्तः शून्यकरत्व योर्हेतुत्वासम्भवेन मदस्य प्रत्युत तत्सेव्यत्व एवं हेतुत्वेन च रसनाविपर्ययादीनां तत्र हेतुत्वान्वयार्थं वारणपदस्य दुष्प्रभुरूपविषयक्रोडीकारेणैव प्रवृत्तेर्वक्तव्यत्वात्। एवं सत्यपि यद्यप्रस्तुतसम्बोधनादिविच्छित्तिविशेषात्तत्राप्रस्तुत प्रशंसाया अतिशयोक्तितो भेदो घटते तदात्रापि प्रस्तुतं धर्मिणंस्वपदेन निर्दिश्य तत्रा प्रस्तुतवर्णनारूपस्य विच्छित्तिविशेषस्य सद्भावात्ततोभेदः सुतरां घटते। 'पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निः सरन्ति' 'वापी कापि स्फुरति गगने तत्परं सूक्ष्मपद्मा' इत्यादिषु च प्रस्तुतस्य कस्यचित् धर्मिणः स्ववाचकेनानिर्दिष्टत्वाददतिशयोक्तिरेव। एतेन गतजलसेतुबन्धवर्णनादिष्वसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरस्त्विति शङ्कापि निरस्ता। तथा सति 'कस्त्वं भो! कथयामि' इत्यादावपि तत्प्रसङ्गात् सारूप्यनिबन्धनप्रस्तुतवाक्यार्थावगतिरूपविच्छिति विशेषेणालङ्कारान्तरत्वकल्पनं त्विहापि तुल्यम्। तस्मात्सर्वालङ्कारविलक्षणमिदं ललितम्।

वास्तव में–

वह रसना विपर्यय विधि (जिह्वा परिवृत्ति) पहले वाली है, कान की चपलता (सुनी बात पर विश्वास होना या न होना) वही है। मद से मार्गभ्रष्ट होने वाली दृष्टि भी वही है। अधिक कहने से क्या? ऐ भ्रमर! तूने पहले निश्चित कर लिया है, कि यह बारण (हाथी या छोड़ने लायक) है। तथापि अन्तः शून्यकर वाले (खोखला सूंढ़ वाला या खाली हाथ वाला) की सेवा कर रहे हो, यह कैसा आग्रह है?

इस अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण में पहले प्रतीत अप्रस्तुत वाक्यार्थ से प्रस्तुत वाक्यार्थ की व्यञ्जना होती है। यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अप्रस्तुत हाथी के वर्णन में कान की चपलता भ्रमर को निराश करने का कारण है तथापि रसना विपर्यय और अन्तः शून्यकरत्व ये दोनों भ्रमर के निरास के कारण नहीं हैं, तथा मद का होना तो भ्रमर के लिए सेव्यत्व का ही कारण है। रसना विपर्यय आदि के अन्वय के लिए वारण पद का दुष्प्रभुरूप में विषय का आक्षेप करके ही वक्तव्य उचित होता है। इतना होने पर भी अप्रस्तुत

सम्बोधनादि विशेष चमत्कार से यदि अप्रस्तुत प्रशंसा और अतिशयोक्ति में भेद होता ही है, तब तो ललित अलङ्कार में भी प्रस्तुत धर्मी का अपने शब्द से निर्देश करके अप्रस्तुत रूप वर्णन की विचित्रता से अतिशयोक्ति से भेद हो ही जाता है। 'पश्यनीलोत्पल......' वापी कापि स्फुरति..... इत्यादि में प्रस्तुत धर्मी का अपने वाचक से निर्दिष्ट नहीं होने से अतिशयोक्ति ही है। इससे गतजल सेतु बन्धन वर्णन में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूपातिशयोक्ति वाली शंका दूर हो गयी। ऐसा होने पर जैसे 'कस्त्वं भो कथयामि' आदि में उसी प्रसङ्ग से सारूप्य निबन्धन प्रस्तुत वाक्यार्थ की व्यञ्जना रूप विचित्रता विशेष के कारण अलङ्कारान्तर की कल्पना यहाँ (ललित में) भी तुल्य है। अर्थात् जब वहाँ (कस्त्वं भो) नया अलङ्कार होता है, तो यहाँ (ललित में) क्यों नहीं होगा। इसलिए सभी अलङ्कारों से विलक्षण यह ललित अलङ्कार है।

यहाँ जो अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण दिया गया है, उसमें हाथी अप्रस्तुत है तथा दुष्प्रभु (कुल्सित राजा) प्रस्तुत है। यहाँ हाथी रूप अप्रस्तुत की पहले प्रतीति होती है। इसके बाद प्रस्तुत अर्थ कुल्सित राजा की अभिव्यञ्जना होती है, यह दीक्षित जी नहीं मानते। इनके अनुसार दोनों प्रतीति प्रथम क्षण में ही होती है। क्योंकि श्लोक में कहा गया है कि भ्रमर! तू अब भी इस वारण की सेवा क्यूं करता है? यहाँ राजा या हाथी में चार विशेषण (कारण) हैं। (१) रसनाविपर्यय (२) कान की चपलता (३) मदविस्मृतमार्गत्व (४) अन्तः शून्यकरत्व। इसमें भ्रमर के हटने का कारण केवल कान की चपलता ही है अर्थात् हाथी के कान के चंचल होने से चोट के कारण भ्रमर भाग सकता है, पर प्रथम और चतुर्थ हेतु भ्रमर को हटाने का हेतु नहीं है। अलवत्ता तीसरा हेतु तो भ्रमर को हटाने का नहीं अपितु चिपकाने का कारण है। भ्रमर मद के सुगन्ध पर दौड़ता है वहाँ से भागता नहीं। अब प्रथम और चतुर्थ हेतु का अन्वय करने के लिए दुष्प्रभुरूप वाक्यार्थ की प्रतीति भी साथ-साथ होती है अन्यथा इन दोनों का अन्वय नहीं होगा तथा तीसरे हेतु का विरोध होगा। अतः अप्रस्तुत की प्रथम प्रतीति और प्रस्तुत की व्यञ्जना बाद में होती है, यह उपयुक्त नहीं है। तब अतिशयोक्ति से इसका भेद इसलिए होता है, कि यहाँ (अप्रस्तुत प्रशंसा) में अप्रस्तुत

को सम्बोधन कर वक्तव्य दिया जाता है। अतिशयोक्ति में ऐसा नहीं होता। उसी तरह ललित में भी एक विशेष चमत्कार होता है कि प्रस्तुत धर्मी का स्वपदेन निर्देश देकर अप्रस्तुत व्यवहार से प्रस्तुत व्यवहार की व्यञ्जना की जाती है। अतिशयोक्ति में प्रस्तुत का स्वपद वाच्यत्व नहीं होता है। वैचित्र्य का होना ही अलङ्कार होता है। जैसे 'कस्त्वं भो' इस श्लोक में थोड़ी सी विचित्रता है कि प्रस्तुत एक से अन्य प्रस्तुत का बोध होता है, तो यह न अप्रस्तुत प्रशंसा है न अतिशयोक्ति, बल्कि यह प्रस्तुतांकुर अलङ्कार हो जाता है। तब ललित में जब विचित्रता है, तो अलग अलङ्कार क्यों न माना जाए। अतः निश्चित ही यह (ललित) पृथक् अलङ्कार है।

यथा वा - (रघु. १/१)

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषयामतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

अत्रापि निदर्शना भ्रान्तिर्न कार्या। अल्पविषयया मत्या सूर्यवंशं वर्णयितुमिच्छुरहम् इति प्रस्तुतवृत्तान्तानुपन्यासात्तत्प्रतिविम्म्यभूतस्य 'उडुपेन सागर तितीर्षुरस्मि' इत्य प्रस्तुत वृत्तान्तस्य वर्णनेनादौ विषमालङ्कारविन्धसनेन च केवलं तत्र तात्पर्यस्य गम्यमानत्वात्।

यथा वा (नै. ८/२५) -

अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य
बसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य।
त्वदाप्तसंकेततया कृतार्था
श्राव्यापि नानेन जनेन संज्ञा॥

अत्र 'कतमो देशस्त्वया परित्यक्तः?' इति प्रस्तुतार्थमनुपन्यस्य बसन्तमुक्तस्य वनस्य दशामनायि इति प्रतिबिम्बभूतार्थमात्रोपन्यासाल्ललितालङ्कारः॥ १२८॥

कहाँ सूर्य से उत्पन्न वंश और कहाँ अल्पविषय को जानने वाली बुद्धि। मैं मोहवश छोटी नौका से दुस्तर सागर को तैरने की इच्छा वाला हूँ।

यहाँ निदर्शना की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। अंल्पविषया मति से सूर्यवंश के वर्णन की इच्छा वाला मैं हूँ। इस प्रस्तुत वृत्तान्त के उपन्यास से तत्प्रतिबिम्बभूत 'छोटी नौका से सागर तैरने की इच्छा वाला हूँ' इस अप्रस्तुत वर्णन से आदि में विषमालङ्कार के विन्यास से केवल तात्पर्य ही गम्यमान है।

जैसे – दूसरा उदाहरण –

तुम्हारे द्वारा कौन सा देश बसन्त से मुक्त वन की दशा को प्राप्त कराया गया है। तुम्हारे संकेत के लिए प्राप्त संज्ञा भी इस जन से (दमयन्ती से) सुनने के योग्य नहीं है।

यहाँ 'कौन सा देश तुमने छोड़ दिया है' इस प्रस्तुत अर्थ का उपन्यास कर 'वसन्त मुक्त वन की दशा को प्राप्त कराया गया' इस प्रतिबिम्बभूत अर्थ मात्र में उपन्यास से ललितालङ्कार हैं।

यहाँ जो दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इन दोनों में निदर्शना की व्यवस्था मानी जाती है। यहाँ निदर्शना नहीं ललित अलङ्कार है, इसी की सिद्धि के लिए यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पहला श्लोक महाकवि कालिदास के सुप्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश का पहला श्लोक है। इसमें कवि ने सूर्यवंश की विशालता और अपने ज्ञान की अल्पता बताकर अपना विनय प्रकट किया है। यहाँ सामान्यतया अल्प बुद्धि से सूर्यवंश जैसे विशाल वंश का वर्णन करना तथा छोटी नौका से सागर पार करने में 'साक्षात सम्बन्ध न होने पर भी उपमानोपयेयभाव की कल्पना से लोग निदर्शना मानते हैं। पर दीक्षित जी का कहना है कि यहाँ मैं अल्पबुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन करने वाला हूँ' यह प्रस्तुत है। तथा मेरा व्यापार 'छोटी नौका से समुद्र पार करने की इच्छा जैसा है' अप्रस्तुत द्वारा वर्णित हुआ है। इस अप्रस्तुत व्यापार से प्रस्तुत व्यापार की व्यञ्जना होने से यहाँ ललित अलंकार है। पहले भाग में कहां सूर्यवंश और कहाँ मेरी अल्पबुद्धि इसके द्वारा कवि का भाव तुच्छ बुद्धि से विशाल वंश के वर्णन तक ही सीमित है।

इसी तरह दूसरे उदाहरण में दमयन्ती नल का परिचय पूछ रही है। वह सीधा प्रश्न करती है, कि तुम कहां से आ रहे हो 'यह न कहकर किस देश को बसन्त से मुक्त वन सा बनाया है' यह कहती है। यहाँ तुम्हारे आने का प्रतिबिम्ब भूत बसन्त से वन को मुक्त करना

रूप अर्थ के प्रयुक्त होने से ललित अलङ्कार है। क्योंकि तुम कहाँ से आ रहे हो। यही प्रस्तुत उपस्थित है, नल वहाँ उपस्थित है केवल आगमन रूप व्यापार के प्रतिबिम्ब भूत अर्थ का निवेश हुआ है। अतः यहाँ ललित अलङ्कार ही है।

६७ – प्रहर्षणालङ्कारः

उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्।
तामेव ध्यायते तस्मै निसृष्टा सैव दूतिका॥ १२९॥

उत्कण्ठा इच्छा विशेषः।

सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यगास्तीत्यभिमन्यते।
तत्प्राप्तीच्छां ससंकल्पामुत्कण्ठां कवयोविदुः॥

इत्युक्तलक्षणात्तद्विषयस्यार्थस्य तदुपायसम्पादनयत्नं विना सिद्धिः प्रहर्षणम्। उदाहरणं स्पष्टम्।

यथा वा (गीतगोविन्दे १।१) –

मैधेर्मेदुरमम्वरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयंत्वमेव तदिपं राधे! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः॥

अत्र राधामाधवयोः परस्परमुत्कण्ठितत्वं प्रसिद्धतरम्। अग्रे च ग्रन्थकारेण निवद्धमित्यगोदाहरणे लक्षणानुगतिः॥ १२९॥

जहाँ बिना यत्न के उत्कण्ठितार्थ की सिद्धि होती है, वहाँ प्रहर्षण नाम का अलङ्कार होता है। जैसे – जिसका वह ध्यान कर रहा था, वही दूतिका उसके लिए भेजी गई।

उत्कण्ठा इच्छा विशेष को कहते हैं। जिस इच्छा में समस्त इन्द्रियों के सुख का आस्वाद समझा जाता है। उस इच्छा की पूर्ति के लिए संकल्प (प्रयत्न) होता है, ऐसी इच्छा को कवि लोग उत्कण्ठा कहते हैं।

इस लक्षण से तद्विषयक अर्थ के उपाय सम्पादन के बिना सिद्धि ही प्रहर्षण होता है। उदाहरण स्पष्ट ही है।

जैसे दूसरा उदाहरण - (गीतगोविन्द १।१)

आकाश मेघ से ढक गया है। सम्पूर्ण वनभूमि तमाल के वृक्षों से अंधेरी सी हो गई है। संध्या हो चली है। यह (कृष्ण) डरपोक भी है। इसलिए हे राधे! तुम्हीं इसको (कृष्ण को) घर पहुँचा दो। इस तरह नन्द के आदेश से घर की ओर प्रस्थित राधा-माधव की यमुना किनारे कुञ्जों में की गई एकान्त क्रीड़ा सर्वोत्कृष्टा हो।

यहाँ राधा और माधव का परस्पर उत्कण्ठित होना प्रसिद्ध ही है। इसी गीतगोविन्द में आगे चलकर कवि जयदेव ने दोनों की उत्कण्ठा को निबद्ध किया है। इसलिए यहाँ उदाहरण की संगति होती है।

यहाँ अत्यन्त अभिलक्षित वस्तु की प्राप्ति या इच्छा की पूर्ति बिना प्रयत्न के हो जाता है। इस अलङ्कार का नाम प्रहर्षण है। अर्थात् प्रयत्न से जो प्राप्य है वो यदि बिना प्रयत्न के ही प्राप्त हो जाए तो हर्षाधिक्य का होना स्वाभाविक है। अतः यह अन्वय नाम है। कारिका वाले उदाहरण में नायक किसी नायिका का ध्यान कर रहा है। अर्थात् उसे प्राप्त करने के उपाय ढूंढ़ रहा है। प्राप्त करने की इच्छा प्रबल है। तभी उस नायिका द्वारा प्रेषित दूती उस नायक के लिए (बुलाने) आ पहुँची। यहाँ नायक ने कोई प्रयास नहीं किया। स्वयमेव उसकी इच्छा की पूर्ति हो गयी। दूसरे उदाहरण में यही देखा जाता है। राधा और माधव एक-दूसरे को कितना चाहते हैं, यह तो सम्पूर्ण गीतगोविन्द दिखाता है। यहाँ नन्द के आदेश से बिना प्रयत्न के राधा को माधव मिल गए और माधव को राधा मिल गई। यहाँ दोनों ने परस्पर प्राप्त्यर्थ कोई प्रयास नहीं किया है। अतः यहाँ प्रहर्षण नामक अलङ्कार है।

अब प्रहर्षण अलङ्कार के दूसरे प्रकार का निरूपण करते हैं-

वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।
दीपमुद्योजयेद्यावत्तावदभ्युदितो रविः॥ १३०॥

स्पष्टम्। यथा वा-

चातकस्त्रिचतुरान्पयः कणान् याचते जलधरं पिपासया।
सोऽपि पूरयति विश्वम्भसा हन्त हन्त महतामुदारता॥ १३०॥

जहाँ वाञ्छित वस्तु से अधिक की प्राप्ति होती है वहाँ प्रहर्षण अलङ्कार का दूसरा प्रकार होता है। जैसे – जब तक मैंने वह दीप जलाए तब तक सूर्योदय हो गया।

जैसे दूसरा उदाहरण –

चातक अपनी पिपासा (पीने की इच्छा) से जलधर से दो चार बूंद की याचना करता है। वह मेघ विश्व को पानी से भर देता है। महान् व्यक्तियों की उदारता धन्य है।

यहाँ पहले उदाहरण में दीपक का प्रकाश ही वाञ्छित है। परञ्च उस प्रकाश से लाखों गुना अधिक प्रकाश सूर्य से अनायास ही प्राप्त हो जाता है। तथा दूसरे उदाहरण में चातक दो-चार बूंद ही चाहता है, पर उसे पर्याप्त जल मिलता है। अत: अभीप्सित से अधिक की प्राप्ति से यहाँ प्रहर्षण का भेद है।

इस श्लोक को पं. राज उचित उदाहरण नहीं मानते, क्योंकि पं. राज के अनुसार अभीप्सित से अधिक प्राप्ति यदि चाहने वाले के हर्षाधिक्य का कारण बनता है, तभी प्रहर्षण का नाम सार्थक होता है। जैसे कारिका वाले उदाहरण में जो दीपक का प्रकाश चाहता है, उसी को सूर्य के प्रकाश से अधिक खुशी होती है। परञ्च यहाँ चातक को अधिक जल से अधिक खुशी मिलती है, ऐसी बात नहीं है। वह तो दो-चार बूंद से खुश हो जाता है। अधिक जल उसके लिए किसी हर्षोधिक्य का कारण नहीं होता, अत: यहाँ प्रहर्षण नहीं है अपितु बादल की महानता का समर्थन वाक्य 'हन्त हन्त........' होने से अर्थान्तरन्यास की ही पुष्टि होती है। (र.गं.)

अब प्रहर्षण के तीसरे प्रकार का निरूपण करते हैं –

यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात् साक्षाल्लाभः फलस्य च।
निध्यञ्जनौषधीमूलं खनता साधितो निधिः॥ १३१॥

फलोपायसिद्ध्यर्थाद्यत्नान्मध्ये उपायसिद्धिमनपेक्ष्यापि साक्षात्फलस्यैव प्रहर्षणम्। यथा निध्यञ्जनसिद्ध्यर्थं मूलिकां खनतस्तत्रैव निधेर्लाभः।

यथा वा-

उच्चित्य प्रथममधः स्थितं मृगाक्षी
पुष्पौधं श्रितविटपं ग्रहीतुकामा।
आरोढुं पदमदधादशोकयष्टा-
वामूलं पुनरपि तेन पुष्पिताभूत्॥

अत्र पुष्पग्रहणोपायभूतारोहणासिद्ध्यर्थात्पदनिधानात्तत्रैव पुष्पग्रहण लाभः॥

जहाँ किसी वस्तु को प्राप्त करने के साधन के लिए उपाय किया जाए और इससे सीधा प्राप्य वस्तु ही प्राप्त हो जाए तो प्रहर्षण का तीसरा प्रकार होता है। जैसे निधि के लिए अञ्जनौषधि को खोदते हुए निधि को प्राप्त कर लिया।

फल (इच्छित वस्तु) प्राप्ति के उपायभूत वस्तु प्राप्त करने के यत्न से उपाय प्राप्ति के बिना साक्षात् फल की प्राप्ति ही प्रहर्षण है। जैसे – निधि अञ्जन की प्राप्ति के लिए जड़ को खोदते हुए निधि का लाभ है। जैसे – दूसरा उदाहरण –

मृगाक्षी (अशोक के) नीचे (डाली में) स्थित फूलों को चुनकर पुनः ऊपर वाले फूलों को चुनने की इच्छा से वृक्ष पर चढ़ने के लिए उसके तने पर पैर रखती है, तभी वह (नीचे की डाली) पुनः फूलों से लद गयी।

यहाँ फूल चुनने के उपायभूत वृक्षारोहण की सिद्धि के लिए प्रयत्न किया गया, पर सीधा पुष्प का ही लाभ हो गया।

यहाँ अभीप्सित वस्तु के लिए प्रयास नहीं किया जाता अपितु उसके लिए जो उचित है, उसके लिए प्रयास किया जाता है। पर लाभ उपायभूतवस्तु का नहीं, सीधे अभीप्सित वस्तु का होता है। जैसे – निधि प्राप्त करने के लिए औषधि का मूल (जड़ी) खोजा जाता है। यहाँ इस जड़ी को प्राप्त करने के बाद उस (खजाने) की खोज की जा सकेगी, जो वाञ्छित है। अर्थात् यह जड़ी खजाना प्राप्ति का साधन (उपाय) है। यहाँ साधनभूत जड़ी पाने के लिए प्रयास किया जाता है, पर लाभ जड़ी का नहीं सीधा खजाने का हो जाता है। इसी तरह अगले उदाहरण में मृगाक्षी ऊपर का फूल चुनने के लिए अशोक वृक्ष पर चढ़ना चाहती है। वृक्ष पर चढ़ने का प्रयास फूल प्राप्ति का उपाय है। पहले चढ़ने के प्रयास के बाद

जब वह चढ़ जाएगी, तब फूल के लिए प्रयास करेगी और फूल प्राप्त करेगी। यहाँ पहला प्रयास पेड़ पर चढ़ने का है, जो फूल प्राप्ति का उपाय मात्र है। परञ्च इसी प्रयास से सीधा फूल की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ कवि ने उस भाव का प्रयोग किया है, जिसमें लड़की के पादाघात से अशोक फूलने लगता है। यथा-

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति वकुलस्सीधुगण्डूषसेकात्।
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता
च्चूतो मेरुर्गिरान् विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः॥

६८. विषादनालङ्कारः

इष्यमानविरुद्धार्थ संप्राप्तिस्तु विषादनम्।
दीपमुद्योजयेद्यावन्निर्वाणस्तावदेव सः॥१३२॥

यथा वा-

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥१३२॥

जहाँ अभीप्सित वस्तु के विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति होती है, वहाँ विषादन नामक अलङ्कार होता है। जैसे - जब तक वह दीपक को तेज करता (है) तब तक दीपक बुझ गया।

जैसे दूसरा उदाहरण -

रात बीत जाएगी, सुनहला प्रभात होगा, सूर्य उगेगा, कमल की लक्ष्मी हंसेगी, कमल कोश में बैठा भ्रमर इतना सोच रहा था कि उस कमलिनी को एक हाथी ने आकर उखाड़ दिया।

इस अलङ्कार में जिस वस्तु की इच्छा होती है, फल उसके विपरीत होता है। कारिका वाले उदाहरण में दीपक को तेज करने के पीछे इच्छा यह है कि जितना प्रकाश

हो रहा है, उससे अधिक प्रकाश मिले। पर फल यह होता है कि दीपक बुझ जाता है और जितना प्रकाश पहले मिल रहा था वह भी खत्म हो जाता है। अधिक की चाह में मूल भी खत्म हो जाता है। 'चौबे गया छब्बे होने दुब्बे हो के आय' वाली कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। वैसे दूसरे उदाहरण में भ्रमर की इच्छा है कि कमल खिले और मैं जी भरकर कमल रस का पान करूं, पर फल यह होता है कि हाथी कमलिनी को मसल डालता है। इस तरह इच्छा के विरुद्ध फल होने से यहाँ विषादन अलङ्कार होता है।

६९. उल्लासालङ्कारः

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि।
अपि मां पावयेत् साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी॥ १३३॥
काठिन्य कुचयोः स्त्रष्टुं वाञ्छन्त्यः पादपद्मयोः।
निन्दन्ति च विधातारं त्वद्घाटीष्वरियोषितः॥ १३४॥
तदभाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम्।
लाभोऽयमेव भूपालसेवकानां न चेद्वधः॥ १३५॥

यत्र कस्यचित्गुणेनान्यस्य गुणो दोषेण दोषो, गुणेन दोषो दोषेण गुणो वा वर्ण्यते स उल्लासः। द्वितीयार्द्धमाद्यस्योदाहरणम्। तत्र पतिव्रता महिमगुणेन तदीयस्नानतो गङ्गायाः पावनत्वगुणो वर्णितः। द्वितीय श्लोके द्वितीयस्योदाहरणम्। तत्र राज्ञो घाटीषु वने पलायमानानामरातियोषितां पादयोर्धावन परिपन्थिमार्दवदोषेण तयोः काठिन्यमसृष्ट्वा व्यर्थं कुचयोस्तत्सृष्टवतो धातुर्निन्द्यत्व दोषो वर्णितः। तृतीय श्लोकस्तृतीय चतुर्थयोरुदाहरणम्। तत्र सज्जनमहिमगुणेन धनस्य तदनाश्रयणं दोषत्वेन, राज्ञः क्रौर्यदोषेण तत्सेवकानां वधं बिना विनिर्गमनं गुणत्वेन वर्णितम्।

किसी एक के गुण या दोष से यदि अन्य के गुण या दोष का वर्णन होता है, तो उल्लास नामक अलङ्कार होता है। जैसे - (१) जाह्नवी (गङ्गा) यह चाहती है कि यह साध्वी (सती) नहाकर मुझे पवित्र कर दे। (२) युद्ध यात्रा करने पर आपके शत्रु की रमणियां विधाता की निन्दा करती है ? क्योंकि वो अपने पदकमल में स्तनयुगल की

कठिनता की सृष्टि चाहती है। (३) यह धन का दुर्भाग्य है कि वह सज्जन का आश्रय नहीं लेता। (४) यदि राजा के सेवकों का वध नहीं होता है तो यह उसका लाभ है।१३३-१३५।

जहाँ किसी अन्य के गुण से अन्य का गुण, अन्य के दोष से अन्य का दोष, एक के गुण से दूसरे का दोष तथा एक के दोष से दूसरे का गुण वर्णित होता है, तो उल्लास अलङ्कार होता है। प्रथम कारिका का आधा भाग प्रथम भेद (गुण से गुण) का उदाहरण है। द्वितीय कारिका श्लोक द्वितीय भेद (दोष से दोष) का उदाहरण है। वहाँ राजा के युद्ध यात्रा करने पर वन में भागती हुई शत्रु रमणियों के पैर में दौड़ने में बाधक कोमलता का दोष है। इन पैरों में कठोरता को न बनाकर व्यर्थ ही स्तनों में कठोरता को बनाया है, इसलिए विधाता निन्दनीय है, अतः उनका दोष वर्णित है। तृतीय श्लोक कारिका में तीसरे और चौथे भेद का उदाहरण है। (गुण से दोष तथा दोष से गुण का) सज्जन की महिमा के गुण से धन का उसका आश्रय न लेने से दोष वर्णित है तथा राजा के क्रोध दोष से उसके सेवकों का वध के बिना निकल जाना यह गुण रूप में वर्णित है।

यहाँ उल्लासालङ्कार के चार प्रकार बताये गया हैं। (१) गुण से गुण का वर्णन (२) दोष से दोष का वर्णन (३) गुण से दोष का वर्णन (४) दोष से गुण का वर्णन।

(१) पतिव्रता के स्नान से गंगा पवित्र हो जाएगी। इस तरह पतिव्रता के गुण का वर्णन है। इसी गुण से गंगा पवित्र है, यह गंगा का गुण वर्णित होता है।

(२) शत्रु रमणियां जङ्गल में भाग रही हैं। पैर कोमल होने के कारण वे भाग नहीं पा रही हैं। पैर को कठोर बनाना चाहिए था जिससे भागने में बाधा नहीं होती। इस तरह पैर में कठोरता के बदले कोमलता देकर विधाता ने गलत किया और स्तनयुगल में व्यर्थ ही कठोरता रख दी। वहाँ कठोरता की कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह स्तनयुगल में कठोरता और पादयुगल में कोमलता रूप दोष के वर्णन से विधाता का निद्यत्व रूप दोष वर्णित है।

(३) सज्जन का आश्रय न लेना धन का दुर्भाग्य है। यहाँ सज्जन की महत्ता गुण वर्णन है तथा आश्रय न लेने से धन का दुर्भाग्य वर्णन होने से गुण से दोष का वर्णन है।

(४) क्रोधी राजा का सेवक बचकर निकल गया। यहाँ राजा के क्रोध रूप दोष का वर्णन है। और सेवकों का बचकर निकल जाना गुण है। अतः राजा के दोष से सेवकों के गुण का वर्णन है। क्रोधी राजा के क्रोध से बचकर निकल जाने में सेवकों का गुण स्पष्टतः द्योतित है।

अब इन चारों का क्रमशः भिन्न उदाहरण देते हैं–

अंननैव क्रमेणोदाहरणानि –

यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो निपीड़ितः।

एकः कृती मदङ्गेषु शेषमङ्गं भुवो भरः॥

अत्र नायिका सौन्दर्यगुणेन तदंसनिपीड़ितस्य स्वांसस्य कृतित्वगुणो वर्णितः॥

लोकानन्दन! चन्दनद्रुम! सखे! नास्मिन् वने स्थीयतां

दुर्वंशैः पुरुषैरसार हृदयैरा क्रान्तमेतद्वनम्।

ते ह्यन्योन्यनिघर्षजातदहन ज्वालावली सङ्कुला

न स्वान्येव कुलानि केवलमहो सर्व दहेयुर्वनम्॥

अत्र वेणूनां परस्परसंघर्षणसंजातदहनसंकुलत्वदोषेण वननाशरूप दोषो वर्णितः॥

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालै

र्दूरीकृताः करिवरेण मदान्धवुद्धया।

तस्यैव गणुयुगमण्डलहानिरेषा

भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति॥

अत्र भ्रमराणामलङ्करणत्वगुणेन राजस्य तत्प्रतिक्षेपो दोषत्वेन वर्णितः॥

आघ्रातं परिचुम्बितं परिमुहुर्लीढं पुनश्चर्वितं

त्यक्तं वा भुवि नीरसेन मनसा तत्र व्यथां मा कृथाः।

हे सद्रत्न! तवैतदेव कुशलं यद्वानरेणादरा

दन्तः सारविलोकनव्यसनिना चूर्णीकृतं नाश्मना॥

अत्र वानरस्य चापलदोषेण रत्नस्य चूर्णनाभावो गुणत्वेन वर्णितः।

अत्र प्रथम चतुर्थयोरुल्लासोऽन्वर्थः। मध्यमयोश्छत्रिन्यायेन लाक्षणिकः॥ १३३-१३५॥

रथ के हिलने से जो यह मेरा कंधा उसके (नायिका) कंधे से टकराया तो मेरे शरीर के अंगों में यही एक कंधा कृती है। शेष सारा अंग तो धरती का भार ही है।

यहाँ नायिका के सौन्दर्यगुण से उसके कंधे से टकराये कंधे का गुणत्व वर्णन हुआ है।

हे लोक को आनन्द देने वाले चन्दन! मेरे मित्र! इस जङ्गल में नहीं रहो। यह वन सारहीन हृदय वाले दुर्वंश (खराब वंश में उत्पन्न पुरुषों) से आक्रांत है। वे सभी आपस में टकराकर उत्पन्न अग्नि ज्वाला से न केवल अपने कुल को अपितु सम्पूर्ण जङ्गल को जला डालते हैं।

यहाँ बांस के परस्पर संघर्षन से उत्पन्न आग के दोष से वनविनाश रूप दोष वर्णित है।

दानार्थी (दान चाहने वाला) मधुकर यदि अपने कर्णतालों से हाथी के द्वारा अपनी मदान्धबुद्धि से हटा दिया गया तो इससे उस हाथी के गण्डस्थल की शोभा की हानि ही होती है। भौंरे तो खिले कमल वन में विहार करने लगते हैं।

यहाँ भ्रमर के अलंकरणत्व गुण से गज का भौंरे को हटाना रूप दोष वर्णित हुआ है।

हे सद्रत्न! बन्दरों ने तुम्हें सूंघा, चूमा, चाहा, चबाया, इसके बाद नीरस मन वाले बन्दरों ने तुम्हें जमीन पर फेंक दिया तो दुःख मत करो। इसमें तुम्हारा ही कुशल है, जो अन्तःभाग को देखने की इच्छा से बन्दरों ने तुम्हें पत्थर से चूर्ण नहीं कर डाला।

यहाँ बन्दर की चपलता दोष से रत्न के चूर्णन का अभाव रूप गुण बताया गया है। यहाँ प्रथम और चतुर्थ भेद में उल्लास अन्वय अर्थ वाला है। मध्य दोनों भेद छत्रिन्याय से लाक्षणिक है।

(१) प्रथम भेद गुण से गुण का वर्णन – इसमें नायिका के कंधे से स्पर्श होने से कंधे का सौभाग्य वर्णित है। नायिका के सौन्दर्य रूप गुण से कंधे का भी कृतित्व गुण

वर्णित है। जिस अंश ने नायिका का अंग स्पर्श नहीं पाया वह अधन्य है।

(२) **दूसरा भेद** – दोष से दोष का वर्णन – यहाँ बांस आपस में टकराकर आग उत्पन्न करता है। यह बांस का दोष है। इसी दोष से वन का विनाश रूप दोष भी वर्णित है।

(३) **तीसरा भेद – गुण से दोष का वर्णन** – यहाँ हाथी भौंरे को कान से आघात कर भगा देता है। जबकि मदजल पीने वाला भ्रमर गजराज का आभूषण होता है। इसी भ्रमर के कारण वह गजराज कहलाता है। भौंरा यदि मस्तक पर दानगन्ध के कारण न मंडराये तो हाथी की विशेषता क्या रह जाएगी? इस भ्रमर के गुण वर्णन से हाथी का मदान्धतावश भौंरे को हटाना रूप दोष वर्णित है।

(४) **चौथा भेद – दोष से गुण वर्णन** – यहाँ बन्दरों ने रत्न को धरती पर फेंक दिया है। बन्दर में चपलता रूप दोष का वर्णन है। इससे मणि के चूर्ण न करने से उसके (मणि) भाग्य रूप गुण का वर्णन हुआ है। बन्दर तो अपनी चपलतावश रत्न का चूर्ण कर डालता परञ्च नहीं किया यह मणि का सौभाग्य रूप गुण ही है।

प्रथम और चतुर्थ भेद में गुण से गुण का वर्णन होने से तथा दोष से गुण का वर्णन होने से उल्लास सही है। बीच वाले दोनों भेद उसी तरह हैं जैसे समूह में दो-चार छाते वाले लोगों को देखकर 'छाते वाले जाते हैं' ऐसा प्रयोग होता है। दूसरे उदाहरण में चन्दन और बांस के वृत्तान्त से सज्जन और दुर्जन की व्यञ्जना होने से तथा तीसरे में हाथी और भ्रमर वृत्तान्त से कुत्सितदाता और याचक की व्यञ्जना होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार दीखता है।

चौथा उदाहरण दोष से गुण वर्णन होने वाला है। परञ्च प्रस्तुत उदाहरण पूर्ण स्पष्ट नहीं लगता है। बन्दर की चपलता जिससे वह रत्नों को भी नहीं पहचानता उसकी भी बदहाली कर देता है। यह दोष है। परञ्च इससे रत्न का कोई गुण नहीं दीखता। बन्दरों ने रत्न के गुण पर लुब्ध होकर बिना चूर्ण किए छोड़ दिया, ऐसी बात नहीं है। अपितु चूमने चाटने के बाद उसे फेंक दिया है। यहाँ रत्न का भाग्य है, कि चूर्ण नहीं कर दिया गया। जैसे प्रथम उदाहरण में गंगा की पवित्रता, पतिव्रता के स्नान से व्यक्त होता है। पतिव्रता के

गुणाधिक्य से गंगा की पवित्रताधिक्य रूप गुण वर्णित होता है, उस तरह चौथे उदाहरण में स्पष्टता नहीं दिखती। आगे सहृदय पाठक स्वयं प्रमाण हैं।

७०. अवज्ञालङ्कारः

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तुसा।
स्वल्पमेवाम्बु लभते प्रस्थं प्राप्यापि सागरम्॥
मीलन्ति यदि पद्मानि का हानिरमृतद्युतेः॥ १३६॥

ताभ्यां गुणदोषाभ्याम्। तौ गुणदोषौ। अत्र कस्यचिद्गुणेनान्यस्य गुणोलाभे द्वितीयाद्र्धमुदाहरणम्। दोषेण दोषस्याप्राप्तौ तृतीयार्धम्। यथा-

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः।
यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापिरमणी
कुमाराणायन्तः करणहरणं नैव कुरुते॥
त्वं चेत्संचरसे वृषेण लघुता का नाम दिग्दन्तिनां
व्यालैः कङ्कणभूषणानि कुरुषे हानिर्न हेम्नामपि।
मूर्धन्यं कुरुषे जलांशुमयशः किं नाम लोकत्रयी
दीपस्याम्बुजवान्धवस्य जगतामीशोऽसिकिं ब्रूमहे॥

अत्राद्ये कवितारमणीगुणाभ्यामरसवालकयोर्हृदयोल्लस रूप गुणाभावो वर्णितः। द्वितीये परमेश्वरानङ्गी करणदोषेण दिग्गजादीनां लघुतादिदोषाभावो वर्णितः॥ १३६॥

उन दोनों (गुण-दोषों) से यदि अन्य का वो दोनों (गुण-दोष) वर्णित न हो तो अवज्ञा अलंकार होता है। जैसे-प्रस्थ (जलपात्र) सागर में जाकर भी थोड़ा सा ही जल लेता है। (गुण से गुणालाभ)

चन्द्रोदय होने पर यदि कमल बन्द हो जाता है, तो चांद की क्या हानि होती है? (दोष से दोषालाभ)

यहाँ 'ताभ्यां' का अर्थ गुण दोष से है तथा तौ का अर्थ गुण तथा दोष है। यहाँ किसी एक के गुण वर्णन से अन्य के गुण का लाभ नहीं होने से प्रथम उदाहरण पहले कारिका

श्लोक का आधा भाग है तथा एक के दोष से दूसरे के दोष की अप्राप्ति होने से दूसरे भेद का उदाहरण तीसरी अर्ध पंक्ति है।

जैसे –

यदि मेरी उक्ति सुधा बनकर विद्वानों के हृदय को आह्लादित करती है, तो अरसिक पुरुष के अनादर करने से क्या होता है? जैसे युवकों के हृदय को सुन्दरी रमणी जितना आह्लादित करती है, उतना बालकों के अन्तःकरण का हरण नहीं कर पाती है। (प्रथम भेद का उदाहरण) तथा –

यदि तुम बैल पर सवारी करते हो तो इससे दिग्गजों की लघुता नहीं होती, सांपों से यदि अपना कङ्कण आदि आभूषण बनाते हो तो स्वर्ण की हानि नहीं होती है। यदि चन्द्र (जलांशु) को शिर पर धारण करते हो, तो इससे तीनों लोकों के दीपक, कमल के बन्धु, सूर्य का क्या होता है? अधिक क्या कहूँ, तुम स्वयं जगत के स्वामी हो।

यहाँ पहले उदाहरण में कविता तथा रमणी के गुण से अरसिक तथा बालक के हृदय में उल्लास रूप गुण का अभाव वर्णित हुआ है। दूसरे उदाहरण में परमेश्वर के अंगीकार नहीं करने से रूप दोष से दिग्गजादि के लघुता आदि दोष का अभाव वर्णित हुआ है।

इस अलङ्कार की स्थिति उल्लास से विपरीत होती है। उल्लास में गुण से गुण का तथा दोष से दोष का वर्णन होता है। यहाँ गुण से गुणाभाव तथा दोष से दोषाभाव का वर्णन होता है। जैसे कारिका वाले पहले उदाहरण में जलपात्र के स्वानुकूल ग्रहण रूप गुण से अन्य (सागर) के गुण का वर्णन नहीं हुआ है। तथा दूसरे में चन्द्रमा के आने पर कमल के बन्द होने रूप दोष से चन्द्रमा के दोष का वर्णन नहीं हुआ है। अन्य उदाहरण में कविता के गुण से अरसिक का गुणाभाव तथा रमणी के गुण के बालक का गुणाभाव वर्णित है। कविता सज्जन को आह्लादित करती है, अतः गुणवती है। रमणी युवक को आह्लादित करती हैं, अतः वह गुणवती है। इन दोनों के गुणों को ग्रहण न कर सकने के कारण अरसिक तथा बालक में गुणाभाव है। इस श्लोक में पूर्वार्द्ध वाक्य का उत्तरार्द्ध वाक्य से समर्थन होने से

अर्थान्तरन्यास भी है। या दोनों में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करने से निदर्शना भी है।

दूसरे उदाहरण में भक्त, शिव की वन्दना कर रहा है। यहाँ शिव के द्वारा परित्याग रूप दोष से दिग्गजादि के दोष का नहीं बल्कि दोषाभाव का वर्णन हुआ है। अतः यहाँ दोष से दोषाभाव का वर्णन रूप अवज्ञा है।

७१. अनुज्ञालङ्कारः

दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात्।
विपदः सन्तु नः शश्वद्यासु संकीर्त्यतेहरिः ॥ १३७ ॥

यथा वा -

मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे!।
नरः प्रत्यपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति ॥

इयं हनुमन्तं प्रति राघवस्योक्तिः। अत्र प्रत्युपकाराभावो दोषस्त दभ्युपगमे हेतुर्गुणो विपत्त्याकाङ्क्षाया अप्रसक्तिः। साचब्यतिरेकमुखप्रवृत्तेन सामान्येन विशेषसमर्थनरूपेणार्थान्तरन्यासेन दर्शिता।

यथा वा -

ब्रजेम भवदन्तिकं प्रकृतिमेत्य पैशाचिकीं
किमित्यमरसम्पदः प्रमथनाथ! नाथामहे।
भवद्भवनदेहलीविकटतुण्डदण्डाहति -
त्रुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते ॥ १३७ ॥

दोष में ही गुण देखकर यदि उसकी अभ्यर्थना की जाती है तो वहाँ अनुज्ञालङ्कार होता है। जैसे हम लोगों को विपत्तियाँ हों, क्योंकि विपत्ति में हरि का स्मरण होता है। जैसे- दूसरा उदाहरण -

हे हरे (हनुमान) तुम्हारे द्वारा किया गया उपकार मुझमें जीर्णता को प्राप्त करे अर्थात् प्रत्युपकार की अक्षमता को धारण करे। प्रत्युपकार चाहने वाला आदमी विपत्ति की कामना करता है।

यह राघव (राम) की हनुमान के प्रति उक्ति है। यहाँ प्रत्युपकार का अभाव दोष है परञ्च इसमें विपत्ति की आकांक्षा को अभाव रूप गुण कारण माना गया है। यह व्यतिरेकमुख से सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास का उदाहरण दिखाया गया है।

जैसे दूसरा उदाहरण –

हे प्रमथनाथ! (शिव) हम लोग आपके समीप में पिशाचता को प्राप्त करके भी रहें। यही हम लोगों की याचना है। अमर सम्पत्ति की याचना क्यों करें?। आपके भवन की देहली पर विकट तुण्ड (सूंढ़) दण्ड के आघात से मुकुट सरणि को तुड़वाने वाले इन्द्रादि होते रहते हैं।

यहाँ दोष में ही गुण देखा जाता है। विपत्ति की याचना में हरिस्मरण रूप गुण का वर्णन है। राम हनुमान से कहते हैं कि मैं तुम्हारा प्रत्युपकार न कर सकूं यह इच्छा है। यद्यपि प्रत्युपकार नहीं करना दोष है तथापि प्रत्युपकार चाहने वाला विपत्ति की आकांक्षा रखता है। उपकारी को जब दु:ख होगा तभी तो प्रत्युपकार हो पाएगा। अत: प्रत्युपकार नहीं करने रूप दोष में विपत्ति की आकांक्षा का अभाव रूप गुण वर्णन हुआ है। प्रत्युपकार की चाह नहीं होगी, तो विपत्ति की आकांक्षा भी नहीं होगी। यहाँ प्रथम वाक्य विशेष (प्रत्युपकाराभाव) का विपत्ति आकांक्षा रूप (सामान्य) वाक्य से व्यतिरेक से समर्थन हुआ है। अत: यहाँ अर्थान्तरन्यास मुख से वर्णन है। तथा दूसरे उदाहरण में भक्त पिशाचता को प्राप्त करना चाहता है। पिशाचता दोष है, परञ्च उसमें शिव सान्निध्य प्राप्ति रूप गुण वर्णित है। नीचे की पंक्ति का भाव यह है कि शिव के दरवाजे पर खड़े गणेश अन्दर आने वाले इन्द्रादि का भी मुकुट आदि तोड़-ताड़ कर रख देते हैं। कोई देव भी भीतर नहीं आने पाता और पिशाचत्व प्राप्त करने के बाद अन्दर आने में कठिनाई नहीं होगी। ऐसे अमर की सम्पत्ति से क्या लाभ होगा, जो दरवाजे से आगे नहीं बढ़ने देगा। इससे तो पिशाचत्व ही भला जो शिवसान्निध्य दिला देगा। अत: यहाँ दोष में गुण वर्णन होने से अनुज्ञा अलङ्कार है। हिन्दी में रहीम की पंक्ति इसका अच्छा उदाहरण हो सकता है–

रहिमन विपदा हूँ भली जो थोड़े दिन होय
हित अनहित या जगत में जानि पड़त सब कोय॥

७२. लेशालङ्कारः

लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्।
अखिलेषु विहङ्गेषु हन्तस्वच्छन्दचारिषु।
शुक! पञ्जरवद्धस्ते मधुराणां गिरां फलम्॥ १३८॥

दोषस्य गुणत्वकल्पनं गुणस्य दोषत्वकल्पनं च लेशः। उदाहरणम् – राज्ञोऽभिमते विदुषि पुत्रे चिरं राजधान्यां प्रवसतितद्दर्शनोत्कण्ठितस्य गृहे स्थितस्य पितुर्बचनम प्रस्तुत प्रशंसारूणम्। तत्र प्रथमार्धे इतरविहंगागामवक्तृत्वदोषस्य स्वच्छन्दचरणानुकूलतया गुणत्वं कल्पितम्। न चात्र व्याजस्तुतिराशङ्कनीया। नह्यत्र विहगान्तराणां स्तुतिव्याजेन निन्दायां शुकस्य निन्दाव्याजेन स्तुतौ च तात्पर्यम्, किन्तु पुत्र दर्शनोत्कण्ठितस्य पितुर्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वाभिमान एवात्र श्लोके निबद्धः। यथा वा –

सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः॥

जहाँ गुण को दोष रूप में तथा दोष को गुणरूप में कल्पित किया जाए वहाँ 'लेश' अलङ्कार होता है। सभी स्वच्छन्दचारी पक्षियों में एक तोता पिञ्जरे में बन्द होता है। हाय तोते! ये तुम्हारी मधुर आवाज का फल है।

दोष की गुण कल्पना और गुण की दोष कल्पना लेश कहा जाता है। उदाहरण – किसी राजा का प्रिय विद्वान पुत्र राजधानी में रह रहा है। उसके दर्शन की उत्कण्ठा से घर में स्थित पिता का वचन अप्रस्तुत प्रशंसा रूप उक्ति है। यहाँ प्रथमार्ध में अन्य पक्षियों का

अवक्तृत्व रूप दोष स्वच्छन्दविहरण के अनुकूल होने के कारण रूप से गुण रूप में कल्पित है। द्वितीयार्द्ध में मधुर भाषण रूप गुण पिञ्जरे में बन्द होने से दोष रूप में कल्पित है। यहाँ व्याजस्तुति की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। यहाँ अन्य पक्षियों की स्तुति के व्याज से निन्दा में तथा तोते की निन्दा के व्याज से स्तुति में तात्पर्य नहीं है। अपितु पुत्र दर्शन के लिए उत्कण्ठित पिता के द्वारा गुण का दोष रूप में तथा दोष का गुण रूप में वर्णन करना ही कवि को अभीष्ट है।

जैसे -- दूसरा उदाहरण -

सच्चरित्रता के उदय के व्यसनी सन्त लोग सदा दुःखी रहते हैं। सदा जनापवाद के भय से दुःखपूर्वक जीते हैं और जिसकी मति अव्युत्पन्न है, जो अच्छा या बुरा विचार कर व्याकुल नहीं होता। युक्त और अयुक्त के विचार से शून्य प्राकृत (अज्ञानी) जन वास्तव में धन्य है।

इस अलङ्कार में गुण का वर्णन दोष रूप में तथा दोष का वर्णन गुण रूप में अभीष्ट होता है। जैसे कारिका वाले उदाहरण में तोते की मधुर आवाज (गुण) को दोष बताया गया है, क्योंकि उसी दोष के कारण तोता पिञ्जरे में बन्द होता है। जिस पक्षी के पास यह दोष नहीं है, वह नहीं बन्द होता। कहा भी गया है -

आत्मनोमुखदोषेण वध्यन्ते शुकसारिकाः।
वकास्तत्र न वध्यन्ते मौनं सर्वार्थ साधनम्॥

यहाँ प्रस्तुत उदाहरण में राजा का बेटा परदेश में रह रहा है। पिता पुत्र को देखने के लिए उत्कण्ठित है। उसी पिता की उक्ति है कि स्वच्छन्दाचार करने वाले पक्षियों में हाय तोते! तुम अपनी मधुर वाणी के कारण ही बंध जाते हो। यहाँ तोते से अपने पुत्र का वर्णन अपेक्षित है। इसलिए यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा है। पक्षियों की स्वच्छन्दचारिता रूप स्तुति से उसकी मधुरभाषणहीनता रूपनिन्दा तथा तोते की पञ्जरबद्धता रूपनिन्दा से मधुर भाषणत्व रूप स्तुति होने से यहाँ व्याजस्तुति की कल्पना भी की जा सकती है।

परञ्च इस भाव में कवि का तात्पर्य नहीं होने से यहाँ व्याजस्तुति नहीं है। यहाँ पिता के द्वारा गुण को दोष रूप में तथा दोष को गुण रूप में वर्णित करना ही कवि को अभीष्ट है। पुत्र विद्वान है और राजा प्रिय होने के कारण उसे और विद्वान बनाना चाहता है, इसलिए वह परदेश (गुरु आश्रम आदि कहीं) में है। अन्यथा यदि उसमें गुण नहीं होता तो वह भी आवारा लड़कों की तरह स्वच्छन्द यत्र-तत्र घूमता रहता। तोते की मीठी आवाज को सुनकर प्रेम से उसकी आवाज सुनने के लिए तथा उसे और पढ़ाने के लिए लोग उसे पिञ्जरे में बन्द रखते हैं। जिसकी आवाज में कोई खूबी नहीं है वैसे तो सारे पक्षी जंगल में यत्र-तत्र घूमते रहते हैं, उसे कोई नहीं पूछता। यह तात्पर्य है।

दूसरे उदाहरण में सज्जन लोगों की सज्जनता (गुण) को दोष बताया गया है। क्योंकि वो अपनी सज्जनता की रक्षा में सतत् दुःखी रहते हैं। उन्हें लोकापवाद का, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार होता है। अतः फूंक-फूंक कर कदम रखते हैं और अज्ञानी लोग स्वच्छन्द होता है। उसे न लोकापवाद का डर है न कर्तव्याकर्तव्य का विचार, अतः उसके जीवन में कभी दुःख नहीं है। इस तरह यहाँ सज्जन के गुण को दोष रूप में तथा अज्ञानी के दोष को गुण रूप में वर्णित किया गया है।

दण्डी त्वत्रोदाजहार - (काव्या. २।२६९)

युवैष गुणवान् राजा योग्यस्ते पतिरुर्जितः।
रणोत्सवे मनः सक्तं यस्य कामोत्सवादपि॥
चपलो निर्दयश्चासौ जनः किं तेन मे सखि!।
आगः प्रमार्जनायैव चाटवो येन शिक्षिताः॥

अत्राद्यश्लोके राज्ञो वीर्योत्कर्षस्तुतिः। कन्यायाः निरन्तरं सम्भोगनिर्विवर्तिषया दोषत्वेन प्रतिभासतामित्यभिप्रेत्य विदग्धया सख्या राजप्रकोपपरिजिहीर्षया स एव दोषो गुणत्वेन वर्णितः। उत्तरश्लोके सखीभिरूपदिष्टं मानं कर्तुमशक्तयापि तासामग्रतो मानपरिग्रहणानुगुण्यं प्रतिज्ञाय तदनिर्वाहमाशङ्कमानया सखीनामुपहासं परिजिहीर्षन्त्या नायिकया नायकस्य चाटुकारिता गुण एव दोषत्वेन वर्णितः। न चाद्यश्लोके

स्तुतिर्निन्दापर्यवसायिनी, द्वितीय श्लोके च निन्दा स्तुति पर्यवसायिनीति व्याजस्तुतिराशङ्कनीया। राजप्रकोपादिपरिहारार्थमिह निन्दास्तुत्योरन्याविदिततया लेशत एवोद्घाट ततो विशेषादिति। वस्तुतस्तु इह व्याजस्तुतिसद्भावेऽपि न दोषः। न ह्येतावता लेशमात्रस्य ब्याजस्तुत्यन्तर्भावः प्रसज्जते, भिन्नविषयब्याजस्तुत्युदाहरणेषु कस्त्वं वानर! राम राजभवने लेखार्थसंवाहकः यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां व्रूषे न चाटून्मृषा इत्यादिषु दोषगुणीकरणस्य गुणदोषीकरणस्य चाभावात्। तत्रान्यगुणदोषाभ्यामन्यत्र गुणदोषयोः प्रतीतेः॥

दण्डी इस तरह कहते हैं-

यह युवा गुणवान् राजा वीर तुम्हारे योग्य पति है। इसका मन कामोत्सव से भी अधिक रणोत्सव में सक्त रहता है।

यह चपल तथा निर्दय है इससे मुझे क्या? इसने केवल दोष का परिमार्जन करने के लिए ही चाटुकारिता सीखी है।

यहाँ पहले श्लोक में राजा के बल का उत्कर्षरूप स्तुति है। यह (वल) कन्या के निरन्तर संभोग की इच्छा में यह दोष की तरह प्रतिभासित हो, यह सोचकर तथा राजा के कोप का परिहार करने के लिए चतुरा सखी के द्वारा वह (कामासक्तत्व) दोष गुण रूप में वर्णित किया गया। दूसरे श्लोक में सखियों से उपदिष्ट मान को करने में असमर्थ होते हुए भी उन सखियों के आगे मानग्रहण के लिए प्रतिज्ञा करके उस मान के निर्वाह की आशङ्का से सखियों के परिहास को दूर करने की इच्छा वाली नायिका के द्वारा नायक का चाटुकारिता रूप-गुण दोष रूप में वर्णित कर दिया गया। पहले श्लोक में स्तुति निन्दा पर्यवसायी नहीं है, और दूसरे श्लोक में निन्दा स्तुति पर्यवसायी नहीं है। अतः यहाँ व्याजस्तुति की शङ्का नहीं होनी चाहिए। राजप्रकोपादि के परिहार के लिए निन्दा और स्तुति अन्य को विदित नहीं होने से यहाँ लेश से ही उद्घाटन होता है। यही व्याजस्तुति से विशेष है। वास्तव में यहाँ व्याजस्तुति मानने में भी दोष नहीं है। इस तरह लेश का व्याजस्तुति में अन्तर्भाव हो जाएगा, यह नहीं है क्योंकि लेश और व्याजस्तुति के परस्पर असंकीर्ण उदाहरण भी मिलते हैं। तथा

व्याजस्तुति का लेश में अन्तर्भाव हो जाएगा यह भी नहीं है। भिन्न विषय व्याजस्तुति के उदाहरण में 'कस्त्वंवानर'-यद्वक्त्रं मुदूरीक्षसे - इत्यादि में दोष का गुणीकरण और गुण का दोषीकरण नहीं होता है। वहाँ किसी अन्य के गुण दोष से किसी अन्य के गुण दोष की प्रतीति होती है।

यहाँ जो पहला उदाहरण है उसमें दोष को गुण रूप में वर्णित किया गया है। इसका भाव इस तरह समझना चाहिए। राजा का परिचय देते हुए सखी ने कहा कि यह राजा वीर है, तुंम्हारे योग्य है। पर कन्या के लिए निरन्तर संभोगेच्छा का सम्पादन यह नहीं कर पाएगा, यह दोष है। परिस्थिति ऐसी है कि कन्या को दोष बता देना भी सखी का काम है तथा दोष बताने से राजा क्रोधित हो जाएगा, अतः क्रोध का परिहार भी आवश्यक है। अब वह चतुर सखी ऐसा काम करती है कि कन्या दोष को पहचान भी ले और राजा को क्रोध भी न हो। अतः वह कहती है कि ये कामोत्सव से भी अधिक रणोत्सव में ही मन लगाते हैं। इससे कन्या सम्भोगनिर्वतनासमर्थत्व दोष को पहचान गई और राजा ने अपने गुण का वर्णन सुनकर क्रोध भी न किया। यहाँ संभोग सम्पादन की असमर्थता रूप दोष को गुण रूप में वर्णित किया गया है।

दूसरे उदाहरण में एक नायिका को अन्य सखी मान करना सिखाती है। वह नायिका मान करने में असमर्थ है। फिर भी वह प्रतिज्ञा करती है कि मैं मान करूंगी। लेकिन स्वयं उसे इस विषय में शंका है कि वह अपनी प्रतिज्ञा निभाएगी या नहीं। यदि नहीं निभा पायी तो सखियाँ उपहास करेंगी। अतः उस उपहास से बचने के लिए वह कहती है कि यह (नायक) चपल है, निर्दय है, पर इससे मेरा क्या? परञ्च इसने दोष परिमार्जन के लिए ही चाटुकारिता सीखी है। तात्पर्य यह हुआ वह चाटुकारिता से अपने दोष का परिमार्जन कर लेता है और मेरे मान का अवसर नहीं होता। यह चाटुकारिता नायक का गुण है, लेकिन नायिका उसे दोष बताती है। इसी दोष के कारण उसका (नायिका का) मान नहीं हो पाता है।

यहाँ ऐसा कह सकते हैं कि प्रथम श्लोक में राजा के कामवासना की पूर्ति की

असमर्थता रूप निन्दा की व्यञ्जना रणोत्सव प्रेमी रूप स्तुति से होती है, तथा दूसरे श्लोक में नायक की निन्दा इस स्तुति में समाप्त होता है कि वह श्रृंगार चतुर है। इस तरह यहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार है। लेकिन ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि व्याजस्तुति में निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा अन्य को भी ज्ञात होता है। सुनने के बाद अन्य आदमी भी समझ जाते हैं कि यहाँ निन्दा के व्याज से स्तुति हो रही है या स्तुति के व्याज से निन्दा हो रही है। परञ्च यहाँ ऐसा नहीं है। यदि राजा यह समझ ले कि सखी स्तुति के व्याज से मेरी निन्दा कर रही है तो उसका क्रोध और भड़क जाएगा, जबकि यहाँ क्रोध परिमार्जन जरूरी है। तथा सखियाँ यदि समझ जाये कि यह नायिका नायक की स्तुति कर रही है तो और अधिक उपहास करेगी कि अरी मैं तुझे मान सिखा रही हूँ और तू नायक की तरफदारी कर रही है। इस तरह सखियों को स्तुति का पता नहीं और राजा को निन्दा का ज्ञान नहीं होने से व्याजस्तुति नहीं है, अपितु गुण को दोष बताने से और दोष को गुण बताने से लेश अलङ्कार है।

न लेश में व्याजस्तुति का अन्तर्भाव होता है और न व्याजस्तुति में लेश का अन्तर्भाव होता है। व्याजस्तुति में एक के गुण से अन्य के दोष तथा अन्य के दोष से अन्य के गुण या दोष का वर्णन होता है। इस तरह वहाँ विषय भेद होता है। जैसे 'कस्त्वं वानर' – आदि उदाहरण में। लेश में गुण का दोषीकरण और दोष का गुणीकरण होता हैं। जहाँ भिन्न विषय में व्याजस्तुति होता है, वहाँ तो लेश का स्पर्श नहीं ही होता है। कई स्थानों पर विषय की एकता होने पर भी लेश का स्पर्श नहीं होता है। इस विषयैक्य का उदाहरण आगे देकर यह दिखाते हैं कि लेश और व्याजस्तुति में अन्तर है-

विषयैक्येऽपि –

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठमूलं मुरारि
र्दिङ्नागानां मदजलमषीभाञ्जिगण्डस्थलानि।
अद्याप्युर्वीवलयतिलक! श्यामलिम्नानुलिप्ता
न्याभासन्ते वदधवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः॥

इत्याद्युदाहरणेषु लेशास्पर्शनात्। अत्र हीन्दुलक्ष्मादीनां धवलीकरणाभाव दोष एव गुणत्वेन न पर्यवसति किन्तु परिसंख्यारूपेण ततोऽयत्सर्वं धवलितमित्यतो गुणः प्रतीयते। क्वचिद् व्याजस्तुत्युदाहरणे गुणदोषीकरणसत्वेऽपि स्तुतेर्विषयान्तरमपि दृश्यते। यथा-

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नारयो लेभिरं पृष्ठं न वक्षः परियोषितः॥

अत्र हि वाच्यया निन्दया परिसंख्यारूपेण ततोऽन्यत्सर्वमर्थिनामभिमतं दीनारादि दीयते इति स्तुत्यन्तरमपि प्रतीयते! एवं च येषूदाहरणेषु कस्ते शौर्यमदो योद्धुम् इत्यादिषु गुणदोषादिषु गुणदोषीकरणादिकमेव व्याजस्तुतिरूपतयावतिष्ठते, तत्र लेशव्याजस्तुत्योः संकरोऽस्तु। इत्थमेव हि व्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसयोरपि प्राक्संकरो वर्णितः॥ १३९॥

विषय के ऐक्य में भी -

चन्द्रमा का कलङ्क, शंकर का कण्ठमूल, मुरारि (विष्णु) दिग्गजों के मदजल की कालिमा से युक्त गण्डस्थल ये सभी आज भी कालिमा से युक्त दिख रहे हैं। हे उर्वीतिलक! बताएं कि आपके यश ने किसे धवलित किया? (अर्थात् कुछ नहीं किया)

इत्यादि उदाहरण में लेश का स्पर्श नहीं है। यहाँ चन्द्रमा के कलङ्क आदि के धवलीकरण का अभाव रूप दोष गुण रूप में पर्यवसित नहीं होता है, अपितु परिसंख्या रूप से वर्णित वस्तु के अतिरिक्त सबको धवलित कर दिया। इस तरह गुण प्रतीत होता है। कहीं व्याजस्तुति के उदाहरण में गुण को दोष बनाने पर भी स्तुति का विषयान्तर दीखता है। जैसे-

विद्वान लोग व्यर्थ यह स्तुति करते हैं कि आप सर्वदा, सर्वद (सभी कुछ देने वाले) हैं। दुश्मनों ने आपकी पीठ कभी नहीं पाई और रिपु युवतियों ने आपका वक्षस्थल कभी नहीं पाया॥

यहाँ वाच्य निन्दा से परिसंख्या रूप से 'इसके अतिरिक्त सभी याचकों को आपने दीनार आदि सब कुछ दिया' इस तरह स्तुति प्रतीत होती है। इसी तरह 'कस्ते शौर्य

मढो.....' इत्यादि उदाहरण में गुण दोष आदि में गुण या दोषीकरण ही व्याजस्तुति के रूप में मिलता है। वहाँ लेश और व्याजस्तुति का संकट होता है। इसी तरह व्याजस्तुति अप्रस्तुत प्रशंसा का भी संकट होता है, जो पहले उदाहृत हो चुका है।

पहले उदाहरण में कवि राजा की स्तुति निन्दा मुख से करता है। भाव यह है कि आज भी शंकर का कंठ, चन्द्रमा का कलंक, विष्णु का शरीर, दिग्गजों का कपोलस्थल काला ही है तो फिर आपके यश ने किसे उजला बनाया? अर्थात् आपके धवल यश ने किसी को भी उजला नहीं बनाया। इस तरह राजा के यश की निन्दा होती है कि यश किसी और को धवलित करने में असमर्थ है। यह दोष गुण रूप में तब दीखता है जब परिसंख्या के द्वारा यह ज्ञान होता है कि आपके यश ने चन्द्र कलंक आदि दो-चार वस्तुओं को छोड़कर सब कुछ धवलित कर दिया है। यहाँ दोष का गुणत्व सीधा प्रतीत नहीं होता अपितु परिसंख्या के द्वारा होता है। 'लेश' में सीधा गुण दोष रूप में तथा दोष गुण रूप में वर्णित होता है। कहीं-कहीं व्याजस्तुति में गुण दोष रूप में या दोष गुण रूप में वर्णित होता है जैसे – दूसरे उदाहरण में। यहाँ राजा की निन्दा वाच्य है कि आप सर्वद (सब कुछ देने वाले हैं) है, यह गलत है। आपके शत्रु ने आपकी पीठ नहीं देखी और रिपुवनिताओं ने आपका वक्षस्थल नहीं पाया। यदि आप वास्तव में सब कुछ देने वाले होते तो इन दोनों को भी अपना अभीष्ट मिल गया होता। यह निन्दा परिसंख्या के द्वारा इस तथ्य को बतलाता है कि मात्र शत्रु और रिपुवनिताओं ने पीठ और वक्षस्थल नहीं पाया, अन्य सभी याचकों ने आपसे सब कुछ पाया। यहाँ यद्यपि वाच्य में गुण का दोषीकरण है, तथापि परिसंख्या मुख से यह दोषीकरण स्तुति रूप अर्थ का बोध कराता है। जहाँ व्याजस्तुति में गुण का दोषीकरण या दोष का गुणीकरण होता है, वहाँ लेश और व्याजस्तुति का संकर है।

६३. मुद्रालङ्कार

सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः।
नितम्बगुर्वीतरुणी दृग्युग्मविपुला च सा॥ १३९॥

अत्र नायिका वर्णनपरेण 'युग्मविपुला' पदेनास्यानुष्टुभो युग्मविपुलानामत्वरूपसूच्यार्थसूचनं मुद्रा। यदयप्यत्र ग्रन्थे वृत्तनाम्नो नास्ति सूचनीयत्वं,

तथाप्यस्योत्तरार्द्धस्य लक्ष्यलक्षणयुक्तच्छन्दः शास्त्रमध्यपातित्वेन तस्य सूचनीयत्वमस्तीति तदभिप्रायेण लक्षणं योज्यम्। एवं नवरत्नमालायां तत्तद्रत्ननाम निवेशेन तत्तन्नामकजातिसूचनम्। नक्षत्रमालायामग्न्यादिदेवतानामभिर्नक्षत्र सूचनमित्यादावयमेवालङ्कारः। एवं नाटकेषु वक्ष्यमाणार्थसूचनेष्वपि॥ १३९॥

प्रकृत वर्णन से सम्बद्ध पदों द्वारा यदि सूचनीय अर्थ की सूचना दी जाती है तो मुद्रा अलङ्कार होता है। जैसे उस तरुणी का नितम्ब भाग गुरु तथा नयन युगल विपुल (विस्तृत) हैं।

यहाँ नायिका के वर्णन वाले पदों से 'युग्मविपुला' इस पद से अनुष्टप् छन्द के युग्मविपुला नामक भेद (सूचनीय) की सूचना होती है। यद्यपि यहाँ ग्रन्थ में छन्द के नाम का कोई वस्तु सूचनीय नहीं है तथापि इसका उत्तरार्द्ध लक्ष्यलक्षण युक्त छन्दः शास्त्र के होने से सूचनीय हो जाता है, अतः लक्षण अनुगत है। इसी तरह नवरत्नमाला में रत्ननामविशेष के निवेश से तत्तत् जाति की सूचना हो जाती है। नक्षत्र माला में अग्न्यादि देवताओं का नाम तत्तत् नक्षत्र की सूचना देता है, अतः वहाँ भी वही अलङ्कार है। इसी तरह नाटकों में वक्ष्ययाणार्थ की सूचना से यही अलङ्कार होता है।

यहाँ सूचनीय अर्थ की सूचना वर्णनीय पदों से ही होती है। 'युग्मविपुला' पद नायिका नयन के विस्तार के लिए प्रयुक्त हुआ है। पर यह पद अनुष्टप् छन्द के नाम विशेष 'युग्मविपुला' की सूचना देता है। अलङ्कार में छन्द की सूचना कैसे सूचनीय हो गयी, इसलिए कहते हैं कि लक्ष्य लक्षण युक्त दोनों शास्त्र होते हैं, चाहे छन्द शास्त्र हो या अलङ्कार शास्त्र। इस तरह छन्द के भी शास्त्र होने से सूचनीय हो जाता है। नवरत्नों में रत्न के नाम से रत्न की जाति तथा नक्षत्र माला में देवताओं के नाम से नक्षत्र की सूचना हो जाती है। अतः वहाँ मुद्रा अलङ्कार होता है!

७४. रत्नावल्यलङ्कारः

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः।
चतुरास्यः पतिर्लक्ष्म्याः सर्वज्ञस्त्वं महीपतेः॥ १४०॥

अत्र चतुरास्यादि पदैर्वर्णनीयस्य राज्ञो ब्रह्मविष्णुरूद्रात्मता प्रतीयत इति प्रसिद्ध सहपाठानां ब्रह्मादीनां क्रमेणनिवेशनं रत्नावली। यथा वा -

रत्याप्तप्रिय लाञ्छने कठिनतावासे रसालिङ्गिते
प्रहलादैकरसे क्रमादुपचिते भूभृद्गुरुत्वापहे।
कोकस्पर्धिनि भोगभाजि जनितानङ्गे खलीनोन्मुखे
भाति श्रीरमणावतार दशकं वाले! भवत्याः स्तने॥

यथा वा -

लीलाब्जानां नयनयुगलद्राधिमा दत्तपत्रः
कुम्भावेतौ कुचपरिकरः पूर्वपक्षीचकार।
भ्रूविभ्रान्तिर्मदनधनुषो विभ्रमानन्ववादी -
द्वक्त्रज्योत्स्ना शशधररुचं दूषयामास यस्याः॥

अत्र पत्रदान पूर्वपक्षोपन्यासानुवाददूषणोद्भवनानि बुध जन प्रसिद्धक्रमेण न्यस्तानि। प्रसिद्ध सहपाठानां प्रसिद्ध क्रमानुसरणेऽप्येवमेवालङ्कारः।

यथा वा -

यस्य वह्निमयो हृदयेषु, जलमयोलोचनपुटेषु मारुतमयः श्वसितेषु क्षमामयोऽङ्गेषु आकाशमयः स्वान्तेषु पञ्चमहाभूतमयो मूर्त इवादृश्यत निहतप्रतिसामन्तामन्तः पुरेषु प्रतापः।

एवमष्ट लोकपालनवग्रहादीनां प्रसिद्धसहपाठानां यथाकथञ्चित् प्रकृतोपमानोपरञ्जकतादिप्रकारेण निवेशने रत्नावल्यलङ्कारः। प्रकृतान्वयं विना क्रमिकतत्तन्नाम्ना श्लेषभङ्ग्या निवेशने क्रमप्रसिद्धरहितानां प्रसिद्धसहपाठानां नवरत्नादीनां निवेशनेऽप्येवमेवालङ्कारः॥ १४०॥

जहाँ प्रकृत अर्थों को प्रसिद्ध क्रम से रखा जाता है, वहाँ रत्नावली अलङ्कार होता है। जैसे हे महीपते! आप चतुरास्य (ब्रह्मा) लक्ष्मी के पति (विष्णु) तथा सर्वज्ञ (शिव) हैं।

यहाँ चतुरास्यादिपद से ब्रह्मा विष्णु तथा रुद्र की प्रतीति होती है। ये तीनों प्रसिद्ध

सहपाठ के क्रम से निवेश किए गए हैं। अतः यहाँ रत्नावली अलङ्कार है। जैसे दूसरा उदाहरण –

हे बाले! आपके स्तन में भगवान विष्णु के दशावतार सुशोभित हो रहे हैं। जो सुरत के समय प्राप्त प्रियतम नरवक्षतादि से युक्त हैं, कठिनता का घर है, रस से आलिङ्गित है, प्रकर्ष आह्लाददायक है, क्रमशः बढ़ा है (पहले बेर फिर नारंगी फिर बिल्व फल की तरह) पर्वत की गुरुता को हरण करने वाला है, कोक (चक्रवाक) से स्पर्धा करने वाला है, भोग को पाने वाला है, अनङ्ग (कामदेव) को जन्म देने वाला है, इन्द्रियों में आसक्त (ख–लीन) है, उन्मुख (ऊपर मुंहवाला) है।

(इसमें दशावतार कैसे हैं यह आगे व्याख्या में देखें)

जैसे – दूसरा उदाहरण –

इनके नयनयुगल की विशालता ने लीलाकमल को पत्रदान दिया है, स्तनविस्तार ने हाथी के कुम्भस्थल को पूर्वपक्षी बनाया है। भौहविलास ने कामदेव के धनुष की लीला को अनुवाद बनाया है, मुखकान्ति ने चन्द्रमा की कला को दूषित किया है।

यहाँ पत्रदान पूर्वपक्ष का उपन्यास, अनुवाद तथा दूषण का उद्भावन विद्वज्जन प्रसिद्ध कम से ही न्यस्त हुआ है। प्रसिद्ध सहपाठ का प्रसिद्ध क्रम से अनुसरण करने पर भी यही अलङ्कार होता है।

जैसे –

मारे हुए राजा के अन्तःपुर में जिस राजा का प्रताप पञ्चमहाभूत के रूप में मूर्त दीख पड़ता है। हृदय में अग्निमय, लोचन में जलमय, श्वास में पवनमय, अङ्गों में क्षमामय, अपने अन्तःकरण में आकाशमय था।

इस तरह अष्टलोकपाल नवग्रह आदि के प्रसिद्ध सहपाठ का यथाकथञ्चित् प्रकृतार्थ में उपमान या उपरञ्जक होने से रत्नावली अलङ्कार होता है। प्रकृत सम्बद्ध नहीं होने पर भी श्लेषभङ्गिमा से क्रमिकनिवेश करने पर प्रसिद्धसहपाठों का प्रसिद्ध क्रम रहित रहने पर भी नवरत्न आदि के निवेश में भी यही अलङ्कार होता है।

प्रसिद्ध, सहपाठ, का क्रमिक निवेश यदि प्रकृत अर्थ के उपमान रूप में या उपरञ्जक रूप में होता है तो रत्नावली होता है। जैसे ब्रह्मा विष्णु महेश इस त्रिदेव का इसी क्रम से साथ-साथ पाठ वाञ्छित (प्रसिद्ध) है। यहाँ राजा के वर्णन में राजा के वैशिष्ट्य की व्यञ्जना के लिए प्रसिद्ध त्रिदेव का क्रमशः निवेश है। दूसरे उदाहरण में स्तन वर्णन है। इसमें कोई रसिक कवि स्तन में दशावतार देखता है। दशावतार का क्रम - मत्स्य, कच्छप, सूकर (वराह), नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण (बलराम), बुद्ध और कल्कि है। स्तन में दशावतार इस तरह दिखता है। (i) रत्यासप्रियलाञ्छने - रति के प्रिय कामदेव के चिन्ह अर्थात् मत्स्य से युक्त (ii) कठिनतावासे - कठिनता का आवास अर्थात् कच्छप जो अपनी पीठ पर मन्दराचल का वहन कर चुका है। (iii) रसालिंगिते - रसा-पृथ्वी से आलिङ्गित वराह (पृथ्वी का उद्धार करने के समय) (iv) प्रहलादैकरसे - प्रह्लाद से प्रेम करने वाला (नरसिंह अवतार) (v) क्रमादुपचिते - क्रम से बढ़ा हुआ (क्रमशः चरणविक्षेप से बढ़ा-वामन) (vi) भूभृद्गुरुत्वापहे - भूभृत (राजा) के गौरव का नाश करने वाले - परशुराम (vii) कोकस्पर्धिनि-चक्रवाक से स्पर्धा करने वाले पत्नीवियोगी राम (viii) भोगभाजि - भोग फण को धारण करने वाले शेषावतार बलराम (ix) जनितानङ्गे - अङ्ग के विरुद्ध मौन, भोग त्यागादि समाधि का आचरण करने वाले बुद्ध X खलीनोन्मुख - अश्व के प्रति उन्मुख कल्कि अवतार। ये अवतार क्रमिक निविष्ट हैं।

तीसरे उदाहरण में - पत्रदान - पूर्वपक्ष, अनुवाद दूषण का उद्भाव, ये क्रमशः विद्वानों में इसी तरह प्रसिद्ध हैं। यहाँ प्रसिद्ध सहपाठ का अर्थक्रम से वर्णन है। ये दत्तपत्र पूर्वपक्ष, अनुवाद तथा दूषणोद्भावन साथ-साथ ही प्रसिद्ध हैं, पर अर्थानुकूल क्रमशः वर्णन होने से यहाँ रत्नावली है।

इसी तरह अगले उदाहरण में पञ्चमहाभूत की मूर्ति का वर्णन क्रमिक वर्णन है। यदि यह क्रमिक वर्णन प्रकृत में उपरञ्जक या उपमान नहीं भी होता है। लेकिन श्लेषभङ्गी से क्रमिक वर्णित होता है, तो भी रत्नावली अलङ्कार होता है॥

७५. तद्गुणालङ्कारः

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा॥ १४१॥

यथा वा-

वीर! त्वद्रिपुरमणी परिधातुं पल्लवाणि संस्पृश्य
न हरति वनभुवि निजकररुहरुचिखचितानि पाण्डुपत्रधिया॥ १४१॥

जहाँ कोई वस्तु अपने गुण को छोड़कर दूसरे के गुण को ग्रहण कर लेता है वहाँ तद्गुण नामक अलङ्कार होता है। जैसे – तुम्हारे नाक का मोती अधर की कान्ति से पद्मराग (मणि) के समान हो रहा है।

जैसे – दूसरा उदाहरण –

हे वीर! तेरे शत्रु की रमणियाँ पहनने के लिए पल्लवों का स्पर्श कर अपनी नख की कान्ति से पीले हुए पल्लवों को तोड़ती नहीं हैं। (पीला पत्ता समझकर छोड़ देती हैं।)

पहले उदाहरण में मोती अपना उजला रंग छोड़कर अधर के गुण (लालिमा) को ग्रहण कर लाल हो रहा है। दूसरे उदाहरण में पल्लव अपना गुण (हरा रंग) छोड़कर नख की कान्ति (श्वेत रंग) को ग्रहण कर रहा है। इस तरह अपना गुण छोड़कर अन्य का गुण ग्रहण करने से तद्गुण अलङ्कार है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने से उत्कृष्ट गुण के ग्रहण पर तद्गुण माना है। यथा – **तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः।** ऐसा ही पं. राज भी मानते हैं।

७६. पूर्वरूपालङ्कार

पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम्।
हर कण्ठांशुलिप्तोऽपि शेषस्त्वद्यशसा सितः॥ १४२॥

यथा वा -

विभिन्नवर्णा गरुड़ाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्याः।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचारुचं स्वामनिन्यिरे वंशकरीरनीलैः॥
अयमेव तद्गुण इति केचित् व्यवजह्नु॥ १४२॥

जहाँ अपने गुण को फिर से प्राप्त करने का वर्णन होता है, वहाँ पूर्वरूप अलङ्कार होता है। जैसे – हर (शंकर) के कण्ठ किरण में लिप्त रहने पर भी शेष तुम्हारे (राजा के) यश से सिक्त हो गया है।

जैसे – दूसरा उदाहरण –

गरुड़ के अग्रज के द्वारा भिन्न वर्ण वाले बना दिये गए सूर्य के घोड़े इस (पर्वत) के बांस तथा करीर के समान चतुर्दिक प्रसरणशील कान्ति वाले रत्नों के द्वारा पुनः अपने रङ्ग में ला दिए गए।

कोई वस्तु जो अपने गुण को किसी कारणवश छोड़ चुका होता है। पुनः यदि पूर्व गुण को प्राप्त करता है तो पूर्वरूप अलङ्कार होता है। पहले उदाहरण में भगवान शंकर के कण्ठ की कान्ति से शेष का रङ्ग काला हो गया है। पर राजा के यश से वह पुनः अपनी उज्ज्वलता को प्राप्त कर रहा है। दूसरे उदाहरण में सूर्य के हरे घोड़े अरुण की संगति से अपने रंग को छोड़कर लाल हो गये हैं। वो फिर मणियों के प्रभाव से अपने रंग को प्राप्त कर रहे हैं।

कुछ आलङ्कारिक इसे ही तद्गुण मानते हैं। पर तद्गुण से पूर्वरूप में थोड़ा अन्तर दिखता है। तद्गुण में एक वस्तु अपने गुण को छोड़कर दूसरे के गुण को धारण करता है। और पूर्व रूप में वस्तु अपने ही छूटे हुए गुण को पुनः प्राप्त करता है।

अब पूर्वरूप के एक प्रकार का निरूपण करते हैं–

पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि।
दीपे निर्वापितेऽप्यासीत् काञ्चीरत्नैर्महन्महः ॥ १४३ ॥

लक्षणे चकारात् पूर्वरूप मिति लक्ष्यवाचकपदानुवृत्तिः।

यथा वा –

द्वारं खड्गिभिरावृतं वहिरपि प्रस्विन्नगण्डैर्गजै–
रन्तः कञ्चुकिभिः स्फुरन्मणिधरैरध्यासिता भूमयः॥
आक्रान्तं महिषीभिरेव शयनं त्वद्विद्विषां मन्दिरे
राजन्! सैव चिरंतन प्रणयिनी शून्येऽपि राज्यस्थितिः ॥ १४३ ॥

वस्तु के विकृत हो जाने पर भी यदि पूर्वावस्था (वस्तु की स्थिति वाली) की अनुवृत्ति होती है तो पूर्वरूप अलङ्कार होता है। जैसे – दीपक के बुझा दिये जाने पर भी करधनी के रत्नों से प्रकाश बना रहा।

लक्षण में च पद से पूर्वरूप इस लक्ष्यवाचक पद की अनुवृत्ति होती है। जैसे दूसरा उदाहरण –

हे राजन्! आपके शत्रुओं के महलों के शून्य (जनरहित) हो जाने पर भी वही पुरानी राज्यस्थिति बनी हुई है। वहाँ अभी भी खड्गी (तलवार धारी या गेंडे) से द्वार आवृत्त है। बाहर में अभी भी मदजल वाले गजराज घूम रहे हैं। अन्तः भाग (भीतर में) स्फुरित मणि को धारण करने वाले कञ्चुकियों से (विषधर सर्प की केंचुली से) भूमि भरी पड़ी है। शयनासन अभी भी महिषियों (रानियों तथा महिषमादाओं) से आक्रान्त है।

यहाँ जो अवस्था किसी वस्तु के रहने पर होती है, वही अवस्था वस्तु के विकृत (विनष्ट) होने पर भी पायी जाती है। जैसे – दीपक रहने पर प्रकाश होता है, पर यहाँ दीपक बुझ जाने पर भी प्रकाश हो रहा है। तथा राजा के रहने पर राज्य की जो स्थिति होती है, वही स्थिति राजा द्वारा राज्य छोड़ देने पर भी वर्णित किया है। पर यहाँ पूर्वावस्था की अनुवृत्ति श्लेष द्वारा हो रही है। शत्रु राजा के वर्णन से वर्णनीय राजा की वीरता का वर्णन होने से अप्रस्तुत प्रशंसा भी है।

७७. अतद्गुणालङ्कारः

संगतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।
चिरं रागिणि मच्चित्ते निहितोऽपि न रञ्जसि॥ १४४॥

यथा वा –

गण्डा भोगे विहरति मदैः पिच्छिले दिग्गजानां
वैरिस्त्रीणां नयनकमलेष्वञ्जनानि प्रमार्ष्टि।
यद्यप्येषा हिमकर कराद्वैतसौवस्तिकी ते
कीर्तिर्दिक्षु स्फुरति तदपि श्री नृसिंहक्षितीन्द्र॥

जहाँ कोई वस्तु अपनी संगति में रहने वाले अन्य वस्तु के गुण को स्वीकार नहीं करता है, वहाँ अतद्गुण नामक अलङ्कार होता है। जैसे – मेरे रागी (प्रेममय-लाल) चित्त में रहते हुए भी तुम प्रसन्न (रागयुक्त) नहीं होते।

जैसे दूसरा उदाहरण –

हे नृसिंहक्षितीन्द्र! आपकी कीर्ति दिग्गजों के मद से फिसलन वाले गण्डस्थल पर विहार करती है। वैरी की स्त्रियों के नयन कमल में काजल को पोंछती है। तथापि यह कीर्ति हिमकर (चांद) के कर (किरण) के स्वस्तिक भाव (कुशलक्षेम) को पूछने वाली चारों दिशाओं में स्फुरित हो रही है।

इस अलङ्कार में वस्तु साथी वस्तु के गुण को अंगीकार नहीं करता है। जबकि तद्गुण में दूसरे के गुण को स्वीकार किया जाता है। प्रियतम हृदय (नायिका के) में रहते हुए भी रागी नहीं होता है। जबकि हृदय राग से युक्त है। राग से युक्त वस्तु के साथ रहने वाले को भी उस गुण से युक्त हो जाना चाहिए। दूसरे उदाहरण में कीर्ति स्वयं उजली है। यद्यपि गज के गजस्थल आँखों के काजल आदि की संगति से उसे भी काला हो जाना चाहिए, पर वह काली नहीं होती बल्कि अपने रंग (श्वेतता) में यथावत् है।

यहाँ तद्गुण तथा अतद्गुण का उल्लास और अवज्ञा से पार्थक्य सिद्ध किया जा रहा है। ये दोनों युगल प्रायः समान ही दिखते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे दिया जा रहा है।

ननु चान्यगुणेनान्यत्रगुणोदयानुदय रूपाभ्यामुल्लासावज्ञालंकाराभ्यां तद्गुणातद्गुणयोः को भेदः? उच्यते उल्लासावज्ञालक्षणयोर्गुणशव्दो दोष प्रतिपक्षवाचौ। अन्यगुणेनान्यत्र गुणोदयतदनुदयौ च न तस्यैव गुणस्य संक्रमणासंक्रमणे, किन्तु सद्गुरूपदेशेन सदसच्छिष्ययोर्ज्ञानो त्पत्त्यनुत्पत्तिबत्तद्गुणजन्यत्वेन संभावितयोर्गुणान्तरयोरूत्पत्त्यनुत्पत्ती। तद्गुणातद्गुणयोः पुनर्गुणशब्दोरूपरसगन्धादिगुणवाची। तत्रान्यदीय गुणग्रहणाग्रहणे च रक्तस्फटिकवस्त्रमालिन्यादि न्यायेनान्यदीयगुणेनैवानुरञ्जनाननुरञ्जने विवक्षिते। तथैव चोदाहरणानि दर्शितानि। यद्यप्य वज्ञालंकृतिरतद्गुणश्च

विशेषोक्तिर्विशेषावेव, 'कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे' इति तत्सामान्यलक्षणाक्रान्तत्वात्। तथाप्युल्लसतद्गुणप्रतिद्वन्द्विना विशेषालंकारेणालंकारान्तरतया परिगणिताविति ध्येयम्॥ १४४॥

किसी अन्य के गुण से अन्यत्र गुणोदय और गुण का अनुदय रूप उल्लास और अवज्ञा अलङ्कार से तद्गुण और अतद्गुण का क्या भेद है? (इसके उत्तर में) कहते हैं - उल्लास और अवज्ञा में गुण शब्द दोष का प्रतिपक्षी (उलटा) है। अन्य के गुण से अन्यत्र उसी गुण का उदय या अनुदय उसी गुण का संक्रमण या असंक्रमण नहीं है। किन्तु गुरु के उपदेश से सत्शिष्य और असत्शिष्य में ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति उसी (गुरु के) गुण से उत्पन्न संभावित होता है। इस तरह एक से दूसरे के गुण का उदय या अनुदय होता है। परञ्च तद्गुण और अतद्गुण में 'गुण' शब्द रूपरस गन्ध आदि गुणवाचक है। वहाँ गुण के ग्रहण और अग्रहण में एक के गुण से दूसरे का अनुरञ्जन विवक्षित है। जैसे स्फटिक किसी लाल वस्तु का रंग ग्रहण कर लेता है, और कपड़ा किसी गन्दे कपड़े की गन्दगी साथ रहने मात्र से तुरन्त ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह के उदाहरण भी दिए गए हैं। यद्यपि अवज्ञा और अतद्गुण दोनों विशेषोक्ति का ही भेद विशेष है। पुष्कल (पर्याप्त) कारण रहने पर भी कार्य का न होना विशेषोक्ति कहलाता है। यह विशेषोक्ति का सामान्य लक्षण अवज्ञा और अतद्गुण में घटता है। तथापि उल्लास और तद्गुण का विरोधी होने के कारण पृथक् अलंकार रूप में इन दोनों की गिनती होती है।

उल्लास और अवज्ञा से तद्गुण और अतद्गुण में भेद इस तरह से जानना चाहिए। उल्लास में एक के गुण से दूसरे में गुण का उदय होता है। जैसे - 'अपिमां पावयेत्.....' वाले उदाहरण में पतिव्रता के पवित्रता रूप गुण से गंगा के पवित्रता रूप गुण का उदय होता है। तथा अवज्ञा में एक के गुण से दूसरे में गुण का उदय नहीं होता है। जैसे - ''मदुक्ति......'' वाले उदाहरण में कविता तथा रमणी के गुण से अरसिक तथा बालकों में गुणोदय नहीं होता है। इसी तरह तद्गुण में एक का गुण दूसरा ग्रहण कर लेता है और अतद्गुण में ग्रहण नहीं करता है। इस तरह उल्लास और अवज्ञा और तद्गुण और अतद्गुण दोनों एक सा ही

दीखता है। परञ्च उल्लास और अवज्ञा में गुण दोष का उलटा शब्द है। अर्थात् - दोष का विरोधी। तथा तद्गुण और अतद्गुण में "रूपरस......" आदि वाला गुण शब्द है। उल्लास और अवज्ञा में एक का गुण दूसरे में जैसे का तैसा तो ग्रहीत या अगृहीत नहीं होता है पर जैसे गुरु का गुण शिष्य में गृहीत या अग्रहीत माना जाता है, उसी तरह यहाँ भी होता है। पर तद्गुण में गुण का ग्रहण ऐसे होता है, जैसे स्फटिक मणि के आगे जिस रंग की वस्तु रखी जाएगी वही रंग स्फटिक ग्रहण कर लेगा। इस तरह स्फटिक का गुण ग्रहण और गंगा में पवित्रता रूप गुण ग्रहण में अन्तर है। इसलिए ये दोनों जोड़ी पृथक्-पृथक् है।

यद्यपि अवज्ञा और अतद्गुण विशेषोक्ति का ही भेद है। क्योंकि यहाँ भी गुणोदय का कारण रहने पर गुणोदय रूप कार्य तथा गुण ग्रहण के कारण रहते हुए भी गुण ग्रहण रूप कार्य का अभाव दीखता है। तथापि अवज्ञा उल्लास का उलटा है तथा अतद्गुण तद्गुण का उलटा है। अतः किसी अलङ्कार के उलटा होने से इन दोनों (अवज्ञा तथा अतद्गुण) को भी अलङ्कार माना जाता है।

७८. अनुगुणालङ्कारः

प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षौऽनुगुणः परसंनिधेः।
नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम्॥ १४५॥

यथा-

कपिरपि च कापिशायनमदमत्तो वृश्चिकेण संदष्टः।
अपि च पिशाचग्रस्तः किं ब्रूमो वैकृतं तस्य॥

अत्र कपित्व जात्या स्वतः सिद्धस्य वैकृतस्य मद्यसेवादिभिरुत्कर्षः

जहाँ कोई वस्तु अपने पूर्व सिद्ध गुणों के उत्कर्ष को अन्य की सन्निधि से प्राप्त करता है वहाँ अनुगुण नामक अलङ्कार होता है। जैसे - नीलकमल कटाक्षों के कारण और अधिक नीलता को धारण करता है। जैसे - दूसरा उदाहरण -

बन्दर स्वभाव से ही चपल है। उस पर यदि मदिरा पीकर मदमत्त हो या बिच्छू उसे काट खाया हो, या उसे पिशाच पकड़ लिया हो, तब तो उसके विकृत भाव का कहना ही क्या?

इस अलङ्कार में कोई भी अपने पूर्वसिद्ध गुण को ही अन्य की निकटता से या अन्य के कारण से उत्कृष्ट रूप में पाता है। जैसे नीलकमल नीला तो है ही, कटाक्ष के सान्निध्य से और अधिक नीलता को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् पूर्वसिद्ध नीलिमा का उत्कर्ष होता है। उसी तरह कपि की चञ्चलता पूर्व सिद्ध है ही। पर शराब पीने से या बिच्छू के काटने से या पिशाचग्रस्त होने से चञ्चलता और अधिक बढ़ जाती है। यहाँ शराब आदि के सान्निध्य से चञ्चलता का उत्कर्ष होता है।

७९. मीलितालङ्कारः

मीलितं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते।
रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारूणे॥ १४६॥

यथा वा -

मल्लिकामाल्यभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिक॥

अत्राद्ये चरणालक्तरसयोररुणिमगुणसाम्याद्भेदानध्यवसायः। द्वितीयोदाहरणे चन्द्रिकाभिसारिकाणां धवलिमगुणसाम्याद्भेदादध्यवसायः॥ १४६॥

जब दो वस्तु सादृश्य के कारण भेद विहीन (एक जैसा) दीखता हो तो मीलित अलङ्कार होता है। जैसे - स्वभावतः लाल चरण में लाक्षारस का पता नहीं चलता।

जैसे - दूसरा उदाहरण -

मल्लिका की माला धारण करने वाली, सर्वाङ्ग में चन्दन का लेप लगाने वाली, रेशमी वस्त्र (श्वेत) धारण करने वाली अभिसारिका चांदनी में परिलक्षित नहीं होती है।

यहाँ दो वस्तु साथ-साथ होने पर (वास्तव में पृथक् होने पर भी) एक सा (सादृश्य के कारण) दीख पड़ता है। जैसे चरण स्वभावतः लाल है। इसमें लाक्षारस लगाया गया है। चरण और लाक्षारस पृथक्-पृथक् तो हैं ही, पर साथ-साथ होने से सादृश्य के कारण चरण की लालिमा और लाक्षारस की लालिमा एक सी हो गयी है। अतः लाक्षारस का भान नहीं होता। इसी तरह मल्लिका की माला (उजली) चन्दन का लेप

(उजला) रेशमी वस्त्र (उज्जवल) इन तीनों से युक्त अभिसारिका चांदनी (उजली) में ऐसी मिल जाती है कि परिलक्षित ही नहीं होती। यहाँ उज्ज्वलता के कारण पार्थक्य स्पष्ट नहीं होता है।

८०. सामान्यालङ्कार

सामान्यं यदि सादृश्याद्विशेषो नोपलक्ष्यते।
पद्माकर प्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम्॥ १४७॥

यथा वा -

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्त प्रतिबिम्बशतैर्वृतः।
लङ्केश्वरः समामध्ये न ज्ञातो वालिसूनुना॥

मीलितालंकारे एकेनापरस्य भिन्नस्वरूपानवभासरूपं मीलनं क्रियते, सामान्यालंकारे तु भिन्नस्वरूपावभासेऽपि व्यावर्तन विशेषोनोपलक्ष्यत इति भेदः। मीलितोदाहरणे हि सहजारुण्याच्चरणा देर्वस्त्वन्तरत्वेनागन्तुकं यावदारूण्यं न भासते। सामान्योदाहरणे तु पद्मानां मुखानां च व्यक्त्यन्तरतया भानमस्त्येव। यथा रावणदेहस्य तत्प्रतिबिम्बानां च, किंत्विदं पद्ममिदं मुखमयं बिम्बोऽयं प्रतिबिम्ब इति विशेषः परंनोपलक्ष्यते। अतएव भेदातिरोधान्मीलितं, तदतिरोधानेऽपि साम्येन व्यावर्तकानवभासे सामान्यम्, इत्युभयोरन्वर्थता।

जहाँ अत्यधिक सादृश्य के कारण भेद (विशेष) ज्ञात न हो पाए तो सामान्यालङ्कार होता है। जैसे - कमल से पूर्ण तालाब में प्रविष्ट नायिकाओं का मुख परिलक्षित नहीं होता है।

जैसे दूसरा उदाहरण -

रत्नस्तम्भ में प्रतिबिम्बित हजारों प्रतिबिम्बों से घिरे रावण को बीच सभा में अंगद पहचान नहीं पाया।

मीलित अलङ्कार में एक से दूसरे के स्वरूप का आभास नहीं होने से ऐक्य सा दीखता है, पर सामान्य में भिन्न स्वरूप का ज्ञान होने पर भी परस्पर व्यावर्तक धर्म का अभाव होता है। यही मीलित और सामान्य में भेद है। मीलित के उदाहरण में स्वभावतः

चरण की लालिमा से महावर से प्राप्त (वस्त्वन्तर) लालिमा का पृथक् आभास नहीं होता है। सामान्य के उदाहरण में पद्म और मुख का पृथक्-पृथक् आभास तो होता ही है। जैसे रावण के देह का और प्रतिबिम्ब का पृथक् आभास तो है ही, पर यह कमल है और यह मुख है तथा यह बिम्ब है और यह प्रतिबिम्ब है यह विशेष (ज्ञान) नहीं होता है। अतएव भेद का अतिरोध होने से मीलित तथा भेद के रहने पर व्यावर्तक धर्म के अभाव में सामान्य है। यही दोनों की अन्वर्थता है।

सामान्य और मीलित के अन्तर को स्पष्ट जान लेना आवश्यक है। क्योंकि दोनों में दो वस्तुओं का मिलन होता है।

मीलित में जब दो वस्तु मिलती हैं तो पार्थक्य का ज्ञान नहीं होता है। जैसे चरण की लालिमा में महावर की लालिमा मिल गई। अब यह जान पाना मुश्किल है कि यह चरण की लालिमा है या महावर की। स्वत:ईषत् रक्त अधर पर हल्की रञ्जना (लिपस्टिक से रंगने से) से यह जान पाना मुश्किल होगा कि यह लाली वास्तविक है या कृत्रिम। पर सामान्य में ऐसा नहीं होता। वहाँ दोनों अलग-अलग दीख पड़ते हैं, पर दोनों को पृथक्-पृथक् बताना संभव नहीं सा दिखता है। जैसे कमल के बीच में नायिका का मुख। यहाँ मुख और कमल महावर और पैर की लाली की तरह नहीं मिलता है। अपितु कमल सदृश सौन्दर्य के कारण कमल और मुख एक सा दिखता है। यहाँ दोनों कमल और मुख में स्पष्ट पार्थक्य (अंगुली से निर्दिष्ट होने लायक) तो है पर सादृश्य के कारण दोनों के व्यावर्तक धर्म (अलग बताने का कारण) के अभाव में दोनों को एक सा कहा गया है। यही सामान्य और मीलित में अन्तर है।

अब दूसरे आलङ्कारिकों के मत से सामान्य और मीलित के स्पष्टीकरण को स्पष्ट करते हैं।

केचित्तु वस्तुद्वयस्य लक्षणसाम्यात्तयोः केनचित्वलीयसा तदन्यस्य स्वरूपतिरोधाने मीलितं स्वरूपप्रतीतावपि गुणसाम्याद्भेदतिरोधाने सामान्यम्। एवञ्च-

अपाङ्गतरले दृशौ तरलवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम्।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशांस्वतोलीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते॥

इत्यत्र मीलितालङ्कारः। अत्र दृक्तारल्यादीनां नारीवपुषः सहजधर्मत्वान्मदोदयकार्यत्वाच्च तदुभयसाधारण्यादुत्कृष्टतारल्यादियोगिना वपुषा मदोदयस्य स्वरूपमेव तिरोधीयते। लिङ्गसाधारण्येन तज्ज्ञानोपायाभावात्। मल्लिकामालभारिण्यः इत्यादिषु च सामान्यालङ्कारमाहुः। तन्मते पद्माकरप्रविष्टानां इत्यादौ भेदाध्यवसायेऽपि व्यावर्तकास्फुरणेनालङ्कारान्तरेणभाव्यं, सामान्यालङ्कारावान्तरभेदेन वा। पूर्वस्मिन्मते स्वरूपतिरोधानेऽलङ्कारान्तरेण भाव्यं मीलितावान्तरभेदेन वा॥ १४७॥

कुछ आलङ्कारिकों के मत में दो वस्तु लक्षण साम्य होने पर बलवान पक्ष के द्वारा कमजोर पक्ष के स्वरूप को खत्म (तिरोहित) कर देने पर मीलित अलङ्कार होता है और दो वस्तु के स्वरूप प्रतीति होने पर भी गुण साम्य से भेद का तिरोधान होने पर सामान्य अलङ्कार होता है। इस तरह – दोनों आँखों के अपाङ्ग चञ्चल हैं, बोली मीठी तथा टेढ़ी है, विलास भार से मदमाती गति है, अत्यन्त सुन्दर मुख है। इस तरह मृगनयनी के अंग जो स्वतः लीला से स्फुरित हो रहे हैं उसमें मद (नशा) की स्थिति होने पर भी पता नहीं चलता है।

इस श्लोक में मीलित अलंकार है। यहाँ आँखों की चञ्चलता आदि नारी शरीर के सहज धर्म है तथा मद (नशा) के भी ये चञ्चलता आदि कार्य हैं। दोनों के साधारण (समान) होने से उत्कृष्ट तरलतायुक्त शरीर से मदोदय के स्वरूप का तिरोधान हो जाता है। लिंङ्ग (धर्म) समान होने से उस मदोदय के ज्ञान का अभाव होता है। 'मल्लिका मालभारिण्यः' इस श्लोक में सामान्य अलंकार कहते हैं। उनके मत में 'पद्माकर प्रविष्टानां' इत्यादि में भेद का अध्यवसाय होने पर भी व्यावर्तक धर्म के अभाव में दूसरा अलंकार होना चाहिए या सामान्य अलंकार का अवान्तर भेद होना चाहिए। पहले मत में स्वरूप तिरोधान होने पर दूसरा अलंकार होना चाहिए या मीलित का अवान्तर भेद होना चाहिए।

यहाँ एक पक्ष (मम्मटादि) को उपस्थापित किया गया है। उनके मत से 'अपाङ्गतरले' में मीलित अलंकार है। क्योंकि तरुणियों में चञ्चलता आदि गुण स्वभावसिद्ध हैं। यही चञ्चलता आदि मद से भी होता है। अर्थात् यहाँ एक स्वभावसिद्ध चञ्चलता दूसरा मदोत्पन्न चञ्चलता है। स्वभावसिद्ध चञ्चलता के बलवान होने से मदोत्पन्न चञ्चलता का तिरोधान हो जाता है। अतः मीलित है तथा 'मल्लिका मालभारिण्यः' ये सामान्य हैं क्योंकि चन्द्रिका और अभिसारिका में धवलिमा गुण का साम्य है और इसी साम्य से भेद का तिरोधान होता है। पर 'पद्माकर प्रविष्टानां' में कमल और मुख में अभेद तो दीखता है पर व्यावर्तक धर्म नहीं, अतः या तो सामान्य का ही कोई भेद होना चाहिए या दूसरा कोई अलंकार। इसी तरह पहले वाले मत में 'मल्लिका' आदि में स्वरूप का तिरोधान होने से मीलित का भेद होना चाहिए या अन्य कोई अलंकार।

मीलित और सामान्य का लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने इस तरह किया है- **मीलितं वस्तुनोगुप्तिः केनचित् तुल्यलक्ष्मणा।** तथा

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः (सामान्य)

चन्द्रालोककार और दीक्षित जी का लक्षण एक ही है।

८१-८२. उन्मीलित विशेषालङ्कारौ

भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ।
हिमाद्रिं त्वद्यशोमग्नं सुराः शीतेन जानते॥
लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च॥ १४८॥

मीलितन्यायेन भेदानध्यवसाये प्राप्ते कुतोऽपि हेतोर्भेदस्फूर्तौ मीलितप्रतिद्वन्द्व्युन्मीलितम्। तथा सामान्यरीत्या विशेषणास्फुरणे प्राप्ते कुतश्चित् कारणाद्विशेषस्फूर्तौ तत्प्रतिद्वन्द्वी विशेषकः। क्रमेणोदाहरणद्वयम्। तद्गुणरीत्यापि भेदानध्यवसाय प्राप्तावुन्मीलितं दृश्यते।

यथा -

नृत्यद्भर्गाट्टहास प्रसरसहचरैस्तावकीनैर्यशोभि-
र्धावल्यं नीयमानेत्रिजगति परितः श्रीनृसिंहक्षितीन्द्रः!।

नेदृग्यद्येष नाभीकमलपरिमलप्रौढिमासादयिष्य
द्देवानां भविष्यत् कथमपि कमलाकामुकस्यावबोधः॥
काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्तसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः॥

इदं विशेषकस्योदाहरणान्तरम्। अत्र द्वितीयौ काकपिकशब्दौ 'काकत्वेन ज्ञातः पिकत्वेन ज्ञातः' इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यौ॥

यथा वा -

वाराणसीवासवतां जनानां साधारणे शंकरलाञ्छनेऽपि।
पार्थप्रहारव्रणमुत्तमाङ्गं प्राचीनमीशं प्रकटीकरोति॥ १४८॥

जहाँ मीलित की तरह संश्लिष्ट होने पर भी भेद लक्षित हो जाए वहाँ उन्मीलित अलङ्कार होता है तथा जहाँ सामान्य की तरह ऐक्य होने पर भी वैशिष्ट्य का ज्ञान हो जाए वहाँ विशेष अलङ्कार होता है। जैसे - हे राजन्! तुम्हारे यश में हिमालय मिल गया है, उसे देवता लोग शीतलता से जानते हैं (उन्मीलित)। चन्द्रमा के उदित होने पर कमल और मुख लक्षित हो गए। (विशेष)

मीलित की तरह भेद का तिरोधान प्राप्त होने पर भी भेद स्फूर्ति किसी कारण विशेष से हो जाए तो मीलित का प्रतिद्वन्द्वी उन्मीलित अलङ्कार होता है तथा 'सामान्य' की तरह विशेष ज्ञान न होने पर भी कहीं कारण विशेष से वैशिष्ट्य का ज्ञान होने पर सामान्य का प्रतिद्वन्द्वी विशेष अलङ्कार होता है। कारिका में क्रमशः दोनों का उदाहरण है। 'तद्गुण' की रीति से भी भेद की अप्रतीति होने पर यदि कारण विशेष से भेदज्ञान हो जाए तो उन्मीलित अलङ्कार होता है।

जैसे - उन्मीलित का उदाहरण -

हे श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र! नृत्य करते हुए शंकर के अट्टहास के प्रसार का सहचर आपके यश के द्वारा तीनों लोक धवलित कर दिये जाने पर यदि नाभिकमल की सुगन्धि की प्रौढ़ता न होती तो देवताओं के लिए कमला के पति (विष्णु) का बोध नहीं हो पाता।

तथा विशेष का उदाहरण –

कौआ काला है, कोयल काली है, तो फिर कोयल और कौआ में भेद क्या है? बसन्त का समय आने पर कौआ, कौआ है और कोयल, कोयल है।

यह विशेषक का दूसरा उदाहरण है। यहाँ द्वितीय काक पिक शब्द काकत्व रूप में तथा पिकत्व रूप में संक्रमित होने से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है। जैसे –

वाराणसी में वास करने वाले लोगों में साधारणतया शंकर का लक्षण होने पर भी पार्थ के प्रहार से उत्पन्न घाव से युक्तशीर्ष होने से प्राचीन शंकर की प्राचीनता प्रकट होती है।

यह उन्मीलित और विशेष अलङ्कार मीलित तथा सामान्य का प्रतिद्वन्द्वी है। मीलित में सादृश्य होने से भेद लक्षित नहीं होता है, पर उन्मीलित में तथा सादृश्य होने पर भी कारण विशेष से भेद लक्षित हो जाता है। जैसे – हिमालय और यश दोनों उजला होने के कारण एक सा हो गया है, पर शीतलता रूप कारणविशेष से देवता हिमालय को पहचान लेते हैं। उज्जवलता यश और हिमालय में एक सा है, पर शीतलता केवल हिमालय में ही होने से भेद ज्ञात हो जाता है। इसी तरह दूसरे उदाहरण में त्रिलोक यश में मिल जाता है। इससे देव समेत भगवान विष्णु भी उजले रंग के होकर उसमें मिल गए पर नाभिकमल के सुगन्ध से विष्णु की पहचान हो जाती है। यह सुगन्ध विष्णु में है यश में नहीं या औरों में नहीं। इसी तरह सामान्य में किसी वस्तु का वैशिष्ट्य ज्ञान नहीं होता। कमल और मुख में पृथक्–पृथक् ज्ञान नहीं हो पाता है। पर विशेष में किसी कारण विशेष से एक का वैशिष्ट्य ज्ञात हो जाता है। जैसे – पद्म और मुख में भेद लक्षित नहीं होता पर चन्द्रोदय होने पर दोनों का पृथक् ज्ञान हो जाता है। क्योंकि चन्द्रोदय पर कमल मुरझा जाता है मुख नहीं। यहाँ 'मुरझाना' रूप विशेष कारण से दोनों का पार्थक्य ज्ञान हो जाता है। इसी तरह कौए और कोयल में कालिमा के ऐक्य से पार्थक्य ज्ञान नहीं होता पर बसन्त समय में मीठी और कड़वी बोली से पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। इसी तरह आगे उदाहरण में वाराणसी में बसने वाले सभी शंकर सदृश हैं, पर अर्जुन के बाण से उत्पन्न घाव केवल प्राचीन (वास्तविक)

शंकर को ही है, अन्य को नहीं। इस तरह इस घाव विशेष से प्राचीन शंकर और सामान्य-जन का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है।

८३. उत्तरालङ्कारः

किञ्चिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्।
यत्रासौ वेतसी पान्थ! तत्रेयं सुतरा सरित्॥ १४९॥

सरित्तरणमार्गं पृच्छन्तं प्रति तं कामयमानायाः उत्तरमिदम्। वेतसीकुञ्जे स्वाच्छन्दयमित्याकूतगर्भम्।

यथा वा -

ग्रामेऽस्मिन् प्रस्तरप्राये न किञ्चित्पान्थ! विद्यते।
पयोधरोन्नतिं दृष्टवा वसितुमिच्छसि चेद्वस॥

आस्तरणादिकमर्थयमानं पान्थं प्रत्युक्तिरियम्। स्तनोन्नतिं दृष्ट्वा रन्तुमिच्छसि चेद्वस। अविदग्धजनप्रायेऽस्मिन्ग्रामे कश्चिदवगमिष्यतीत्येतादृशं प्रतिबन्धकं किञ्चिदपि नास्तीति हृदयम्। इदमुन्नेय प्रश्नोत्तरस्योदाहरणम्।

जहाँ किसी विशेष अभिप्रायः से युक्त गूढ़ उत्तर दिया जाए वहाँ उत्तर अलङ्कार होता है। जैसे - ऐ पथिक! जहाँ वेतसी का कुञ्ज है वहीं सुगमतया नदी पार करने का स्थल है।

सरित् पार करने का मार्ग पूछने वाले किसी पथिक के प्रति उस पथिक को श्रृंगारार्थ चाहने वाली किसी दूती का यह उत्तर है। वेत कुञ्ज में स्वच्छन्दतापूर्वक रमण (संभोग) हो सकता है। यह गूढ़ अभिप्रायः है। जैसे दूसरा उदाहरण -

इस प्रस्तरमय गांव में कुछ नहीं है। ऐ पथिक यदि उन्नत पयोधर (मेघ-स्तन) देखकर रुकना चाहते हो तो रुक जाओ।

बिछावन आदि चाहने वाले पथिक के प्रति किसी (दूती) की यह उक्ति है। स्तन वृद्धि को देखकर यदि रमण करना चाहते हो तो रह जाओ। अचतुर (मूर्ख) लोगों से भरे इस गांव में कोई चौर्य रमण (संभोग) को जान लेगा यह प्रतिबन्धक तत्व यहाँ नहीं है। यह गर्भ (गूढ़) है। यह उदाहरण कल्पित प्रश्न के उत्तर के रूप में है।

यहाँ किसी प्रश्न का उत्तर किसी विशेष अभिप्रायः से दिया जाता है। एक पथिक नदी पार करना चाहता है। वह किसी लड़की से यह पूछता है कि इस नदी में किस जगह पर पार करने में सुगमता होगी। वह लड़की स्वच्छन्दचारिणी है। एकान्त में इस पथिक को पाकर रमण (संभोग) करना चाहती है। इसलिए कहती है कि जहाँ वह वेंत का कुञ्ज है वहीं सुगम रास्ता है। तात्पर्य है कि उस वेंत कुञ्ज में हम दोनों स्वच्छन्दता से रमण कर सकेंगे। अब यदि पथिक चतुर हो तो उसका अर्थ समझ कर लाभ उठा सकता है। दूसरे उदाहरण में घने मेघ को देखकर कोई पथिक किसी (युवती) से आश्रय मांगता है कि यदि संभव हो तो मैं यहाँ टिक जाऊं। वह युवती वासनाभिभूता है। इस पथिक से संभोग की लालसा जग उठी तो वह कहती है, कि सुनो इस गांव में पत्थर ही पत्थर हैं। यानि बिछावन वगैरह नहीं है, या सब लोग पत्थर की तरह जड़ हैं। उठे हुए पयोधर (मेघ या मेरे उठे हुए स्तन) को देखकर यदि रहना चाहते हो, मेरे साथ रमण करना चाहते हो तो रह जाओ। सारे लोग जड़ (मूर्ख) हैं, अतः मेरे साथ रमण (संभोग) करने में तुम्हें कोई बाधा नहीं होगी। कोई हम दोनों पर शंका भी नहीं करेगा। यहाँ नायिका का रमणार्थ भाव छिपा हुआ है।

इन उदाहरणों में प्रश्न स्पष्ट नहीं है। उत्तर को देखकर प्रश्न की कल्पना हुई है। कहीं-कहीं प्रश्न भी निबद्ध होता है। तथा कहीं-कहीं प्रश्न तथा उत्तर मिला हुआ ही होता है। इस तरह उत्तर के दो प्रकार का आगे निरूपण करते हैं। निबद्ध प्रश्नोत्तर तथा चित्रोत्तर।

निबद्ध प्रश्नोत्तरं यथा -

कुशलं तस्या? जीवति, कुशलं पृच्छामि, जीवतीत्युक्तम्
पुनरपि तदेव कथयसि मृतां नु कथयामि या श्वसिति॥

इर्ष्यामानानन्तरमनुतप्ताया नायिकायाः सखीमागतां प्रति 'तस्याः कुशलम्' इति नायकस्य प्रश्नः। जीवति इति सख्याः उत्तरम्। जीवत्याः कुतः कुशलमिति तदभिप्रायः। अन्यत्पृष्टमन्यदुत्तरमिति नायकस्य 'पुनः कुशलं पृच्छामि' इति प्रश्नः। पृष्टस्यैवोत्तरमुक्तमित्यभिप्रायेण जीवतीत्युक्तमिति सख्याः वचनम्। सखीवचनस्याभिप्रायोद्घाटनार्थं पुनरपि तदैव कथयसि 'इति नायकस्याक्षेपः'। 'मृतां

नु कथयामि या श्वसिति' इति सख्याः स्वाभिप्रायोद्घाटनम्। सति मरणे खलु तस्याः कुशलं भवति, मदागमनसमयेऽपिश्वासेषु सञ्चरत्सु कथं मृतां कथयेयमित्यभिप्रायः॥ १४९॥

अथ चित्रोत्तरम्

प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते।
केदारपोषणरताः, के खेटाः, किं चलं, वयः॥ १५०॥

अत्र केदारपोषणरताः इति प्रश्नाभिन्नमुत्तरं 'केखेटाः किंचलम्?' इति प्रश्नद्वयस्य वयः इत्येकमुत्तरम्। उदाहरणान्तराणि विदग्धमुखमण्डने द्रष्टव्यानि।

निबद्ध प्रश्नोत्तर जैसे –

उसका कुशल है? जीवित है। मैं कुशल पूछता हूँ? जीवित है, यही कहा है। पुनः तुम वही कह रही हो? जो श्वांस ले रही है, उसे मरी तो नहीं कह रही हूँ।

इर्ष्यामान के बाद अनुत्तप्त नायिका की सखी को आया देखकर नायक का प्रश्न है, कि वह कुशल है? 'जीवित है' यह सखी का उत्तर है। जीवित रहते उसका कुशल कहाँ? यह अभिप्राय है। मैंने अन्य प्रश्न पूछा और तुम अन्य ही उत्तर दे रही हो, इस अभिप्रायः से नायक का पुनः प्रश्न है कि मैं कुशल पूछता हूँ। तुम्हारे प्रश्न का ही मैंने जवाब दिया है, इसलिए जीवित है ऐसा कहा है। सखी के वचन के अभिप्रायः का उद्घाटन करने के लिए नायक कहता है कि तुम पुनः वही कह रही हो। जो श्वांस ले रही है, उसे मरी नहीं कहती, यह सखी के अभिप्रायः का उद्घाटन है। मरण होने पर ही उसका कुशल होगा मेरे आने के समय भी उसकी श्वासें चल रही थी। अतः उसे मरी कैसे कहूँ यह अभिप्रायः है।

चित्रोत्तर –

प्रश्न और उत्तर यदि अभिन्न हो तो चित्रोत्तर कहलाता है। केदारपोषणरत कौन है? कौन आकाश में घूमने वाला है क्या चञ्चल है? उम्र॥ १५०॥

यहाँ 'केदारपोषणरता' (भूमि पोषण करने वाला) यह उत्तर प्रश्न से अभिन्न है। कौन आकाश में घूमता है? कौन चञ्चल है? इन दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है उम्र। अन्य उदाहरण 'विदग्धमुखमण्डन' में देखना चाहिए।

निबद्ध प्रश्नोत्तर में नायक का स्पष्ट प्रश्न है तथा इसी का स्पष्ट उत्तर है। प्रश्नोत्तर इस तरह समझ लें। इर्ष्या से मान करने वाली नायिका का पति जब चला गया तो वह नायिका बाद में बहुत अधिक विरह सन्तप्त हुई। इसकी अवस्था को देखकर एक सखी नायक के पास गई। नायक ने पूछा वह (नायिका) कुशल से तो है? सखी ने कहा कि वह जीवित है। अर्थात् अब तक मरी नहीं। नायक पुनः पूछता है कि मैं कुशल पूछता हूँ। सखी कहती है – इसीलिए तो कहती हूँ कि वह जीवित है। जब तक जीवित है, तब तक उसका कुशल कैसे संभव है। वह तो विरहाग्नि में तप रही है। मरने के बाद ही उसका कुशल होगा। नायक ने कहा अरी तुम तो वही बातें (जीवति) दुहरा रही हो। सखी बोली – भला जो श्वास ले रही है, उसे मरा कैसे कहूँ। अर्थात् वह केवल श्वास ले रही है और जीवन का कोई लक्षण नहीं है। वह भृशतप्ता हो रही है यंह अभिप्रायः है। यहाँ प्रश्न तथा उत्तर दोनों निबद्ध है।

चित्रोत्तर में कहीं प्रश्न और उत्तर एक ही पद होता है, तो कहीं दो-तीन प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है। जैसे केदारपोषणरता पत्नी (दारा) को पालने में कौन रत है? का जवाब भी इसी पद केदारपोषणरताः (खेत को पोषण करने वाला) में है। यहाँ प्रश्न में के-दारपोषणरताः करना पड़ता है और उत्तर में केदार-पोषणरताः करना पड़ता है। आगे दो प्रश्न-कौन आकाश में घूमता है तथा कौन चञ्चल है? का एक ही उत्तर है वयः। वीः पक्षी का बहुवचन होने से प्रथम प्रश्न का उत्तर पक्षी, तथा वयः उम्र होने से दूसरे प्रश्न का उत्तर है।

आचार्य विश्वनाथ ने प्रश्न होने पर अनेक बार असंभाव्य उत्तर देने पर भी उत्तरालङ्कार माना है –

उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नेयो यदि।
यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्॥ (सा.द.)

८४. सूक्ष्मालङ्कारः

सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूत चेष्टितम्।
मयि पश्यति सा केशैः सीमन्तमणिमावृणोत्॥ १५१॥

कामुकस्यावलोकनेन सङ्केतकालप्रश्नभावं ज्ञातवत्याश्चेष्टे। अस्तंगते सूर्ये संकेतकाल इत्याकूतम्।

यथा वा –

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
आसीन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥ १५१॥

दूसरे के आशय को जानने वाले के द्वारा साभिप्राय चेष्टा करना सूक्ष्म अलङ्कार होता है। मुझे देखने पर उसने (नायिका) अपने केशों से सीमन्त मणि को ढक दिया।

कामुक के अवलोकन से संकेतकाल के प्रश्न भाव को जानने वाली (नायिका) की यह चेष्टा है। सूर्यास्त होने पर संकेत समय है, यह भाव है।

जैसे दूसरा उदाहरण –

संकेतकाल जानने की इच्छा वाले विट को जानकर चतुरा नायिका के द्वारा आँखे मटका कर लीला कमल बन्द कर दिया गया।

यहाँ किसी के प्रश्नात्मक अभिप्रायः को समझ कर उत्तर के तौर पर की गई चेष्टा का वर्णन होता है। जैसे नायक (उपनायक) को देखते ही नायिका समझ गई कि यह मुझसे मिलने का समय पूछ रहा है। इसके उत्तर में उसने केश से सीमन्त मणि को ढक दिया। इसका भाव यह हुआ कि केश (अन्धकार) से सीमन्त मणि (सूर्य) के ढक जाने पर, सूर्यास्त होने पर मिलन हो पाएगा। उसी तरह दूसरे उदाहरण में लीला कमल को बन्द करने का भाव यह है कि जब कमल बन्द होगा अर्थात् सूर्यास्त के बाद मिलन का समय होगा।

आचार्य विश्वनाथ ने सूक्ष्म अलङ्कार का लक्षण इस तरह दिया है –

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थः आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते॥ (सा.द.)

८५. पिहितालङ्कारः

पिहितं परवृत्तानृज्ञातुः साकूतचेष्टितम्।
प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत्॥ १५२

रागौ सपत्नीगृहे कृतजागरणेन श्रान्तोऽसीति तल्पकल्पनाकूतम् यथा वा-

वक्त्रस्यन्दिस्वेदविन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥

अत्र स्वेदानुमितं पुरुषायितं पुरुषोचित खड्गलेखालेखनेन प्रकाशितम्॥ १५२॥

दूसरे के वृत्तान्त (गुप्त) को जानने वाले की अभिप्रायपूर्ण चेष्टा को पिहित कहते हैं। जैसे- प्रातः काल प्रियतम के घर आने पर कान्ता ने बिछावन सजा दिया।

यहाँ बिछावन सजाने का यह अभिप्रायः है कि रात भर सौतन के घर में तूने जागरण किया है, अतः थक गए हो। (इसलिए बिछावन तैयार है।)

जैसे दूसरा उदाहरण -

मुख मण्डल से बहते स्वेद बिन्दु की धारा से भिन्न कुङ्कुम को कण्ठ में देखकर तन्वी के पुंस्त्व (रति) को व्यञ्जित करती हुई सखी के द्वारा हंसकर हथेली पर खड्गलेख लिख दिया गया।

इस अलङ्कार में किसी के गुप्त वृत्तान्त को जानकर उसे व्यञ्जित करने के लिए साभिप्राय चेष्टा की जाती है। जैसे – रात भर पति के न आने पर नायिका समझ गई है कि यह नायक जरूर किसी नायिका (अन्या) के घर रात भर मौज मस्ती करके आया है। इसी बात को कहने के लिए उसने पलंग पर बिछावन सजा दिया। इससे अभिप्रायः है कि रात भर थक गए हो अब आराम करो। यहाँ परनायिका के साथ रमण वृत्तान्त नायिका जान चुकी है और नायिका की चेष्टा उसी वृत्तान्त को स्पष्ट करती है। दूसरे उदाहरण में कण्ठ में कुंकुम रंग को देखकर नायिका की सखी पुरुष के साथ विपरीत रति क्रीड़ा इसने किया है इस बात को जान जाती है। इसी को उजागर करने के लिए उसकी हथेली पर खङ्गलेखा लिखती है। इस खङ्गलेखा से पुरुष का व्यंग्य होता है। अर्थात् तू पुरुष के साथ रति क्रीड़ा करके आ रही है। अतः यहाँ पिहित अलङ्कार है।

आचार्य विश्वनाथ ने इस श्लोक में सूक्ष्म अलङ्कार माना है। उनके अनुसार संलक्षित अर्थ आकार से या इंगित से सूचित होने पर सूक्ष्म अलंकार है। (सा.द.)

दीक्षित जी के अनुसार सूक्ष्म में चेष्टा से किसी के आशय का जवाब दिया जाता है और पिहित में किसी के गुप्त वृत्तान्त की व्यञ्जना की जाती है। यही दोनों में अन्तर है। विश्वनाथ ने पिहित अलङ्कार नहीं माना है। दीक्षित जी की व्याख्या के अनुसार दोनों में अलग-अलग चमत्कार होता है, अतः पृथक्-पृथक् अलङ्कार माना गया है।

८६. व्याजोक्त्यलङ्कारः

व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम्।
सखि! पश्य गृहारामपरागैरस्मि घूसरा॥ १५३॥

अत्र चौर्यरतकृतसङ्केतभूपृष्ठलुण्ठनलग्नधूलिजालस्य गोपनम्।

यथा वा -

कस्या वा न भवेद्रोषः प्रियायाः सव्रणेऽधरे।
सभृङ्गं पद्ममाघ्रासीर्वारितापि मयाधुना॥

उपपतिना खण्डिताधरायाः नायिकायाः सकाशमागच्छन्तं प्रियमपश्यन्त्येव सख्या नायिकां प्रति हितोपदेशव्याजेन तं प्रति नायिकापराधगोपनम्। छेकापहनुतेरस्याश्चायं विशेषः-तस्यां वचनस्यान्यथानयनेनापह्नवः, अस्यामाकारस्य हेत्वन्तरवर्णनेन गोपनमिति।

जहाँ किसी दूसरे हेतु को बताकर आकार का गोपन किया जाता है वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे हे सखि! देखो घर के बगीचे के पराग से मैं घूसरित हो गई हूँ।

यहाँ चोरी से किए गए रति काल में धरती पर लौटने से लगे धूलिजाल का गोपन हुआ है।

जैसे दूसरा उदाहरण -

प्रिया के ब्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होता। भ्रमरयुक्त कमल को तूने मेरे मना करने पर भी सूंघ ही लिया।

यहाँ उपनायक के द्वारा कटे अधर वाली नायिका के पास आते प्रियतम को बिना देखते हुए सखी नायिका के प्रति हितोपदेश के व्याज से नायक के प्रति नायिका के अपराध

को छिपा रही है। छेकापह्नुति और व्याजोक्ति में यह अन्तर होता है कि अपह्नुति में वचन को दूसरे ढंग से कह कर वास्तविकता को छिपाया जाता है और व्याजोक्ति में आकार का गोपन कारणान्तर के वर्णन से होता है।

व्याजोक्ति में आकार (वास्तविक स्थिति) का गोपन किया जाता है। इसमें जो मूल कारण है उसे छिपाने के लिए अन्य कारण का उपस्थापन किया जाता है। जैसे कारिकागत उदाहरण में - एक नायिका कहीं चुपके-चुपके किसी (उपनायक) के साथ संभोग कर बैठी है। संभोगकाल में वह बिछावन के अभाव में जमीन पर ही लेट गई। इससे धूलि से उसका शरीर भर गया। शरीर के धूसरित होने के मूल कारण को छिपाकर वह दूसरा कारण बताती है कि घर के बगीचे की धूलि से मेरा शरीर ऐसा हो गया है। यहाँ कारणान्तर से मूल कारण का गोपन हुआ है तथा दूसरे उदाहरण में एक नायिका किसी कुञ्ज में अपने उपनायक के साथ रमन करके लौटी तो उसका अधर उपनायक के दशनक्षत से कट चुका था। संयोगवश उसी समय नायिका का पति आता दीख पड़ा। इस पति को नायिका ने नहीं देखा पर सखी देख चुकी है। अब पति नायिका के अधर को देखकर गुस्से में न आ जाये, अत: आते हुए नायक से मुँह फेरकर नायिका को सम्बोधित कर कहती है कि मैंने तुम्हें मना किया फिर भी तूने भ्रमर वाले कमल को सूंघ ही लिया। अब बताओ इस कटे अधर को देखकर तुम्हारा पति क्या कहेगा। पत्नी के कटे अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होता? अर्थात् सबको होता है। सखी का ध्येय आते हुए पति को सुनाना है, ताकि वो समझ जाये कि मेरी पत्नी का अधर भ्रमर के काटने से कटा है, किसी उपनायक के दशन से नहीं। इस तरह यहाँ अधरक्षत के मूल कारण को छिपाया गया है। इस श्लोक का भिन्न अनुवाद भी देखा जाता है-

कस्यवान भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माध्रायिणी वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

छेकापह्नुति और व्याजोक्ति में अन्तर -

छेकापह्नुति में अपने वचन का अन्यथा अर्थ बताकर मूल भाव को छिपाया जाता

है। जैसे - कोई नायिका अपनी विश्वस्त सखी को पति का वृत्तान्त चुपचाप सुना रही थी कि देखो वह मेरा पति अनुनय करता हुआ पैरों से लग गया। 'प्रजल्यन्मत् पदे लग्नः'। इसी समय इस बात को किसी तीसरे ने सुन लिया और पूछा क्या वह तुम्हारा पति था? तो नायिका वास्तविकता को छिपाती हुई कहती है कि नहीं-नहीं वह तो नूपुर है। यहाँ प्रजल्पन्मत् पदे लग्नः का अर्थ परिवर्तन कर वास्तविकता को छिपाया गया है।

(द्रष्टव्य छेकापह्नुति विवेचन)

पर व्याजोक्ति में आकार (व्यापार) का गोपन कारणान्तर के वर्णन से होता है। जैसे- धूल धूसरित शरीर का मूल कारण (चौर्यरत) को छिपाकर अन्य कारण (बगीचे का पराग लगना) बताया गया है।

'व्याजोक्ति' में उक्ति पद की विवेचना आगे करते हैं-

लक्षणे लक्ष्यनाम्नि चोक्तिग्रहणमाकारस्य गोपनार्थ हेत्वन्तर प्रत्यायक व्यापारमात्रोपलक्षणम्। ततश्च -

आयान्तमालोक्य हरिं प्रतोल्या
माल्याः पुरस्तादनुरागमेका।
रोमाञ्चकम्पादिभिरुच्यमानं
भामा जुगूह प्रणमन्त्यथैनम्॥

इत्यत्रापि व्याजोक्तिरेव। अत्र ह्यनुराग कृतस्य रोमाञ्चाद्याकारस्य भक्तिरूपहेत्वन्तर प्रत्यायकेन प्रणामेन गोपनं कृतम्। सूक्ष्मपिहितालङ्कारयोरपि चेष्टितग्रहणमुक्तिसाधारणव्यापारमात्रोपलक्षणम्। ततश्च -

नलिनीदलेवलाका मरकतपात्र इव दृश्यते शुक्तिः।
इति मम सङ्केतभुवि ज्ञात्वाभावं तदाब्रबीदालीम्॥

इत्यादिष्वपि सूक्ष्मालङ्कारः प्रसरति। अत्र श्लोके तावत् 'किमावयोः सङ्केत स्थानं भविष्यति?' इति प्रश्नाशयं सूचयति कामुके तदभिज्ञया विदग्धया तदा सखीम्प्रति साकूतमुक्तमिति सूक्ष्मालङ्कारो भवति। यतोऽत्र बलाकाया

मरकतपात्रप्रतिष्ठितशुक्त्युपमया तस्या निश्चलत्वेनाश्वस्तत्वं तेन तस्य प्रदेशस्य निर्जनत्वं तेन तदेवावयोः सङ्केतस्थानम् इति कामुकं प्रति सूचनं लक्ष्यते। न चात्र ध्वनिराशंकनीयः दूरे व्यञ्ज्यमानस्यापि संकेतस्थान प्रश्नोत्तरस्यय स्वोक्त्यैवाविष्कृतत्वात्। एवं पिहितालङ्कारेऽप्युदाहर्यम्। इदं चान्यदत्रावधेयम्-यत्रासौ वेतसी पान्थ इत्यादिषु गूढोत्तर सूक्ष्मपिहित व्याजोक्त्युदाहरणेषु भावो न स्वोक्त्याविष्कृतः किन्तु वस्तु सौन्दर्य बलाद् वक्तृ बोद्धव्य विशेषविशेषितादूम्यः। तत्रैव वस्तुतो नालंकारत्वं ध्वनिभावास्पदत्वात्। प्राचीनैः स्वोक्त्याविष्करणे सत्यलंकारास्पदताऽस्ती त्युदाहृतत्वादस्माभिरप्युदाहृतानि। शक्यं हि 'यत्रासौ वेतसीपान्थ!' तत्रेयं सुतरा सरिन्। इति पृच्छन्तमध्वानं कामिन्याह ससूचनम्। इत्याद्यर्थान्तरकल्पनया भावाविष्करणमिति। अतः प्राक् लिखितेषु येषूदाहरणेषु संकेतकालमनसं, पुस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती, भामा जुगूहेति भावाविष्करणमस्ति तेष्वेव तत्तदलङ्कारः। १५३।

व्याजोक्ति लक्षण तथा लक्ष्यनाम में 'उक्ति' ग्रहण आकार गोपन के लिए कारणान्तर का प्रत्यय कराने वाले व्यापार मात्र का उपलक्षण है। इससे-

गली में भगवान श्री कृष्ण को आते देखकर एक सखी ने रोमाञ्च कम्प आदि से कहे जाने वाले अनुराग को सखियों के आगे प्रणाम करते हुए छिपा लिया!

यहां भी व्याजोक्ति ही है। यहां अनुरागकृत रोमाञ्च आदि आकार का गोपन भक्तिरूप कारणान्तर प्रत्यायक प्रणाम से हुआ है। सूक्ष्म तथा पिहित अलङ्कार में भी 'चेष्टित' पद ग्रहण उक्ति साधारण व्यापार मात्र का उपलक्षण है। इससे-

नलिनी दल पर वलाका मरकत पात्र पर शक्ति की तरह दीखती है। संकेत स्थान पर मेरे भाव को जानकर उसने (नायिका ने) सखी को इस तरह (पूर्व पंक्ति की बातें) कही। इत्यादि में भी सूक्ष्म अलङ्कार का प्रसार होता है। इस श्लोक में 'हम दोनों के मिलने का स्थान कहां होगा ?' इस प्रश्न का आशय कामुक के द्वारा सूचित होने पर इस आशय को जानने वाली चतुरा नायिका अपनी सखी के प्रति साभिप्राय वचन कहती है, इस तरह सूक्ष्मालङ्कार होता है। क्योंकि यहां वलाका की मरकत पात्र स्थित शुक्ति की उपमा से

उसकी (वलाका) निश्चलता से आश्वस्तता तथा आश्वस्तता से प्रदेश की निर्जनता 'इससे वही हम दोनों का संकेत स्थान है' यह कामुक के प्रति सूचित करना लक्षित होता है। यहां ध्वनि की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि व्यज्यमान अर्थ होने पर भी संकेत स्थान का प्रश्नोत्तर अपनी उक्ति से ही आविष्कृत होता है। इसी तरह पिहितालंकार में भी उदाहरणीय है। अन्यत्र भी यह ध्यान देने योग्य है- 'यत्रासौ वेतसी पान्थ' इत्यादि गूढ़ोत्तर सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति के उदाहरण में भाव अपनी उक्ति से आविष्कृत नहीं होता है, लेकिन वस्तु सौन्दर्य के बल से वक्ता तथा बोद्धा की विशेषता से वह गम्य होता है। इन स्थानों पर वस्तुतः ध्वनित होने से अलङ्कारता नहीं है। प्राचीन आलङ्कारिकों के द्वारा अलंकारत्व स्थापित करने से हमने (दीक्षित)भी यहां उदाहृत किया है। 'यत्रासौ वेतसी पान्थ! तत्रेयं सुतरा सरित्, यह राह पूछने वाले पथिक के प्रति कामिनी सूचना देते हुए कहती है। इस अर्थान्तर की कल्पना का आविष्करण आवश्यक है। इससे पहले लिखे गए उदाहरणों में 'संकेतकालमनसं' पुस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती भामा जुगूह' इत्यादि में भाव का आविष्करण करने के बाद की तत्तदलंकार होता है।

इस व्याख्यांश में दीक्षित जी एक बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि कैसे ध्वनित्व है और कैसे अलंकारत्व। जैसे- कारिकागत उदाहरण 'सखि पश्य!' यत्रासौ वेतसी पान्थ' आदि में वक्ता और बोद्धा की विशेषता से ही व्यञ्जना हो रही है। वक्तृ बोद्धव्यवाक्यानां इत्यादि के अनुसार वहां ध्वनि हो जाती है। अतः अलंकार नहीं होना चाहिए। पर 'यत्रासौ वेतसी पान्थ' इस उदाहरण में यदि यह कल्पित किया जाये कि किसी पथिक ने नदी पार करने का स्थान पूछा तब कामिनी ने ऐसा कहा, तब अलंकारत्व हो जाएगा। क्योंकि प्रश्न का उत्तर गूढ़ाभिप्राययुक्त होगा। तात्पर्य यह हुआ कि भावाभिव्यक्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना की जाये तब तो अलंकार होगा अन्यथा वहां ध्वनि ही होना चाहिए। 'नलिनीदले वलाका' इस उदाहरण में भावाभिव्यक्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना के बिना भी ध्वनि नहीं होगी क्योंकि वहां 'मुझे संकेतस्थान पर जानकर उसने कहा' ऐसा कहने से स्पष्ट हो जाता है कि नायक संकेत स्थान पूछने के लिए पहुंचा है। अतः इसी उक्ति से व्यञ्जना के

आ जाने पर वह व्यंग्य नहीं रहकर वाच्य हो जाता है। अतः वहां अलङ्कार ही है। जहां व्यञ्जना अपनी उक्ति से आविष्कृत नहीं होती वहां ऊपर वाला नियम लागू होता है।

८७. गूढ़ोक्त्यलङ्कारः

गूढ़ोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते।
वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः॥ १५४॥

यं प्रति किञ्चित्वक्तव्यं तत्तटस्थैर्माज्ञायीति तदेव तदन्यं कंचित्प्रति श्लेषेणोच्यते चेत सा गूढ़ोक्तिः! वृषेत्याद्युदाहरणम्। इह परकलत्र-मुपभुञ्जानं कामुकं प्रति वक्तव्यं परक्षेत्रे सस्यानि भक्षयन्तं कंचिदुक्षाणं समीपे चरन्तं निर्दिश्य कथ्यते। नेयमप्रस्तुत प्रशंसा, कार्यकारणादिव्यङ्ग्यत्वाभावात्। नापि श्लेषमात्रम्; अप्रकृतार्थस्य प्रकृतार्थान्वयित्वेनाविवक्षितत्वात्। तस्य केवल-मितर वञ्चनार्थं निर्दिष्टतया विच्छित्ति विशेषसद्भावात्।

यथा वा-

नाथो मे विपणिं गतो, न गणयत्येषा सपत्नी च मां,
त्यक्त्वा मामिह पुष्पिणीति गुरवः प्राप्ताः गृहाभ्यन्तरम्।
शय्यामात्र सहायिनी परिजनः श्रान्तो न मां सेवते
स्वामिन्नागमलालनीय! रजनीं लक्ष्मीपते! रक्ष माम्॥

अत्र लक्ष्मीपति नाम्नो जारस्यागमनं प्रार्थयमानायास्तटस्थवञ्चनाय भगवन्तं प्रत्याकोशस्य प्रत्यायानम्। १५४।

अन्य को उद्देश्य कर जब अन्य के प्रति कथन किया जाता है तो गूढ़ोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- ऐ बैल! दूसरे के खेत से निकल जाओ खेत का मालिक आ रहा है।

जिसके प्रति कुछ कहना है उस वक्तव्य को अन्य तटस्थ लोगों से छिपाने के लिए किसी और के प्रति श्लेष के द्वारा कहा जाता है। वहां गूढ़ोक्ति अलङ्कार होता है। 'वृषेत्यादि' कारिकार्ध उदाहरण है। यहां दूसरे की पत्नी का उपभोग करते हुए किसी कामुक के प्रति यह वक्तव्य समीप के खेत में अनाज खाते किसी बैल को उद्देश्य कर कहा

गया है। यह अप्रस्तुत प्रशंसा नहीं है क्योंकि कार्यकारणादि का व्यंग्य नहीं होता है। यहां श्लेषालंकार भी नहीं है। क्योंकि यहां अप्रकृत अर्थ का प्रकृतार्थ से अन्वय विवक्षित नहीं होता है। वह तो केवल अन्य लोगों के ठगने के लिए प्रयुक्त होने से विशेष चमत्कृति पैदा करता है।

जैसे दूसरा उदाहरण–

मेरा पति बाजार गया है, मेरी सौतन मुझे कुछ समझती नहीं मुझे रजस्वला समझकर बड़े लोग घर के भीतर चले गए हैं। मैं शय्या पर अकेली हूं। थके हुए परिजन मेरी सेवा नहीं कर रहे। इसलिए हे लक्ष्मीपते! स्वामिन्! आकर मेरा लालन करने वाले! रात भर मेरी रक्षा करो॥

यहां 'लक्ष्मीपति' नामक जार (उपपति) के आगमन की प्रार्थना करती हुई कोई (युवती) अन्य लोगों को ठगने के लिए भगवान की प्रार्थना कर रही है।

इस अलङ्कार में ऐसी उक्ति का प्रयोग होता है जो वही समझता है, जिसके लिए वह प्रयुक्त होता है। अन्य कोई नहीं समझ पाता है। जैसे– एक कामुक व्यक्ति किसी युवती (विवाहिता) के साथ उसके घर पर मस्ती में रमण (संभोग) कर रहा है। दरवाजे पर एक दूती रक्षा के लिए खड़ी है। उस दूती को उस संभोगरता युवति का पति आता दीख पड़ा तो दूती उस कामुक को हटने के लिए कहती है। यहां यदि सीधे वचन का प्रयोग किया जाये तो उस कामुक के साथ अन्य लोग भी कामुकवृत्त जान लेंगे। कामुक वृत्त कोई अन्य (कामुक, कामाभिभूता युवती, सखी के अतिरिक्त) न समझ ले इसलिए ही दूती दरवाजे पर खड़ी है। अतः वह खेत में फसल खा रहे किसी बैल को कहती है– ऐ बैल! दूसरे के खेत से बाहर आ जा, खेत का मालिक आ रहा है। अन्य लोग बैल को विषय समझे पर वह कामुक समझ गया कि यहां से हट जाना चाहिए क्योंकि जिसके साथ मैं रमण कर रहा हूं उसका पति आ रहा है।

यहां बैल के वृत्त (अप्रस्तुत) से नायक (प्रस्तुत) का ज्ञान होता है, अतः अप्रस्तुत प्रशंसा होना चाहिए पर यहां अप्रस्तुत प्रशंसा नहीं है। अप्रस्तुत प्रशंसा में– अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, पर उस अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के बीच सम्बन्ध होता है–

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥

अर्थात् कार्य के कारण, कारण से कार्य आदि की व्यञ्जना होती है। पर गूढ़ोक्ति में ऐसा नहीं होता।

यहां श्लेष के द्वारा प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का बोध होने से श्लेष होना चाहिए पर श्लेष वहां होता है, जहां दोनों अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे- राजा हरति लोकस्य... (श्लेषालंकार) वाले उदाहरण में चन्द्रवर्णन कवि को अभीष्ट है। साथ-साथ कर प्रयोग शब्द से तथा राजा पद से राजा का वृत्त ज्ञान हो जाता है। परञ्च गूढ़ोक्ति में ऐसा नहीं होता। यहां बैल के वर्णन से वक्ता का कुछ लेना देना नहीं है। यह उक्ति तो केवल अन्य लोगों को ठगने के लिए है। अतः यहां श्लेष से पृथक् चमत्कार होने से पृथक् अलङ्कार है।

दूसरे उदाहरण में भी बोलने वाली को लक्ष्मीपति भगवान से कुछ लेना देना नहीं अपितु वह लोगों को ठगने के लिए भगवान का नाम ले रही है, वास्तव में लक्ष्मीपति नामक जार (उपपति) को आवाज दे रही है कि जल्दी चले आओ यहाँ में अकेली हूँ। रात भर हम दोनों साथ-साथ मौजमस्ती करेंगे।

८८. विवृतोक्त्यलङ्कार

विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि।
वृषापेहि परक्षेत्रादिति वक्ति ससूचनम्॥ १५५॥

श्लिष्टगुप्तं वस्तु यथाकथञ्चित् कविनाविष्कृतं चेत्विवृतोक्तिः। 'वृषापेहि' इत्युदाहरणे पूर्ववद् गुप्तं वस्तु ससूचनमिति कविनाविष्कृतम्। यथा वा-

वत्से! मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं संत्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते किमिह वलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमुग्धः पयोधिः॥

इदं परवञ्चनाय गुप्ताविष्करणम्।

जहां श्लेष से गुप्त वस्तु को कोई आविष्कृत करता हो वहां विवृतोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- वृष! दूसरे के खेत से निकल जाओ, यह कोई संसूचना कह रहा है।

श्लेष गुप्त वस्तु जब किसी प्रकार से कवि आविष्कृत कर दे तो विवृतोक्ति होती है। 'वृष लौट जाओ' इस उदाहरण में पूर्ववत् (गूढ़ोक्त्यलंकार की तरह) गुप्त वस्तु को संसूचन कवि ने आविष्कृत किया है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

बेटि! विषाद मत करो (विष खाने वाले के पास मत जाओ) उर्ध्वप्रवृत्त अत्यधिक वेग वाले श्वास को छोड़ दो (पवन को छोड़ दो) तुमको यह कम्पन क्यों होता है। (कंपन जल की रक्षा करने वाले वरुण से तुम्हें क्या, वह तुम्हारे गुरु हैं) बल के भेदन करने वाले जम्हाई से क्या लाभ ? (बल को भेदने वाले इन्द्र को छोड़ दे।) भय शान्त करने के छल से देवताओं का प्रत्याख्यान (वारण) करके मन्थन मूढ़ सागर ने लक्ष्मी जिसे दे दिया वह (विष्णु) दुरित (दुःख) को दूर करे।

यहां दूसरों को ठगने के गुप्त का आविष्करण हुआ है।

गूढ़ोक्ति अलंकार में श्लेष से ऐसी उक्ति का प्रयोग होता है जिससे औरों को ठगकर उसी को अर्थ समझाया जाता है, जिसे समझाना होता है। यहां 'विवृत्तोक्ति' में श्लेष की उक्ति साभिप्राय सूचनार्थ होती है, जिससे गुप्तार्थ का प्रकाशन होता है। जो उदाहरण कारिका में है- बैल दूसरे खेत से हट जाओ इसमें परनायिकारत कामुक को हटाने रूप गुप्त का बोधन अभीष्ट है। यदि पहले (गूढ़ोक्ति) की तरह पूरा वाक्य- बैल हट जाओ खेत का मालिक आ रहा है, कहा गया तो बैल का हटना तथा उसका कारण दोनों स्पष्ट हैं परञ्च विवृतोक्ति में अर्द्धोक्ति से गुप्त वस्तु की ही सूचना दी जा रही है। यहां वाक्य का पूरा भाव गूढ़ोक्ति वाला ही है।

वत्से! वाले उदाहरण में सागर लक्ष्मी के भय को शान्त करने के लिए जिस वाक्य का प्रयोग करते हैं। श्लेष के द्वारा उसी वाक्य से इस अर्थ का भी प्रकाशन हो जाता है कि विष्णु को छोड़ अन्य देवताओं से शादी न करो। यहां अन्य देवताओं का वारण जो सागर

के लिए गोपनीय है, उसे कवि ने श्लेष के द्वारा आविष्कृत कर दिया है। गूढ़ोक्ति में श्लेष के द्वारा अन्य वाक्यार्थ को प्रस्तुत कर वक्तव्य को अन्य से छिपाया जाता है। विवृतोक्ति में श्लेष के द्वारा सामान्यार्थ प्रकाशन के द्वारा ही गुप्तार्थ का आविष्करण कर दिया जाता है।

कहीं-कहीं कवि लज्जा के द्वारा गुप्त का आविष्करण करता है। उसका उदाहरण निम्न है-

यथा-

दृष्ट्या केशव! गोपराग हृतया किञ्चिन्न दृष्टंमया
तेनेह स्खलितास्मि नाथ! पतितां किन्नाम नालम्वसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वावलानां गति-
र्गोप्येवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥

अत्र कृष्णस्य पुरतो विषमे परिस्खलनमभिहितवत्यास्तं कामयमानाया गोपिकाया वचने विषमपथस्खलनपतनत्राण संप्रार्थनारूपेण झटिति प्रीयमानेनार्थेन गुप्तं विवक्षितमर्थान्तरं सलेशं ससूचनमित्यनेनाविष्कृतम्। एवं नैषधादिषु 'चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्' इति दमयन्ती वाक्यादिकमप्युदाहरणम्। इदं शब्दशक्ति क्रोड़ीकृतगुप्ताविष्करणम्।

जैसे-

गायों के पांव से उड़ी धूल से आहित आंखों से मैंने कुछ नहीं देखा। हे केशव! इसी से मैं गिर गई हूँ। नाथ! मुझे क्यों नहीं उठा रहे हो। विषम स्थल में खिन्न मनवालों के तथा सभी बलहीनों के तुम्हीं गति हो, इस तरह कहती हुई गोपी से सम्बोधित कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें।

यहां कृष्ण के आगे विषमस्थल (ऊंचे नीचे मार्ग में) स्खलन (गिरने) की बात कहती हुई भगवान श्रीकृष्ण को चाहने वाली गोपी के कथन में विषम स्थल में गिरने तथा पतन त्राण की प्रार्थना रूप से शीघ्र ही प्रसन्न होने वाले अर्थ के द्वारा विवक्षित अर्थान्तर 'सलेश' पद के द्वारा कवि ने आविष्कृत कर दिया है। इसी तरह नैषधीय चरित में 'मेरा

चित्त लंका को नहीं चाहता' केवल नल को चाहता है अन्यत्र कहीं भी मेरा मन साभिलाष नहीं है। यह दमयन्ती का वचन भी उदाहरण है। यह शब्द शक्ति के द्वारा गुप्त का आविष्करण है।

यहां प्रथम उदाहरण में गोपी की उक्ति श्री कृष्ण के प्रति है। वह भी कृष्ण को प्रेमी के रूप में चाहती है पर लज्जावश कह नहीं सकती। अतः वह "विषमपदस्खलन" उच्चावच जमीन पर फिसलने की बात कहती है। गोपरागहृतया पद में श्लेष से गाय की धूली से आहृत दृष्टि तथा गोप (कृष्ण) के प्रेम में आहृत दृष्टि यह दोनों अर्थ होता है।

'विषमखिन्नमनसां से उच्चावच में स्खलित मनवालों का तथा प्रेम से उचित अनुचित का विचार नहीं करने वालों का' दोनों अर्थ बोधित होते हैं। यहां गोपी का कथन (वाच्य) गाय की धूलि से आहृत आखों वाली का उच्चावच जमीन पर गिरने वाली आदि है। पर भाव यह है कि मैं तुम्हारे प्रेम में अन्धी होकर उचितानुचित का विचार करने वाली नहीं रह गई हूँ। जल्दी मुझे उठाओ, मुझे प्रणदान दो। यहां गोपी के चित्त में वास्तव में रमण रूप याचना है। इस अर्थ को स्वयं कवि ने 'सलेश' पद से कह दिया है। सामान्य अर्थ दिखाकर कवि कहता है कि यह गुप्ताभिप्राय सूचना है। अतः स्वयमेव गुप्तार्थ का आविष्करण सामने आ जाता है। स्वयं गोपी लज्जा के कारण गुप्तार्थ का आविष्करण नहीं चाहती, अतः कवि ने श्लेष से कर दिया है।

दूसरे उदाहरण में मेरा चित्त नल को ही चाहता है। इस अर्थ को शर्म से नहीं कह पाने वाली दमयन्ती जिस शब्द का प्रयोग करती है, उससे अर्थ आता है कि मेरा मन लंका को नहीं चाहता है। (चेतो न लंकाम् अयते) तथा मेरा चित्त नल के बिना अग्नि (मरण) को ही चाहता है (चेतो अनलं कामयते मदीयम्)। यहां नल को ही चाहता है, दूसरे को नहीं यह अर्थ शब्द शक्ति के द्वारा आविष्कृत होता है। 'चेतोनलं' शब्द ही विविधार्थ प्रकाशन समर्थ है। अतः शब्द शक्ति से आविष्कृत व्यञ्जना है (अभिधामूला व्यञ्जना)

अब अर्थ शक्ति के द्वारा गुप्तार्थ के आविष्करण का उदाहरण देते हैं। यथा–

गच्छाम्यच्युत! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किञ्चैवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः॥

अत्र गच्छाम्यच्युत! इत्यामन्त्रणेन 'त्वया रन्तुं कामेच्छया' स्थितं तन्न लब्धम् इत्यर्थशक्तिलभ्यं वस्तु तृतीयपादेनाविष्कृतम्। सर्वमेतत्कविनिबद्धवक्तृगुप्ताविष्करणोदाहरणम्।

हे अच्युत! मैं जाती हूँ। आपको देखने मात्र से क्या तृप्ति हो जाती हूँ ? लेकिन इस तरह एकान्त में हम दोनों को खड़ा देखकर मूर्ख लोग अन्यथा ही सोचते हैं। इस तरह आमन्त्रण की भङ्गिमा से अपने व्यर्थ रुकने को सूचित करती हुए स्वेद से अलस गोपी को आलिंगन करते हुए रोमाञ्चित शरीर वाले भगवान हरि (कृष्ण) आपकी रक्षा करें।

अत्र 'हे गुच्छाम्यच्युत'! इस आमंत्रण के द्वारा 'तुम्हारे साथ रमण करने की इच्छा से आयी पर रमण प्राप्त नहीं हुआ' यह अर्थलभ्य वस्तु श्लोक के तीसरे चरण से आविष्कृत होता है। यह सभी कविनिबद्ध वक्ता के द्वारा गुप्तार्थ के आविष्करण का उदाहरण है।

ध्वनि विवेचन में अर्थशक्त्युत्थ के बाहर जो भेद गिनाए गए हैं उसमें कविनिबद्धवक्तृवैशिष्ट्य का यह उदाहरण है। यहां गोपी श्री कृष्ण के साथ एकान्त में खड़ी है। वह कहती है कि आपके देखने मात्र से तृप्ति नहीं होती इसलिए मैं जा रही हूँ। व्यर्थ में यहां खड़ी रहूं और एकान्त में हम दोनों को देखकर न जाने लोग क्या सोचेंगे। इस वचन की भङ्गिमा से यह अर्थ आता है कि मैं तो आपसे रमण करने की इच्छा से आई थी पर आप तो खड़े-खड़े मेरा चेहरा देख रहे हो सुरत क्रीड़ा में प्रवृत्त होते ही नहीं। तो ऐसे में यहां रहने से क्या लाभ ? व्यर्थ में लोगों का उपहास पात्र बनना पड़ेगा। लोग एकान्त में देखकर यही सोचेंगे कि दोनों सुरत क्रीड़ा संलग्न है, पर मुझे तो सुरत का लाभ भी नहीं मिल रहा है। यह अर्थ तीसरे चरण से प्राप्त होता है। वहां स्पष्ट कहा है कि आमंत्रण की भङ्गिमा से अपने व्यर्थ रुकने को वह प्रस्तावित कर रही है। तो स्पष्ट है कि वह गोपी अन्य

किसी अर्थ की अभिव्यक्ति कर रही है। वह रमण रूप अर्थ है। यह अर्थ शब्द शक्ति से नहीं है यहां अर्थ शक्ति है। प्रथम अर्थ के बाद द्वितीय की आवश्यकता प्रथम अर्थ से ही जगती है और उसी से शान्त भी होती है। यहां 'दृष्टया केशव' की तरह शब्द के बल से या 'चेतो नलं' की तरह शब्द बल से अर्थान्तर की प्रतीति नहीं होती। यह स्वयं विचार किया जा सकता है।

कहीं-कहीं कवि स्वयं गुप्त तथ्य का आविष्करण करता है। इसका उदाहरण निम्न है-

यथा- कविगुप्ताविष्करणं-

सुभ्रु! त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ताः कथा योषितां
दूरादेव विवर्जिताः सुरभयः स्त्रगन्धधूपादयः।
कोपं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना
सत्यं त्वद्विरहाद्भवन्ति दयिते! सर्वा ममान्धा दिशः।।

अत्र तावदीर्ष्यामानकलुषित दयिता प्रसादन व्यापार विधिः प्रतीयते। दृष्टिरोगार्तस्य दृष्टिं प्रत्याक्रोशो विवक्षितार्थः। स च दृष्टे इत्यस्य पदस्य प्लुतोच्चारणेन संबुद्धिरूपतामवगमय्याविष्कृतः। कविनिबद्धवक्तृगुप्तं परवञ्चनार्थं कविगुप्तस्वप्रौढ़िकथनार्थमिति भेदः।

जैसे-

हे सुन्दर भौंह वाली प्रिये! तु कुपित हो यह जानकर मैंने खाना-पीना छोड़ दिया, अन्य तरुणियों की कथाएं (सम्पर्कादि) भी छोड़ दी। माला-फूल गन्ध धूप आदि मैंने दूर से ही वर्जित कर दिया है। हे मानिनि! कोप को छोड़ो और झुकी दृष्टि वाले मुझ पर प्रसन्न होओ। हे दयिते! मैं सत्य कह रहा हूँ कि तुम्हारे विरह से मेरी सभी दिशाएँ अन्धी (सूनी) हो गई हें। (यहां दृष्टे पद को दृष्टि का सम्बोधन बनाकर आंख के रोग से ग्रस्त व्यक्ति द्वारा आंख का अनुनय रूपार्थ भी आता है)।

यहां इर्ष्यामान कलुषितदयिता को प्रसन्न करने के लिए व्यापार हो रहा है। आंख के

रोग से आर्त व्यक्ति का आंख के प्रति आक्रोश विवक्षित है और वह अर्थ 'दृष्टे' इस पद का प्लुत उच्चारण करके सम्बोधन रूप बनाकर आविष्कृत किया गया है। कविनिबद्धवक्ता के गुप्त का वर्णन दूसरे को ठगने के लिए होता है और कवि के द्वारा गुप्त का कथन कवि की प्रौढ़ता को बताने के लिए होता है।

यहां कवि ने मानिनी को मनाने का वृत्तान्त वर्णित किया है। इससे आंख के रोगी का आंख के प्रति आक्रोश व्यक्ति रूप अर्थ दृष्टे को सम्बोधन बनाने पर आता है। हे दृष्टि! तुम खराब हो गई तो तेरे वियोग में मेरी दिशाएं शून्य हो गई (मैं कुछ देख नहीं पाता) खाना-पीना छोड़ दिया, अन्य से बात करना छोड़ दिया, माला गन्धादि छोड़ दिया आदि आदि। परञ्च यह अर्थ कवि को अभीष्ट है यह उचित मालूम नहीं होता। क्योंकि यह अर्थ जबरन खींचकर निकाला गया प्रतीत होता है। वास्तव में ऐसी उक्ति कवि को प्रौढ़ि को ही सिद्ध करता है। कवि की प्रौढ़ता तो है। इस अर्थ को लेकर सामान्य रूप से अलंकारत्व ज्ञात नहीं होता है। इस तरह इस अलंकार गुप्ताविष्करण के निम्न भेद दिखाए गए हैं-

(1) सामान्यतया परवञ्चनार्थ गुप्ताविष्करण

(2) त्रपागुप्ताविष्करण

(3) अर्थशक्तिमूलगुप्ताविष्करण

(4) कविगुप्ताविष्करण

८९. युक्त्यलङ्कारः

युक्तिः परातिसंधानं क्रियया मर्मगुप्तये।
त्वामालिखन्तीं दृष्ट्वाऽन्यं धनुः पौष्पं करेऽलिखत॥ १५६॥

अत्र 'पुष्पचापलेखनक्रियया मन्मथो मया लिखितः' इति भ्रान्त्युत्पादनेन स्वानुरागरूपमर्मगोपनाय परवञ्चनं विवक्षितम्।

यथा वा-

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच-
-स्तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतस्तस्यातिमात्रं वधूः।

कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्चूपुटे
व्रीडार्ता विदधाति दाड़िमफलव्याजेन वाग्वन्धनम्।

अत्र शुकवाङ्मुद्रणया तन्मुखेन स्वकीयरहस्यवचनशश्रूषुजनवञ्चनं कृतम्। व्याजोक्तावाकारगोपनं युक्तौ तदन्यगोपनमिति भेदः। यद्वा व्याजोक्तावप्युक्त्या गोपनमिह तु क्रियया गोपनम्; इति भेदः। एवं च 'आयान्तमालोक्य हरिं प्रतोल्याम्' इतिश्लोकेऽपि युक्तिरेव।

जहां मर्म के गोपन के लिए क्रिया के द्वारा दूसरे का सन्धान होता है वहां युक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- तुमको लिखती हुई किसी अन्य को देखकर हाथ में फूल का धनुष लिख दिया।

यहां 'फूल के धनुष के लेखन की क्रिया के द्वारा कामदेव मेरे द्वारा लिखा गया' इस भ्रान्ति के उत्पादन से अपने अनुराग रूप मर्म का गोपन करने के लिए दूसरे को ठगना विवक्षित है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

रात में बात करते हुए दम्पत्ती की जो बातें घर के तोते ने सुन लिया। प्रातः काल में गुरुजनों के समक्ष वहीं बात कहते हुए तोते से वधू को शर्म हो आई तो उसने कर्ण में लटकने वाला पद्मरागमणि का टुकड़ा तोते के चञ्चुपुट में दाड़िम फल के व्याज से देकर उस तोते का वाक् बन्धन कर दिया।

यहां तोते की वाणी के मुद्रण से उसके द्वारा अपने एकान्तवचन से गुरुजनों की वञ्चना हो गई है। व्याजोक्ति में आकारगोपन होता है और युक्ति में आकारेतर का गोपन होता है। यही दोनों में भेद है। अथवा-व्याजोक्ति में उक्ति से गोपन होता है और युक्ति में क्रिया के द्वारा गोपन होता है यह भेद है। इस तरह 'आयान्तमालोक्य हरिं प्रतोल्यां' इस श्लोक में भी युक्ति ही है।

यहां 'युक्ति' में अपने रहस्य को छिपाने के लिए क्रिया से अन्य की व्यञ्जना होती है। जैसे कारिका वाले उदाहरण में- नायिका हाथ पर अपने प्रियतम को लिख रही थी पर

दूसरे को आया देखकर उसने नायक का चित्र बनाना छोड़कर फूल का धनुष बना दिया। ताकि दूसरा यह समझे कि यह धनुष बना रही है। इस तरह नायिका के हृदयगत नायक के अनुराग का गोपन हो गया और इस अनुराग के गोपन क्रम में धनुष बनाने के रूप में औरों का वञ्चन भी हो गया। दूसरे उदाहरण में तोता रात्रि में सुरत क्रीड़ा काल की बातें गुरुजनों को सुनाने वाला है। अतः वधू पद्मराग मणि का टुकड़ा दाड़िम बीज के बहाने तोते की चोंच में फँसा देती है ताकि वह बातें न कह सके। यहां अपनी सुरत बातों को छिपाने के लिए तोते का मुंह बन्द करने की क्रिया में गुरुजनों का वञ्चन हुआ है।

यहां व्याजोक्ति और युक्ति को पृथक करने की दो युक्ति बतायी गयी है। (1) व्याजोक्ति में आकार का गोपन युक्ति में तदितर का गोपन। (2) व्याजोक्ति में उक्ति से गोपन तथा युक्ति में क्रिया के द्वारा गोपन।

यदि दूसरे उपाय का अनुसरण किया जाये तो व्याजोक्ति में उदाहृत– 'आयान्तमालोक्य' भी युक्ति का ही उदाहरण होगा, क्योंकि वहां भी प्रणाम रूप क्रिया के द्वारा शरीरगत रोमाञ्च का गोपन होता है।

९०. लोकोक्त्यलङ्कारः

लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।
सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने॥ १५७॥

अत्र लोचने मीलयित्वेति लोकवादानुकृतिः।

यथा वा मदीये वरदराजस्तवे–

नामैव ते वरद! वाञ्छितदातृभावं
व्याख्यात्यतो न वहसे वरदानमुद्राम्।
विश्वप्रसिद्धतरविप्रकुलप्रसूते–
र्यज्ञोपवीतवहनं न हि खल्वपेक्ष्यम्॥

अत्रोत्तरार्द्धे लोकवादानुकारः॥ १५७॥

जहां लोक वचन की अनुकृति की जाती है वहां लोकोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे अयि सुन्दरि! आंखें मूंदकर कुछ महीने और बिता लो।

यहां 'लोचने मीलयित्वा' यह लोकवाद की अनुकृति है। जैसे- मेरे (दीक्षित जी) वरदराजस्तव में

हे वरद! नाम से ही आप अभीप्सित दातृत्व भाव को धारण करते हैं, अतः वरदान मुद्रा धारण नहीं करते। विश्व प्रसिद्ध ब्राह्मण कुलोत्पन्नजनों से केवल यज्ञोपवीत धारण की अपेक्षा नहीं की जाती।

यहां उत्तरार्द्ध लोकवाद का अनुकरण है।

लोक में प्रचलित कथन को लोकवाद कहते हैं। इस कथन का श्लोक में यथारूप निवेश करने पर लोकोक्ति अलंकार होता है। लोचने मीलयित्वा 'या' यज्ञोपवीतवहनं...' आदि लोकवाद ही है। मैथिली भाषा में प्रसिद्ध विद्वान सीताराम झा ने इस अलंकार का प्रयोग बहुत मनोरञ्जक और स्पष्ट रूप से किया है-

सव कियो लै लै वंशी डोर मारै माछ खाइतअछि झोर
हमरा कहैये चाली गांथ, सवसो वूरिवक दीनानाथ।

यहां अन्तिम चरण लोकवाद है।

९१. छेकोक्त्यलङ्कारः

छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता।
भुजङ्ग एव जानीते भुजङ्गचरणं सखे!॥ १५८॥

केनचित् कस्यचित्वृत्तान्तं पृष्टस्य समीपस्थमन्यं निर्दिश्य 'अयमेव तस्य वृत्तान्तं जानाति' इत्युक्तवतोऽयमहेः पादानहिरेव जानातीति लोकवादानुकारः। अत्र स चायं लोकविदिते धनार्जनादि व्यापारे सहचारिणाविति विदितविषयतया लोकोक्त्यनुवादस्य प्रयोजने स्थिते रहस्येऽप्यनङ्ग व्यापारे तस्यायं सहचर इति मर्मोद्घाटनमपि तेन गर्भीकृतम्।

यथा वा-

मलयमरुतां व्राता याता विकासितमल्लिका-
परिमलभरो भग्नो ग्रीष्मस्त्वमुत्सहसे यदि।

घन! घटय तं त्वं निःस्नेहं य एव निवर्तने
प्रभवति गवां किं नश्छिन्नं स एव धनञ्जयः॥

अत्र धनलिप्सया प्रोषिताङ्गनासखीवचने 'य एष गवां निवर्तने प्रभवति स एव धनञ्जयः' इत्यान्ध्र जाति प्रसिद्ध लोकवादानुकारः। अत्राति सौन्दर्यशालिनीमिमामपहाय धनलिप्सया प्रस्थितो रसानभिज्ञत्वाद्गोप्राय एव। तस्य निवर्तकस्तु धनस्य जेता धनेनाकृष्टस्य तद्विमुखीकरणेन प्रत्याक्षेपकत्वादित्यर्थान्नरमपि-गर्भीकृतम्॥ १५८॥

जहां अर्थान्तर गर्भित लोकोक्ति का प्रयोग होता है वहां छेकोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- हे सखे! भुजङ्ग ही भुजङ्ग के पैर को जानता है।

किसी ने अपने मित्र से किसी (अन्य) का वृत्तान्त पूछा तो मित्र ने समीप में स्थित किसी अन्य व्यक्ति को निर्देश कर 'यही उसके वृत्तान्त को जानता है' यह कहने की इच्छा से सांप ही सांप के पैर को जानता है, इस लोकोक्ति का अनुकरण किया। यहां स (वह व्यक्ति जिसकी बात पूछ रहे हो) और यह (जो यहां खड़ा है) धनार्जनादि व्यापार में सहचारी है। यह विदित विषय होने से लोकोक्ति के अनुवाद का प्रयोजन रहने पर, एकान्त में सुरत क्रीड़ा में भी यह सहचर है' इस मर्म के उद्घाटन रूप अर्थ से वाक्य गर्भित है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

मलयाचल की हवा का झोंका चला गया, विकसित मल्लिका के सुगन्ध से भरा ग्रीष्म खत्म हो गया। यदि तुम उत्साही हो तो हे घन! स्नेह रहित उसको (नायक को) लाकर जोड़ दो। दुश्मनों के द्वारा छीनी गाय को लौटाने में जो समर्थ होता हैं वही धनञ्जय है।

यहां धनेच्छा से विदेश गए पति की पत्नी की सखी के वचन में 'जो गायों को लौटाने में समर्थ है वही धनञ्जय है' इस आन्ध्रप्रदेशीय लोकोक्ति का अनुकरण है। यहां अति सौन्दर्यशालिनी इस नायिका को छोड़कर धन की इच्छा से विदेश गया इसका पति रस की अनभिज्ञता से गो प्रायः (लगभग बैल) ही है। उसको लौटाने वाला धन का जेता, धन

के प्रति आकृष्ट उसके विमुखीकरण से होगा, इस आक्षेप रूप अर्थान्तर से यह वाक्य युक्त है।

इस अलंकार में 'लोकोक्ति' की तरह ही लोकोक्ति का प्रयोग होता है। पर इतना अन्तर है कि इस अलंकार में यह लोकोक्ति अर्थान्तर से युक्त होती है। लोकोक्ति के गर्भ में अर्थान्तर छिपा रहता है। जैसे कारिका वाले उदाहरण में प्रयुक्त लोकोक्ति 'सांप ही सांप के पैर को जानता है' का अर्थ हुआ कि यह जो आदमी है वही तुम्हारे द्वारा पूछे गए आदमी का सारा वृत्तान्त जानता है, क्योंकि दोनों एक ही राह पर चलने वाले हैं। साथ-साथ यह अर्थ भी है न केवल धनोपार्जन में क्योंकि धनोपार्जन में साथ रहने के लिए सांप के पैर जैसे गुप्त बात से युक्त लोकोक्ति का प्रयोग आवश्यक नहीं है। अपितु कुछ और गुप्त बात - जैसे- परनायिका के साथ सुरत क्रीड़ा आदि में भी यह सहचर है। इस गुप्त अर्थान्तर को वह लोकोक्ति बताता है। उसी तरह दूसरे उदाहरण में गाय को लौटाने वाले धनञ्जय (अर्जुन) होता है। यह पौराणिक कथा का समर्थन है। पर यह लोकोक्ति पौराणिक कथा से हटकर आन्ध्रप्रदेश में विख्यात है। यहां धन से नायक को लौटाने की प्रार्थना की गई है। वह नायक न वसन्त में आया न ग्रीष्म में, अब मेघ ही उसे ला सकता है। यहां रसानभिज्ञत्व के कारण वह नायक गोसदृश है और उसे धन की लिप्सा से हटाने वाला अर्थात् गाय को लौटाने वाला धनञ्जय होगा यह अर्थ गर्भित है। आन्ध्रीय लोकोक्ति का प्रयोग इसी गर्भित अर्थान्तर के प्रकाशन के लिए हुआ है।

१२. वक्रोक्त्यलङ्कारः

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्।
मुञ्चमानं दिनं प्राप्तं नेह नन्दी हरान्तिके॥ १५९॥

अत्र मानं मुञ्च 'प्रयाता रात्रिः' इत्याशयेनोक्तायां वाचि नन्दिनं प्राप्तं मामुञ्चेत्यर्थान्तरं श्लेषेण परिकल्पितम्।

यथा वा-

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्नतु दारुमयी क्वचित्॥

इदमविकृतश्लेषवक्रोक्तेरुदाहरणम्।

विकृत श्लेषवक्रोक्तेर्यथा-

भवित्री रम्भोरू! त्रिदशवदनग्लानिरधुना
स ते रामः स्थाता न युधिपुरतो लक्ष्मणसखः।
इयं यास्यत्युच्चैर्विपदमधुना वानरचमू-
र्लघिष्ठेदं षष्ठाक्षर पर विलोपात् पठ पुनः॥

सर्वमिदं शब्द श्लेषमूलाया वक्रोक्तेरुदाहरणम्।

जहां किसी की उक्ति के सामान्य अर्थ को छोड़कर श्लेष या काकु के द्वारा स्वीयाभियत अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, वहां वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे 'मुञ्चमानं'। रात्रि बीत गई मान को छोड़ दो। यह सुनकर नायिका कहती है कि नन्दी यहां नहीं शंकर के पास है।

यहां 'मानं मुञ्च' प्रयाता रात्रि इस आशय से कथित वचन में प्राप्त नन्दी को मत छोड़ो इस अर्थान्तर की कल्पना से प्रत्युत्तर होता है। यह अर्थान्तर श्लेष से कल्पित है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

किसने तुम्हारी इस दारुण (कठोर) बुद्धि का निर्माण किया ? बुद्धि तो त्रिगुणा (तीन गुणवाली) सुनी जाती है दारुमयी (काठवाली) नहीं।

यह अविकृतश्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण है।

विकृतश्लेषवक्रोक्ति का उदाहरण। जैसे-

अयि रम्भोरु! देवताओं के बदन की ग्लानि होने वाली है। वो तुम्हारा राम युद्ध में लक्ष्मण के साथ मेरे सम्मुख टिकने वाला नहीं है। यह वानरसेना अभी विपत्ति को प्राप्त होगी। (इसके उत्तर में सीता कहती है) प्रत्येक चरण के सप्तमाक्षर का लोपकर पुनः पढ़ो।

(सभी श्लोकों की मीमांसा आगे व्याख्या में देखें)

यह सभी उदाहरण शब्दश्लेषमूला वक्रोक्ति के उदाहरण हैं।

वक्रोक्ति में किसी अर्थ के लिए वचन प्रयोग होता है, पर सुनने वाला उस वचन

को श्लेष या काकु के द्वारा किसी और अर्थ में जोड़कर उसका उत्तर अर्थान्तर से देता है। कारिकार्द्ध में नायक नायिका को कहता है- मान को छोड़ दो, दिन हो आया है (मानं मुञ्च दिनं प्राप्तम्) नायिका ने इस पंक्ति अर्थ लगाया- पकड़े गए नन्दी को मत छोड़ना (मा नन्दिनं प्राप्तं मुञ्च) इसलिए उसने जवाब दिया- नन्दी यहां नहीं शिव के पास में है। दूसरे उदाहरण में- नायक नायिका के न मानने पर कहता है- अरे तुम्हारी यह दारुणा (कठोर) बुद्धि किसने बनायी है ? नायिका ने दारुणा का अर्थ (दारु-काष्ठ का तृतीया) काठ के द्वारा बना है यह लगाया और जवाब दिया कि बुद्धि तो त्रिगुणा होती है, दारुणा (काठ की बनी नहीं) नहीं। तीसरे उदाहरण में रावण सीता का संवाद है। रावण ने जिस अर्थ में प्रयोग किया वह ऊपर में लिखा गया है। सीता कहती है तुम अपने प्रयुक्त पद में ही सातवां अक्षर हटाकर पुनः पढ़ो जवाब मिल जाएगा। क्रमशः सातवां अक्षर प्रथम चरण में 'त्रि' तथा तीसरे में 'वि' है। इसे हटाने के बाद अर्थ होता है कि रावण का मुख मलिन होगा। युद्ध में राम लक्ष्मण टिकेंगे। वानर सेना उच्च पद को प्राप्त करेगी।

जो उदाहरण दिखाए गए इन सभी में शब्द के बल से ही अर्थान्तर का ज्ञान किया जाता है। अतः सभी शब्द श्लेषमूला है। अब अर्थ श्लेषमूला का उदाहरण देते हैं।

अर्थश्लेषमूलाया वक्रोक्तेर्यथा-

भिक्षार्थी स क्व यातः सुतनु! वलिमखे ताण्डवं क्वाद्यभद्रे!
मन्ये वृन्दावनान्ते, क्व नु मृगशिशुर्नैव जाने वराहम्।
वाले! कच्चिन्न दृष्टो जरठवृषपतिर्गोप एवास्य वेत्ता
लीलासंलाप इत्थं जलनिधिहिमवत्कन्ययोस्त्रायतां नः॥

काक्वा यथा-

असमालोच्य कोपस्ते नोचितोऽयमितीरिता।
नैवोचितोऽयमिति तं ताडयामास मालया॥

अत्र नैवोचितोऽयमिति काकुस्वरविकारेणोचित एवेत्यर्थान्तर कल्पनम्॥ १५९॥

·अर्थश्लेषमूला वक्रोक्ति का उदाहरण- जैसे-

हे सुतनु! वह भिखारी कहां गया ? बलि के यज्ञ में, हे भद्रे! आज ताण्डव कहां होने वाला है ? शायद वृन्दावन के बीच में, वह मृगशिशु कहां गया ? मैं वराह को नहीं जानती। वाले! वह बूढ़ा बैल का मालिक कहीं दीख नहीं पड़ता ? ग्वाला ही यह जान सकता है। इस तरह लक्ष्मी और पार्वती का लीलापूर्ण बातचीत हम लोगों की रक्षा करे॥

काकु वक्रोक्ति का उदाहरण–

बिना सोचे समझे तेरा यह कोप करना उचित नहीं है, इतना कहने पर हां, यह भी उचित नहीं है, ऐसा कहते हुए उसे (नायक) वह माला से पीटती है।

यहां 'यह उचित नहीं है' इस पद के काकु स्वर विकार से यह उचित है, इस अर्थान्तर की कल्पना होती है।

यहां प्रथम श्लोक में लक्ष्मी और पार्वती की बातचीत है। लक्ष्मी शंकर के लिए भिक्षार्थी आदि का प्रयोग करती है, पर पार्वती उसे कृष्ण पक्ष में लगाकर जवाब देती है। भिक्षा मांगने के लिए वामनावतार में विष्णु बलि के यहां गए थे, ताण्डव (शंकर का प्रसिद्धत्यनृत्य) को नृत्य अर्थ में माना गया, अतः वृन्दावन में कृष्ण के नाच का उत्तर मिला। मृगशिशु वराहावतार में विष्णु भी पशु रूप में है। बैल का मालिक (शंकर) या बूढ़ा बैल, इसका समाचार ग्वाला (कृष्ण) ही जानता है।

इस तरह शंकर के लिए प्रयुक्त शब्द विष्णु अर्थ में लगता है। यहां शंकर पक्ष का अर्थ लक्ष्मी समझती है और कृष्ण पक्ष का पार्वती, अतः दोनों को नीचा दिखाने के लिए प्रयासरत है। अन्त में पर्यवसान हास्य में होता है। यह शब्द श्लेष नहीं अपितु अर्थश्लेष है। शब्द श्लेष में शब्द का महत्त्व होता है। जैसे- 'मानं-मुञ्च' में तथा भिक्षार्थी में शब्द परिवर्तन भी कर दिया जाये तो भी अर्थ (उभयपक्षीय) में कोई अन्तर नहीं आएगा। इस तरह तृतीय काकुध्वनि का उदाहरण है। यहां 'यह उचित नहीं है' इसको केवल बोलने के ढंग से ही 'यह उचित है' इस अर्थ में परिवर्तित कर दिया जाता है। इस तरह अविकृतश्लेष, विकृतश्लेष (शब्दश्लेष) अर्थश्लेष तथा काकु के द्वारा वक्रोक्ति अलंकार होता है!

९३. स्वभावोक्त्यलङ्कारः।

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षैः स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते॥ १६०॥

यथा वा-

तौ सम्मुखप्रचलितौ सविधे गुरुणां
मार्गप्रदानरभसस्खलितावधानौ।
पार्श्वोपसर्पणमुभावपि भिन्नदिक्कं
कृत्वा मुहुर्मुहुरुपासरतां सलज्जम्॥ १६०॥

जहां जात्यादि (जाति गुण क्रिया) के अनुसार स्वभाव का वर्णन होता है, वहां स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- चञ्चल आंखों से कान खड़ा करके हरिण के द्वारा देखा जाता है।

जैसे- दूसरा उदाहरण।

वे दोनों (नायक-नायिका) गुरुजनों के सामने एक दूसरे की ओर चलते हुए मार्ग देने में तेजी से टकरा जाने से दोनों लज्जावश वहां से हट जाते हैं।

यहां हरिण के स्वाभाविक वर्णन होने से तथा नायक नायिका का बड़े लोगों के सामने स्पर्श होने पर स्वाभाविक लज्जा का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है। इसका उदाहरण नैषधीय चरितम् महाकाव्य के द्वितीय सर्ग के आरम्भ में हंस के वर्णन में पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में भयभीत हरिण का वर्णन 'ग्रीवाभङ्गभिराम' इस अलंकार का बेजोड़ उदाहरण है।

९४. भाविकालङ्कारः

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।
अहं विलोकयेऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः॥ १६१॥

स्थानभीषणत्वोद्भावनपरमिदम्।

यथा वा-

अद्यापि तिष्ठति दृशोरिदमुत्तरीयं
धर्तुं पुरः स्तनतटात्पतितं प्रवृत्ते।
वाचं निशम्य नयनं नयनं ममेति
किञ्चित्तदा यदकरोत्स्मितमायताक्षी॥ १६१॥

जो भूत या भविष्य के अर्थ का वर्णन वर्तमान में होता है, वहां भाविक अलङ्कार होता है। जैसे- मैं आज भी देख रहा हूँ कि देवता और राक्षसों की लड़ाई हो रही है।

युद्ध स्थान की भीषणता को बताने के लिए यह वर्णन है। जैसे- दूसरा उदाहरण-

मेरी आंखों में वह आज भी दीख रही है कि जिसके स्तनतट से खिसके वस्त्र को पकड़ने के लिए मैं आगे बढ़ा था और वह (नायिका) बार-बार मेरा नयन (वस्त्र) कहां है, वस्त्र कहां है, ऐसा बड़ी-बड़ी आंखों वाली मन्द-स्मित वाली कह रही है।

यहां प्रथम उदाहरण में किसी युद्ध को देखकर वक्ता उसे चिरकाल पूर्व में हुए देवासुर संग्राम समझता है। अर्थात देवासुर संग्राम (भूतकाल) को वह वर्तमान में देखता है। उसी तरह दूसरे उदाहरण में नायिका की पूर्व घटित घटना को नायक वर्तमान में भी देख रहा है। इस तरह भूत का वर्णन वर्तमान में होने से यहां भाविकालंकार है। जहां भविष्य का वर्णन इसी तरह वर्तमान में किया जाएगा वहां भी भाविक अलङ्कार होगा।

९५. उदात्तालङ्कारः

उदात्तमृद्धचरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।
सानौ यस्याभवत्युद्धं तद्धूर्जटिकिरीटिनोः॥ १६१॥

इदं श्लाघ्यचरित स्यान्याङ्गत्वे उदाहरणम्।

ऋद्ध्युदाहरणं यथा-

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलित जलसेक प्रक्रिया गौरवेण
व्यरधि स हृतचित्तस्तत्र भैमीबनेन॥

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः।
ज्ञातो लंकेश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्वतः ॥ १६२ ॥

जहां समृद्धि का वर्णन हो या अन्य के अंग रूप में श्लाघ्यचरित का वर्णन हो वहां उदात्त अलंकार होता है। जैसे- जिसके शिखर पर अर्जुन और शिव का युद्ध हुआ था। (यह वही पर्वत है।)

यह श्लाघ्य चरित के अन्य के अङ्ग होने का वर्णन है। ऋद्धि वर्णन का उदाहरण। जैसे-

वहां दमयन्ती के वन (उपवन) ने उसको (हंस को) दृतचित्त बना दिया। जिसके वृक्षों के आलवाल (क्यारी) चन्द्रकान्त मणियों के बने होने से चन्द्रमा का आलिंगन होने पर स्वयं जल बरसाने से जल से क्रिया को व्यर्थ कर रहे थे।

तथा-रत्नस्तम्भों में संक्रमित हजारों प्रतिबिम्बों से घिरे रावण को किसी तरह कठिनाई से हनुमान ने पहचाना।

यहां प्रथम में श्लाघ्य शिवार्जुन युद्ध पर्वत वर्णन का अंग है। दूसरे नैषधीय चरित में दमयन्ती के बाग का अतुलित वैभवपूर्ण वर्णन है। तीसरे में रावण की सभा की समृद्धि का वर्णन है।

९६. अत्युक्त्यलङ्कारः

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्।
त्वयि दातरि राजेन्द्र! याचकाः कल्पशाखिनः ॥ १६३ ॥

इयमौदार्यात्युक्तिः।

शौर्यात्युक्तिर्यथा-

राजन्! सप्ताप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशोषिताः।

पुनस्त्वद्वैरिवनितावाष्पपूरेण पूरिताः ॥

सम्पदत्युक्तावुदात्तालङ्कारः। शौर्यात्युक्तावत्युक्त्यलङ्कार इतिभेदमाहुः।

अनयोर नवद्याङ्गि! स्तनयोर्जृम्भमानयोः।

अवकाशो न पर्याप्तस्तव वाहुलतान्तरे॥

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा।

इदमेवं विधं भावि भवत्याः स्तनमण्डलम्॥

इति सदसदुक्तितारतम्येनातिशयोक्त्यत्युक्त्योर्भेदः॥ १६३॥

जहां अद्भुत शौर्य, औदार्य आदि का अतथ्यात्मक वर्णन होता है, वहां अत्युक्ति अलङ्कार होता है। जैसे- हे राजेन्द्र! आप जैसे दाता के रहने पर कल्पवृक्ष याचक हो गए हैं। यह औदार्य अत्युक्ति है।

शौर्यात्युक्ति यथा

हे राजन! आपके प्रतापाग्नि से सातों सागर सूख गए। पुनः आपके शत्रु की वनिता की आंखों के आंसू से वे (सागर) भर गए।

संपत् की उक्ति में उदात्तालंकार होता है। शौर्य का अतिशय वर्णन होने पर अत्युक्ति अलंकार होता है। यही दोनों में भेद है।

हे अनवद्याङ्गि! तुम्हारे फैलते हुए स्तनों के लिए बाहुलता के बीच में पर्याप्त अवकाश नहीं है।

विधाता ने बिना सोचे समझे कि तुम्हारा स्तनमण्डल इतना विस्तृत हो जाएगा। आकाश को छोटा बनाया।

यह सत और असत् उक्ति के तारतम्य से अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का भेद है।

उदात्तालंकार में समृद्धि का वर्णन होता है तथा किसी की श्लाघा किसी का अंग बनकर आती है, जबकि अत्युक्ति में शौर्य तथा औदार्यादि का अद्भुत वर्णन होता है। यह अद्भुत वर्णन निश्चयेन मिथ्या होता है। जैसे राजा की दानशीलता के आगे कल्पवृक्ष या याचक होना। यह कदापि संभव नहीं हो सकता है। केवल दाता की दानशीलता का वैशिष्ट्य बोधन ही लक्ष्य है। जबकि उदात्त में केवल सम्पत्ति का आधिक्य वर्णन है जो संभव है। शौर्य की अत्युक्ति में राजा के प्रताप से सागर का सूखना, वैरिवनिता के आंसू से पुनः भर जाना वर्णित है। यह असंभव ही है। केवल राजा की वीरता का वैशिष्ट्य लक्ष्य

है। अतिशयोक्ति और अत्युक्ति में इतना अन्तर है कि अतिशयोक्ति और अत्युक्ति के मिथ्यात्व में अन्तर है। 'अनयोट्न...।' अतिशयोक्ति का उदाहरण है तथा 'अल्पं निर्मितया...।' अत्युक्ति का। यहां प्रथम से बाहुबीच में स्तन विकास का जगह न मिलने से स्तन की विशालता बोधित होती है। इससे भी मिथ्या का बोधन होता है, पर उतना नहीं जितना अगले पद्य में। यहां वर्णन है कि विधाता को यह मालूम नहीं था कि तुम्हारा स्तन इतना बड़ा हो जाएगा, अतः उसने आकाश (जगह) छोटा बनाया। यदि उसे स्तन विकास ज्ञात होता तो आकाश का विस्तार करता। अब पाठक वृन्द स्वयं देख सकते हैं कि कौन कितना बड़ा झूठ है। अतिशयोक्ति का झूठ है, जबकि अत्युक्ति का महाझूठा है। यही दोनों में अन्तर है।

१७. निरुक्त्यलङ्कारः

निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्।
ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान्॥ १६४॥

यथा वा-

पुरा कवीनां गणना प्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती वभूव॥ १६४॥

यहां यौगिक नाम का अर्थान्तर (निरुक्ति कल्पनया) किया जाये वहां निरुक्ति अलङ्कार होता हैं। जैसे- आपके ऐसे चरित से जान पड़ता है कि आप निश्चित ही दोषाकर (दोष की खान, चांद) है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

कवियों की गिनती के प्रसङ्ग में सबसे पहले कनिष्ठिका पर अधिष्ठित नाम कालिदास है। आज भी उनके तुल्य कवि के अभाव में दूसरी अंगुली का नाम अनामिका सार्थक हुआ।

यहां प्रथम उदाहरण विरहिणी नायिका चन्द्रमा से कहती है कि आप वास्तव में दोषाकर हैं। दोषाकर नाम दोषा-रात्रि के करने वाले अर्थात चांद का है ही। पर नायिका

दोषाकर की निरुक्ति प्राचीन ढंग से नहीं बल्कि नए ढंग से- (दोष-अवगुण-आकर-खजाना) अवगुण का भंडार के रूप में करती है। दूसरे उदाहरण में देखा जाये कि कनिष्ठिका के बाद वाली अंगुली का नाम अनामिका है ही परञ्च कवि ने (न वर्तते यस्यां कस्यापि कवेर्नाम सा अनामिका)। इस तरह नई निरुक्ति की है। इस पर कालिदास के समकक्ष किसी कवि का नाम नहीं आ पाता है, इसलिए इसका नाम अनामिका है। तात्पर्य यह है कि कालिदास के सदृश दूसरा कोई नहीं है।

९८. प्रतिषेधालङ्कारः

प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधानुकीर्तनम्।
न द्यूतमेतत्कितव! क्रीडनं निशितैः शरैः॥ १६५॥

निर्ज्ञातो निषेधः स्वतोऽनुपयुक्तत्वादर्थान्तरं गर्भी करोति। तेन चारुत्वान्वितोऽयं प्रतिषेधनामालङ्कारः। उदाहरणं युद्धरङ्गे प्रत्यवतिष्ठमानं शाकुनिकं प्रति विदग्धवचनम्। अत्र युद्धस्याक्षद्यूतत्वाभावो निर्ज्ञात एव कीर्त्यमानस्तत्रैव तव प्रागल्भ्यं न युद्धे व्युत्पत्तिग्रहोऽस्तीत्युपहासं गर्भीकरोति, तच्च 'कितव' इत्यनेनाविष्कृतम्।

यथा वा-

न विषेण न शस्त्रेण नाग्निना न च मृत्युना।
अप्रतीकार पारुष्याः स्त्रीभिरेव स्त्रियः कृताः॥

अत्र स्त्रीणां विषादिनिर्मितत्वाभावः प्रसिद्ध एवं कीर्त्यमानस्तासां विषाद्यतिशायि क्रौर्यमित्यमुमर्थं व्यक्ती करोति, स चाप्रतीकार पारुष्या इति प्रतीकारवद्भ्यो विषादिभ्यस्तासां विशेषं दर्शयता विशेषणेनाविष्कृतः॥

प्रसिद्ध के निषेध का वर्णन वहां होता है जहां प्रतिषेध अलङ्कार होता है। जैसे- अरे धूर्त! यह जुए का खेल नहीं है यहां तीक्ष्ण बाणों का खेल है।

प्रसिद्ध निषेध स्वतः अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। इससे चारुत्व होने से इसे प्रतिषेध अलङ्कार कहते हैं। उदाहरण-- युद्धस्थल में अवस्थित किसी जुए के खिलाड़ी के प्रति किसी चतुर (व्यक्ति) का वचन है। यहां युद्ध का अक्षद्यूतत्व के

अभाव से युक्त होना स्वतः प्रसिद्ध है। किञ्च यहां निषेध का कीर्तन (कथन) इस अर्थान्तर को बताता है कि द्यूत में ही तुम्हारी चतुरता है युद्ध में नहीं। यह उपहासपूर्ण अर्थ 'कितव' पद से आविष्कृत होता है। जैसे दूसरा उदाहरण-

जिसकी कठोरता का कोई प्रतीकार नहीं है ऐसी स्त्रियों का निर्माण न विष से, न शस्त्र से, न मृत्यु से किया गया अपितु स्त्रियों के द्वारा ही स्त्री का निर्माण हुआ है।

यहां स्त्रियों का विषादि से निर्मित नहीं होना प्रसिद्ध ही है तथापि इसका कथन स्त्रियों के विषादि से अधिक क्रूरता का बोधन करता है। यह अर्थान्तर 'अप्रतीकार पारुष्या' इस विशेषण से प्रतीकारवान विषादि से विशेषता बताने के लिए प्राप्त होता है।

इस अलंकार में प्रसिद्ध का निषेध बताया गया है। यद्यपि प्रसिद्ध का निषेध जहां स्वतः स्पष्ट है, वहां पुनः निषेध करना कोई महत्व नहीं रखता यह बात नहीं है, अपितु वह निषेध किसी अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। जैसे- रणक्षेत्र में कोई चतुर आदमी विपक्षी को कहता है- अरे यह जुए का खेल नहीं है। जब वह रणक्षेत्र में खड़ा है, तब तो स्पष्ट है कि वह जुए का खेल (पासा) नहीं है। फिर इसका निषेध वाक्य से क्यों हुआ ? यहां यह निषेध वाक्य इस भाव को बतलाता है, कि अरे मूर्ख तुम जुआ खेलने में चतुर हो रण में नहीं। यहां तुम आ गए हो, तो तुम्हारी हार निश्चित है। जुआ खेलने वाला भला रणक्षेत्र में क्या टिकेगा। इस तरह निषेध में अर्थान्तर का चमत्कार होने से ही अलंकारतत्व है। दूसरे उदाहरण में स्त्रियों का निर्माण विषादि से नहीं हुआ है, यह तो स्वयं सिद्ध है। पर यह निषेध बतलाता है कि विष, शास्त्र आदि का प्रतीकार हो सकता है, पर स्त्रियों का प्रतीकार नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि स्त्री, विष शस्त्र तथा मृत्यु से भी अधिक कठोर है।

९९. विध्यलङ्कारः

सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम्।
पञ्चमोदञ्चने काले कोकिलः कोकिलोऽभवत्॥ १६६॥

निर्ज्ञातविधानमनुपयुक्तिवाधितं सदर्थान्तरगर्भीकरणेन चारुतरमिति तं

विधिनामानमलङ्कारमाहुः। उदाहरणे कोकिलस्य कोकिलत्वविधान मनुपयुक्तं सदतिमधुर पञ्चम ध्वनिशालितया सकलजनहृद्यत्वं गर्भी करोति। तच्च 'पञ्चमोदञ्चने' इति कालविशेषणेनाविष्कृतम्।

यथा वा (उ. राम २/१०)-

रे हस्तदक्षिण! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य वाहुरसि दुर्भरगर्भखिन्न
सीता विवासनपटोः करुणा कुतस्ते ?॥

अत्र रामस्य स्वहस्तं प्रति 'रामस्य गात्रमसि' इति वचनमनुपयुक्तं सत् 'रामस्य' इत्यनेन स्वस्यात्यन्तनिष्करुणत्वं गर्भीकरोति। तच्च 'निर्भरे' त्यादिविशेषणेनाविष्कृतम्। यद्यप्यनयोर्विधिनिषेधयोरुदाहरणेषु व्यङ्ग्यान्यर्थान्तर संक्रमितवाच्यरूपाणि तथापि न ध्वनिभावास्पदानि, स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्य विशेषाविष्करणात्। व्यङ्ग्याविष्करणे चालङ्कारत्वमेवेति प्राक्प्रस्तुताङ्कुर प्रकरणे व्यवस्थितत्वात्। पूर्वं बाधितौ विधि प्रतिषेधौ आक्षेपभेदत्वेनोक्तौ। इह तु प्रसिद्धौ विधिप्रतिषेधौ तत्प्रतिद्वन्द्विनावलङ्कारत्वेन वर्णिताविति भेदः॥ १६६॥

जहां पूर्वसिद्ध वस्तु का ही पुनः विधान किया जाता है, वहां विधि अलङ्कार होता है। जैसे- पञ्चम स्वर के प्रकट करने के समय कोयल कोयल होता है।

प्रसिद्ध का विधान जो किसी उपयुक्त तत्व से बाधित नहीं है, सुन्दर अर्थान्तर को अभिव्यक्त करने से और चारुतर हो जाता है, अतः यहां विधि नामक अलङ्कार होता है। उदाहरण में कोयल को कोयल होने का विधान अनुपयुक्त होता हुआ, मधुर पञ्चमस्वरयुक्तता से सभी जनों के लिए मनोहर रूप अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। वह अर्थान्तर 'पञ्चम के प्रकट करने के समय में, इस तरह कालविशेष से प्रकट होता है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

हे मेरे दाहिने हाथ! ब्राह्मण के मृत शिशु के जीवन के लिए इस शूद्रमुनि पर कृपाण चलाओ। तुम तो गर्भ भार से खिन्न सीता को निर्वासित करने में कुशल राम का अङ्ग हो। तुम्हें करुणा कहां ?

यहां राम का अपने हाथ के प्रति 'राम का अंग हो' ऐसा वचन अनुपयुक्त है, तथापि 'राम का' इस पद से अपनी अत्यन्त करुणाहीनता को अभिव्यक्त करता है और यह अर्थान्तर 'निर्भर' इत्यादि विशेषण से आविष्कृत होता है।

यद्यपि इस विधि और निषेध के उदाहरण में व्यंग्य, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य रूप है तथापि यहां ध्वनि नहीं है। अपनी ही उक्ति से यहां व्यंग्य का आविष्करण हो जाता है। व्यङ्ग्य के आविष्करण में अलङ्कारत्व ही है, ऐसा प्रस्तुताङ्कुर प्रकरण में कहा जा चुका है। पहले से बाधित विधि और प्रतिषेध आक्षेप के भेद के रूप में कहा जा चुका है। यहां प्रसिद्ध विधि और प्रतिषेध उसके प्रतिद्वन्द्वी होने से अलंकार रूप में वर्णित किए गए हैं।

इस अलंकार में पूर्व सिद्ध का पुनः विधान किया जाता है। जैसे- कोयल का कोयल होना। कोयल में कोयलत्व तो सिद्ध है ही पुनः विधान करना अनुपयुक्त सा दीखता है। पर सकलजनमनोहरत्व दूसरे कोयल पद से ज्ञात होता है। उसी तरह राम स्वयं अपने हाथ को 'राम का अंग' कह रहा है। राम का स्वयं 'राम का' कहना उचित नहीं दीखता है। पर यह राम अतिनिष्करुणत्व को बोधित करता है। इस तरह-दूसरा कोयल पद सकलजनमनोहरत्व तथा राम पद अतिनिष्करुणत्व अर्थ को बोधित करता है। इस तरह यह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण बन जाता है। पर यहां द्रष्टव्य है कि यह ध्वनि का उदाहरण नहीं है। अर्थान्तरसंक्रमित से अर्थान्तर व्यंग्य से ज्ञात होता है, वाच्य से नहीं। पर यहां कोयल का सर्वजनमनोहरत्व रूप अर्थान्तर 'पञ्चमोदञ्चने' से तथा 'राम' का अतिनिष्करुणत्व रूप अर्थान्तर 'निर्भर-गर्भखिन्न....' पद से ज्ञात होता है। जहां व्यंग्य ज्ञान वाच्य से नहीं होता वहीं ध्वनि होती है। जैसे-

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतोवेल्लद्बलाकाघना
वाताः सीकरिणः पयोदसुहृदामानन्द केकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोर हृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि! धीरा भव।

यहां 'राम' पद सर्वदुःखसहिष्णुत्व रूप अर्थान्तर को बोधित करता है। ऊपर का

उदाहरण वाच्य से ही अर्थान्तर को व्यक्त करने से अलंकार है। जहां विधि या प्रतिषेध पहले से किसी कारणवश बाधित हो पुनः उसका आक्षेप होने से विधान या सीधा विधान आक्षेपालंकार में होता है और यहां प्रतिषेध तथा विधि अलंकार में प्रतिषेध या विधि पूर्व बाधित होना नहीं होता, अतः यहां प्रतिषेध तथा विधि पृथक् अलंकार है। जैसे–युद्ध में द्यूत क्रीड़ा का निषेध बाधित नहीं है तथा कोयल में कोयलत्व का होना विधि बाधित नहीं है।

१००. हेत्वलङ्कारः

हेतोर्हेतुमता सार्द्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम्॥ १६७॥

यथा वा–

एष ते विद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधरः।
कस्य नो तनुते तन्वि! पिपासाकुलितं मनः॥
माने नेच्छति वारयत्युपशमे क्ष्मामालिखन्त्यां ह्रियां
स्वातन्त्र्ये परिवृत्य तिष्ठति करो व्याधूय धैर्ये गते।
तृष्णे! त्वामनुवध्नता फलमियत्प्राप्तं जनेनामुना
यत्स्पृष्टो न पदा स एव चरणौ स्प्रष्टुं न सम्मन्यते॥

इत्याद्युदाहरणम्॥ १३६॥

जहां हेतु (कारण) का हेतुमान (कार्य) के साथ वर्णन होता है, वहां हेतु अलङ्कार होता है। जैसे– सुभ्रुओं का मानच्छेदन करने के लिए यह चांद उदित होता है।

जैसे– दूसरा उदाहरण–

अयि तन्वि! विद्रुमच्छाय मरुमार्ग की तरह यह तुम्हारा अधर किस के मन को प्यास से आकुलित नहीं करता है।

तथा– मान के नहीं चाहने पर, शान्ति के द्वारा वारित करने पर, लज्जा के पृथ्वी पर लिखित होने पर, स्वतंत्रता के मुख मोड़ लेने पर, हाथ मलकर धैर्य के चले जाने पर भी हे तृष्णे! तुम्हारा अनुसरण करने वाले लोगों ने यह फल पाया कि जिसको पैर से छूना नहीं चाहता था, वह अब पैर पकड़ने नहीं देता।

ये सभी उदाहरण हैं।

यहां प्रथम उदाहरण में चन्द्रोदय कारण है तथा मानिनियों के मान के खण्डन कार्य, दूसरे में पिपासा का होना कार्य तथा विद्रुमच्छाय (विद्रुम की छाया के समान लाल, बिना वृक्ष की छाया वाले रेगिस्तान के समान) कारण है। (पिपासा-प्यास बुझाने की इच्छा, चुम्बनेच्छा) तथा तीसरे उदाहरण में- 'तृष्णा का अनुसरण कारण है और जिसका पैर छूना नहीं चाहता था, उसका पैर पकड़ने नहीं देना' कार्य। इस तरह तीनों में कारण तथा कार्य के साथ-साथ वर्णन होने से हेतु अलङ्कार है।

अब प्राचीनों के मत में हेतु का लक्षणोदाहरण दिखाते हैं।

हेतु हेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित् प्रचक्षते।
लक्ष्मीविलासा विदुषां कटाक्षाः वेकट प्रभोः॥ १६८॥

अत्र च कार्यावश्यंभावतच्छैत्त्यादि प्रत्यायनार्थः कार्यकारणाभेदव्यपदेशः। रुपके सादृश्यादभेदव्यपदेशः। इह कार्यकारणभावादिति भेदः॥

यथा वा-

आयुर्दानमहोत्सवस्य विनतक्षोणीभृतां मूर्तिमान्
विश्वासो नयनोत्सवो मृगदृशां कीर्तेः प्रकाशः परः।
आनन्दः कलिताकृतिः सुमनसां वीरश्रियो जीवितं
धर्मस्यैष निकेतनं विजयते वीरः कलिङ्गेश्वरः॥

अत्र दानमहोत्सवायुष्करत्वादिनाऽध्यवसिते राज्ञि तदायुष्ट्वादिव्यपदेशः॥ १६८॥

कुछ लोग हेतु (कारण) और हेतुमान (कार्य) के ऐक्य होने पर हेतु अलङ्कार मानते हैं। जैसे- वेंकटस्वामी का कटाक्ष विद्वानों का लक्ष्मीविलास है।

यहां कारण के रहने पर कार्य अवश्यंभावी है, इस तरह का विश्वास बनाने के लिए कार्य कारण में अभेद किया गया है। रूपक में सादृश्य के कारण अभेद होता है और यहां कार्य कारण भाव से, यही दोनों में भेद है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

वीर कलिङ्गेश्वर की जय हो, जो दानमहोत्सव की आयु है, नम्र राजाओं के लिए, मूर्तिमान विश्वास है, रमणियों के लिए नयनोत्सव है। कीर्ति का दूसरा प्रकाश है। सज्जनों के लिए आनन्द की आकृति है। वीरलक्ष्मी का जीवन है। धर्म का निकेतन है।

यहां दानमहोत्सव आयु करने वाले आदि के द्वारा अध्यवसित राजा में आयु आदि का व्यपदेश है।

यहां कार्य और कारण में ऐक्य होता है। जैसे वेंकट स्वामी का कटाक्ष विद्वानों का लक्ष्मी विलास है। तात्पर्य है कि वेंकटस्वामी के कटाक्ष मात्र से विद्वानों को प्रचुर सम्पत्ति मिलती है। यहां कटाक्ष कारण है तथा लक्ष्मी विलास कार्य। दोनों में ऐक्य स्थापित है। इसी तरह अगले उदाहरण में राजा कलिंगेश्वर (कारण) तथा आयु, मूर्तिमान विश्वास, नयनोत्सव आदि (कार्य) का ऐक्य है। तात्पर्य है जहां राजा है वहां यह सभी है अन्यथा नहीं। इस तरह यहां राजा पर आयु आदि का आरोप है। इससे रूपक का भ्रम होता है। पर रूपक में सादृश्य से ऐक्य होता है। जैसे- हस्तकमल, पर यहां हेतु में कार्य कारण भाव से ऐक्य होता है। यहां यह समझना चाहिए कि शुद्धा लक्षणा हेतु अलंकार है तथा गौणी लक्षणा रूपक अलङ्कार है।

इत्थं शतपलङ्कारा: लक्षयित्वा निदर्शिता:।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वत:॥ १६९॥

इस तरह एक सौ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण प्राचीनों तथा आधुनिकों के मतों की आलोचना करके दिखा दिया है।

इन सौ अलंकारों में प्राचीन रुय्यकादि के मतों का यत्र-तत्र सम्यक् विवेचन किया गया है। अपने लक्षण और उदाहरण की व्यवस्था भी दीक्षित जी ने स्पष्ट रूप से किया है।

अथ रसवदाद्यलङ्कारा:

रस-भाव-तदाभास भाव शान्ति निबन्धना:।
चत्वारो रसवत्प्रेय उर्जस्वि च समाहितम्॥१७०॥
भावस्य चोदय:, सन्धि: शवलत्वमिति त्रय:।

अष्टौ प्रमाणाःलङ्कारा: प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात्॥
एवं पञ्चदशान्यानप्यलङ्कारान् विदुर्वुधाः॥ १७१॥

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यञ्जितो रतिहासशोकादिश्चित्तवृत्तिविशेषो रसः, स यत्रापरस्याङ्गं भवति तत्र रसवदलङ्कारः। विभावानुभावाभ्यामभिव्यञ्जितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशद्भेदो देवता गुरुशिष्यद्विजपुत्रादावभिव्यज्यमाना इतिश्चभावः। स यत्रापरस्यांगं तत्र प्रेयोलङ्कारः। अनौचित्येन प्रवृत्तो रसो भावश्च रसाभासो भावाभासश्चेत्युच्यते, स यत्रापरस्यांगं तदूर्जस्वि। भावस्य प्रशाम्यदवस्था भावशान्तिः। तस्यापराङ्गत्वे समाहितम्। भावस्यो द्गमावस्था भावोदयः। द्वयोर्विरुद्धभावयोः परस्परस्पर्द्धाभावो भावसन्धिः। वहूनां भावानां पूर्वपूर्वोपमर्दनोत्पत्तिर्भावशवलता। एतेषामितराङ्गत्वे भावोदयाद्यास्त्रयोऽलंकारा।

रस, भाव, तदाभास (रसाभास भावाभास) भावशान्ति, ये चार क्रमशः रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि तथा समाहित अलङ्कार होते हैं। एतदतिरिक्त भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता ये तीन भी अलंकार होते हैं। प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण भी अलंकार होते हैं। इस तरह विद्वानों ने पंद्रह अलंकारों की गणना की है।

विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के द्वारा व्यञ्जित रतिहास शोकादि चित्तवृत्तिविशेष रस है। यह रस जब दूसरे का अङ्ग बन जाता है, तब रसवत् अलङ्कार होता है। विभाव और अनुभाव के द्वारा व्यञ्जित 33 व्यभिचारीभाव, तथा देवता गुरु शिष्यद्विज पुत्रादि से व्यज्यमान रति भी भाव कहलाता है। यह भाव जब किसी का अङ्ग बन जाता है तब प्रेय अलङ्कार होता है। अनुचित आलम्बन में प्रवृत्त रस तथा भाव, रसाभाव तथा भावाभास कहलाते हैं। यह जब दूसरे का अंग बनकर आता है, तब उर्जस्वि अलंकार होता है। जहां भाव शान्त हो जाता है वो भावशान्ति है। इसके अंग बनने पर समाहित अलंकार होता है। भाव का उदय भावोदय कहलाता है। दो विरुद्ध भावों का परस्पर स्पर्द्धाभाव भावसन्धि कहलाता है। बहुत सारे भावों का एक दूसरे पर उत्पन्न हो जाना भावशवलता होती है। ये सभी जब किसी अन्य का अंग बनकर आते हैं, तब ये तीनों भावोदय भावसन्धि तथा भावशबलता अलङ्कार होते हैं।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह भरत मुनि प्रणीत सूत्र है। रस, विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव से व्यञ्जित रत्यादि चित्तवृत्तिविशेष है। यह रस काव्य की आत्मा है। यह प्रधान होता है तथापि कभी-कभी किसी का अंग बन जाता है। जो आगे उदाहरण में दिखाया जाएगा। लोक में कारण कार्य और संचारीभाव होते हैं। यही काव्य या नाटक में विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव कहलाता है। यह व्यभिचारी-भाव कार्याभिव्यक्ति के समय चेहरे पर आने जाने वाला भाव है। यह संख्या में तैंतीस (33) हैं। जब यह विभाव तथा अनुभाव से व्यञ्जित होता है, या गुरु देवता शिष्य, बहन, माता आदि विषयक रति अभिव्यञ्जित होती है, तब भाव कहलाता है। यह भाव जब किसी का अंग बनता है, तब प्रेय अलंकार होता है, जो आगे दिखाया जाएगा। तैंतीस व्यभिचारीभाव ये हैं- (i) निर्वेद (ii) आवेग (iii) दैन्य (iv) श्रम (v) मद (vi) जड़ता (vii) उग्रता (viii) मोह (ix) विवोध (x) स्वप्न (xi) अपस्मार (xii) गर्व (xiii) मरण (xiv) आलस्य (xv) अमर्ष (xvi) निद्रा (xvii) अवहित्था (xviii) औत्सुक्य (xix) उन्माद (xx) शङ्का (xxi) स्मृति (xxii) मति (xxiii) व्याधि (xxiv) त्रास (xxv) व्रीड़ा (xxvi) हर्ष (xxvii) असूया (xxviii) विषाद (xxix) धृति (xxx) चपलता (xxxi) ग्लानि (xxxii) चिन्ता (xxxiii) वितर्क।

(रसवत् प्रेय उर्जस्वि समाहित) 4 + (भावोदय भावसन्धि भावशबलता) 3=7+ आठ प्रमाण = 7+8= 15 अलङ्कार।

१०१. तत्र रसवदुदाहरणम्।

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसंभवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्य कच्छपौ॥

अत्र मुनिविषयकरतिरूपस्य भावस्याद्धुतरसोङ्गम्।

यथा वा-

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तन विमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः॥

अत्र करुणस्य श्रृङ्गारोङ्गम्।

रसवत् का उदाहरण–

उस कुम्भोदव (अगस्त्य) महात्मा योगीन्द्र मुनि की जय हो, जिन्होंने एक चुल्लू पानी में ही मत्स्य और कच्छप दोनों के दर्शन किए।

यहां मुनिविषयकरति रूप भाव का अद्भुत रस अंग बन गया है। जैसे– दूसरा उदाहरण–

यह वही हाथ है जो रसना (करधनी) को खींचने वाला था, मोटे स्तनों का मर्दन करने वाला तथा नाभी जघन, उरू भाग का स्पर्श करने वाला तथा नीवि (नाड़ा) को खोलने वाला था।

यहां करुण का अङ्ग शृंगार बन गया है।

प्रथम उदाहरण में हाथ के चल्लू में मत्स्य और कच्छपावतार का दर्शन अद्भुत रस को व्यञ्जित करता है। दूसरी ओर योगी अगस्त्य का जयकार होने से मुनिविषयक रति भाव को व्यक्त करता है। कवि को मुनि का जयकार अभीष्ट होने से भाव प्रधान है और रस अप्रधान। इस तरह यहां रस भाव का अंग बन गया है। तथा आगे का उदाहरण– महाभारत से उद्धृत है। भूरिश्रवा के कटे हाथ को देखकर उनकी पत्नियां विलाप कर रही हैं। (भूरिश्रवा मर चुका है) इस तरह यहां करुण रस प्रधान है क्योंकि विभाव (कारण) करुण का ही है। पूर्व की याद में शृंगार रस की व्यञ्जना हो रही है, जो अप्रधान है। इस तरह शृंगार करुण का अंग बन गया है। इस तरह रस के अंङ्ग बन जाने से यहां रसवत् अलङ्कार है।

१०२. प्रयोऽलङ्कारः

प्रयोऽलङ्कार एव भावालङ्कार उच्यते। यथा–

कदा वाराणस्याममरितटनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ! त्रिपुरहर! शम्भो! पशुपते!
प्रसीदेत्याक्रोशं निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥

अत्र शान्त रसस्य 'कदा' इति पद सूचितश्चिन्ताख्यो व्यभिचारि भावोऽङ्गम्।

यथा वा-

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधः-
-स्तानेतानपि विभ्रती किमपि न श्रान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येणमुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमियावद्भुव-
-स्तावद्विभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजौ वाचस्तता मुद्रिताः॥
अत्र प्रभुविषयकरतिभावस्य वसुमतीविषयकरतिभावोऽङ्गम्॥

प्रेय अलङ्कार ही भावालङ्कार कहलाता है। जैसे-

मैं कब वाराणसी में गंगा के किनारे कौपीन पहनकर शिर पर अञ्जलिबद्ध कर युगल रखकर रहता हुआ, अये गौरीनाथ! त्रिपुरहर! शम्भो! त्रिनयन! प्रसन्न हो जाओ, रटता हुआ जीवन के दिनों को क्षण भर की तरह बिताऊंगा।

यहां 'कदा' पद से सूचित चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव शान्त रस का अङ्ग है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

चारों ओर बड़े-बड़े पहाड़ खड़े है तथा विशाल सागर लहरा रहे हैं। इतने सभी को धारण करती हुई तुम कभी थकती नहीं, इसलिए हे (पृथ्वी) तुम्हें प्रणाम है। इस तरह आश्चर्य से बार-बार जब तक मैं पृथ्वी की स्तुति करता हूँ, तब तक इस पृथ्वी को ही धारण करने वाले आपके बाहुद्वय का स्मरण हो आता है। और मेरी वाणी मुद्रित हो जाती है।

यहां प्रभुविषयकरति भाव का अंग पृथ्वी विषयक रतिभाव है।

यहां प्रथम उदाहरण में कोई-भक्त शिव की प्रार्थना करते हुए अपना जीवन बिताना चाहता है। इस तरह यहां शान्त रस है। पर 'कदा' पद से 'कब में ऐसा कर पाऊँगा' ऐसी चिन्ता व्यञ्जित होती है। यहां चिन्ता नाम व्यभिचारी भाव, शान्तरस का अंग बन गया है। चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव की परिभाषा आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है- 'ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्'। यहां भगवद्विषयक रति की अभिव्यञ्जना

भी होती है तथा दूसरे उदाहरण में कवि मूलतः राजा की स्तुति करता है। इस स्तुति के अंगरूप में पृथ्वी की स्तुति हो आई है। पृथ्वी की गुरुतर भार वहन क्षमता को दिखाकर राजा की क्षमता को उससे भी अधिक बताना कवि का लक्ष्य है। इस तरह राजविषयक रति रूप भाव का अङ्ग पृथ्वी विषयक रति रूप भाव है।

१०३. उर्जस्व्यलङ्कारः

उर्जस्वि यथा-

त्वत्प्रत्यर्थिवसुन्धरेशतरुणीः सन्त्रासतः सत्वरं
यान्तीर्वीर! विलुण्ठितुं सरभसं याताः किराता वने।
तिष्ठन्ति स्तिमिताः प्ररूढ़पुलकास्ते विस्मृतोपक्रमा-
-स्तासामुत्तरलैः स्तनैरतितरां लोलैरपाङ्गैरपि॥

अत्र प्रभुविषयकरतिभावस्य श्रृङ्गाररसाभासोङ्गम्।

यथा वा-

त्वयि लोचनगोचरं गते सफलं जन्म नृसिंह भूपते!।
अजनिष्ट ममेति सादरं युधि विज्ञापयति द्विषांगणः॥

अत्र कवेः प्रभुविषयस्य रतिभावस्य तद्विषयद्विषद्गणरतिरुपो भावाभावसोऽङ्गम्॥

उर्जस्वि का उदाहरण-

हे राजन! आपके शत्रुओं की वनिताएं जब भय से (वन में) भाग रही थीं तो शीघ्र ही उसे लूटने के लिए किरातों ने उनका पीछा किया। (जब वह सामने आयी तो) उसके चञ्चल स्तनों तथा चञ्चल अपाङ्गों से रोमाञ्चित तथा स्तब्ध होकर वे (किरात) अपने उपक्रम को भूल गए।

यहां प्रभु विषयक रति भाव का श्रृंगाराभास अङ्ग बन गया है। जैसे- दूसरा उदाहरण-

हे नृसिंह भूपते! युद्ध में आपके विपक्षीगण सादर निवेदन करते हैं कि आपके सम्मुख होने पर (दर्शन होने पर) मेरा जन्म सफल हो गया।

यहां कवि का प्रभु विषयक रतिभाव का अंग विपक्षी राजा का प्रस्तुत राजा विषयक रतिभाव अङ्ग बन गया है।

प्रथम उदाहरण में कवि राजा की यशोगाथा गा रहा है। इससे स्पष्ट है कि राजविषयक रति भाव है। यह प्रधान है तथा वन में किरात लोग राजरमणी को देखकर उसे लूटने (धन गहना आदि) का इरादा भूल जाता है और मुग्ध होकर उसके स्तन और अपांग देखने लगता है। इससे स्पष्ट है कि वह उस रमणी के साथ संभोग की इच्छा वाला हो गया है। यहां किरात का राजरमणी से शृंगार अनुचित होने से रसाभास है। यहां केवल किरात के हृदय में रमणी विषयक रति है, रमणी के हृदय में किरात विषयक नहीं है। अतः यहां अनुचित शृंगार है। अनुचित स्थान पर रस यदि प्रवृत्त हो तो रसाभास कहलाता है। "**अनौचित्यप्रवृत्तत्वं आभासो रसभावयोः (सा.द.)**। इस तरह यह शृंगाराभास राजविषयकरतिरूपभाव का अङ्ग बन गया। दूसरे उदाहरण में कवि जिस राजा (नृसिंह) की स्तुति करता है तद्विषयक रति रूप भाव प्रधान है। साथ-साथ विपक्षी का नृसिंह राजा के प्रति भी रति अभिव्यञ्जित हो रही है। इस तरह एक भाव दूसरे भाव का अंग बन गया है। परञ्च यहां यह द्रष्टव्य है कि वास्तव में जब विपक्षी प्रस्तुत राजा से रति कर रहा है तो वह अनुचित ही है। क्योंकि शत्रु कभी शत्रु से प्रेम नहीं करता। ऐसा होने पर वह भाव न होकर भावाभास है। यह भावाभास प्रथम भाव का अंग है। यह पूर्व विदित है कि जहां रसाभास या भावाभास किसी का अंग बनता है, तब उर्जस्वि अलंकार होता है। अतः 'त्वयि लोचन' वाले उदाहरण में भाव नहीं भावभास ही अंग है। अन्यथा अलंकारत्व में ही शंका हो जाएगी।"

१०४. समाहितालङ्कारः

समाहितं यथा–

पश्यामः किमियं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मयालम्बितं
किं मां नालपतीत्ययं खलुशठः कोपस्तयाप्याश्रितः।
इत्यन्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे
स व्याजं हसितं मया धृतिहरो मक्तस्तु वाष्पस्तया॥

अत्र शृंङ्गारस्य कोपशान्तिरङ्गम्।

समाहित का उदाहरण-

देखता हूँ यह क्या करती है इस तरह मैंने स्थिरता का अवलम्बन किया। यह मुझसे क्यों नहीं बोल रहा है, यह दुष्ट है, यह सोचकर उसने (नायिका ने) भी कोप का आश्रय ले लिया। इस तरह दोनों एक दूसरे को बिना बातचीत के विषम अवस्था में देख रहे थे। इसी समय किसी अन्य के बहाने मैंने हँस दिया तो धैर्य को हरण करने वाले आंसू वो छोड़ने लगी।

यहां कोपशान्ति श्रृंगार का अंग बन गया है।

यहां दो मित्रों की आपसी बातचीत है। श्रृंगार वर्णन के प्रसङ्गानुकूल यहां श्रृंगार रस प्रधान है। नायिका का कोप छोड़कर रोना उसके कोप की शान्ति को बताता है। अर्थात् क्रोध शान्त हो रहा है। यह कोप शान्ति (कोप नामक भाव की शान्ति) श्रृंगार रस का अंग बन गया है। भावशान्ति के किसी के अङ्ग बन जाने पर समाहित अलङ्कार होता है।

१०५. भावोदयालङ्कारः

भावोदयो यथा- (नं. ९.६६)

तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे
दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी।
अदर्शि पादेन विलिख्य पत्रिणा
तवैव रुपेण समः स मे प्रियः॥

अत्र नलं प्रति दमयन्त्या औत्सुक्यरूपभावस्योदयः शृङ्गाररसस्याङ्गम्॥

भावोदय जैसे-

अब विश्राम कर मेरे प्रति दयालु बनो। आपको देखते हुए मैं दिन बिताना चाहती हूँ, पक्षी (हंस) ने अपने पैर से लिखकर मेरे जिस प्रिय का रूप दिखाया था, वह तुम्हारे रूप के समान था।

यहां दमयन्ती का नल के प्रति औत्युक्य नामक भाव का उदय हो रहा है। अर्थात् दमयन्ती नल के प्रति उत्सुक हो रही है। यहां भाव का उदय होने से भावोदय अलङ्कार है। यह भावोदय नलदमयन्ती विषयक श्रृंगार रस का अङ्ग है।

१०६. भावसन्ध्यलङ्कारः

भावसन्धिर्यथा-

एकाभूत् कुसुमायुधेषुधिरिव प्रव्यक्तपुङ्खावली
जेतुर्मङ्गलपालिकेव पुलकैरन्या कपोलस्थली।
लोलाक्षीं क्षणमात्रभाविविरहक्लेशासहां पश्यतो
द्रागाकर्णयतश्च वीर! भवतः प्रौढ़ाहवाडम्बरम्॥

अत्र रमणी प्रेम-रणौत्सुक्ययोः सन्धिः प्रभुविषयभावस्याङ्गम्।

हे वीर! एक ओर रण की भेरी सुनकर तथा दूसरी और क्षणभर में होने वाले विरह को सहने में असमर्थ चंचल नयना (भार्या) को देखकर आपके एक कपोल विजय प्रस्थान करने वालों की मंगलपालिका की तरह और दूसरा स्पष्ट पंख वाले कामदेव के तरकस के समान हो जाता है।

यहां रमणी का प्रेम तथा रण की उत्सुकता दोनों की सन्धि है। यह सन्धि कवि के प्रभविषयक रति रूप भाव का अंग है।

यहां आश्रित कवि वीर राजा की स्तुति कर रहा है। कवि का राजा के प्रति रति रूपभाव प्रधान है। राजा जब रण की भेरी को सुनता है तो कपोल मंगलपालिका (कुशादि की मार्गपाली) के समान होता है तथा अपनी प्रिया को देखता है, जो भावी विरह को सहने में असमर्थ है तो कपोल कामदेव के तरकस सा दीखता है। इस तरह एक ओर औत्सुक्य तथा दूसरी ओर रति के भाव की संधि है। परस्पर वीर तथा शृंगार विरोधी है। इस तरह विरोधी भावों की संधि राजवषियक रति रूप भाव का अंग है। इस तरह यहां भावसन्धि अलंकार है।

१०७- भावशवलालङ्कारः

भावशवलं यथा-

क्वाकार्य-शशलक्ष्मणः क्व च कुलं? भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्षन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः। स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्का दैन्य धृति चिन्तानां शबलता विप्रलम्भ शृंगारस्याङ्गम्।

कहां यह अकार्य और कहां चन्द्र वंश (वितर्क) वह एक बार फिर दीख जाती (औत्सुक्य), हम लोगों का शास्त्रज्ञान दोषों की शान्ति के लिए होता है, (मति), क्रोध की अवस्था में उसका मुख सुन्दर था (स्मरण), दोष रहित लोग मुझे क्या कहेंगे (शङ्का), वह स्वप्न में भी दुर्लभ है (दैन्य) चित्त! स्वस्थ हो जाओ (धृति), कौन युवक धन्य होगा जो उस अधर का पान करेगा (चिन्ता)।

यहां वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शंङ्का, दैन्य, धृति, चिन्ता की शबलता विप्रलंभ शृंगार का अंग है।

यहां चन्द्रवंशी राजा (शायद पुरुरवा) नायिका के विषय में विविध विचार कर रहा है। क्रमशः वितर्क औत्सुक्य आदि भावों का संघटन हो रहा है। विविध भावों का एक स्थान पर इकट्ठा होना ही भावशबलता है और यह शबलता विप्रलम्भ शृंगार का अङ्ग बन गया है।

आचार्य मम्मट यहां भावशबलता को प्रधान मानते हैं। अतः उन्होंने भावशबलता के उदाहरण में इस श्लोक को उद्धृत किया है।

१०८. प्रत्यक्षालङ्कारः

प्रमाणालङ्कारे प्रत्यक्षं यथा-

क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे
भग्नवालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते
निर्ववार मधुनीन्द्रिय वर्गः॥

यथा वा-

किं तावत्सरसि सरोजमेत-
दारादाहोस्विन्मुखमवभासते युवत्याः।

संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय
कश्चिद्विब्वोकैर्वकसहवासिनां परोक्षैः ॥

पूर्वत्र प्रत्यक्षमात्रम्, इह तु विशेषदर्शनजन्य संशयोत्तर प्रत्यक्षमिति भेदः।

प्रमाण अलङ्कार में प्रत्यक्ष का उदाहरण–

कान्ता के सुन्दर प्रतिबिम्ब वाले, मसले हुए बाल सहकार की सुगन्ध वाले, स्वादु और ठंढे तथा भ्रमर के गुञ्जार से युक्त मधु ने इन्द्रिय वर्ग (पञ्चेन्द्रिय) को वारित कर दिया (तृप्त कर दिया) जैसे दूसरा उदाहरण–

तालाब में यह कमल है या युवती का मुख अब भासित हो रहा है। ऐसी शंका करने पर वकसहवासी (कमल) के परोक्ष विलास से क्षणभर में निर्णय कर लिया (कि यह युवती का मुख है)।

प्रथम उदाहरण में प्रत्यक्ष मात्र है, तथा दूसरे उदाहरण में विशेष दर्शन से संशय के बाद प्रत्यक्ष है। यही दोनों में भेद है।

यहां प्रमाण अलंकार का विवेचन किया जा रहा है। भारतीय दर्शन में प्रमाणों का काफी महत्व है। (प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्) भारतीय दर्शनाचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रमाण की संख्या मानी है। जैसे- रामानुज-तीन, वल्लभाचार्य-तीन, माधवाचार्य-चार, शंकर-छह, सांख्य-योग-तीन, तीन, न्याय-जैन-चार-चार, वैशिषिक-दो, चार्वाक एक, प्रभाकर-पांच, कुमारिलभट्ट-छह। दीक्षित जी ने यहां दश प्रमाण को स्वीकार कर उदाहरण प्रस्तुत किया है। क्रमशः (1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) उपमान (4) शब्द (5) स्मृति (6) श्रुति (7) अर्थापत्ति (8) अनुपलब्धि (9) सम्भव (10) ऐतिह्य, जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, उसे प्रमाण कहते हैं। इस आधार पर ज्ञान के कारणभूत तत्व का यहां विवेचन होता है।

प्रथम उदाहरण में मद्यपान का वर्णन है जो शिशुपाल वध से महाकवि माघ द्वारा वर्णित है। इसमें मधु के द्वारा पञ्चेन्द्रिय की तृप्ति का वर्णन है। यहां मधु से पांच इन्द्रिय का क्रमशः प्रतिबिम्ब से आंख की, सुगन्धि से नाक की, स्वादु से जीभ की, गुञ्जार से

कान की तथा शीतलता से त्वचा की तृप्ति है। यहां पञ्चेन्द्रियों की तृप्ति के ज्ञान में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जो ऐसी परिस्थिति (वर्णनानुकूल) में मधु पी रहा है वही प्रत्यक्ष तृप्ति पा रहा है। इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण होने से यह उदाहरण उपयुक्त है। वैसे यहां इन्द्रिय निवृत्ति का कारण मधु होने से पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग भी है।

दूसरे उदाहरण में कमल और मुख में संशय हो रहा है कि यह कमल है कि मुख पुनः मुख के विलास से मुख का निर्णय होता है जो विलास कमल में संभव नहीं है। यहां विलास कारण है, वह भी प्रत्यक्ष ही है। प्रत्यक्ष में देखने वाला मुख के विलास को देखकर ही कमल नहीं है, मुख ही है ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है। प्रथम में सीधा प्रत्यक्ष प्रमाण तथा दूसरे में संशय के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण है।

१०९. अनुमानालङ्कारः

अनुमानं यथा-

यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चलजलदधूमः स्थगयति
स्फुलिङ्गानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः।
यथा विद्युज्ज्वालोल्लसित परिपिङ्गाश्च ककुभ-
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुखण्डे स्मरदवः॥

यथा वा-

यत्रैता लहरी चलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवौ
यत्तत्रैव पतन्ति संततमयी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृतचापपुङ्खितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं तदासां स्मरः॥

पूर्वं रूपकसंकीर्णम् इदमतिशयोक्तिसंकीर्णमिति भेदः।

(अनुमान में प्रत्यक्ष को देखकर परोक्ष का अनुमान होता है। जैसे प्रसिद्ध उदाहरण है- पर्वत पर धुएँ को देखकर आग का अनुमान। यह अनुमान जब प्रतिभोत्थापित होता है तब अनुमानालङ्कार होता है।)

जैसे व्योम के रन्ध्र को चलता हुआ मेघरूप धूंआ भर रहा है। कीटमणि (जुगनु) स्फुल्लिङ्ग का रूप धारण कर रहा है। विद्युत की ज्वाला से प्रकाशित दिशाएं पीली हो रही हैं, तो अनुमान होता है कि पथिक रूप तरुखण्ड में कामदेव दावानल लग गया है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

जहां लहरों के समान चञ्चल आंखों वाली अपनी भौंह का व्यापार करती है वहीं मर्म को स्पर्श करने वाले बाण गिरते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि धनुष को चन्द्राकार बनाकर उस पर पंखयुक्त बाण को चलाने के लिए उद्यत क्रोधपूर्ण कामदेव इसके (तरुणी) शासन को मानकर आगे-आगे दौड़ता है।

यहां पहला उदाहरण रूपक से संकीर्ण है तथा दूसरा उदाहरण अतिशयोक्ति से संकीर्ण है।

यहां प्रथम उदाहरण में कवि प्रतिभा से उत्थापित पथिक तरुखण्ड में कामदेव दावानल का अनुमान है। मेघ धूंआ है, जुगनू चिनगारी है। आग की लपट से दिशाएं पीली हो रही हैं। (विद्युत से) जहां धूंआ चिनगारी तथा लपट का पीलापन है, वहां आग का होना निश्चित है। इस तरह यह अनुमान सत्य है। परञ्च यह मेघ, जुगनू, विरही जन, विद्युत पर धूंआ, चिनगारी, वृक्ष, अग्निज्वाला का आरोप होने से रूपक है। मन्ये पद का प्रयोग देखकर उत्प्रेक्षा भी माना जा सकता है।

दूसरे उदाहरण में तरुणियों के कटाक्षपात के साथ ही कामदेव के बाणपात से यह अनुमान किया गया है कि तरुणियों के आदेश के अनुसार कामदेव आगे-आगे दौड़ता है। अन्यथा कटाक्षपात के साथ ही बाणपात कैसे हो पाता। परञ्च यहां कटाक्षपात और बाणपात में कार्यकारण के पौर्वापर्य का अभाव अतिशयोक्ति को बोधित करता है। अतः यह अनुमान अतिशयोक्ति से संकीर्ण है।

ये दोनों संकीर्ण उदाहरण हैं। आगे शुद्ध अनुमान का उदाहरण दे रहे हैं-

शुद्धानुमानं यथा-

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः।

यथा वा-

सौमित्रे! नुन सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते,
चण्डांशोर्निशि का कथा ? रघुपते! चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता ? धत्ते कुरङ्गं यतः
क्वासि प्रेयसि! हा कुरङ्गनयने! चन्द्रानने! जानकि!॥

शुद्धानुमान जैसे-

घोंसले में जाते हुए पक्षियों से, बंद होते हुए कमल से तथा खिलती मालती से, अनुमान होता है कि सूर्य अस्त हो गया।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

लक्ष्मण! वृक्ष की छाया में आ जाओ, देखो चण्डकिरण (सूर्य) तप रहा है। हे रघुपते! रात में चण्ड किरण कहां से हो सकता है ? यह तो चन्द्रमा उदित हो रहा है। वत्स! आपने यह कैसे जाना ? क्योंकि यह हरिण को धारण करता है। हे हिरन नयने! चन्द्रानने! जानकि! प्रेयसि! कहां हो।

यहां प्रथम उदाहरण में सूर्यास्त का अनुमान पक्षी के लौटने, कमल के बंद होने आदि से अनुमानित है। यहां इस तरह अनुमान होता है कि (पक्षी का घर लौटना+सूर्य का अस्त होना) सूर्यास्त काल में पक्षी घर लौटता है यह सत्य है। पक्षी घर लौटता दीख रहा है। अतः सूर्यास्त का अनुमान है तथा दूसरे उदाहरण में चांद का अनुमान हरिण के चिह्न से होता है। चांद में हरिण होता है सूर्य में नहीं। यहां हरिण दीख रहा है। अतः अनुमान किया जाता है कि यह चांद है। इस तरह यहां शुद्ध अनुमान है।

११०- उपमानालङ्कारः

उपमानं यथा-

तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले।
यस्तन्वि! तारकान्यासः शकटाकारमाश्रितः॥

अत्र मन्मथमिवातिसुन्दरं दानवारिमिव दिव्यतेजसम्।
शैलराजमिव धैर्यशालिनं वेद्मि वेंकटपतिं महीपतिम्॥

पूर्वोदाहरणे उपमानमूलभूतमतिदेशवाक्यं दर्शितम्। अत्रातिदेश वाक्यार्थसादृश्य प्रत्यक्षरूपमुपमानं फलेन सह दर्शितमिति विशेषः।

उपमान जैसे-

यहां नक्षत्रों के मण्डल में उसे रोहिणी समझो। हे तन्वि! जो गाड़ी के आकार में तारों का न्यस्तरूप है।

यहां मन्मथ (कामदेव) की तरह अतिसुन्दर, दानवारि (विष्णु) की तरह दिव्य तेजवाला, तथा शैलराज की तरह धैर्यशाली, वेंङ्कटपति नामक राजा को जानता हूँ।

प्रथम उदाहरण में उपमा का मूलभूत अतिदेशवाक्य दिखाया गया है। दूसरे में अतिदेश वाक्यार्थ सदृश प्रत्यक्ष रूप उपमान फल के साथ दिखाया गया है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है।

उपमानालंकार में उपमान ही ज्ञान का कारण होता है। जैसे प्रथम उदाहरण में जो ताराओं का शकटाकार समूह है, वही रोहिणी है। यहां शकट से तारासमूह की उपमा है। यहां शकट से रोहिणी की उपमिति होती है। दूसरे उदाहरण में वेंकटपति के धैर्य की गम्भीरता शैलराज के समान इस उपमान से होता है तथा सुन्दरता 'मन्मथ' के उपमान से पायी जाती है। यहां उपमान तथा उसका फल भी मिल रहा है।

१११- शब्दप्रमाणालङ्कारः

शब्द प्रमाणं यथा-

बिवृण्वता दोषमपि च्युतात्मना
त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं
कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति॥

अत्र शिवः परमेष्ठिनोऽपि कारणमित्यत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इति

श्रुतिरूपं शब्द प्रमाणमुपन्यस्तम्। एवं स्मृतिपुराणागमलौकिकवाक्यरूपाण्यपि शब्दप्रमाणान्युदाहरणीयानि।

शब्द प्रमाण जैसे-

(हे ब्रह्मचारिण) च्युतात्मा तुम्हारे द्वारा शिव के दोष की व्याख्या करते हुए भी एक बात सुन्दर कही गयी है। जिसको आत्मभू (ब्रह्मा) का भी कारण कहा जाता है, वह स्वयं लक्ष्य कैसे हो सकता है। अर्थात उसकी उत्पत्ति कैसे जानी जा सकती है।

यहां शिव ब्रह्मा के भी कारण हैं इससे "यो ब्रह्माणं्....." जो ब्रह्मा को पहले बनाता है यह श्रुति रूप शब्द प्रमाण दिया गया है। इसी तरह स्मृति पुराण आगम तथा लौकिक वाक्य भी शब्द प्रमाण में उदाहृत हो सकते हें।

सदुपदेश देने वाले को आप्तजन और उनके वाक्य को आप्तवाक्य कहते हैं। यह आप्तवाक्य प्रमाण होता है। वेद शास्त्र आदि का वाक्य तथा गुरु आदि का वाक्य इसके अन्तर्गत आता है। अन्य प्रमाणाभाव में यही प्रमाण उपयुक्त होता है। कार्याकार्य के विवेचन काल में जब अन्य प्रमाण का अभाव होता है, तो कुल क्रमागत आप्त पुरुष का वचन या उनका कृतकार्य ही प्रमाण बनता है। यहां उदाहरण में- ब्रह्मचारी ने शिव को अलक्ष्यजन्मा कहा है। पार्वती कहती है कि यही बात तूने सत्य कही है। क्योंकि शिव स्वयं ब्रह्मा की उत्पत्ति का भी कारण है। शिव ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण है, इसका प्रमाण वेद वाक्य 'यो ब्रह्माणं विदधातिपूर्वम्' है। अतः यहां शब्दप्रमाणालंकार है।

११२. स्मृत्यलङ्कारः

तत्र स्मृतिर्यथा-

वलात्कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि वः।
सर्वान् वलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्॥

पूर्वं श्रुतिरभिमतार्थे प्रमाणत्वेनोपन्यस्ता। इह तु स्मृतिरनभिमतार्थे तद्दूषणपरेण प्रमाणतया नीतेति भेदः। आचारात्मतुष्ट्योरपि मीमांसकोक्तधर्मप्रमाणयोर्वेदशब्दानुमापकतया शब्द प्रमाण एवान्तर्भावः।

तत्राचार प्रमाणं यथा-

महाजनाचार परम्परे दृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥

आत्मतुष्टिप्रमाणं यथा-

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमनृः करणप्रवृत्तयः॥

अत्र दुष्यन्तेनात्मतुष्टया शकुन्तलापरिग्रहस्य धर्म्यत्वं श्रुत्यनुमतमनुमीयते। एवं श्रुतिलिङ्गादिकमपि मीमांसोक्तं प्रमाणं संभवदिहोदाहर्तव्यम्।

स्मृति जैसे-

बलपूर्वक पाप करें, वे कर्म अकृत कर्म हों। बलपूर्वक किए कर्म को मनु ने अकृत कर्म कहा है।

पहले (शब्द प्रमाण) में श्रुति वाक्य अभिमत अर्थ के लिए प्रमाण रूप में उपन्यस्त हुआ है। यहां अपने अनभिमत को दूषणयुक्त बताने के लिए स्मृति प्रमाण उपन्यस्त हुआ है, यही भेद है। आचार और आत्मतुष्टि प्रमाण जो मीमांसकों के द्वारा कहा गया है, वेद शब्द से अनुमित होने के कारण शब्द प्रमाण में ही अन्तर्भावित हो जाते हैं।

आचार प्रमाण-जैसे-

महाजनों की यह परम्परा है कि सज्जन लोग अपना नाम ग्रहण नहीं करते हैं। इसलिए मैं भी अपना नाम लेना नहीं चाहता, क्योंकि यह आचार को भंग करना होगा।

आत्मतुष्टि प्रमाण। जैसे-

यह (सुन्दरी) क्षत्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, इसमें कोई संदेह नहीं है, क्योंकि इसमें मेरा पवित्र मन अभिलाषी है। संदेहास्पद वस्तु में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही प्रमाण होती हैं।

यहां दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का परिग्रहण उपयुक्त है, यह आत्मतुष्टि से वेदसम्मत प्रमाणित किया जा रहा है। इसी तरह श्रुतिलिङ्गादि भी जो मीमांसा में उक्त प्रमाण है, यहां उदाहृत किया जा सकता है।

यहां स्मृति को प्रमाण माना गया है। यद्यपि स्मृति को भी शब्द प्रमाण की वृत्ति में उल्लिखित किया है, परञ्च थोड़ा सा अन्तर यह दिखाया गया है कि श्रुति प्रमाण में अभिमत की पुष्टि के लिए प्रमाण दिया गया है। और स्मृति में जो अभीष्ट नहीं है, उसमें दोष स्थापित करने के लिए प्रमाण दिया गया है। आचार प्रमाण का उदाहरण नैषधीय चरितम् से लिया गया है। वहां दूत बना नल अपना नाम बताना नहीं चाहता है। अतः वह कहता है कि अपना नाम लेने से पूर्व प्रयुक्त इदानीं प्रचलित आचार का उल्लंघन होगा। आचारनुकूल साधु लोग अपना नाम ग्रहण नहीं करते हैं-

आत्मनाम गुरोर्नाम नामाति कृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥

इस तरह यहां आचार प्रमाण हुआ। आत्मतुष्टि प्रमाण का उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तलम् से लिया गया है। जहां दुष्यन्त को यह संदेह हो रहा है कि यह लड़की (शकुन्तला) मेरे लिए ग्रहणयोग्या है या नहीं। वहां अपनी आत्मा को ही वह प्रमाण मानता है। संदेहावस्था में सज्जनों का अन्तःकरण ही प्रमाण होता है। यहां स्वात्मतुष्टि ही कार्याकार्य के निर्धारण में प्रमाण हुआ है।

११३. श्रुत्यलङ्कारः

तत्र श्रुतिर्यथा-

त्वं हि नाम्नैव वरदो माघत्से वरमुद्रिकाम्।
न हि श्रुति प्रसिद्धार्थे लिङ्गमाद्रियते वुधैः॥

अत्र करिगिरीश्वरस्य वरद इत्यभिधानश्रुत्या सर्वाभिलषितदातृत्वं समर्थितम्।

लिङ्गं यथा-

विदितं वो यथा स्वार्थो न मे काश्चित्प्रवृत्तयः
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थं भूतोऽस्मि सूचितः॥

अत्र शिवस्य श्रुति प्रसिद्धसर्वोपकारक पृथिव्याद्यष्टमूर्तिपरिग्रह-लिङ्गेन तत्प्रवृत्तीनां लोकानुग्रहैक प्रयोजनत्वं समर्थितम्। लिङ्गस्यापि मूलभूतवेदानुमापकतया

वैदिक शब्द प्रमाण एवान्तर्भावः। एवं लौकिकलिङ्गानामपि लौकिकशब्दोन्नायकतया लौकिक शब्द प्रमाण एवान्तर्भावः। अतः -

लोलद्भ्रूलतया विपक्षिदिगुपन्यासे विधूतं शिर-
-स्तद्वृत्तान्तपरीक्षणेऽकृतनमस्कारो विलक्षः स्थितः।
ईषत्ताम्रकपोलकान्तिनि मुखे दृष्ट्या नतः पादयो-
-रुत्सृष्टो गुरुसन्निधावपि विधिर्द्वाभ्यां न कालोचितः॥

इत्यादिषु चेष्टारूपं प्रमाणान्तरं नाशङ्कनीयम्। क्वचिच्छव्द प्रमाण कल्पकतया चमत्कारो यथा-

किमसुभिर्ग्लपितैर्जड़! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विवुधः स्मरः॥

अत्र म्रियमाणानां मनश्चन्द्रं प्रविशतीत्येतदर्थिकायाः श्रुतेर्नल-मुख चन्द्रविषयत्वे कल्पिते तथा व्याख्यातृस्मर वाक्यं प्रमाणतयोपन्यस्तम्।

श्रुति-

तुम नाम से ही वरद हो, अतः वरमुद्रा धारण नहीं करते हो। श्रुति-प्रसिद्ध अर्थ में विद्वान लोग लिंग का आदर नहीं करते हैं।

यहां 'करिगरीश्वरस्य वरद' इस अभिधान की श्रुति से सभी अभिलषित अर्थों का दातृत्व समर्थित है। लिंग का उदाहरण- जैसे-

तुम लोगों के स्वार्थ का पता चल गया है। मेरी कोई इच्छा नहीं है। यह मेरी आठ मूर्तियों से सूचित हो गयी है।

यहां शिव के श्रुतिप्रसिद्ध सभी के उपकारक पृथ्वी आदि अष्टमूर्तियों के परिग्रहण रूप लिङ्ग से उनकी प्रवृत्ति के लोकानुग्रह मात्र प्रयोजन की समर्थना की गई है। लिंग का भी मूलभूत वेद वाक्य से ही अनुमान होने से वैदिक शब्द प्रमाण में ही अन्तर्भाव होता है। इस तरह लौकिक लिंग का भी लौकिक शब्द के द्वारा उद्भावित होने से लौकिक शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव होता है,। अतः-

चञ्चल भ्रूलता से (नायिका ने) विपक्ष नायिका के घर में जाने की सूचना देने पर (नायक ने) शिर हिला दिया। उस (विपक्षी नायिका के) वृत्तान्त का परीक्षण होने का ईशारा होने पर नायक ने नमस्कार नहीं किया और चुपचाप खड़ा हो गया। हल्के-लाल कपोल वाले मुख बनाने पर उसने पैर पर दृष्टि गड़ा दी। इस तरह गुरुजनों के सम्मुख भी दोनों (नायिका+नायक) के द्वारा कालोचित विधान छोड़ा नहीं गया। (अपितु व्यञ्जना द्वारा किया ही गया)

इसमें चेष्टारूप प्रमाणान्तर की शंका नहीं करनी चाहिए कहीं-कहीं शब्द प्रमाण की कल्पना से चमत्कार होता है। जैसे-

ऐ जड़ (चन्द्र)! मुझे सताने से क्या ? तुम क्या समझते हो कि मेरे मरने के बाद भीमसुता दमयन्ती का (मेरा) मन तुममें (चांद में) प्रवेश कर जाएगा ? मुझे तदर्थ श्रुति का अर्थ विद्वान कामदेव ने नल मुख रूप चांद परक बताया है।

यहां मरने वाले का मन चांद में प्रवेश कर जाता है। यह सूचना देने वाली श्रुति का नलमुख रूप चन्द्रविषयक कल्पना हुई है तथा व्याख्याता के द्वारा कामदेव का वाक्य प्रमाण रूप में रखा गया है।

प्रथम उदाहरण में 'वरद' शब्द की श्रुति ही सर्ववस्तु दातृत्व का सूचन करता है। अत: यहां श्रुति प्रमाण ही है। दूसरे में शंकर की पृथिव्यादि अष्टमूर्तियां लोकानुग्रहार्थ है, इससे शंकर की अपनी कोई इच्छा नहीं है। केवल परार्थ में ही वो रत हैं ऐसा ज्ञान होता है। तीसरे उदाहरण में नायक और नायिका का वर्णन है, जो गुरुजनों के समक्ष लज्जावश बात तो नहीं करती है, पर ईशारे से व्यंग्य के द्वारा उचित बातें कर ही लेती है। यहां चेष्टा से अर्थज्ञान होता है परञ्च चेष्टा प्रमाण नहीं माना गया है, क्योंकि लौकिक शब्द ही प्रमाण होता है। चौथे उदाहरण में शब्द प्रमाण को कल्पित बनाकर चमत्कार उपस्थापित किया गया है। यहां दमयन्ती चांद से कहती है कि मुझे यह समझकर मत सताओ कि मेरे मरने के बाद मेरा मन तुझमे प्रविष्ट हो जाएगा। क्योंकि वेदवाक्य-मरने वाले का मन चांद में

प्रविष्ट होता है। यह तुम समझ रहे हो, मुझे कामदेव गुरु ने बताया है, कि मन चांद में प्रवेश तो करता है पर वह चांद तुम नहीं नल का मुखरूप चांद है। यहां कामदेव के वाक्य को प्रमाण (कल्पना के आधार पर) बनाया गया है।

११४- अर्थापत्त्यलङ्कारः

अर्थापत्तिर्यथा-

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि!।
अन्यथा नोपपद्येत पयोधरभरस्थितिः॥

यथा वा-

व्यक्तं वलीयान् यदि हेतुरागमादपूरयत् सा जलधिं न जाह्नवी।
गङ्गौघनिर्भर्त्सितशम्भुकन्धरासवर्णमर्णः कथमन्यथा भवेत्?॥

अयि नितम्बिनि! तुम्हारा मध्यभाग है, यह निर्णय करना सरल है। अन्यथा तुम्हारा यह स्तनभार नहीं टिकता।

जैसे दूसरा उदाहरण-

यदि तर्क आगम से अधिक बलवान है तो समुद्र को गंगा ने पूरा नहीं किया। अन्यथा गंगा के तरंग समूह से निर्भर्त्सित शिव के कण्ठ के समान वह सागर कैसे होता।

अर्थापत्ति प्रमाण वहां माना जाता है जहां अनुपपद्यमान अर्थ के लिए उपपादक अर्थान्तर की कल्पना होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है- देवदत्त मोटा है, दिन में नहीं खाता है। यहां बिना खाये मोटा होना उपयुक्त नहीं है, तब दिन में नहीं खाता है। इसका मतलब है कि वह रात में खाता है, क्योंकि खाए बिना मोटा हो नहीं सकता। यहां प्रथम अर्थ को सार्थक बनाने के लिए रात्रि भोजन रूप अर्थान्तर की कल्पना होती है। इसी तरह प्रथम उदाहरण में- नायिका का मध्यभाग (कमर) पतला होने के कारण दीखता नहीं पर कमर है, यह जरूर है। क्योंकि स्तन भार दीखता है। स्तन युगल का भार बिना कमर के

टिक नहीं सकता, अतः निश्चित है कि कमर है। दूसरे उदाहरण में गंगा ने सागर को नहीं भरा है अपितु यमुना ने भरा है। सागर का नीला होना यह सूचित करता है। यदि गंगा ने भरा होता तो नीला कैसे होता ? इससे दूसरा अर्थ लिया जाता है कि यमुना ने उसे भरा है, अतः वह नीला है। यह तर्क दिया गया है। पुराणादि के द्वारा गंगा से भरना सूचित है, पर तर्क के द्वारा तथा अर्थापत्ति के द्वारा यमुना से भरना सिद्ध होता है।

११५-अनुपलब्ध्यलङ्कारः

अनुपलब्धिर्यथा-

स्फुटमसदवलग्नं तन्वि! निश्चिन्वते ते
तदनुपलभमानास्तर्कयन्तोऽपि लोकाः।
कुचगिरिवरयुग्मं यद्विनाधारमास्ते
तदिह मकरकेतोरिन्द्रजालं प्रतीमः॥

तर्क करते हुए लोग तुम्हारे कमर (मध्यभाग) को न पाकर कमर है ही नहीं ऐसा निश्चित करते हैं। तब कुचयुगल यहां जो बिना आधार का ही टिका हुआ है, इसे मकरकेतु (कामदेव) का इन्द्रजाल समझते हैं।

किसी वस्तु के अभाव के ग्रहण के लिए अनुपलब्धिप्रमाण मानते हैं। इसे ही अभावप्रमाण भी कहते हैं। इस उदाहरण में कवि को नायिका के कटिभाग की सूक्ष्मता तथा स्तन की विशालता बतलाना अभीष्ट है। सूक्ष्मता के कारण कमर दीख नहीं पड़ता है, अतः उसका अभाव है। अभाव भी प्रमाण ही होता है। यही प्रमाण काव्य में प्रयुक्त होने पर अनुपलब्ध्यलंकार कहलाता है।

११६. सम्भवालङ्कारः

संभवो यथा-

अभूतपूर्वं ममभावि किं वा सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किंतु त्वदग्रे शरणागतानां परभवो नाथ! न तेऽनुरूपः॥

यथा वा-

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

यथा वा-

भ्रातः पान्थ! कुतो भवान्नगरतो वार्ता न वा वर्तते
वाढं ब्रूहि युवा पयोदसमये त्यक्त्वा प्रियां जीवति।
सत्यं जीवति जीवतीति कथिता वार्तामयापि श्रुता
विस्तीर्णा पृथिवी जनोऽपि विविधः किं किन्न सम्भाव्यते ?॥

अत्राद्योदाहरणे 'अभूतपूर्वंममभावि किं वा' इति संभव प्रमाणसिद्धार्थोदर्शितः। द्वितीयोदाहरणे संभवोपपादकं कालानन्त्यादि कमपि दर्शितम्। तृतीयोदाहरणे तु संभवोऽपि कण्ठोक्त इति भेदः।

संभव जैसे-

हे नाथ! मैं सहज रूप से सभी दुःखों को सह सकता हूँ। मेरे लिए अब अभूतपूर्व क्या होगा ? परञ्च तुम्हारे आगे शरणागतों को दुःख हो, यह तुम्हारे अनुरूप नहीं है।

जैसे दूसरा उदाहरण-

जो आदमी मेरी कृतियों की अवज्ञा करते हैं, उनके लिए मेरा यह परिश्रम नहीं है। मेरे समान धर्म वाला व्यक्ति जरूर पैदा होगा, क्योंकि काल अवधि रहित और पृथ्वी विपुल है।

तीसरा उदाहरण-

भाई पथिक! कहां से आ रहे हो ? नगर से। वहां की कोई वार्ता है या नहीं ? वार्ता

यह है कि वहां युवा मेघ के समय में भी अपनी प्रिया को छोड़कर जीता है। क्या सही में जी रहा है ? जीता है यह वार्ता मैंने भी सुनी है। यह पृथ्वी बहुत बड़ी है, लोग भी बहुत तरह के हैं, यहां क्या-क्या नहीं हो सकता है ?

यहां प्रथम उदाहरण में 'अभूतपूर्वं मम भावि किं वा' इससे संभव प्रमाण से अर्थसिद्धि दिखाई गई है। द्वितीय उदाहरण में संभवता के उपपादक काल की अनन्तता को दिखाया गया है। तीसरे उदाहरण में संभावना को स्पष्ट कह दिया गया है। यही तीनों में भेद है।

यहां संभव प्रमाण दिखाया गया है। प्रथम उदाहरण में भक्त की उक्ति है। भक्त बहुत दुःख सह चुका है। जितना भीषण दुःख वह सह चुका है, उससे बड़े दुःख की कल्पना भी नहीं हो सकती है। अतः यह दुःख के गुरुतमत्व के अभाव की संभावना है। यह संभावना ही वहां प्रमाण है। दूसरे उदाहरण में महाकवि भवभूति संभावना करते हैं कि ऐसा आदमी उत्पन्न होगा, जो मेरी कृति पढ़ेगा। इस संभावना को पुष्ट तथा सार्थक बनाने वाला है, पृथ्वी की विपुलता और काल का अनन्तत्व। तीसरे उदाहरण में 'संभावना की जाती है' यह स्पष्ट कहा हुआ है, जबकि ऊपर के दो उदाहरणों में स्पष्ट नहीं कहा गया है। पहले में सम्भव प्रमाण सिद्ध अर्थ है, दूसरे में संभावना का कारण कहा गया है तथा तीसरे में संभावना स्पष्ट वाच्य है।

११७. ऐतिह्यालङ्कारः

ऐतिह्यं यथा-

कल्याणी वात गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥

अत्र 'लौकिकी गाथेयम्' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृक प्रवाद पारम्पर्यरूपता दर्शिता।

यह लौकिकी गाथा मुझे कल्याणकारिणी लगती है, कि सौ वर्षों में भी लोगों को आनन्द की प्राप्ति अवश्य होती है।

यहां 'लौकिकी गाथेयम्' इससे प्रवक्ता का पता नहीं होने पर प्रवाद परम्परा दिखायी गयी है।

ऐतिह्य प्रमाण में इतिहास प्रमाण दिखाया जाता है। यहां लोगों को सौ वर्ष के बाद भी सुख जरूर मिलता है। 'यह लोकोक्ति परम्परा से चली आ रही है। यदि परम्परा से चली आ रही है, तो यह प्रामाणिक है। यहां परम्परा का ऐतिह्य ही प्रमाण है।'

(अथ संसृष्टिसङ्करौ-)

अथैतेषामलंकाराणां यभासंभवं क्वचिन्मेलने लौकोकालङ्काराणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलंकारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते। तत्र तिल तण्डुलन्यायेन स्फुटावगम्यभेदालंकार मेलने संसृष्टिः। नीर क्षीर न्यायेनास्फुटभेदालंकार मेलने सङ्करः। स चाङ्गाङ्गिभावेन समप्राधान्येन सन्देहेन एकवाचकानुप्रवेशेन च चतुर्विधः। एवं नृसिंहाकाराः पञ्चलंकाराः।

इन सभी (वर्णित) अलंकारों का यथासंभव सम्मेलन लौकिक आभूषणों के मिलन की तरह चारत्वातिशय को बढ़ाता है। इससे इसका निर्णय नरसिंह न्याय से पृथक् अलंकार के रूप में होता है। वहां तिल तण्डुल न्याय से स्पष्ट भेद को बताने वाले मिलन होने पर संसृष्टि अलङ्कार होता है। नीर क्षीर न्याय से भेद अस्पष्ट होने पर सङ्कर होता है। यह सङ्कर अङ्गाङ्गि भाव, समप्रधान्य, सन्देह, एकाश्रयानुप्रवेश रूप से चार प्रकार का होता है। इस तरह नृसिंहाकार के पाँच अलंकार होते हैं।

अब संसृष्टि और सङ्कर अलङ्कार का विवेचन किया जा रहा है। जब दो अलंकार आपस में मिल जाते हैं या दो से अधिक भी मिलते हैं तो वह अलंकार विशेष चमत्कार को उत्पन्न करता है। जो सब अलंकार मिला हुआ है, उसका नाम हटाकर एक नया नाम (संसृष्टि या संकर) दिया जाता है। सामान्यतया रत्नों का आभूषण बनाने वाला रत्नों की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए एक दूसरे में मिलाकर आभूषण बनाता है। इससे आभूषण की रौनकता बढ़ जाती है। उसी तरह दो अलंकारों के मिलने पर यह तीसरा चमत्कार उत्पन्न

होने से तीसरा अलंकार हो जाता है। जैसे- नर और सिंह के मिलन पर न नर रह गया न सिंह बल्कि नरसिंह हो गया। यहां नीरक्षीरन्याय से मिलने पर सङ्कर और तिलतण्डुल न्याय से मिलने पर संसृष्टि होता है।

तिल तण्डुल न्याय- जैसे तिल और चावल को आपस में मिला देने पर कोई भी आदमी यह पहचान सकता है कि यह चावल है और यह तिल। इसी तरह यदि दो मिले अलङ्कारों की स्पष्ट पहचान हो जाती है, तो तिलतण्डुल न्याय कहलाता है।

नीरक्षीरन्याय- जैसे दूध और पानी को मिला देने पर दोनों की अलग पहचान नहीं हो पाती, उसी तरह यदि मिले हुए अलंकार की पृथक् पहचान स्पष्ट रूप से नहीं हो पाती है, तो वहां नीरक्षीरन्याय होता है।

नरसिंह न्याय- जैसे नर (आदमी) और सिंह (शेर) दोनों जब नरसिंहावतार में मिल गया हो वह न नर रह गया न सिंह बल्कि दोनों मिलकर तीसरे नाम से सम्बोधित नरसिंह हो गया। इसे ही नरसिंह न्याय कहते हैं। दो अलंकार मिलकर तीसरे नाम से संबोधित होता है।

ऐसा मिला हुआ अलङ्कार पांच प्रकार का होता है। सङ्कर चार प्रकार का (अगागिभाव, समप्रधान, सन्देह, एकाश्रयानुप्रवेश) तथा संसृष्टि एक प्रकार का होता है। ४+१=५

अब आगे सबका क्रमशः पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं।

११८. अलङ्कार संसृष्टिः

तत्रालङ्कारसंसृष्टिर्यथा-

कुसुमसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसंभृतशोभया।

चलितया विदधे कलमेखला कलकलोऽलकलोल दृशान्यया॥

अत्र शब्दालङ्कारयोरनुप्रासयमकयोः संसृष्टिः।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥

अत्रोत्प्रेक्षयोरुपमायाश्चेत्यर्थालंकाराणं संसृष्टि।

आनन्द मन्थर पुरन्दर मुक्तमाल्यं

मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।

पादाम्बुजे भवतु नो विजयाय मञ्जु-

-मञ्जीरसिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः॥

अत्र शब्दार्थालङ्कारयोरनुप्रासोपमेययोः संसृष्टिः।

अलंकार संसृष्टि - जैसे-

फूल के सुगन्ध लोभ से घूमते भौरे ने जिसकी शोभा बढ़ा दी थी, ऐसी किसी (नायिका) के द्वारा अपनी मेखला (करधनी) को कलकल से युक्त कर दिया गया। इस नायिका की आंखें केश के कारण चञ्चल थीं।

यहां शब्दालंकार अनुप्रास और यमक की संसृष्टि है।

अन्धकार मानो अङ्ग को लीप रहा है, आकाश अञ्जन बरसा रहा है। असज्जनों की सेवा की तरह मेरी दृष्टि विफल हो गई।

यहां उत्प्रेक्षा तथा उपमा नामक अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

आनन्दमग्न इन्द्र ने जिन्हें माला अर्पण किया है, महिषासुर के शिर पर जो बलात् रखा गया है तथा जो मधुर-मञ्जीर के सिञ्जन से मनोहर है, वो भगवती अम्बिका के पादकमल हम लोगों के विजय के लिए हो।

यहां शब्दालंकार अनुप्रास तथा अर्थालंकार उपमा की संसृष्टि है।

प्रथम उदाहरण महाकवि माघ के शिशुपाल वध से उद्धृत है। यहां किसी नायिका का वर्णन है। यहां 'भ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसंभृत' पद में तथा चतुर्थ चरण.... 'कलमेखला... दृशान्यया' में स्पष्टतः अनुप्रास है। (वर्णसाम्यमनुप्रासः) तथा लकलो लकलो (चतुर्थचरण

में) में यमकालंकार है। ये दोनों अलङ्कार स्पष्टतः दीख पड़ते हैं।

दूसरे उदाहरण महाकवि भास विरचित 'दरिद्रचारुदत्तम्' से उद्धृत है। यहां लिम्पतीव तथा वर्षतीव दोनों में उत्प्रेक्षा है। यहां इव समानार्थक नहीं उत्प्रेक्षार्थक है। (मानो लीप रहा है, मानो बरसा रहा है)

तथा 'असत्पुरुषसेवेव' इस पद में इव उपमावाचक है। यहां उपमा है। इस तरह उपमा और उत्प्रेक्षा मिलकर संसृष्टि है। प्रथम उदाहरण में दोनों शब्दालंकार है, तथा यहां दोनों अर्थालङ्कार है। तीसरे उदाहरण में भगवती अम्बिका की स्तुति है। यहां प्रथम चरण "आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ महिषासुरस्य तथा चतुर्थ चरण मञ्जीरसिञ्जित मनोहरमम्बिकायाः में न्द, म, र आदि का अनुप्रास है। तथा पादाम्बुजं" में "पैर कमल के समान इस तरह उपमा है। यहां पाद ही कमल है, इस तरह रूपक नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर उत्तर पाद कमल प्रधान होने से मञ्जुमञ्जीर" का अन्वय उपयुक्त नहीं होगा। मञ्जीर की प्रधानता पैर में ही होती है। अतः यहां उपमा ही है। इस तरह यहां अनुप्रास शब्दालंकार तथा उपमा अर्थालंकार है। दोनों पृथक्-पृथक् स्पष्ट होने से यहां संसृष्टि है।

११९. अङ्गाङ्गिभावसङ्कर

अङ्गाङ्गिभावसङ्करो यथा-

तलेष्ववेपन्त महीरुहाणां छायास्तदा मारुत कम्पितानाम्।
शशाङ्कसिंहेन तमोगजानां लूनाकृतीनामिव गात्र खण्डाः॥

अत्र 'शशाङ्कसिंहेन' इति 'तमोगजानाम्' इति च रुपकम्। यद्यप्यत्र शशाङ्क एव सिंहः, तयास्येव गजा इति मयूरव्यंसकादिसमासाश्रयणेन रुपकवच्छशाङ्कः सिंह इव, त मांसि, गजा इवेत्युपमित समासाश्रयणेनोपमापि वक्तुं शक्या, तथापि लूनाकृतीनाम् इति विशेषणानुगुण्याद्रूपकसिद्धिः। तस्य हि विशेषणस्य प्रधानेन सहान्वयेन भाव्यं न तु गुणेन। गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् इति न्यायात्। उपमितसमासाश्रयणे तस्य

पूर्वपदार्थप्रधानत्वाच्छशांकस्य तमसोच प्राधान्यं भवेत्। तत्र च न विशेषणस्य मुख्यार्थान्वयस्वारस्यमस्ति। स्वरुपनाशरुपोपचरिताकृतिलवनकर्तृत्वान्वयसंभवेऽपि **मुख्यार्थान्वयस्वारस्यमस्ति। स्वरूपनाशरूपोपचरिताकृतिलवनकर्तृत्वान्वयसंभवेऽपि** **मुख्यार्थान्वयस्वारस्यमेवादरणीयम्। अतः स्वरूपनाश क्रोडीकरणप्रवृत्तया लक्षणामूलातिशयोक्त्या रूपकसिद्धिः। तच्च रूपकमुत्प्रेक्षायाः अङ्ग तदुत्थापकत्वात्। रूपकाभावे हि छाया लूनगात्रखण्डा इवावेपन्तेत्येतावदुक्तावुपमैव सिद्ध्येत; वेपनादिसाधर्म्यात्। न शशाङ्केन लूनाकृतीनां तमसां गात्र खण्डा इवावेपन्तेत्येतावदुक्तावपि सिद्ध्युत्प्रेक्षा, तादात्म्यसम्भावनोपयुक्त लूनाकृतित्वरुपाधिक विशेषणोपादानात्। सत्यम्; तथोक्तावाकृति लवनादिधर्मरुपकार्यसमारोप निमित्ता शशाङ्कतमसोर्हन्तृहन्तव्यचेतन-वृत्तान्तसमारोपरूपा समासोक्तिरपेक्षणीया। एवमुक्तौ रूपकमिति विशेषः। एवं चात्रातिशयोक्तिरूपकोत्प्रेक्षाणामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥**

अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर का उदाहरण- जैसे-

हवा से कम्पित वृक्षों की छाया उसके नीचे कांप रही थी, मानो शशाङ्क सिंह के द्वारा तम हाथी का काटा हुआ शरीर खण्ड हो।

यहां 'शशांक सिंहेन' तथा 'तमोगजानाम्' यह दोनों रूपक हैं। (शशाङ्क एव सिंहः तथा तम एव गजः)। यद्यपि यहां शशाङ्क एव सिंह तथा तमांसि एव गजाः इस तरह मूयरव्यंकादि समास का आश्रय लिए रूपक की तरह शशांकः सिंह इव तथा तमांसि गजइव इस तरह उपमित समास के आश्रय से उपमा अलंकार भी कहा जा सकता है, तथापि लूनाकृतीनाम् इस विशेषण के द्वारा रूपक की ही सिद्धि होती है। क्योंकि विशेषण का प्रधान के साथ अन्वय होना चाहिए, गुण के साथ नहीं। गुणों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह न्याय है। उपमित समास का आश्रय लेने पर पूर्व पदार्थ प्रधान होने से शशाङ्क और तम का प्राधान्य होगा। ऐसा होने पर विशेषण (लूनाकृतीनाम्) का मुख्य रूप से अन्वय नहीं होगा। स्वरूपनाशरूपउपचरिताकृति (लक्षणा से ज्ञात) लवणकर्तृत्व का

अन्वय होने पर भी मुख्यार्थ के अन्वय का ही आदर करना चाहिए। अतः स्वरूपनाश को निगरण करने वाली प्रवृत्ति के द्वारा लक्षणामूलातिशयोक्ति से रूपक की सिद्धि होती है। यहां रूपक उत्प्रेक्षा का अङ्ग है, क्योंकि रूपक उत्प्रेक्षा का पोषक है। रूपक के अभाव में छाया कटे शरीर के खण्ड की तरह कांप रहा था। इस उक्ति में उपमा ही होगी, यहां कम्पन रूप साधर्म्य होगा। छायाओं का तुरन्त कटे शरीर खण्ड के तादात्म्य सम्भावना रूप उत्प्रेक्षा नहीं होगी। ननु, शशाङ्क के द्वारा कटे शरीर वाले अन्धकार का शरीर खण्ड कांप रहा है। इस उक्ति से उत्प्रेक्षासिद्ध हो जाती है, क्योंकि तादात्म्य सम्भावना के लिए उपयुक्त लूनाकृतित्व रूप विशेषण को ग्रहण कर लिया गया है। ठीक है (उत्प्रेक्षा तो हो जाएगी) परञ्च ऐसा कहने पर लवनादिधर्मरूप कार्य के आरोप का निमित्त शशांक और तमस् में मारने वाला तथा मरने वाला दोनों चेतन वृत्तान्त का समारोप रूप समासोक्ति की अपेक्षा होगी। इस तरह की उक्ति में रूपक विशेष है। इस तरह यहां अतिशयोक्ति रूपक तथा उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।

अंगागिभाव में एक अंगी (मुख्य) होता है और दूसरा अंग (अमुख्य) होता है। प्रस्तुत उदाहरण में उत्प्रेक्षा मुख्य है तथा रूपक और अतिशयोक्ति अंग है। यहां कुछ तर्क उपस्थापित किया गया है। इस तर्क को सामान्यतया निम्न तरीके से समझना चाहिए। भाव यह है (श्लोक का) वृक्ष की छाया जो हवा के हिलने से हिल रही है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानो चांद रूप सिंह ने अंधकार रूप हाथी के टुकड़े कर दिए हों। यहां कवि कल्पना प्रसूत उत्प्रेक्षा मुख्य है।

शशांकसिंह– 'शशांक एवं सिंह' शशांक ही सिंह है, तथा तमगजः तमः एव गजः तम ही हाथी है। इस तरह रूपक है। यद्यपि इसे शशांक सिंह इव, तमः गज इव, चांद सिंह के समान तथा तम हाथी के समान, इस तरह उपमान हो सकता है। पर उपमा मानने पर 'उपमितं व्याघ्रा' में समास करने पर चांद तथा तम प्रधान होगा। हाथी का विशेष्य 'लूनीकृतीनां' कटे अंग वाला दिया गया है। यह विशेष्य हाथी के साथ लग सकता है, तम के साथ नहीं। हाथी को प्रधान बनाने के लिए 'मयूरव्यंसकादि समास से समाप्त करना

होगा। अतः रूपक ही है। यहां उत्तर पद प्रधान होने से सिंह और हाथी प्रधान होगा, जहां विशेषण का अन्वय सही होगा। विशेषण मुख्य (प्रधान) में ही लगता है अप्रधान में नहीं।'

पूर्व पक्ष– यदि विशेषण लूनाकृतीनां का अन्वय लगाने के लिए रूपक माना जाता है तो इस विशेषण का 'स्वरूप विनाश' में लक्षणा करके आकृतिलवन 'आकृति का टूटना' इस अर्थ में चांद तथा अन्धकार में अन्वय हो जाएगा। चाँद के द्वारा अन्धकार के स्वरूप का विनाश हुआ है, यह अन्वय लग जाएगा। अतः उपमा में कठिनाई नहीं है।

उत्तर– इस तरह उपमा तो हो जाएगी पर मुख्यार्थ की प्राथमिकता नहीं होगी और सामान्यतया मुख्यार्थ घटना की ही प्राथमिकता होनी चाहिए। मुख्यार्थ की प्राथमिकता उपमा में नहीं रूपक में ही घटित होता है। यहां रूपक (तम ही हाथी है) यह स्वरूपविनाश का निगरण रूप अध्यवसाय से अतिशयोक्ति के द्वारा पुष्ट होता है। यहां 'लूनाकृतीनां' इस पद से स्वरूपविनाश का निगरण हो गया है। हुआ तो अंधकार के स्वरूप का नाश ही है। पर 'कटे अंग वाला' यह मुख्य है। इस तरह अतिशयोक्ति पुष्ट रूपक आगे उत्प्रेक्षा का अंग बना है।

पूर्व पक्ष– रूपक को उत्प्रेक्षा का अंग आप किस तरह मानते हैं ?

उत्तर– यदि उपमा माने तो वृक्ष की छाया कटे शरीर के खण्ड के समान कांप रहा है। इसमें उपमा होगी सम्भावना नहीं। क्योंकि कांपना रूप धर्म कटे टुकड़े में और छाया में समान है। इस तरह संभावना की आवश्यकता नहीं है। अतः रूपक मानकर ही उत्प्रेक्षा (संभावना) होती है। उत्प्रेक्षा में तादात्म्य आवश्यक है। तादात्म्य तब होगा जब तुरन्त कटे शरीर के टुकड़े और छाया में ऐक्य देखा जाएगा। यह सिंह के द्वारा कटे आकृति वाले हाथी के टुकड़े की कल्पना से ही होगा। तुरन्त कटा हुआ शरीर का टुकड़ा जैसे कांपता है वैसे ही यह छाया। छाया को देखकर उस टुकड़े की संभावना होती है। अतः रूपक से ही उत्प्रेक्षा होती है उपमा से नहीं।

पूर्व पक्ष– यह तो उपमा से भी सिद्ध हो जाएगी। जैसे चन्द्रमा के द्वारा अन्धकार

काटे हुए टुकड़े की तरह कांप रहे हैं, इस तरह काटे हुए टुकड़े रूप विशेषण को ले लेने पर तादात्म्य रूप उत्प्रेक्षा हो जाएगी।

उत्तर- इस तरह उत्प्रेक्षा हो तो जाएगी पर चन्द्रमा में काटने वाले, और अन्धकार में कटने वाले का ज्ञान होना अपेक्षित होगा। क्योंकि काटना और कटना चेतन का धर्म है। इस तरह प्रस्तुत चन्द्र-गज में हन्ता और हन्तव्य का ज्ञान करने से समासोक्ति की अपेक्षा होगी। अतः रूपक से ही उत्प्रेक्षा की पुष्टि उचित है। जब रूपक से उत्प्रेक्षा की पुष्टि होती है तो निश्चित रूप से रूपक तथा अतिशयोक्ति अंग है और उत्प्रेक्षा अंगी (प्रधान) है। इस तरह अंगागिभाव सङ्कर है। यहां दोनों या तीनों अलंकार संसृष्टि की तरह स्पष्ट नहीं हैं। अतः यहां सङ्कर है।

१२०- समप्राधान्यसङ्करालङ्कारः

समप्राधान्यशङ्करो यथा-

अवतु नः सवितुस्तुरगावली समतिलङ्घिततुङ्गपयोधरा।
स्फुरितमध्यगतारुपनायका मरकतैकलतेव नभः श्रियः॥

अत्र पयोधरादिशब्द श्लेषमूलातिशयोक्त्यङ्गभूतयोत्थाप्यमानैव सवितृतुरगावल्यां गगनलक्ष्मीमरकतैकावलीतादात्म्योत्प्रेक्षा नभोलक्ष्म्यां नायिकाव्यवहार समारोप रूप समासोक्ति गर्भैवोत्थाप्यते। पयोधर शब्दश्लेषस्योभयोपकारकत्वात्, तत् उत्प्रेक्षासमासोक्त्योरेकः कालः। परस्परापेक्षया चारुत्वसमुन्मेषश्चोभयोस्तुल्य इति विनिगमनाविरहात्समप्राधान्यम्।

सम प्राधान्य सङ्कर, जैसे-

सूर्य के घोड़े की वो पंक्ति हम लोगों की रक्षा करे, जिसने ऊँचे पयोधर (मेघ, स्तन) को लांघ दिया है। जिसके बीच में दीप्त अरुण नायक (सारथि, लाल मणि) हैं तथा जो आकाश लक्ष्मी की मरकतमयी हारलता के समान है।

यहां 'पयोधरादि' शब्द श्लेषमूल अतिशयोक्ति से सूर्य की तुरगावली में गगन

लक्ष्मी की मरकत हारावली का तादात्म्य रूप उत्प्रेक्षा, गगनलक्ष्मी में नायिका व्यवहार आरोप रूप समासोक्ति युक्त उत्थापित है। पयोधर शब्द श्लेष बल से नायिका तथा गगन लक्ष्मी दोनों में उपकारक है। उत्प्रेक्षा और समासोक्ति दोनों एक साथ ही प्रतीत होता है। परस्पर दोनों की अपेक्षा होने से तथा दोनों की चारुता तुल्य होने से विनिगमना के अभाव में समप्राधान्य है।

यहां दो या अधिक अलंकारों का तुल्यप्रधान्य होता है। प्रस्तुत उदाहरण में उत्प्रेक्षा या समासोक्ति है। सूर्य की तुरगावली मानो नभलक्ष्मी की हारावली है। यहां पयोधर शब्द मेघ तथा स्तन अर्थ में श्लिष्ट है। जिस समय नभलक्ष्मी के हार का ज्ञान होता है उसी समय नभलक्ष्मी पर नायिका के समारोप का ज्ञान भी होता है। हार धारण करना चेतन नायिका का धर्म है, अचेतन का नहीं। यहां नायिका का आरोप रूप समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा दोनों बराबर हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा लगता है। घोड़ा हरा होने से मरकतमणि के हार का सादृश्य आता है। मध्य अरुण से अरुण नामक सारथि तथा हार के बीच में लगा लाल मोती का ज्ञान होता है। यहां उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति दोनों की चारुता समान है। एक पक्ष बलवान हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। अतः समप्राधान्य है। हार पयोधर (स्तन) पर चलता है, और घोड़ा (सूर्य का) पयोधर (मेघ) पर। यहां प्रथमतया स्तन के द्वारा मेघ का निगरण प्रतीत होता है जो अतिशयोक्ति की अभिव्यञ्जना करता है।

आगे दूसरा उदाहरण देकर व्याख्या करते हैं-

यथा वा-

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्वतीव रजनीमुखं शशी॥

अत्राङ्गुलिभिरिवेति वाक्योक्तोपमया तत्प्रायपाठान्मुख्यकुड्मलीकरणलिङ्गानुगुण्याच्चोपमित समासाश्रयणेन लब्धया सरोजलोचनमिति समासोक्तोपमयाङ्गभूतयोत्थाप्यमानैव शशिकतृकनिशा मुखचुम्बनोत्प्रेक्षा निशा

शशिनोर्दाम्पत्यव्यवहार समारोप रूप समासोक्तिगर्भै वोत्थाप्यते। उपमयोरुभयगोत्था पकत्वाविशेषात् समासोक्तिगर्भतां विना चुम्वनोत्प्रेक्षाया निरालम्बनत्वाच्च। तत्श्चात्राप्युत्प्रेक्षा समासोक्त्योरेककालयोः समप्राधान्यम्।

चांद (शशि) अंगुली के समान किरणों से तिमिर के केशजाल को समेटकर कुड्मलभूत कमलनयन वाले निशामुख को मानो चूम रहा है।

यहां अंगुली के समान इस वाक्य में जो उपमा व्यक्त है, उससे मुख्य रूप से कुड्मलीकरण रूप कारण से उपमित समास के आश्रय से प्राप्त कमलनयन इस अंगभूत उपमा के द्वारा उठायी गयी शशि के द्वारा निशामुख चुम्बन रूप उत्प्रेक्षा है। यह उत्प्रेक्षा निशा शशि में दाम्पत्य व्यवहार के समारोप रूप समासोक्तिगर्भा है। उपमा (अंगुली के समान) के दोनों ओर चांद तथा नायक समान रूप से उत्थापक होने से समासोक्ति के बिना चुम्बन रूप उत्प्रेक्षा का आधार ही नहीं रहेगा। यहां भी समासोक्ति और उत्प्रेक्षा साथ-साथ होने से सम प्राधान्य है।

यहां चन्द्रमा के द्वारा रात्रिमुख चुम्बन का वर्णन है। अंगुली के समान किरण, केशजाल, अन्धकार कुड्मल की तरह बन गया कमल नयन है। यहां मूल भाव यह आता है कि जैसे कोई नायक अपनी अंगुली से केशपाश को समेट कर मुकुलित होते नयन वाले नायिका के मुख को चूमता है वैसे ही चांद रजनी मुख को चूम रहा है। 'अंगुली के समान' इस पद में स्पष्ट उपमा है। आगे कमल के समान नयन (कमलमिवनयनं) इस तरह दूसरी उपमा है। यहां रूपक नहीं है, क्योंकि उपमित समास में कमल प्रधान होता है और कुड्मलीकरण रूप विशेषण कमल में ही अन्वित होता है, नयन में नहीं। इस तरह यहां उपमा है। इस उपमा के द्वारा ही चांद रात्रिमुख को मानो चूमता है, यह उत्प्रेक्षा होती है। यह उत्प्रेक्षा भी समासोक्तिगर्भा है। चुम्बन रूप व्यापार चेतन (नायिका नायक) का धर्म है अचेतन का नहीं। चुम्बन क्रिया के लिए तत्काल चांद निशा में दम्पत्ती के व्यवहार का आरोप होता है। यह आरोप रूप समासोक्ति यदि स्वीकार न करे तो चुम्बन रूप उत्प्रेक्षा

निराधार हो जाएगी क्योंकि अचेतन चुम्बन में समर्थ नहीं। अतः उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति दोनों साथ-साथ होता है। जिस उपमा के बल से उत्प्रेक्षा होती है, वह (अंगुली की तरह तथा कमल के समान नयन) उपमा दम्पती व्यवहार और चांद रजनी व्यवहार में समान रूप से लगता है। इसी उपमा से दोनों उत्थापित हैं। अतः दोनों की प्रधानता बराबर होने से समप्राधान्य सङ्कर है।

इसी की व्याख्या आगे भी करते हैं।

यद्यप्यत्रोपमाभ्यां शशिनिशागतावेव धर्मौ समर्थ्येते, नतु शशि नायकयोः निशा नायिकयोश्च साधारणौ धर्मौ। साधारण धर्म समर्पणं चोत्प्रेक्षासमासोक्त्योरपेक्षितम्। उत्प्रेक्षायाः प्रकृताप्रकृतसाधारण गुणक्रियारूपनिमित्तसापेक्षत्वात् समासोक्तेर्विशेषण साम्यमूलकत्वाच्च। तथापि वाक्योक्तोपमायामिवकारस्य 'मरीचिभिरिव' इत्यन्वयान्तरमभ्युपगम्यान्वयभेदलब्धस्य प्रकृताप्रकृतयोरैकैक-विषयस्यार्थद्वयस्य समासोक्तोपमायां 'सरोजसदृशं लोचनम्' इति समासान्तरमभ्युपगम्य समासभेदलब्धार्थद्वयस्य चाभेदाध्यवसायेन साधारण्यं सम्पाद्य च तयोरुत्प्रेक्षासमासोक्त्योरङ्गता निर्वाह्या। यद्वा इह प्रकृतकोटिगतानां मरीचितिमिर सरोजानामप्रकृतकोटिगतानां चाङ्गुलिकेश सञ्चय लोचनानां च तनुदीर्घारुणत्व नीलनीरन्ध्रत्वकान्तिमत्वादिना सदृशानां प्रातिस्विकरुपेण भेदवत् अनुगत सादृश्य प्रयोजक रूपेणाभेदोऽप्यस्ति स चात्र विवक्षित एव। भेदाभेदोभयप्रधानोपमेत्यालङ्कारिक सिद्धान्तात्। तत्र च प्रयाजकाण्डनिष्कर्षन्यायेनाभेद गर्भतांशोपजीवनेन साधारण्यं सम्पाद्य प्रधानभूतोत्प्रेक्षा समासोक्त्यङ्गता निर्वाह्या। न हि प्रकाशशीतापनयनशक्तिमतः सौरतेजसः शीतापनयनशक्तिमात्रेण शीतालूपयोगिता न दृष्टा।

यद्यपि यहां उपमाद्वय से शशि तथा निशागत धर्म का ही समर्थन होता है। शशि-नायक तथा निशानायिकागत साधारण धर्म का नहीं। उत्प्रेक्षा और समासोक्ति में धर्म का

साधारण होना अपेक्षित होता है। उत्प्रेक्षा में प्रकृत और अप्रकृत में साधारण गुण क्रिया की अपेक्षा होती है तथा समासोक्ति में विशेषण की साधारणता अपेक्षित होती है। तथापि वाक्योक्त उपमा में 'इव' का मरीचि के समान इस तरह अन्वयान्तर से भेद प्राप्त प्रकृत तथा अप्रकृत में एक-एक विषय के दो अर्थ का, समासोक्त उपमा में कमल के समान नयन इस समासान्तर से समास भेद से प्राप्त अर्थद्वय का अध्यवसाय से साधारणता दिखाकर दोनों उपमाओं के उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति के अंगत्व का निर्वाह करना चाहिए। या यहां प्रकृत कोटि में प्राप्त मरीचि तिमिर तथा सरोज का तथा अप्रकृत कोटि में अंगुली, केश सञ्चय तथा लोचन का तनुत्वदीर्घत्व, अरुणत्व, नीलत्व, नीरन्ध्रत्व तथा कान्तिमत्व धर्म से समानता होने पर भी, वास्तविक भेद के समान, सादृश्य धर्म से प्रयोजक रूप में अभेद भी है। यह अभेद यहां कवि द्वारा विवक्षित भी है। भेदाभेदोभय प्रधान उपमा होती है। ऐसा आलंकारिकों का सिद्धान्त है। यहां प्रयोजकाण्डनिष्कर्षन्याय से अभेद गर्भांश अंश से साधारणता दिखाकर प्रधानभूत उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति का अंग बना दिया जाना चाहिए। सूर्य का तेज प्रकाशमयत्व तथा शीतापनयनत्व युक्त होने पर भी शीत से आर्तजनों के लिए केवल शीतापनयन शक्ति मात्र की अपेक्षा होती है। तेजरूप शक्ति गौण हो जाती है।

पहले की गई व्याख्या में उपमाद्वय को उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति का अंग बनाया गया है। यहां अंग बनाने में कुछ तर्क उपस्थापित किए गए हैं, जिसे इस तरह समझना चाहिए।

पूर्व पक्ष- यहां वाक्योक्त तथा समासोक्त उपमा में जो धर्म दिखाया गया है उससे निशा और चांदगत धर्म का ही समर्थन होता है। (तिमिर सरोज मरीचि आदि के द्वारा) चांद निशा और चांदगत धर्म का ही समर्थन होता है। तात्पर्य यह है यहां जो तिमिर रूप नायक तथा निशारूप नायिका का समर्थन नहीं होता। तात्पर्य यह है यहां जो तिमिर मरीची आदि वर्णित है वो चांद निशा का समर्थन करते हैं, नायक नायिका का नहीं। जबकि उत्प्रेक्षा में प्रकृत (प्रस्तुत) तथा अप्रकृत (अप्रस्तुत) दोनों में गुण तथा क्रिया की साधारणता होती है तथा समासोक्ति में भी विशेषण साम्य होता है। इसलिए ये वर्णित धर्म

उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति में ठीक नहीं बैठता है।

उत्तर- यह सत्य है कि वर्णित धर्म निशा शशि पक्ष में ठीक बैठता है, नायक नायिका पक्ष में नहीं परञ्च उपमा में मरीचि के समान अंगुलि (नायक पक्ष में) तथा अंगुली के समान मरीचि (चन्द्रपक्ष में) तथा सरोज के समान नयन (नायक पक्ष में) तथा नयन के समान सरोज (चन्द्र अर्थ में) करे तो वाक्योक्त अंगुलीभिरिव तथा समासोक्त सरोजलोचनं दोनों नायक तथा चन्द्रपक्ष मे अन्वित हो जाएगा और समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का अंग बन जाएगा।

एक ढंग से और यह अंग बन सकता है। प्रस्तुत में प्राप्त मरीचि तिमिर तथा सरोज का क्रमशः अप्रस्तुत अंगुली केशपाश, तथा-नयन में अभेद है। आपस में क्रमशः मरीचि तथा अंगुली में पतलापन, लम्बापन तथा लालिमा समानधर्म है। तिमिर तथा केशपाश में नीलता तथा सघनता समानधर्म है। तथा सरोज और नयन में कान्तिमत्व (सुन्दरता) समानधर्म है। इस तरह दोनों में अभेद है, जो कवि को इष्ट भी है। साथ ही साथ स्वरूपतः अंगुली तथा मरीचि, केश तथा तिमिर, सरोज तथा नयन में भेद भी है। यहां भेदाभेदोभयप्रधान उपमा है। आलंकारिकों ने भेद प्रधान, अभेदप्रधान तथा भेदाभेदोभयप्रधान उपमा माना है। यहां एक अंश में अभेद तथा दूसरे अंश में भेद है। जिसमें अभेद है, उससे नायक तथा चांद में साधारणता दिखाकर उपमा को उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति का अंग मान लिया जाएगा।

पूर्व पक्ष- जब एक पक्ष में भेद और एक पक्ष में अभेद है तो केवल अभेद पक्ष की बात क्यों करते हैं ?

उत्तर- समयानुकूल ही पक्ष की प्रधानता और गौणता होती है। जैसे सूर्य में दो धर्म हैं, प्रकाश देना तथा ठंड मिटाना। जब कोई व्यक्ति ठंड में पड़ा होता है तो उसके लिए केवल ठंड मिटाने वाले गुण की आवश्यकता अपेक्षित होती है, प्रकाश वाला नहीं। वहां प्रकाशवाला धर्म गौण हो जाता है। इसलिए यहां हम अभेद वाले अंश को लेकर उपमा को समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का अंग मानते हैं।

भेदाभेदप्रधान उपमा में केवल अभेदांश की उपयोगिता क्यों नहीं मानी जाये ? इस पक्ष की व्याख्या आगे करते हैं-

एवमनभ्युपगमे च -

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्वहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।

आभाति वालातप रक्तसानुः सनिर्झरोद्‌गार इवाद्रिराजः ॥

इत्याद्युपमापि न निर्वहेत्। नह्यत्राद्रिराजपाण्ड्ययोरुपमानोपमेययोरनुगतः साधारणधर्मो निर्दिष्टः। एकत्रवालातपनिर्झरौ, अन्यत्र हरिचन्दनहाराविति धर्मभेदात्। तस्मात्तत्र वालातप हरिचन्दनयोर्निझरहारयोश्च सदृशयोरभेदांशोपजीवनमेव गतिः॥

पिनष्टीव तरङ्गग्रैः समुद्रः फेनचन्दनम्।

तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः॥

इत्यत्रोत्प्रेक्षयोः कालभेदेऽपि समप्राधान्यम्। अन्योन्यनिरपेक्ष वाक्यद्वयोपात्तत्वात्। तदादायेति फेनचन्दनरूपक मात्रोपजीवनेन पूर्वोत्प्रेक्षानपेक्षणात्। न चैव लिम्पतीव तमोऽङ्गानि इति वदुत्प्रेक्षा द्वयस्य संसृष्टिरेवेयमिति वाच्यम्। लौकिक सिद्धपेषणलेपन पौर्वापर्यच्छायानुकारिणोत्प्रेक्षाद्वयपौर्वापर्येण चारुतातिशयसमुन्मेषतः संसृष्टि वैषम्यात्। तस्माद्दर्शादिवदेक फलसाधनतया समप्रधानमिदमुत्प्रेक्षाद्वयम्। एवं समप्रधानशङ्करोपि व्याख्यातम्।

इसको स्वीकार नहीं करने पर-

यह पाण्ड्य देश का राजा कंधे पर लटकते हार वाला तथा श्रीखण्ड चन्दन से लिप्त शरीर वाला, झरने के प्रवाह तथा सूर्योदय की आभा से लाल सानुवाले गिरिराज के समान शोभा पाता है।

यहां भी उपमा का निर्वहन नहीं होगा। यहां अद्रिराज और पाण्ड्य जो दोनों उपमान तथा उपमेय है इनमें साधरण धर्म निर्दिष्ट नहीं है। एक ओर वाला तप और निर्झर, दूसरी ओर श्रीखण्ड चन्दन तथा हार, दोनों में धर्म भेद है। अतः वालातप तथा हरिचन्दन और

निर्झर तथा हार के सादृश्य में अभेदांश का ही अवलम्ब न करना पड़ता है।

समुद्र मानो तरंगों से फेन रूप चन्दन को पीस रहा है। उसे लेकर मानो चन्द्रमा अपने करों से दिशा रूप अंगनाओं का लेप कर रहा है।

यहां उत्प्रेक्षाद्वय का कालभेद होने पर भी समप्राधान्य है। क्योंकि दोनों वचन एक दूसरे से निरपेक्ष हैं। तदादाय (उसे लेकर) फेन चन्दन रूप रूपक मात्र में पहली उत्प्रेक्षा की अनपेक्षा होती है। इसके "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि" (पूर्ववर्णित) की तरह उत्प्रेक्षाद्वय की संसृष्टि नहीं मान सकते। लौकिक आधार में जो पेषण तथा लेपन में पौर्वापर्य है, उसी तरह इस उत्प्रेक्षाद्वय में भी पौर्वापर्य से चारुतातिशय का उन्मेष संसृष्टि से पृथक् करता है। इससे दर्शादि की तरह एक फल का साधन होने से यह उत्प्रेक्षाद्वय समप्रधान है। इस तरह समप्रधान सङ्कर की व्याख्या की गई।

यहां जो प्रथम उदाहरण दिया गया है उसमें उपमा सिद्ध करने के लिए अभेदांश को ग्रहण करना पड़ता है। राजा तथा सूर्य में उपमानोपमेय भाव है। राजा उपमेय, सूर्य उपमान यहां लटकता हार तथा चन्दन का लेप तथा निर्झर का उद्गार तथा वालातप की रक्तता दोनों स्वरूप से पृथक है। यह भेदवाला अंश है तथा हार निर्झर से लम्वमानत्व स्वच्छत्व तरलत्व समान है तथा वालातप तथा चन्दन में रक्तत्व समान है। इस समानता के आधार पर दोनों में अभेद है। यहां उपमा सिद्ध करने के लिए भेद वाले अंश को छोड़कर अभेद वाले अंश को ही ग्रहण करना पड़ता है अन्यथा उपमा होगी ही नहीं। इसी तरह पूर्व विवेचित 'अंगुलीभिरिव-' में भी अभेदांश मात्र को ग्रहण कर उपमा बनाया जाएगा।

आगे के उदाहरण में दो उत्प्रेक्षा है। प्रथम 'मानो पीसता है' दूसरी 'मानो लीपता' है। इन दोनों उत्प्रेक्षा में कालभेद है। पहले चन्दन पीसा जाता है, तब लगाया जाता है, यह लौकिक व्यवहार है। यहां दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष नहीं निरपेक्ष है। यहां पिनष्टीव वाली उत्प्रेक्षा का सम्बन्ध लिम्पतीव वाली उत्प्रेक्षा से नहीं है। दोनों अलग-अलग हैं तो जैसे-

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः" में संसृष्टि माना गया उसी तरह यहां

भी संसृष्टि मान लिया जाये। यह नहीं होगा, क्योंकि यहां पेषण तथा लेपन के पौवापर्य की समानता लौकिक व्यवहार के समान है। इस तरह यहां चमत्कार संसृष्टि से अधिक होता है। जैसे चंदन पीसने के बाद कोई नायक अपनी नायिका के अंग पर चन्दन का लेप करता है, उसी तरह सागर चंदन पीसता है और चांद दिशा नायिका के अंग पर चन्दन का लेप करता है। यह लौकिक व्यवहारानुकारी चमत्कार विशिष्टता ला देता है। जैसे दशपूर्णमासादि अनेक यागों का फल एक ही है स्वर्ग प्राप्ति। उसी तरह दोनों उत्प्रेक्षाओं का एक ही फल है, चमत्कार बोधन। अतः दोनों समप्रधान हैं। कोई किसी का अंग नहीं है।

१२१ - सन्देहसङ्करालङ्कारः

सन्देह सङ्करो यथा-

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जहनुकन्यावतीर्णा।
इतिसमगुणयोगप्रीतयस्त्रत्रपौराः
श्रवण कटुनृपाणामेकवाक्यं विवब्रुः॥

अयम् 'इयम्' इति सर्वनाम्ना यद्यजं वृतवतीन्दुमती विशिष्टरूपेण निर्दिश्यते तदा बिम्ब प्रतिबिम्बभावापन्नधर्मविशिष्टयोः सदृशयौरैक्यारोपरूपा निदर्शना। यदि तेन सा स्वरूपेणैव निर्दिश्यते, बिम्बभूतोधर्मस्तु पूर्वप्रस्तावात्समगुणयोगप्रीतय इति पौरविशेषणाच्चावगम्यते, तदा प्रस्तुते धर्मिणि तद्वृत्तान्त प्रतिबिम्बभूता प्रस्तुतवृत्तान्तारोपरूपं ललितमित्यनध्यवसायात् संदेहः॥

यथा वा-

विलीयेन्दुः साक्षादमृतरसवापी यदि भवेत्
कलंकस्तत्रत्यो यदि च विकचेन्दीवरवनम्।
ततः स्नान क्रीड़ा जनितजड़भावैरवयवैः
कदाचिन्मुञ्चेयं मदनशिखिपीड़ा परिभवम्॥

अत्र 'यद्येतावत्साधनं संपद्येत तदा तापः शाम्यति' इत्यर्थे कविसंरम्भश्चेत्तदैतदुपात्तसिद्ध्यर्थमूह इति संभावनालंकारः। एतावत् साधनं कदापि न संभवत्येव, अतस्तापशान्तिरपि गगन कुसुम कल्पेत्यर्थे कविसंरम्भश्चेदुपात्तमिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनारूपा मिथ्याध्यवसितिरित्युभयथासंभवात् संदेहः।

संदेहसङ्कर जैसे-

यह चन्द्रिका मेघमुक्त चांद को प्राप्त हो गई, जह्नुकन्या (गंगा) अनुरूप सागर में अवतीर्ण हो गई। इस तरह समय गुण योग (अज इन्दुमती के संयोग) से प्रसन्न पुरवासी अन्य नृपों के लिए कर्णकटुवाक्य कहने लगे।

यहां 'इयम्' सर्वनाम से यदि अज को वरण की हुई इन्दुमती का विशिष्ट रूप से निर्देश है, तो विम्ब प्रतिबिम्बभाव युक्त धर्मविशिष्ट गंगा और चन्द्रिका का सादृश्य रूप ऐक्य का आरोप रूप निदर्शना है। यदि वह इन्दुमती सामान्य रूप से निर्दिष्ट है, तथा बिम्बभूत धर्म पूर्व प्रस्ताव से समगुणयोग से प्रसन्न इस पौर विशेषण से ज्ञात होता है, तो प्रस्तुत धर्मी में उस वृत्तान्त के प्रतिबिम्बभूत अप्रस्तुत वृत्तान्त के आरोपरूप ललित अलंकार होता है। इस तरह निदर्शना और ललित में निर्णय नहीं होने से संदेह है।

जैसे- दूसरा उदाहरण-

चन्द्रमा गलकर यदि अमृत रस की वापी बन जाए और उसका कलंक खिले कमल वाला जंगल बन जाये। तब उस वापी में स्नान करने से शीतल अंगों में से कामदेव बाण से उत्पन्न पीड़ा (ताप) को छोड़ सकता हूँ।

यहां यदि इतने साधन हो तो तापशान्ति हो सकती है, इस अर्थ में यदि कवि का लक्ष्य है, तो लक्ष्य सिद्धि के लिए तर्क खोजने से संभावना अलंकार है। इतना साधन कभी संभव ही नहीं हो सकता। अतः तापशान्ति भी आकाश कुसुम की तरह है, इस अर्थ में यदि कवि का विश्वास हो तो मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए दूसरी मिथ्या की कल्पना से

मिथ्याध्यवसिति अलंकार है। इन दोनों अलंकारों में एक का निर्णय नहीं होने से संदेह है।

यहां प्रथम उदाहरण में निदर्शना और ललित अलंकार का एकपक्षीय निर्णय नहीं होने से संदेह है। यहां इन्दुमती के द्वारा अज के वरण करने पर पुरवासियों की स्थिति का वर्णन है। यहां इन्दुमती के द्वारा अज का वरण, (इस तथ्य का) कौमुदी का मेघमुक्त चन्द्र का वरण तथा अनुरूप का गंगा के द्वारा वरण में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से वस्तु सम्बन्ध नहीं होने पर भी मूल का अप्रस्तुत दोनों (गंगा तथा चन्द्रिका) से ऐक्यारोप रूप निदर्शना हो सकता है तथा इन्दुमती का सामान्य वर्णन मानकर अज के साथ सम्बन्ध होने पर जो खुशी पुरवासियों की हुई, इस धर्म का प्रतिबिम्बभूत चन्द्रिका चांद संयोग तथा गंगा सागर संयोग रूप धर्म का वर्णन होने से ललित अलंकार हो सकता है। (उपस्थित वस्तु के प्रतिबिम्बभूत धर्म का वर्णन होने से ललित होता है। द्रष्ट. ललित विवेचन) इस तरह यहां दोनों में से एक का निर्णय सन्देहास्पद है।

दूसरे उदाहरण में संभावना और मिथ्याध्यवसिति में संदेह है। यदि चांद गलकर वापी बने और कलंक कमलवन बने तो उस वापी में नहाकर कामताप की शान्ति हो सकती है। यहां कामताप की शान्ति के लिए जिस उपाय की संभावना की गई है, उससे संभावना अलंकार व्यक्त होता है। (लक्ष्य सिद्धि के लिए उपाय की संभावना करना संभावना अलंकार है। द्रष्ट. संभावना विवेचन) तथा चांद का वापी बनना तथा कलंक का कमल वन बनना जिस तरह असंभव है, उसी तरह कामशान्ति भी असंभव है, इस तरह एक मिथ्या (चांद का वापी बनना) के लिए कामशान्ति भी असंभव है इस दूसरी मिथ्या की कल्पना होने से मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार है। (एक मिथ्या की सिद्धि के लिए अन्य मिथ्या की कल्पना होने पर मिथ्याध्यवसिति अलंकार होता है।) (द्रष्ट.-मिथ्याध्यवसिति विवेचन) इस तरह इन दोनों अलंकारों में कौन अलंकार होगा यह संदेहास्पद है।

आगे इसी के लिए और उदाहरण दिया जा रहा है।

एवम्-

सिक्त स्फटिक कुम्भान्तः स्थितिश्वेतीकृतैर्जलैः।
मौक्तिकं चेल्लतां सूते तत्पुष्पैस्ते समं यशः॥

इत्यादिष्वपि संभावनामिथ्याध्यवसिति संदेहसङ्करो द्रष्टव्यः॥

मुखेन गरलं मुञ्चन्मूले वसति चेत्फणी।
फलसंदोहगुरुणा तरुणा किं प्रयोजनम् ?॥

अत्र महोरगवृत्तान्ते वर्ण्यमाने राजद्वारारूढ़खलवृत्तान्तोऽपि प्रतीयते। तत्र किं वस्तुतस्तथाभूतमहोरगवृत्तान्त एव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतः खलवृत्तान्तस्ततः प्रतीयत इति समासोक्तिः। यद्वा प्रस्तुतखलवृत्तान्त प्रत्ययनायाप्रस्तुतमहोरगवृत्तान्त कीर्तनमप्रस्तुतप्रशंसा। यद्वा वर्ण्यमान महोरगवृत्तान्तकीर्तनेन समीपस्थित-खलमर्मोद्धाटनं क्रियत इति उभयस्यापि प्रस्तुतत्वात् प्रस्तुताङ्कुर इति संदेहः।

इसी तरह-

स्फटिक मणि के घड़े में रखने से श्वेत हुए जल से सींचने पर यदि मोती किसी लता को पैदा करे और उस लता का फूल हो तो उस फूल के समान तुम्हारा यश है। इत्यादि में भी संभावना तथा मिथ्याध्यवसिति की स्थिति संदेहास्पद होने से सन्देहसङ्कर है।

जिसके मूल में मुंह से विष छोड़ता हुआ सांप रहता हो उस फलभार से झुके वृक्ष से क्या प्रयोजन ?

यहां महान सर्प का वृत्तान्त वर्ण्यमान होने पर राजदरबार में स्थित खल वृत्तान्त भी प्रतीत होता है। यदि वस्तुतः प्रस्तुत महोरग वृत्तान्त से अप्रस्तुत खलवृत्तान्त का वर्णन हो तो प्रस्तुत वृत्तान्त पर अप्रस्तुत वृत्तान्त का आरोप रूप समासोक्ति है या प्रस्तुत खल वृत्तान्त को बताने के लिए अप्रस्तुत सर्पवृत्तान्त का वर्णन हो तो अप्रस्तुत प्रशंसा है या वर्ण्यमान सर्प वृत्तान्त से समीपस्थ खल वृत्तान्त का उद्घाटन होने से दोनों के प्रस्तुत होने से प्रस्तुताङ्कुर है। यहां तीनों अलंकारों में एक पक्षीय निर्णय संदेहास्पद होने से सन्देहसङ्कर है।

यहां प्रथम उदाहरण में संभावना और मिथ्याध्यवसिति में संदेह है। यदि ऐसा फूल हो तो तुम्हारे यश की तुलना हो। इस तरह यश की तुलना के लिए उपाय की संभावना करने से संभावना अलंकार, तथा जैसे मोती से लता होना और उसमें फूल होना असंभव है, उसी तरह तुम्हारे यश की तुलना भी असंभव है। इस तरह एक मिथ्या (मोती की लता का फूल) की सिद्धि के लिए दूसरी मिथ्या (तुम्हारे यश की तुलना) होने से मिथ्याध्यवसिति है, निर्णय नहीं हो पाने से संदेह है।

दूसरे में समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा तथा प्रसुताङ्कुर तीन अलंकार है। एक कवि राजदरबार में ऐसा वर्णन कर रहा है।

समासोक्ति- सर्प वृत्तान्त प्रस्तुत है। इसे देखकर खलवृत्तान्त की व्यञ्जना करना अभीष्ट है। सर्पवृत्तान्त पर खलवृत्तान्त का आरोप (व्यञ्जना से) होने पर समासोक्ति है।

अप्रस्तुत प्रशंसा- राजदरबार में स्थित खलवृत्तान्त की व्यञ्जना के लिए अप्रस्तुत सर्पवृक्ष वृत्तान्त का वर्णन होता है। यहां अप्रस्तुत वृत्तान्त वर्णन से प्रस्तुत (खल) का बोध होने से अप्रस्तुत प्रशंसा है।

'प्रस्तुताङ्कुर'- दरबार में खल उपस्थित है तथा कवि प्रस्तुत सर्प का वर्णन करता है। इससे सर्प का वर्णन होने से स्वयं उस (समीपस्थ) दुष्ट का वृत्तान्त लोगों को ज्ञात हो जाता है। यहां सर्प तथा दुष्ट दोनों प्रस्तुत होने से प्रस्तुताङ्कुर है।

इन तीनों में कौन सा अलङ्कार यहां है इसका निर्णय नहीं हो पाने से यहां संदेहसङ्कर है।

१२२-एकवाचकानुप्रवेशसङ्करः

एकवाचकानुप्रवेशसंकरस्तु शब्दार्थालङ्कारयोरेवति लक्षयित्वा काव्यप्रकाशकार उदाजहार-

स्पष्टोच्छवसत्किरणकेसरसूर्यविम्व-
-विस्तीर्ण कर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।

शिलष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-
बद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच॥

तत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ यत्रैकस्मिन् श्लोके पदभेदेन शब्दार्थालङ्कारयोः स्थितिस्तत्र तयोः संसृष्टिः, इह तु सङ्कर इति। अलंकारसर्वस्वकारस्तु एकस्मिन्वाचकेऽनुप्रवेशो वाच्ययोरेवालङ्कारयोः स्वारसिको वाच्यप्रतियोगिकत्वाद्वाचकस्येति मत्वार्थालंकारयोरप्येक-वाचकानुप्रवेशसङ्करमुदाजहार-

सत्पुष्कर द्योतितरङ्ग शोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये।
उद्यान वापीपयसीव यस्यामेणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते॥

अत्र नाट्यगृह-वापीपयसोः सत्पुष्करेत्यादिविशेषणे शब्दसाम्यं श्लेषः। 'अमन्दमारब्धे'त्यादि विशेषणेऽर्थसाम्यमुपमा, तदुभयमेकस्मिन्निवशब्देऽनुप्रविष्टमिति तदपि न मन्यामहे। सत्पुष्करेत्यादि विशेषणेऽपि श्लेषभित्तिका-भेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिलभ्यस्य धर्मसाम्यस्यैव तत्रैव शब्दप्रतिपाद्यतया शब्द साम्यस्य तदप्रतिपाद्यत्वात्। श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायेन धर्मसाम्यमतानङ्गीकारे- 'अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्वरम्' इत्यादि श्लिष्टविशेषणसमासोक्त्युदाहरणे विशेषण साम्याभावेन समासोक्त्यभावप्रसङ्गात्। शब्दसाम्यस्येव शब्दप्रतिपाद्यत्वेऽपि तस्योपमावाचकत्वस्यैव प्राप्त्या श्लेषवाचकत्वाभावाच्च। शब्दतोऽर्थतो वा कविसम्मत साम्य प्रतिपादने सर्वविधेऽप्युपमालङ्कार स्वीकारात्।

काव्यप्रकाशकार के अनुसार एकवाचकानुप्रवेश संकर केवल शब्दालंकारों का या केवल अर्थालंकारों का होता है। इसी विचार से काव्य प्रकाशकार (मम्मट) ने उदाहरण दिया है-

स्पष्ट रूप से प्रकाशित किरणों के केसर से पूर्ण सूर्यबिम्बरूप विशेष कर्णिक वाला दिवस रूप कमल, आठ दिशा रूप पत्तों के कारण अवतरित होते अन्धकार रूप मधुपों की पंक्तिवाला, संकुचित हो गया।

यहां एक पद में अनुप्रविष्ट रूपक तथा अनुप्रास है। जहां एक श्लोक में पृथक्-पृथक् पद में शब्दालंकार या अर्थालङ्कार की स्थिति होगी वहां संसृष्टि होगी, यहां 'किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकणिक' में रूपक तथ अनुप्रास, एक ही पद में होने से सङ्कर है। अलंकार सर्वस्वकार (रुय्यक) ने एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर अर्थालङ्कारों का भी माना है। इसके अनुसार वाचक (शब्द) वाच्य (अर्थ) का प्रतियोगी होता है। इसलिए वाचक से वाच्य का संकेत होता है और अर्थालङ्कार का भी एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर होता है।

सत्पुष्कर से द्योतित तरंग से युक्त, हल्के-हल्के मृदंगवाद्य से युक्त (ध्वनि वाले) नाट्यगृह में उद्यानवापी के जल की तरह जिस नगरी में हरिण लोचनाएँ रमण करती हैं।

यहां नाटयगृह तथा वापी जल में सत्पुष्कर आदि विशेषण से शब्द साम्य होने से श्लेष है। अमन्दमारब्धे इत्यादि विशेषण में अर्थसाम्य से उपमा है। ये दोनों (श्लेष तथा उपमा) इव शब्द से अनुप्रविष्ट है। इस बात को हम नहीं मानते हैं। 'सत्पुष्कर' इत्यादि विशेषण में भी श्लेष के आधार से अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति से जो धर्म प्रतिपादित है, वही धर्म इव शब्द से प्रतिपादनीय है। शब्द साम्य यहां नहीं है। शब्द साम्य इस धर्म को प्रतिपादित नहीं कर सकता है। श्लेषभित्ति के आधार पर अभेदाध्यवसाय के द्वारा धर्म समता को स्वीकार नहीं करने पर 'अहो रागवती...।' संध्या रागवती है जो स्वयं अपना कपड़ा छोड़ देती है इत्यादि में श्लिष्ट विशेषण से समासोक्ति के उदाहरण में विशेषण साम्य के अभाव में समासोक्ति का भी अभाव हो जाएगा। शब्द साम्य का यद्यपि 'इव' शब्द से प्रतिपादन हो भी जाये तो भी इव शब्द उपमा का ही वाचक है। इस 'इव' शब्द में श्लेषवाचकत्व का अभाव है। शब्दतः या अर्थतः कवि सम्मत साम्य के प्रतिपादन में उपमा अलंकार ही स्वीकृत होता है।

यहां मम्मट का मत (जहां दो शब्दालंकार हो या दो अर्थालंकार हो) तथा रुय्यक का मत (शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों) उद्धृत किया गया है। परञ्च रुय्यक की

व्याख्या से दीक्षित जी का मत अलग है। उद्धृत श्लोक 'सत्पुष्कर....' में श्लेष तथा उपमा है। यहां नगरी का वर्णन है जिमसें नाट्यगृह में रमणियां ऐसे क्रीड़ा करती हैं जैसे उद्यानवापी के जल में क्रीड़ा करती हैं। यहां 'सत्पुष्कर....' शब्द वापी पक्ष में कमल तथा नाट्यशाला पक्ष में 'तबला' का बोधक है। 'अमन्दमारब्ध' में धीरे-धीरे आवाज होने पर यहां अर्थ से उपमा है। जैसे वापी के तरंगों की हल्की-हल्की आवाज होती है। वैसे ही रंगशाला में तबले की हल्की-हल्की थाप सुनाई देती है। यह श्लेष तथा उपमा एक शब्द में प्रविष्ट है। दोनों का बोध 'इव' शब्द से होता है। अतः दोनों एक 'इव' शब्द में होने से एक वाचकानुप्रवेशसङ्कर है।

दीक्षित कहते हैं कि- ऊपर की व्याख्या उचित नहीं है। यहां श्लेष में शब्द साम्य 'इव' के द्वारा बताया गया है वह उचित नहीं है। यहां श्लेष के आधार पर तबले और कमल में अभेद का अध्यवसाय किया गया है। इस अध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति से तबले और कमल के जिस धर्म रूप अर्थ का बोध होता है उस धर्मसाम्य रूप अर्थ को ही 'इव' पद बतलाता है। इव शब्द शब्दसाम्य को नहीं अपितु अर्थसाम्य को बतलाता है। 'इव' शब्द से भले शब्दसाम्य का बोध हो जाय पर यह 'इव' उपमा का वाचक है श्लेष का नहीं। श्लेष के आधार पर अध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति के द्वारा धर्मसाम्य को मानना सबको अपेक्षित है। ऐसा नहीं करने पर 'रागवती सन्ध्या अपने ही कपड़े छोड़ देती है' यहां 'रागवती' यह विशेषण नायिकापक्ष में प्रेम से युक्त तथा संध्या पक्ष में लालिमा से युक्त शब्दसाम्य ही है। यहां इस श्लिष्ट विशेषण से समासोक्ति होती है। यदि श्लेष के द्वारा नायिका तथा सन्ध्या में अध्यवसाय न माना गया तो समासोक्ति भी नहीं होगी, क्योंकि इसी अध्यवसाय के बल पर नायिका और सन्ध्या में साम्य का बोध होता है। अतः कवि चाहे साम्य प्रतीति शब्द से कराये या अर्थ से यहां अलंकार उपमा ही होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो आगे के उदाहरण में उपमा नहीं होगी।

अन्यथा-

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति रञ्जनात्॥

इत्यत्राप्युपमा न स्यात्। न ह्यत्रान्वर्थनामरूपशब्द साम्यं विना किञ्चिदर्थसाम्यं कविविवक्षितमस्ति। तस्माद् यत्रैकस्मिन्नर्थे प्रतिपाद्यमाने अलंकारद्वय लक्षणयोगादलंकार द्वय प्रतीति स्तत्र तयोरलंकारयोरेकवाचकानुप्रवेशः। यथा-
(नैषधीये)

विधुकर परिरम्भादात्तनिष्यन्द पूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैदालवालैस्तरूणाम्।
विफलित जलसेकप्रक्रिया गौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन॥

अत्र हि प्रतिपद्यमानोऽर्थः समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तमितिलक्षणानुसारादुदात्तालङ्काररूपः, असम्बन्धे सम्बन्धकथनमतिशयोक्ति रिति लक्षणादतिशयोक्ति रूपश्च। न च सर्वत्रोदात्तस्यासम्बन्धे सम्बन्धकथन रूपत्वं निर्णीतमिति न विविक्तालंकार द्वय लक्षणसमावेशोऽस्तीति वाच्यम्; दिव्यलोक गतसम्पत् समृद्धि वर्णनादिष्वति शयोक्त्यस्पृष्ट स्योदात्तस्य शौर्योदार्य दारिद्र्यादि-विषयातिशयोक्ति वर्णनेषूदात्तास्पृष्टाया अतिशयोक्तेश्च परस्पर विविक्ततया विश्रान्तेः तयोश्चेहार्थवशसंपन्न समावेशयोर्नाङ्गाङ्गिभावः। एके नापरस्यानुत्थापनात् स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविशेषादर्शनाच्च। नापि समप्राधान्यम् यैः शब्दैरिह सम्बन्धि वस्तु प्रतिपाद्यते तैरेव तस्यैव वस्तुनोऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपस्य प्रतिपाद्यमानतया भिन्न प्रतिपादकशब्दव्यवस्थितार्थ भेदाभावात्। नापि संदेहसंकरः। एकालंकार कोट्यां तदन्यालंकार कोटिप्रक्षेपाभावात्। तस्मादिहोदात्तातिशयोक्तेरेकवाचकानुप्रवेशलक्षणः सङ्करः।

अन्यथा-

जैसे आह्लादन करने से चांद तथा प्रकृष्ट तापदायक होने से तपन (सूर्य) अन्वर्थ नाम है (चन्दयति इतिचन्द्रः तथा तपतीति तपनः) उसी तरह प्रकृति रञ्जन से यह राजा भी (रञ्जयति (प्रजाः) इति राजा) अन्वर्थ नाम है।

यहां भी उपमा नहीं होगी। यहां अन्वर्थनाम रूप शब्दसाम्य के अलावा अर्थसाम्य कवि को विवक्षित नहीं है। इसलिए जहां एक अर्थ के प्रतिपाद्य होने पर दो अलंकारों की प्रतीति लक्षणानुकूल होती हो, वहां दोनों अलंकारों के एक साथ प्रतीति को एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर कहते हैं। जैसे-

दमयन्ती के उस वन के द्वारा वह हंस हृतचित्त (जिसका चित्त हरण हो गया हो) बना दिया गया, जिसमें चन्द्रमा का आलिंगन करने से चन्द्रकान्तमणियों से बहे रस से परिपूर्ण क्यारी वाले वृक्षों से जलसेचन क्रिया को व्यर्थ कर दिया था।

यहां प्रतिपाद्यमान अर्थ समृद्धियुक्त वस्तु वर्णन से उदात्त अलंकार है, तथा असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन रूप अतिशयोक्ति भी है। सभी स्थान पर उदात्तालंकार में असम्बन्ध में सम्बन्ध का कथन होता है। अतः पृथक्-पृथक् उदात्त तथा अतिशयोक्ति कहना उचित नहीं है। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि दिव्यलोक की समृद्धि के वर्णन में जो उदात्त होता है, वह अतिशयोक्ति के स्पर्श से रहित होता है तथा शौर्य औदार्य दरिद्रता आदि के वर्णन में जो अतिशयोक्ति होती है, उसमें उदात्त का स्पर्श नहीं होता। इसलिए दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है। यहां दोनों अलंकार अर्थलभ्य होने से अंगागी भाव में भी नहीं आता है। अंगागिभाव में एक दूसरे का उत्थापक होता है तथा एक स्वतंन्त्र होता है, दूसरा परतन्त्र। यहां ऐसी बातें नहीं है। यहां समप्राधान्य भी नहीं है। जिन शब्दों के द्वारा जिस वस्तु का प्रतिपादन होता है उसी के द्वारा उसी वस्तु के असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन होता है। समप्राधान्य में भिन्न प्रतिपादक शब्द के द्वारा अर्थभेद होता है, जिसका यहां अभाव है।

यहां संदेह संकर भी नहीं है। क्योंकि संदेह में चित्त एक अलंकार से दूसरे अलंकार की कोटि में पहुंच जाता है। इसका यहां अभाव है। इसलिए यहां उदात्त तथा अतिशयोक्ति का एंक वाचकानुप्रवेशसङ्कर है।

यहां पूर्व व्याख्या का अंश भी है। ऊपर में कहा गया है कि जहां कवि को साम्य विवक्षित हो चाहे शब्दत: या अर्थत:, वहां उपमा अलंकार होता है अन्यथा 'यथा प्रह्लादनात्' में उपमा नहीं होगी। यहां 'अन्वर्थनाम' शब्द से ही राजा का चांद तथा सूर्य से उपमा (साम्य) विवक्षित है। यदि शब्दत: साम्य होने पर उपमा है।

एकवाचकानुप्रवेश वहां मानते हैं, जहां एक अर्थ के प्रतिपादन में दो अलंकार लक्षणानुकुल एक साथ प्रतीत होते हैं। जैसे दमयन्ती के वन वर्णन वाले उदाहरण में वन की समृद्धि का वर्णन होने से उदात्त है। उदात्त का लक्षण है- समृद्धिमत् वस्तुवर्णनमुदात्तम्। तथा असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन होने से अतिशयोक्ति है। वृक्ष के मूल में सामान्य जल होता है चन्द्रकान्त निष्यन्द जल नहीं। लेकिन कवि ने चन्द्रकान्त निष्यन्द जल और वृक्ष के सम्बन्ध नहीं होने पर (असम्बन्ध) भी सम्बन्ध का वर्णन किया है तो 'असम्बन्धे सम्बन्ध कथनमतिशयोक्ति' इस लक्षण से अतिशयोक्ति है। उदात्त वर्णन में सभी जगह असम्बन्ध में सम्बन्ध होता है ऐसी बात नहीं है। स्वर्गादि वर्णन में जो समृद्धि वर्णित होता है, वहां असम्बन्ध में सम्बन्ध नहीं होता। तथा शौर्य औदार्य दारिद्र्य आदि में जो अतिशयोक्ति वर्णित होता है, वहां उदात्त नहीं होता है। अब यह देखना है कि प्रस्तुत श्लोक में सङ्कर का अन्य भेद तो नहीं है ?

अंगागिभाव- इसमें एक प्रधान होता है दूसरा अप्रधान। एक के बल पर दूसरे की उद्भावना होती है। पर यहां दोनों (उदात्त तथा अतिशयोक्ति) एक ही अर्थ में प्राप्त हो रहा है। अत: कोई किसी का अंग नहीं है।

समप्राधान्य- इसमें दो अलंकारों की अभिव्यक्ति के लिए शब्द तथा अर्थ पृथक्

होते हैं। जैसे 'अवतु नः .....' में एक अर्थ में एक अलंकार दूसरे अर्थ में दूसरा अलंकार होता है। परञ्च यहां एक ही अर्थ में एक ही शब्द से दोनों अलंकार हैं। अतः समप्राधान्य नहीं है।

संदेह- यहां दो अलंकारों में निर्णय नहीं हो पाता है। चित्तवृत्ति दोनों अलंकारों में उलझ जाती है। एक पक्षीय निर्णय नहीं हो पाता है। परञ्च यहां उदात्त तथा अतिशयोक्ति दोनों स्पष्ट हैं। अतः संदेह नहीं है।

इन तीनों से अतिरिक्त यह एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर ही है।

१२३- सङ्करसङ्करालङ्कारः

क्वचित् सङ्कराणामपि सङ्करो दृश्यते। यथा-

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः।
दूरात्दाड़िमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्।

अत्र तावत् विदुषां संपत् समृद्धिवर्णनमुदात्तालङ्कारस्तन्मूलको वालाङ्घ्रिलाक्षारुणा इत्यत्र तद्गुणालङ्कारस्तत्रैव वक्ष्यमाणभ्रान्त्युत्पादकः पदार्थ हेतुककाव्यलिङ्गश्चेति तयोरेकवाचकानुप्रवेशसङ्करः। तन्मूलः 'शंकितधियः' इत्यत्र भ्रान्तिमदलंकारस्ताभ्यां चोदात्तालंकारश्चारुतां नीतः इति तयोश्च तस्य चाङ्गाङ्गिभावेन शङ्करः। एवं विद्वद्गेहभवस्य हेतुमतो राज्ञो वितरणविलासस्य हेतोश्चाभेदकथनं हेत्वलङ्कारः। स च राज्ञो वितरणविलासस्य निरतिशयोत्कर्षाभिव्यक्तिपर्यवसायी। एतावन्मात्रे कविसंरम्भश्चेदुक्तरुपोदात्तालंकारपरिस्कृते हेत्वलङ्कारे विश्रान्तिः। वर्णनीयस्य राज्ञः कीदृशी सम्पदिति प्रश्नोत्तरतया निरतिशयैश्वर्य वितरण रुपाप्रस्तुत

कार्यमुखेन तदीयसम्पदुत्कर्षप्रशंसने कविसंरम्भश्चेत् कार्यनिबन्धना प्रस्तुत प्रशंसा लंकारे विश्रान्तिः। कार्यस्यापि वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतत्वाभिप्राये तु प्रस्तुताङ्कुरे विश्रान्तिः। अत्र विशेषानध्यवसायात् संदेहसङ्करः। किञ्च विद्गृहवैभववर्णनस्यासम्बन्धे सम्बन्ध कथन रूपतयाऽतिशयोक्तेरुदात्तालङ्कारेण सहैकवाचकानुप्रवेशसङ्करः। निरतिशयवितरणोत्कर्षपर्यवसायिनो हेत्वलङ्कारस्याप्यद्भुतातथ्यौदार्य वर्णनात्मिकयात्युक्त्या सहैक वाचकानुप्रवेश सङ्करः। तन्मूलकस्याप्रस्तुतप्रशंसालंकारस्य प्रस्तुतालङ्कारस्य वा राजसंपत् समृद्धिवर्णनात्मकोदात्तालङ्कारेण सहैकवाचकानुप्रवेशसङ्करः। वाचक शब्दस्य प्रतिपादकमात्रपरतया व्यञ्जकसाधारण्यात्। एषां च त्रयाणामेक वाचकानुप्रवेशसङ्कराणां समप्रधान्यसंकरः। न ह्येतेषां परस्पर मन्यत्राङ्गत्वमस्ति। उदात्तादिमात्रस्यैव हेत्वलंकारादि चारुतापादकत्वेनातिशयोक्ति सङ्करस्याङ्गतयानपेक्षणात्। एवमत्र श्लोके चतुर्णामपिसङ्कराणां यथायोग्यं सङ्करः। एवमन्यत्राप्युदाहरणान्तराण्यूह्यानि॥

कहीं सङ्करों का भी सङ्कर होता है। जैसे-

यह भोजराज के त्याग की लीला ही है कि विद्वानों के घर में सुरत क्रीड़ा के समय हार से टूटे हुए, मुक्ताओं को, जो प्रातः काल में झाड़ू से एकत्रित किए गए हैं तथा प्रांगण में मन्थरगति से चलने वाली बालाओं के चरण की लाक्षा से लाल हो गए हैं, क्रीड़ा शुक, दाड़िम बीज की शंका से खींच रहे हैं।

यहां विद्वानों की सम्पत्ति तथा समृद्धि का वर्णन होने से उदात्त अलंकार है, इसी में 'बाला के पैर की लाक्षा से लाल' इसमें तद्गुण अलंकार है। वहीं पर कहे जाने वाले भ्रान्त्यलंकार के उपपादक पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार भी है। ये सभी (तद्गुण तथा

काव्यलिंग) एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर है। इसके द्वारा 'शंक्तिधियः' यहां भ्रान्तिमान अलंकार है, जो उपर के संकर के साथ मिलकर उदात्तालंकार को बढ़ाते हैं। इस तरह दोनों में अंगागिभाव में संकर है इसी तरह विद्वानों के घर के वैभव के कारण भूत राजा के वितरण विलास रूप हेतु में अभेद कथन से हेतु अलंकार है। यह अलंकार राजा के वितरण विलास के उत्कर्ष की अभिव्यञ्जना करता है। यदि इसी में कवि की वाञ्छा हो तो उपरोक्त उदात्त अलंकार से परिष्कृत हेतु अलंकार में विश्रान्ति होती है। वर्णनीय राजा (भोज) की सम्पत्ति कैसी है ? इस प्रश्न के उत्तर में अतिशय ऐश्वर्य वितरण रूप अप्रस्तुत कार्य के राजा की सम्पत्ति के उत्कर्ष की प्रशंसा में यदि कवि का इष्ट हो तो कार्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में विश्रान्ति होती है। यदि कार्य भी वर्णनीय हो तो उस (विद्वत्समृद्धि) अर्थ के प्रस्तुताभिप्राय में प्रस्तुताङ्कुर में विश्रान्ति होती है। यहां दोनों में विशेष अविशेष का निराकरण नहीं हो पाने से संदेहसङ्कर है। किञ्च विद्वानों के गृह वैभव के वर्णन प्रसंग में असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन रूप अतिशयोक्ति का उदात्तालंकार के साथ एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर है। अतिशय वितरण के उत्कर्ष का पर्यवसायी हेतु अलंकार का अद्भुत आतिथ्य औदार्यवर्णनात्मक अत्युक्ति से एकवचकानुप्रवेश सङ्कर है। इससे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का या प्रस्तुताङ्कुर का राजसम्पत् समृद्धिवर्णनात्मक उदात्तालंकार के साथ एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर है। वाचक शब्द का प्रतिपादक मात्र में अर्थ होने से व्यञ्जक की भी साधारणता हो जाती है। इन तीनों एक वाचकानुप्रवेशसङ्कर का समप्राधान्यसङ्कर है। इन सभी का परस्पर अंगागित्व नहीं है। उदात्तादि अलंकार ही हेतु अलंकारादि की शोभा का उपपादक होता है। अतः वह अतिशयोक्ति संकर का अंग नहीं है। इस तरह यहां श्लोक में चारों सङ्करों का आपस में सङ्कर है। इसी तरह अन्यत्र भी उदाहरण खोजना चाहिए।

यहां प्रस्तुत श्लोक में अलंकारों का जाल सा बिछा है। पद-पद पर पृथक-पृथक्

अलंकार है। यहां चार तरह के संकर का आपसी संकर दिखाया गया है। क्रमशः इसे स्पष्ट कर देना उचित है। आगे इन अलंकारों का स्पष्टीकरण देखें-

(1) उदात्त- श्लोक में राजा भोज के दान से समृद्ध किसी विद्वान के घर का वर्णन है। विद्वान के घर की समृद्धि का वर्णन होने से यहां उदात्त अलंकार है।

(2) तद्गुण- टूटा हुआ मोती, संचरण करती बालाओं के चरण में लगे लाक्षारस से लाल होता है। लाक्षा की लालिमा मुक्ता के द्वारा ग्रहण कर लेने से तद्गुण अलंकार है।

(3) भ्रान्ति- तोता उस लाल हुए मोतियों को दाड़िम बीज की शंका से खींचता है। अतः यहां भ्रान्तिमान अलंकार है।

यहां भ्रान्ति अलंकार का कारण तद्गुण अलंकार है। मोती का लाल होना ही भ्रान्ति को जन्म देता है। इस तरह 'लाक्षारुणाः' पद ही दाड़िम का हेतु होने से पदार्थ हेतुक काव्यलिंग भी है। यह काव्यलिंग तथा तद्गुण दोनों 'लाक्षारुणा' पद से होता है, अतः यहां एक वाचकानुप्रवेशसङ्कर है। यही संकर (काव्यलिंग तथा तद्गुण का) तथा भ्रान्तिमान उदात्त अलंकार को पुष्ट करता है। अतः उदात्त अंगी तथा ये दोनों अंग हो गए। इस तरह अंगागिभावसंकर है।

(4) हेतु- विद्वान के घर का वैभव, राजा भोज के दान रूप कारण का कार्य है। यहां कारण कार्य को पृथक्-पृथक् न कहकर कारण को ही कार्य बनाया गया है। 'त्यागलीलायितम'। इस तरह कार्य कारण के अभेद कथन से हेतु अलंकार है। यह हेतु राजा के दानोत्कर्ष को बतलाता है।

ये सारे अलंकार कवि द्वारा वर्णित विद्वत्गृहवैभव के द्वारा राजा के दानोत्कर्ष की व्यञ्जना में होते हैं। यदि इस श्लोक के भाव को इस तरह देखा जाये कि किसी ने पूछा- राजा का वैभव कैसा है ? इसके जवाब में कवि ने राजा द्वारा अनुगृहीत किसी विद्वान के

वैभव का वर्णन किया, जिससे राजा के वैभवातिशय की व्यञ्जना हुई, तो निम्न तरह से अलंकारों की स्थिति होगी।

(1) अप्रस्तुत प्रशंसा– विद्वान के वैभव वर्णन के द्वारा राजा के वैभवातिशय की व्यञ्जना होने पर विद्वान के वैभव (कार्य) से राजा का वैभव तथा दानशालिता (कारण) का वर्णन होने से कार्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा होगी। यहां विद्वानगृह का वैभव अप्रस्तुत होगा।

(2) प्रस्तुतांकुर– यदि विद्वान गृह के वैभव को प्रस्तुत मान लें, तो ऊपर व्याख्या के अनुकूल दोनों अप्रस्तुत होने से (प्रस्तुत विद्वत्गृहवैभव से राज की दानशीलता तथा वैभव की व्यञ्जना) प्रस्तुताङ्कुर अलंकार होगा।

अब यहां देखें कि हेतु, अप्रस्तुत प्रशंसा, तथा प्रस्तुताङ्कुर, में किसकी स्थिति है ? ऐसा निर्णय नहीं होने से संदेहसङ्कर अलंकार है। विदृत्गृहवैभव वर्णन में असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन से अतिशयोक्ति (मोती के वर्णन में) तथा उदात्त दोनों समान पदों से प्राप्त होने से एकवाचकानुप्रवेश संकर है। अतिशय दानशीलता को बताने वाले हेतु तथा अद्भुत आतिथ्य औदार्यवर्णनात्मक अत्युक्ति का भी एक साथ वर्णन (श्लोक) होने से एकवाचकानुप्रवेशसंकर है। अप्रस्तुतप्रशंसा या प्रस्तुताङ्कुर का उदात्तालंकार के साथ-साथ वर्णन होने से एकवाचकानुप्रवेश संकर है। ये तीनों एक वाचकानुप्रवेश संकर किसी के अंग नहीं है या इसमें से कोई अंग (अप्रधान) नहीं है, अतः यहां समप्राधान्य संकर है।

इस तरह यहां अंगागिभावसंकर, संदेहसंकर, एकवाचकानुप्रवेशसंकर तथा समप्राधान्यसंकर है। ये चारों एक जगह उपस्थित होने से चारों का परस्पर सङ्कर है।



उपसंहार :

अमुं कुवलयानन्दमकरोपदप्पदीक्षितः।
नियोगाद्वेंकटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥ १७१॥
चन्द्रालोको विजयतां शारदागमसंभवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्॥ १७२॥

इस 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ को अप्पदीक्षित (अप्पयदीक्षित) ने निरूपाधि कृपासागर वेंकटपति के आदेश से बनाया (रचना किया)। १७१॥

शरद ऋतु के आगमन पर चन्द्रमा का जो प्रकाश होता है। वह सर्वश्रेष्ठ हो, जिसके कारण (जिसकी कृपा से) यह कुमुद का आनन्द हृदयहारी हो सका है। या चन्द्रालोक (जयदेव विरचित लक्षण ग्रन्थ) की जय हो, जिसके कारण यह हृद्य कुवलयानन्द बन सका है।

उपसंहार में कवि (अप्पयदीक्षित) ने अपने आश्रयदाता का उल्लेख किया, जिसकी कृपा से दीक्षित जी ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया। वेंकटपति ही इसके आश्रयदाता थे। दूसरे श्लोक में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' शब्द श्लिष्ट है। जो क्रमशः चन्द्र का आलोक और चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ तथा कुवलय का आनन्द तथा कुवलयानन्द नामक ग्रन्थ का बोध कराता है।

इति श्रीमदद्वैतविद्याचार्य श्रीमद्भरद्वाजकुलजलधि कौस्तुभ श्रीरङ्गराजा ध्वरीन्द्रवरसूनोः श्रीमदप्पय्यदीक्षितस्य कृति कुवलयानन्दः समाप्तः॥

श्रीमत् अद्वैत विद्याचार्य श्रीमत् भरद्वाज कुल सागर के कौस्तुभ श्रीरङ्गराजाध्वरीन्द्र के पुत्र श्रीमत् अप्पय्यदीक्षित की कृति 'कुवलयानन्द' समाप्त।

जैसे 'चन्द्रालोक' ने किया कुवलयानन्द
वैसे ही यह 'निर्मला' करे सहृदयानन्द॥
दत्तचित्त पकड़े रहें यह 'निर्मला' पतवार
अब्धि 'कुवलयानन्द' से जो चाहे उद्धार॥
शिष्यगण शंका रहित हो ग्रन्थ अनुशीलन करें
उलझे हुए पद में बिना श्रम के सतत विचरण करें।
यह सोचकर ही 'निर्मला' में श्रम यहां मैंने किया
निर्णय करें वुध वृन्द! मैंने क्या विचारा ? क्या किया ?॥

डॉ. निरञ्जन मिश्र विरचित 'कुवलयानन्द' की 'निर्मला' व्याख्या समाप्त।

(१) श्रीमद द्वैत विद्याचार्य श्रीमद्भरद्वाज कुल जलधि कौस्तुभ श्री रङ्गराजाध्वरीन्द्र वर सूनोः श्रीमदप्पयदीक्षितस्य कृतिः कुवलयानन्दः समाप्त (कुवलयानन्द समाप्ति पर)

(२) चित्रमीमांसा प्रस्तावना में - कालिका प्र. शुक्ल

(३) अयुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः
नियोगाद्वेंकटपतेर्निरूपाधि कृपा निधेः। (कुवलयानन्द उपसंहार)

(४) कुवलयानन्द का उपसंहार श्लोक तथा समाप्ति पंक्ति।

(५) अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरूरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥
(चित्रमीमांसा अन्त में)

(६) येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥ (५) कुवलयानन्द

(७) अलङ्कारेषु वालानामवगाहन सिद्धये
ललितः क्रियते तेषां लक्ष्यलक्षणसंग्रहः॥४॥ कुवलयानन्द

(८) रसवत् प्रेय उर्जस्थिसमाहितमयाभिधाः।
भावानामुदयः सन्धिः शवलत्वमितित्रयः॥
अलंकारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः॥ चन्द्रालोक ५.११८

(९) कुवलयानन्द भूमिका - पृ. २० (डॉ. भोला शंकर व्यास)

(१०) वीणातत्वज्ञसंख्यालसित कलिसभाभाक् प्रमादी च वर्षे
कन्यामासे तु कृष्ण प्रथम तिथियुतेऽप्युत्तर प्रोष्ठ पादे।
कन्यालग्नेऽद्रिकन्यापतिमित दयासेवधिर्वैदिकेषु
श्रीगौर्यैद्राग्यथाहस्मसजनि विरिञ्जीशपुर्य्या कलेशः॥
लग्ने रवीन्दुसुतयोर्मकरे च मान्ये
मीने शशिन्यथवृषे रविजे च राहौ।
चाषे गुरौ क्षितिसुते मिथुने तुलायां
शुक्रे शिखिन्यलिगते शुभलग्न एवम्॥

(११) कालेन शम्भुः किल तावतापि
कलाश्चतुः षष्ठिमिताः प्रणिन्ये।
द्वासप्ततिं प्राप्य समाप्रबन्धां
च्छतं व्यधादप्पय दीक्षितेन्द्रः।
शिवलीलार्णव – १.६॥

(१२) न याचे गजालिं न वा वाजिराजि
न वित्तेषुचित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकेऽन्यस्त हस्ता
लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु॥

(१३) यवनी नवनीत कोमलाङ्गी शयनीये यदि लभ्यते कदापि।
अवनीतलमेव साधु मन्ये नवनी माधवनी विनोदहेतुः॥
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीतसमा
ऊहि ऊहि वचोऽमृत पूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता॥

(१४) आमूलाद्रत्नसानोर्वलयमलयितादा च कूल्यात्पयोधे
र्यावन्तः सन्ति काव्य प्रणयन पटवस्ते विशङ्कं वदन्तु॥
मृद्वीका मध्य निर्झरमसृणरसझरी माधुरीभोगभाजां
वाचामाचारताया कविकृतिनिपुणो कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥
निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्
किं सेव्यते सुमनसां मनसापिगन्धः
कस्तूरिका जननशक्तिभृतामृगेण॥

(१५) दृप्यदद्राविड़ दुर्गहग्रहवशाम्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा
यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढ़ेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स ब्यमृद्नात् कुचं
निर्वध्यास्य मनोरमामवशयन्नप्यप्पयाद्यान् स्थितान्॥

(१६) 'द्रविड़पुङ्गव' 'रसगंगाधर' व्याजस्तुति ने प्रसङ्ग में।

(१७) 'रसगङ्गाधर' द्वितीय आनन की भूमिका पृ.-४७

(१८) 'यत्तु प्राञ्चः......' रसगंगाधर प्रथमानन - पृ. १५-२१

(१९) यद्यप्यधर्थो नकविकर्म........... गोकुलनाथ
नागेशभट्टास्तु........ इत्त्याचक्षते
म.म. गंगाधर शास्तिणस्तु......... दुर्वारत्वात
} पं. बदरीनाथ झा कृत रस-गंगाधर प्रथमानन की चंद्रिका टीका पृ.-20-21

(२०) रसगंगाधर प्रथमानन - पृ. - २६

(२१) चन्द्रिका टीका - पृ. - २७

(२२) र.ग. प्रथमानन - पृ. - २७-२८

(२३) तत्रैव - पृ. - ७३-७५

(२४) चन्द्रिका टीका - पृ. - ७५-७६

(२५) र.गंगाधर द्वितीय - पृ. - ३७८-३८०

(२६) चन्द्रिका टीका द्वितीय - पृ. - ३८०

(२७) र. गंगा द्वितीय - पृ. - ४६५

(२८) च. टीका द्वितीयआनन - पृ. - ४६६-६७

(२९) र. गंगा द्वितीयआनन - पृ. - ४६७

(३०) चं. टीका द्वितीयआनन - पृ. - ४६८

(३१) एकावली परिणय - (मैथिली)

भूमिका में प्रमापक ग्रन्थ

(i) रसगंगाधर

(ii) चित्रमीमांसा

(iii) कुवलयानन्द

(iv) चित्रमीमांसा की भूमिका (कालिका प्रसाद शुक्ल)

(v) रसगंगाधर की चन्द्रिका टीका - बदरीनाथ झा तथा मदनमोहन झा

(vi) कुवलयानन्द की भूमिका - भोला शङ्कर व्यास

(vii) शिवलीलार्णव

(viii) रसगंगाधर की प्रस्तावना - मदनमोहन झा

***



